महाभारत कथा

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

महाभारत-कथा

महाभारत का आख्यान एक अद्भुत रचना है, जिसमें मानव-जीवन के दुःख-दर्द का सार आ गया है। करुण-रस से पूर्ण यह धार्मिक ग्रंथ जीवन के दुःखों पर प्रकाश डालकर पाठकों को अजर-अमर सत्य-रूप परमात्मा की ओर बढ़ने को प्रेरित करता है।

... ...

मैं समझता हूं कि अपने जीवन में मुझसे जो सबसे बड़ी सेवा बन सकी है, वह है महाभारत को कथाओं के रूप में लिख देना।

... ...

मेरा विश्वास है कि महाभारत की ये संक्षिप्त कथाएं पाठकों को पहले की अपेक्षा अच्छा आदमी, अच्छा चिंतक और अच्छा हिंदू बनावेंगी।

—च. राजगोपालाचार्य

स्वागत

● The Hindi translation is so natural that it reads like the original...The book is so simple, so neat that it should be kept in every house.

—'Leader', Allahabad

● इन कहानियों को पढ़ने से पाठक ऐसा अनुभव करता है कि ये वास्तविक कथाएं हैं और मननीय हैं। कथाएं मनोवैज्ञानिक ढंग पर लिखी गई हैं। —'आजकल', दिल्ली

● ...प्रत्येक भारतीय को चाहिए कि इस ग्रंथ से ज्ञान, क्षमता और आत्मशक्ति प्राप्त करे। —'सरिता', नई दिल्ली

● विद्वान् लेखक ने बड़ी चतुराई से महाभारत के विशाल काव्य को सरल गद्य में छोटी कहानियों का रूप देकर भारत की अनमोल सांस्कृतिक सम्पत्ति को युग के अनुरूप बना दिया है। अनुवाद बड़ा ही अच्छा हुआ है। भाषा प्रांजल और चुस्त है।

—'हिमालय', पटना

● पुस्तक प्रत्येक गृहपत्नी के पढ़ने योग्य है, जिससे वह अपने बालक-बालिकाओं को सरल ढंग से महाभारत की कथाओं को सुना और समझा सके।

—'विश्ववाणी', इलाहाबाद

● ये कहानियां बड़े रोचक और सरल ढंग से लिखी गई हैं।

—'नया समाज', कलकत्ता

लेखक की पुस्तकें

1. दशरथ-नंदन श्रीराम
2. राजाजी की लघुकथाएं
3. शिशुपालन
4. कुब्जा सुन्दरी
5. महाभारत-कथा
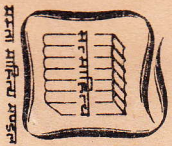
सस्ता साहित्य मण्डल

सत्साहित्य-प्रकाशन

महाभारत-कथा

—कथाओं के रूप में महाभारत का सजीव और रोचक वर्णन—

•

लेखक
चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
अनुवादक
पू० सोमसुन्दरम्

१९६७
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली ।

छठवीं बार : १९६७
मूल्य
सजिल्द छः रुपये

मुद्रक
उद्योगशाला प्रेस
दिल्ली ६

प्रकाशकीय

हिन्दी के पाठक प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक से भली-भांति परिचित हैं। उन्होंने जहां हमारी आजादी की लड़ाई में अपनी महान् देन दी है, वहां अपनी शक्तिशाली लेखनी तथा प्रभावशाली लेखन-शैली से साहित्य की भी उल्लेखनीय सेवा की है। 'मण्डल' से प्रकाशित उनकी 'दशरथनंदन श्रीराम', 'राजाजी की लघु कथाएं', 'कुब्जा सुन्दरी' तथा 'शिशु-पालन' का हिन्दी-जगत् में बड़ा अच्छा स्वागत हुआ है।

इस पुस्तक में राजाजी ने कथाओं के माध्यम से महाभारत का परिचय कराया है। उनके वर्णन इतने रोचक और सजीव हैं कि एक बार हाथ में उठा लेने पर पूरी पुस्तक समाप्त किये बिना पाठकों को संतोष नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि ये कथाएं केवल मनोरंजन के लिए नहीं कही गई हैं, इनके पीछे कल्याणकारी हेतु है और वह यह कि महाभारत में जो हुआ, उससे हम शिक्षा ग्रहण करें।

इस पुस्तक का अनुवाद भी अपनी विशेषता रखता है। उसके पढ़ने में मूल का-सा रस मिलता है। भारत सरकार की ओर से इस पर दो हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया था।

पुस्तक का यह छठा संस्करण है। हम आशा करते हैं कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ आगे ऐसे ग्रंथों की लोकप्रियता और बढ़ेगी और वे घर-घर रक्खे जायंगे।

—मंत्री

दो शब्द

मैं समझता हूं कि अपने जीवन में मुझसे जो सबसे बड़ी सेवा बन सकी है, वह है महाभारत को तमिल-भाषियों के लिए कथाओं के रूप में लिख देना। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा' के एक दक्षिण भारतीय द्वारा किये हुए इस हिन्दी-रूपान्तर को बढ़िया मानकर उत्तर भारत के पाठकों के समक्ष उपस्थित करने के लिए स्वीकार कर लिया है।

हमारे देश में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो महाभारत और रामायण से परिचित न हो; लेकिन ऐसे बहुत थोड़े लोग होंगे, जिन्होंने कथावाचकों और भाष्यकारों की नवीन कल्पनाओं से अछूते रहकर उनका अध्ययन किया हो। इसका कारण संभवतः यह हो कि ये नई कल्पनाएं बड़ी रोचक हों। पर महामुनि व्यास की रचना में जो गांभीर्य और अर्थ-गूढ़ता है, उसे उपस्थित करना और किसी के लिए संभव नहीं। यदि लोग व्यास के महाभारत को, जिसकी गणना हमारे देश के प्राचीन महाकाव्यों में की जाती है और जो अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है, अच्छे वाचकों से सुनकर उसका मनन करें तो मेरा विश्वास है कि वे ज्ञान, क्षमता और आत्म-शक्ति प्राप्त करेंगे। महाभारत से बढ़कर और कहीं भी इस बात की शिक्षा नहीं मिल सकती कि जीवन में विरोधभाव, विद्वेष और क्रोध से सफलता प्राप्त नहीं होती।

प्राचीन काल में बच्चों को पुराणों की कहानियां दादियां सुनाया करती थी; लेकिन अब तो बेटे-पोतेवाली महिलाओं को भी ये कहानियां ज्ञात नहीं हैं। इसलिए अगर इन कहानियों को पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जाय तो उससे भारतीय परिवारों को लाभ ही होगा।

महाभारत की इन कथाओं को केवल एक बार पढ़ लेने से काम नहीं चलेगा। इन्हें बार-बार पढ़ना चाहिए, गांवों में बे-पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों को इकट्ठा करके दीपक के उजाले में इन्हें पढ़कर सुनाना चाहिए। ऐसा

करने से देश में ज्ञान, प्रेम और धर्म-भावनाओं का प्रसार होगा, सबका भला होगा।

मेरा विश्वास है कि महाभारत की ये संक्षिप्त कथाएं पाठकों को पहले की अपेक्षा अच्छा आदमी, अच्छा चिंतक और अच्छा हिन्दू बनावेंगी।

प्रश्न हो सकता है कि पुस्तक में चित्र क्यों नहीं दिये गए? इसका कारण है। मेरी धारणा है कि हमारे चित्रकारों के चित्र सुन्दर होने पर भी यथार्थ और कल्पना के बीच जो सामंजस्य होना चाहिए, वह स्थापित नहीं कर पाते। भीम को साधारण पहलवान, अर्जुन को नट और कृष्ण को छोटी लड़की की तरह चित्रित करके दिखाना ठीक नहीं है। पात्रों के रूप की कल्पना पाठकों की भावना पर छोड़ देना ही अच्छा है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

विषय-सूची

महाभारत-कथा

गणेशजी की शर्त

भगवान् व्यास महर्षि पराशर के कीतिमान् पुत्र थे। चारों वेदों को क्रमबद्ध करके उनका संकलन करने का श्रेय इन्हीं को है। महाभारत की पावन कथा भगवान् व्यास की ही देन है।

महाभारत की कथा व्यासजी के मानस-पटल पर अंकित हो चुकी थी। लेकिन उनको यह चिंता हुई कि इसे संसार को किस तरह प्रदान करें। यह सोचते-सोचते उन्होंने ब्रह्मा का ध्यान किया और ब्रह्मा प्रत्यक्ष हुए। व्यासजी ने उनके सामने सिर नवाया और हाथ जोड़कर निवेदन किया—

भगवन् ! एक महान् ग्रन्थ की रचना मेरे मानस-पटल पर हुई है। अब चिंता इस बात की है कि इसे लिपिबद्ध कौन करे ?"

यह सुन ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने व्यासजी की बहुत प्रशंसा की और बोले—

"तात ! तुम गणेशजी को प्रसन्न करो। वे ही तुम्हारे ग्रंथ को लिखने में समर्थ होंगे।" इतना कह ब्रह्मा अन्तर्धान हो गए।

महर्षि व्यास ने गणेशजी का ध्यान किया। प्रसन्नवदन गणेशजी व्यासजी के सामने उपस्थित हुए। महर्षि ने उनकी विधिवत् पूजा की और उनको प्रसन्न देखकर बोले—

"हे गणेश, एक महान् ग्रन्थ की रचना मेरे मस्तिष्क में हुई है। आप से प्रार्थना है कि आप उसे लिपिबद्ध करने की कृपा करें।"

गणेशजी ने व्यासजी की प्रार्थना स्वीकार तो की, लेकिन बोले—

"आपका ग्रंथ लिखने को मैं तैयार हूं, लेकिन मेरी एक शर्त है और वह यह कि अगर मैं लिखना शुरू करूं तो फिर मेरी लेखनी ज़रा भी न रुकने पाये। अगर आप लिखाते-लिखाते ज़रा भी रुक गये तो फिर लेखनी भी रुक जायगी और फिर आगे नहीं चलेगी। क्या आपसे यह हो सकेगा ?"

गणेशजी की शर्त ज़रा कठिन थी, लेकिन व्यासजी ने तुरन्त मान ली। वह बोले—

"आपकी शर्त मुझे मंजूर है, पर विघ्नहर, मेरी भी एक शर्त है। वह यह कि आप भी जब लिखें तब हर श्लोक का अर्थ ठीक-ठीक समझ लें तभी लिखें।"

व्यासजी का यह कथन सुन गणेशजी हँस पड़े। बोले—

"तथास्तु !" और फिर व्यासजी और गणेशजी आमने-सामने बैठ गए। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी लिखते जाते थे। गणेशजी की गति तेज थी, इस कारण बीच-बीच में व्यासजी श्लोकों को ज़रा जटिल बना देते थे कि गणेशजी को समझने में कुछ देर लग जाती थी और उनकी लेखनी कुछ देर के लिए रुक जाती थी। इसी बीच व्यासजी कई और श्लोकों की मन-ही-मन रचना कर लेते थे। इस तरह महाभारत की कथा व्यासजी की ओजपूर्ण वाणी से प्रवाहित हुई और गणेशजी की अथक लेखनी ने उसे लिपिबद्ध किया।

ग्रंथ तैयार हो गया तो व्यासजी के मन में उसे सुरक्षित रखने तथा उसके प्रचार का प्रश्न उठा। उन दिनों छापेखाने तो थे नहीं। लोग ग्रंथों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे और इस प्रकार स्मरणशक्ति के सहारे उनको सुरक्षित रखते थे। व्यासजी ने महाभारत की यह कथा सबसे पहले अपने पुत्र शुकदेव को कण्ठस्थ कराई और बाद में अपने दूसरे शिष्यों को।

•

कहते हैं कि देवों को नारदमुनि ने महाभारत की कथा सुनाई थी, और शुक मुनि ने गन्धर्वों, राक्षसों तथा यक्षों में इसका प्रचार किया। यह तो सब जानते ही हैं कि मानव-जाति में महाभारत की कथा का

प्रसार महर्षि वैशंपायन के द्वारा हुआ। वैशंपायन व्यासजी के प्रमुख शिष्य थे। वह बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ थे।

महाराजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने एक बड़ा यज्ञ किया। उसमें उन्होंने वैशंपायन से महाभारत की कथा सुनाने की प्रार्थना की थी। वैशंपायनजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और महाभारत की कथा विस्तारपूर्वक कह सुनाई।

इस महायज्ञ में सुप्रसिद्ध पौराणिक सूतजी भी मौजूद थे। महाभारत की कथा सुनकर वह बहुत ही प्रभावित हुए। भगवान् व्यास के इस महाकाव्य से मनुष्य-मात्र को लाभ पहुंचाने की इच्छा उनके मन में प्रबल हुई। इस उद्देश्य से सूतजी ने नैमिषारण्य में समस्त ऋषियों की एक सभा बुलाई। महर्षि शौनक इस सभा के अध्यक्ष हुए।

"महाराज जनमेजय के नाग-यज्ञ के अवसर पर महर्षि वैशंपायन ने व्यासजी की आज्ञा से महाभारत की कथा सुनाई थी। वह पवित्र कथा मैंने सुनी और तीर्थाटन करते हुए कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि को भी जाकर देखा।"

इस भूमिका के साथ सूतजी ने ऋषियों की सभा में महाभारत की कथा प्रारम्भ की।

•

महाराजा शान्तनु के बाद उनके पुत्र चित्रांगद हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे। उनकी अकाल-मृत्यु हो जाने पर उनके भाई विचित्रवीर्य राजा हुए। उनके दो पुत्र हुए—धृतराष्ट्र और पाण्डु। बड़े लड़के धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे, इसलिए पाण्डु को गद्दी पर बिठाया गया।

पाण्डु ने कई वर्षों तक राज्य किया। उनके दो रानियां थीं—कुन्ती और माद्री। कुछ काल राज्य करने के बाद पाण्डु अपने किसी अपराध के प्रायश्चित्त के लिए तपस्या करने जंगल में गये। उनकी दोनों रानियां भी उनके साथ ही गईं। वनवास के समय कुन्ती और माद्री ने पांचों पांडवों को जन्म दिया। कुछ समय बाद पाण्डु की मृत्यु हो गई। पांचों अनाथ बच्चों का वन के ऋषि-मुनियों ने पालन-पोषण किया और पढ़ाया-लिखाया। जब युधिष्ठिर सोलह वर्ष के हुए तो ऋषियों ने पांचों कुमारों

"आपका ग्रंथ लिखने को मैं तैयार हूं, लेकिन मेरी एक शर्त है और वह यह कि अगर मैं लिखना शुरू करूं तो फिर मेरी लेखनी ज़रा भी न रुकने पाये। अगर आप लिखाते-लिखाते ज़रा भी रुक गये तो फिर लेखनी भी रुक जायगी और फिर आगे नहीं चलेगी। क्या आपसे यह हो सकेगा?"

गणेशजी की शर्त ज़रा कठिन थी, लेकिन व्यासजी ने तुरन्त मान ली। वह बोले—

"आपकी शर्त मुझे मंजूर है, पर विघ्नहर, मेरी भी एक शर्त है। वह यह कि आप भी जब लिखें तब हर श्लोक का अर्थ ठीक-ठीक समझ लें तभी लिखें।"

व्यासजी का यह कथन सुन गणेशजी हँस पड़े। बोले—

"तथास्तु!" और फिर व्यासजी और गणेशजी आमने-सामने बैठ गए। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी लिखते जाते थे। गणेशजी की गति तेज थी, इस कारण बीच-बीच में व्यासजी श्लोकों को ज़रा जटिल बना देते थे कि गणेशजी को समझने में कुछ देर लग जाती थी और उनकी लेखनी कुछ देर के लिए रुक जाती थी। इसी बीच व्यासजी कई और श्लोकों की मन-ही-मन रचना कर लेते थे। इस तरह महाभारत की कथा व्यासजी की ओजपूर्ण वाणी से प्रवाहित हुई और गणेशजी की अथक लेखनी ने उसे लिपिबद्ध किया।

ग्रंथ तैयार हो गया तो व्यासजी के मन में उसे सुरक्षित रखने तथा उसके प्रचार का प्रश्न उठा। उन दिनों छापेखाने तो थे नहीं। लोग ग्रंथों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे और इस प्रकार स्मरणशक्ति के सहारे उनको सुरक्षित रखते थे। व्यासजी ने महाभारत की यह कथा सबसे पहले अपने पुत्र शुकदेव को कण्ठस्थ कराई और बाद में अपने दूसरे शिष्यों को।

●

कहते हैं कि देवों को नारदमुनि ने महाभारत की कथा सुनाई थी, और शुक मुनि ने गन्धर्वों, राक्षसों तथा यक्षों में इसका प्रचार किया। यह तो सब जानते ही हैं कि मानव-जाति में महाभारत की कथा का

प्रसार महर्षि वैशंपायन के द्वारा हुआ। वैशंपायन व्यासजी के प्रमुख शिष्य थे। वह बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ थे।

महाराजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने एक बड़ा यज्ञ किया। उसमें उन्होंने वैशंपायन से महाभारत की कथा सुनाने की प्रार्थना की थी। वैशंपायनजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और महाभारत की कथा विस्तारपूर्वक कह सुनाई।

इस महायज्ञ में सुप्रसिद्ध पौराणिक सूतजी भी मौजूद थे। महाभारत की कथा सुनकर वह बहुत ही प्रभावित हुए। भगवान् व्यास के इस महाकाव्य से मनुष्य-मात्र को लाभ पहुंचाने की इच्छा उनके मन में प्रबल हुई। इस उद्देश्य से सूतजी ने नैमिषारण्य में समस्त ऋषियों की एक सभा बुलाई। महर्षि शौनक इस सभा के अध्यक्ष हुए।

"महाराज जनमेजय के नाग-यज्ञ के अवसर पर महर्षि वैशंपायन ने व्यासजी की आज्ञा से महाभारत की कथा सुनाई थी। वह पवित्र कथा मैंने सुनी और तीर्थाटन करते हुए कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि को भी जाकर देखा।"

इस भूमिका के साथ सूतजी ने ऋषियों की सभा में महाभारत की कथा प्रारम्भ की।

●

महाराजा शान्तनु के बाद उनके पुत्र चित्रांगद हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे। उनकी अकाल-मृत्यु हो जाने पर उनके भाई विचित्रवीर्य राजा हुए। उनके दो पुत्र हुए—धृतराष्ट्र और पाण्डु। बड़े लड़के धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे, इसलिए पाण्डु को गद्दी पर बिठाया गया।

पाण्डु ने कई वर्षों तक राज्य किया। उनके दो रानियां थीं—कुन्ती और माद्री। कुछ काल राज्य करने के बाद पाण्डु अपने किसी अपराध के प्रायश्चित्त के लिए तपस्या करने जंगल में गये। उनकी दोनों रानियां भी उनके साथ ही गईं। वनवास के समय कुन्ती और माद्री ने पांचों पांडवों को जन्म दिया। कुछ समय बाद पाण्डु की मृत्यु हो गई। पांचों अनाथ बच्चों का वन के ऋषि-मुनियों ने पालन-पोषण किया और पढ़ाया-लिखाया। जब युधिष्ठिर सोलह वर्ष के हुए तो ऋषियों ने पांचों कुमारों

को हस्तिनापुर ले जाकर पितामह भीष्म को सौंप दिया।

पांचों पांडव बुद्धि से तेज़ और शरीर के बली थे। छुटपन में ही उन्होंने वेद, वेदांग तथा सारे शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। क्षत्रियोचित शस्त्र-विद्याओं में भी वे दक्ष हो गए थे। उनकी प्रखर बुद्धि और मधुर स्वभाव ने सबको मोह लिया था। यह देखकर धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव उनसे जलने लगे और उन्होंने उनको तरह-तरह से कष्ट पहुंचाना शुरू किया।

दिन-पर-दिन कौरवों और पांडवों के बीच वैर-भाव बढ़ता गया। अन्त में पितामह भीष्म ने दोनों को किसी तरह समझाया और उनमें सन्धि कराई। भीष्म के आदेशानुसार कुरु-राज्य के दो हिस्से किये गए। कौरव हस्तिनापुर में ही राज्य करते रहे और पांडवों को एक अलग राज्य दिया गया, जो आगे चलकर इन्द्रप्रस्थ के नाम से मशहूर हुआ। इस प्रकार कुछ दिन शांति रही।

उन दिनों राजा लोगों में चौसर खेलने का आम रिवाज था। राज्य तक की बाजियां लगा दी जाती थीं। इस रिवाज के मुताबिक एक बार पांडवों और कौरवों ने चौपड़ खेला। कौरवों की तरफ से कुशल शकुनि खेला। उसने धर्मात्मा युधिष्ठिर को हरा दिया। इसके फलस्वरूप पांडवों का राज्य छिन गया और उनको तेरह वर्ष का वनवास भोगना पड़ा। उसमें एक शर्त यह भी थी कि बारह वर्ष के वनवास के बाद एक वर्ष अज्ञातवास करना होगा। उसके बाद उनका राज्य उन्हें लौटा दिया जायगा।

द्रौपदी के साथ पांचों पांडव बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास में बिताकर लौटे। पर लालची दुर्योधन ने लिया हुआ राज्य वापस करने से इन्कार कर दिया। अतः पांडवों को अपने राज्य के लिए लड़ना पड़ा। युद्ध में सारे कौरव मारे गए। पांडव उस विशाल साम्राज्य के स्वामी हुए।

इसके बाद छत्तीस वर्ष तक पांडवों ने राज्य किया और फिर अपने पोते परीक्षित को राज्य देकर द्रौपदी के साथ तपस्या करने हिमालय चले गए।

संक्षेप में यही महाभारत की कथा है।

महाभारत की गणना भारतीय साहित्य-भण्डार के सर्वश्रेष्ठ महाग्रंथों में की जाती है। इसमें पांडवों की कथा के साथ अनेक सुन्दर उपकथाएं हैं तथा बीच-बीच में सूक्तियों एवं उपदेशों के उज्ज्वल रत्न भी जुड़े हुए हैं। महाभारत एक विशाल महासागर है जिसमें अनमोल मोती और रत्न भरे पड़े हैं।

रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति और धार्मिक विचार के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।

: १ :
देवव्रत

"सुन्दरी, जो कोई भी तुम हो, मेरा प्रेम स्वीकार करो और मेरी पत्नी बन जाओ। मेरा राज्य, मेरा धन, यहां तक कि मेरे प्राण भी आज से तुम्हारे अर्पण हैं।" प्रेम-विह्वल राजा ने उस दैवी सुन्दरी से याचना की।

देवी गंगा एक सुन्दर युवती का रूप धारण किये नदी के तट पर खड़ी थी। उसके सौंदर्य और नवयौवन ने राजा शान्तनु को मोह लिया था।

स्मित-वदना गंगा बोली—"राजन्! आपकी पत्नी होना मुझे स्वीकार है। पर इससे पहले आपको मेरी कुछ शर्तें माननी होंगी। मानेंगे?"

राजा ने कहा—"अवश्य!"

गंगा बोली—"मुझसे कोई यह न पूछ सकेगा कि मैं कौन हूं और किस कुल की हूं? मैं कुछ भी करूं—अच्छा या बुरा, मुझे कोई न रोके। मेरी किसी भी बात पर कोई मुझपर नाराज न हो और न कोई मुझे डांटे-डपटे। मेरी ये शर्तें हैं। इनमें से एक के भी तोड़े जाने पर मैं उसी क्षण आपको छोड़कर चली जाऊंगी। स्वीकार है आपको?"

राजा शान्तनु ने गंगा की सारी शर्तें मान लीं और वचन दिया कि वह

उनका पूर्ण रूप से पालन करेंगे।

गंगा राजा शान्तनु के भवन की शोभा बढ़ाने लगी। उसके शील, स्वभाव, नम्रता और अंचचल प्रेम को देखकर राजा शान्तनु मुग्ध हो गए। काल-चक्र तेज़ी से घूमता गया, प्रेम-सुधा में मगन राजा और गंगा को उसका कोई भान न था।

समय पाकर गंगा से शान्तनु के कई तेजस्वी पुत्र हुए; पर गंगा ने उनको जीने न दिया। बच्चे के पैदा होते ही वह उसे नदी की बहती हुई धारा में फेंक देती और फिर हँसती-मुस्कराती राजा शान्तनु के महल में आ जाती।

अज्ञात सुन्दरी के इस व्यवहार से राजा शान्तनु चकित रह जाते। उनके आश्चर्य और क्षोभ का पारावार न रहता। सोचते, यह स्मितवदना और मृदुल गात और यह पैशाचिक व्यवहार! यह तरुणी कौन है? कहां की है? इस तरह के कई विचार उनके मन में उठते; पर वचन दे चुके थे, इस कारण मन मसोस कर रह जाते।

●

सूर्य के समान तेजस्वी सात बच्चों को गंगा ने इसी भांति नदी की धारा में बहा दिया। आठवां बच्चा पैदा हुआ। गंगा उसे भी लेकर नदी की तरफ जाने लगी तो शान्तनु से न रहा गया। बोले—"ठहरो, बताओ कि यह घोर पाप करने पर क्यों तुली हो? मां होकर अपने नादान बच्चों को अकारण ही क्यों मार दिया करती हो? यह घृणित व्यवहार तुम्हें शोभा नहीं देता।"

राजा की बात सुनकर गंगा मन-ही-मन मुस्कराई, पर क्रोध का अभिनय करती हुई बोली—

"राजन्! क्या आप अपना वचन भूल गए? मालूम होता है कि अब आपको पुत्र से ही मतलब है, मुझसे नहीं। आपको मेरी क्या परवाह है! ठीक है। पर शर्त के अनुसार मैं अब नहीं ठहर सकती। हां, आपके इस पुत्र को मैं नदी में नहीं फेंकूंगी।" इसके बाद गंगा ने अपना परिचय दिया और बोली—"राजन्! मैं वह गंगा हूं जिसका यश ऋषि-मुनि गाते हैं। जिन बच्चों को मैंने नदी की धारा में बहा दिया, वे

सात वसु थे। महर्षि वसिष्ठ ने आठों वसुओं को मर्त्यलोक में जन्म लेने का शाप दिया था। वसुओं ने मुझसे प्रार्थना की थी कि मैं उनकी मां बनूं और जन्मते ही उनको नदी की धारा में फेंक दूं ताकि मर्त्यलोक में अधिक समय जीवन न बिताना पड़े। मैंने उनकी प्रार्थना मान ली। तुम्हें लुभाया और उनको जन्म दिया। यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने तुम्हारे-जैसे यशस्वी राजा को पिता के रूप में पाया। तुम भी भाग्यशाली हो जो ये आठ वसु तुम्हारे पुत्र हुए। तुम्हारे इस अन्तिम बालक को मैं कुछ दिन पालूंगी और फिर पुरस्कार के रूप में तुम्हें सौंप दूंगी।"

यह कह कर गंगादेवी बच्चे को साथ लेकर चली गईं। यही बच्चा आगे चलकर भीष्म के नाम से विख्यात हुआ।

●

एक दिन आठों वसु अपनी पत्नियों-सहित हँसते-खेलते उस पहाड़ी के पास विचरण कर रहे थे जहाँ वसिष्ठ मुनि का आश्रम था। ऋतु सुहावनी थी और पहाड़ी का दृश्य मनोहर। वसु-दंपती निकुंजों और पहाड़ों पर विचरण करते हुए अपने खेलकूद में मग्न थे कि इतने में वसिष्ठ मुनि की गाय नन्दिनी अपने बछड़े के साथ चरती हुई उधर से आ निकली। उसके अलौकिक सौन्दर्य एवं दैवी छवि को देखकर वसु-पत्नियां मुग्ध हो गईं और उस मोदमयी गौ की प्रशंसा करने लगीं। एक वसु-पत्नी का मन उसको देखकर ललचा गया। उसने अपने पति प्रभास से अनुरोध किया कि यह गाय उसके लिए पकड़ ले।

सुनकर प्रभास हँसा। बोला—"प्रिये! हम लोग तो देवता हैं! दूध की हमें आवश्यकता ही क्या है? फिर हम महर्षि वसिष्ठ के तपोवन में हैं और यह उनकी प्यारी गाय नन्दिनी है। इस गाय का दूध मनुष्य पियें तो चिरजीवी बन सकते हैं। हम तो खुद ही अमर ठहरे। इसे लेकर क्या करेंगे? और फिर व्यर्थ ही मुनिवर का क्रोध क्यों मोल लें?"

इस प्रकार प्रभास ने अपनी पत्नी को समझाया, लेकिन वह न मानी। बोली—"यह गाय मैं अपने लिए थोड़े लेना चाह रही हूं!

बल्कि मर्त्यलोक में मेरी एक सहेली है, उसके लिए ले रही हूं। महर्षि वसिष्ठ इस समय तो आश्रम में हैं नहीं। उनके आने से पहले ही हमें इसे उड़ा ले जाना चाहिए। मेरे लिए क्या तुम इतना भी नहीं कर सकते ?"

प्रभास अपनी पत्नी की जिद टाल न सका। दूसरे वसुओं की सहायता से नन्दिनी और उसके बछड़े को वह भगा ले गया।

वसिष्ठ जब आश्रम लौटे तो नित्य का यज्ञानुष्ठान तथा पूजा-सामग्री प्रदान करनेवाली गाय और उसके बछड़े को न पाया। गाय की खोज में उन्होंने सारा वन-प्रदेश छान डाला, पर वह न मिली। तब मुनि ने अपने ज्ञान-चक्षु से देखा तो उन्हें पता लगा कि यह तो वसुओं की करतूत है। वसुओं की इस धृष्टता पर मुनि वसिष्ठ का शान्त मन क्रुद्ध हो उठा। चूंकि वसुओं ने देवता होकर मनुष्य का-सा लालच किया था, इसलिए मुनि ने शाप दिया कि ये आठों वसु मनुष्य-लोक में जन्म लें।

मुनि का तपोबल ऐसा था कि उनके शाप देते ही वसुओं के मन में घबराहट पैदा हो गई। बेचारे भागे आये और ऋषि के सामने गिड़-गिड़ाने और उनको मनाने लगे।

तब वसिष्ठ बोले—"मेरा शाप झूठा नहीं हो सकता। तुम लोगों को मर्त्य-लोक में जन्म तो लेना ही पड़ेगा। फिर भी प्रभास को छोड़कर बाकी सबके लिए इतना कर सकता हूं कि वे पृथ्वी पर जन्म लेते ही मुक्त हो जायगे। चूंकि तुम्हें उभाड़ने वाला प्रभास था, इसलिए उसे काफी दिन मर्त्य-लोक में जीवित रहना होगा। पर वह होगा बड़ा यशस्वी।"

मुनि के आश्रम से लौटते हुए वसु गंगादेवी के पास गये और उनके सामने अपना दुखड़ा रोया। गंगा से उन्होंने प्रार्थना की कि पृथ्वी पर वे ही उनकी माता बनें और उत्पन्न होते ही उनको जल में डुबोकर मुक्त कर दें। गंगा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उन्हीं की प्रार्थनानुसार गंगा ने यशस्वी शान्तनु को लुभाया और उनके सात बच्चों को, जो वसु ही थे, नदी में प्रवाहित कर दिया।

गंगा के चले जाने से राजा शान्तनु का मन विरक्त हो गया। उन्होंने भोगविलास से जी हटा लिया और राज-काज में मन लगाने लगे।

एक दिन राजा शिकार खेलते-खेलते गंगा के तट पर चले गए तो एक अलौकिक दृश्य देखा ! किनारे पर देवराज के समान एक सुन्दर और गठीला युवक खड़ा गंगा की बहती हुई धारा पर बाण चला रहा था। बाणों की बौछार से गंगा की प्रचण्ड धारा एकदम रुकी हुई थी। यह दृश्य देखकर शान्तनु दंग रह गये।

इतने में ही राजा के सामने स्वयं गंगा आकर उपस्थित हो गईं। गंगा ने युवक को अपने पास बुलाया और राजा से बोली—"राजन्, पहचाना मुझे और इस युवक को ? यही तुम्हारा और मेरा आठवां पुत्र देवव्रत है। महर्षि वसिष्ठ ने इसे वेद-वदांगों की शिक्षा दी है। शास्त्र-ज्ञान में शुक्राचार्य और रण-कौशल में परशुराम ही इसका मुकाबला कर सकते हैं। यह जितना कुशल योद्धा है, उतना ही चतुर राजनीतिज्ञ भी है। आपका पुत्र अब आपको सौंप रही हूं। अब ले जाइए इसे अपने साथ।"

गंगादेवी ने देवव्रत का माथा चूमा और आशीर्वाद देकर राजा के साथ उसे विदा किया।

: २ :

भीष्म-प्रतिज्ञा

तेजस्वी पुत्र को पाकर राजा प्रफुल्लित मन से नगर को लौटे। और देवव्रत राजकुमार के पद को सुशोभित करने लगे।

चार वर्ष और बीत गए। एक दिन राजा शान्तनु जमुना तट की तरफ घूमने गए तो वहां के वातावरण को अनैसर्गिक सुगन्धि से भरा पाया। उन्हें आश्चर्य हुआ कि मनोहारिणी सुवास कहां से आ रही होगी। इस बात का पता लगाने के लिए वह जमुना-तट पर इधर-उधर खोजने लगे कि सामने अप्सरा-सी सुन्दर एक तरुणी खड़ी दिखाई दी। उसी सुन्दरी की कमनीय देह से यह सुवास निकल रही थी और सारे

वन-प्रदेश को सुवासित कर रही थी।

तरुणी का नाम सत्यवती था। पराशर मुनि से उसे वरदान मिला था कि उसके सुकोमल शरीर से सदा दिव्य सुगन्ध निकलती रहेगी।

गंगा के वियोग के कारण राजा के मन में जो विराग छाया हुआ था वह इस सौरभमयी तरुणी को देखते ही विलीन हो गया। उस अलौकिक सुन्दरी को अपनी पत्नी बनाने की इच्छा उनके मन में बलवती हो उठी और उन्होंने सत्यवती से प्रेम-याचना की। सत्यवती बोली—"मेरे पिता मल्लाहों के सरदार हैं। उनकी अनुमति ले लो तो मैं आपकी पत्नी बनने को तैयार हूं।"

उसकी मीठी बोली उसके सौन्दर्य के अनुरूप ही थी।

पर केवटराज बड़े चतुर निकले। राजा शान्तनु ने जब अपनी इच्छा उनपर प्रकट की तो दाशराज ने कहा—

"जब लड़की है तो इसका विवाह भी किसी-न-किसीसे तो करना ही होगा। और इसमें सन्देह नहीं कि आपके जैसा सुयोग्य वर इसको और कहां मिलेगा? पर मुझे एक बात का वचन देना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"जो मांगोगे दूंगा, यदि वह मेरे लिए अनुचित न हो।"

केवटराज बोले—"आपके बाद हस्तिनापुर के राज-सिंहासन पर मेरी लड़की का पुत्र बैठे। इस बात का आप मुझे वचन दे सकते हैं?"

केवटराज की शर्त राजा शान्तनु को नागवार लगी। काम-वासना से राजा की सारी देह विदग्ध हो रही थी। फिर भी उनसे ऐसा अन्याय-पूर्ण वचन देते न बना। गंगा-सुत को छोड़कर अन्य किसीको राजगद्दी पर बिठाने की कल्पना तक उनसे न हो सकी। निराश और उद्विग्न मन से वह नगर को लौट आये। किसीसे कुछ कह भी न सके। पर चिन्ता उनके मन को कीड़े की तरह कुतर-कुतरकर खाने लगी। वह दिन-पर-दिन दुर्बल होने लगे।

●

देवव्रत ने देखा कि पिता के मन में कोई-न-कोई व्यथा समाई हुई है। एक दिन उसने शान्तनु से पूछा—

"पिताजी संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं जो आपको प्राप्त न हो। फिर भी इधर कुछ दिनों से आप दुःखी दिखाई दे रहे हैं। आपका चेहरा पीला पड़ता जा रहा है और शरीर भी दुबला हो रहा है। आपको किस बात की चिन्ता है?"

शान्तनु को सच्ची बात कहते ज़रा झेंप आई। फिर भी कुछ-न-कुछ बतलाना ही था। बोले—"बेटा! तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो। और युद्ध का तो तुम्हें व्यसन-सा हो गया है। किसी-न-किसी दिन तुम युद्ध में जाओगे अवश्य। और संसार में किसी बात का ठिकाना नहीं। परमात्मा न करे, तुमको कुछ हो जाय तो फिर हमारे वंश का क्या होगा? इसीलिए तो शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं कि एक पुत्र का होना-न-होना बराबर है। मुझे इसी बात की चिन्ता है कि वंश की यह कड़ी बीच ही में टूट न जाय।"

यद्यपि शान्तनु ने गोलमोल बातें बताईं फिर भी कुशाग्र-बुद्धि देवव्रत को बात समझते देर न लगी। उन्होंने राजा के सारथी से पूछताछ करके उस दिन केवटराज से जमुना नदी के किनारे जो कुछ बातें हुईं थीं, इसका पता लगा लिया। पिताजी के मन की व्यथा जानकर देवव्रत सीधे केवटराज के पास गये और उससे कहा कि वह अपनी लड़की सत्यवती का विवाह महाराज शान्तनु से कर दें।

केवटराज ने अपनी वही शर्त दुहराई जो उन्होंने शान्तनु के सामने रक्खी थी।

देवव्रत ने कहा—"यदि तुम्हारी आपत्ति का कारण यही है तो मैं वचन देता हूं कि मैं राज्य का लोभ नहीं करूंगा। सत्यवती का पुत्र ही मेरे पिता के बाद राजा बनेगा।"

लेकिन केवटराज इसीसे सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने और दूर की सोची। बोले—"आर्यपुत्र, निःसन्देह आप बड़े वीर हैं। आपने आज एक ऐसा कार्य किया है जो इतिहास में निराला है। आप ही मेरी कन्या के पिता बन जायं और इसे ले जाकर राजा शान्तनु को ब्याह दें। पर मेरे मन में एक और सन्देह रह गया है। उसे भी आप दूर दें तो फिर मुझे कोई आपत्ति न होगी।

"इस बात का तो मुझे पूरा भरोसा है कि आप अपने वचन पर अटल रहेंगे। किन्तु आपकी सन्तान से मैं वही आशा कैसे रख सकता हूं? आप जैसे वीर का पुत्र भी तो वीर ही होगा। बहुत संभव है कि वह मेरे नाती से राज्य छीनने का प्रयत्न करे। इसके लिए आपके पास क्या समाधान है?"

केवटराज का प्रश्न लाजवाब था। उसे सन्तुष्ट करने का यही अर्थ हो सकता था कि देवव्रत अपने भविष्य का बलिदान कर दें। पितृभक्त देवव्रत इससे ज़रा भी विचलित न हुए। गम्भीर स्वर में उन्होंने यह कहा—"मैं जीवन-भर ब्याह न करूंगा—आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा। मेरे सन्तान ही न होगी। अब तो तुम सन्तुष्ट हो?"

किसीको आशा न थी की तरुण कुमार ऐसी कठोर प्रतिज्ञा करेंगे। खुद केवटराज को रोमांच हो आया।

देवताओं ने फूल बरसाए। दिशाएं "धन्य महावीर, धन्य भीष्म" के घोष से गूंज उठीं। भयंकर कार्य करनेवाले को भीष्म कहते हैं। देवव्रत ने भयंकर प्रतिज्ञा की थी, इसलिए उस दिन से उनका नाम ही भीष्म पड़ गया। केवटराज ने सानन्द अपनी पुत्री को देवव्रत के साथ विदा किया।

●

सत्यवती से शान्तनु के दो पुत्र हुए—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। शान्तनु के देहावसान पर चित्रांगद और उनके युद्ध में मारे जाने पर विचित्रवीर्य हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे। विचित्रवीर्य के दो रानियां थीं—अम्बिका और अम्बालिका। अम्बिका के पुत्र थे धृतराष्ट्र और अम्बालिका के पाण्डु। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव कहलाये और पाण्डु के पांडव।

महात्मा भीष्म शान्तनु के बाद से लेकर कुरुक्षेत्र-युद्ध के अन्त तक उस विशाल राजवंश के सम्मान्य कुलनायक और पूज्य बने रहे। शान्तनु के बाद कुरुवंश का क्रम यह रहा—
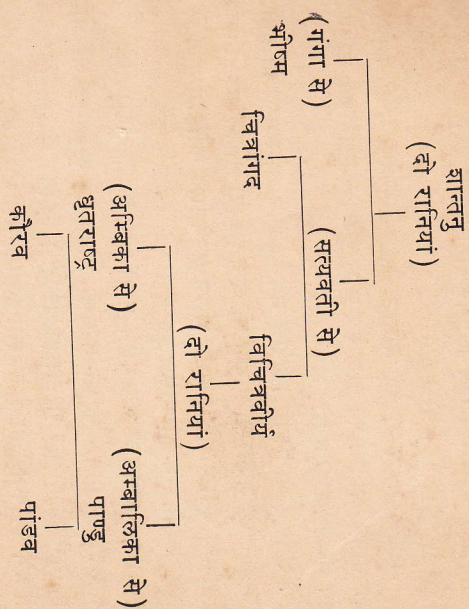
: ३ :

अम्बा और भीष्म

सत्यवती के पुत्र चित्रांगद बड़े ही वीर पर स्वेच्छाचारी थे। एक बार किसी गंधर्व के साथ युद्ध हुआ, उसमें वह मारे गये। उनके कोई पुत्र न था, इसलिए उनके छोटे भाई विचित्रवीर्य हस्तिनापुर की राजगद्दी पर बैठे। विचित्रवीर्य की आयु उस समय बहुत छोटी थी। इस कारण उनके बालिग होने तक राज-काज भीष्म को ही संभालना पड़ा।

जब विचित्रवीर्य विवाह योग्य हुए तो भीष्म को उनके विवाह की चिन्ता हुई। उन्हें खबर लगी कि काशीराज की कन्याओं का स्वयंवर होनेवाला है। यह जानकर भीष्म बड़े खुश हुए और स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए काशी रवाना हो गये।

काशीराज की कन्याएं अपूर्व सुन्दरियां थीं। उनके रूप और गुण का यश दूर-दूर तक फैला हुआ था। इसलिए देश-विदेश के असंख्य राजकुमार उनके स्वयंवर में भाग लेने के लिए आये थे। स्वयंवर-मंडप

उनकी भीड़ से खचाखच भरा हुआ था। राजपुत्रियों को पाने के लिए आपस में बड़ी स्पर्द्धा थी।

क्षत्रियों में भीष्म की प्रतिष्ठा अद्वितीय थी। उनके महान् त्याग तथा भीषण प्रतिज्ञा का हाल सब जानते थे। इसलिए वह जब स्वयंवर मंडप में प्रविष्ट हुए तो राजकुमारों ने सोचा कि वह सिर्फ स्वयंवर देखने के लिए आये होंगे। परन्तु जब स्वयंवर में सम्मिलित होनेवालों में उन्होंने भी अपना नाम दिया तो अन्य कुमारों को निराश होना पड़ा। उनको क्या पता था कि दृढ़व्रती भीष्म अपने लिए नहीं, किन्तु अपने भाई के लिए स्वयंवर में सम्मिलित हुए हैं।

सभा में खलबली मच गई। चारों ओर से भीष्म पर फब्तियां कसी जाने लगीं—"माना कि भारत-श्रेष्ठ भीष्म बड़े बुद्धिमान और विद्वान् हैं, किन्तु साथ ही बूढ़े भी तो हो चले हैं। स्वयंवर से इनको मतलब? इनके प्रण का क्या हुआ? तो क्या इन्होंने सस्ते में ही यश कमा लिया? जीवन-भर ब्रह्मचारी रहने की इन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी क्या वह झूठी ही थी?" इस भांति सब राजकुमारों ने भीष्म की हँसी उड़ाई, यहां-तक कि काशीराज की कन्याओं ने भी वृद्ध भीष्म की तरफ से दृष्टि फेर ली और उनकी अवगणना-सी करके आगे की ओर चल दीं।

अभिमानी भीष्म इस अवहेलना को सह न सके। मारे क्रोध के उनकी आंखें लाल हो गईं। उन्होंने सभी इकट्ठे राजकुमारों को युद्ध के लिए ललकारा और अकेले तमाम राजकुमारों को हराकर तीनों राजकन्याओं को बलपूर्वक लाकर रथ पर बिठा लिया और हस्तिनापुर को चल दिये। सौभदेश का राजा शाल्व बड़ा वीर और स्वाभिमानी था। काशीराज की सबसे बड़ी कन्या अम्बा उसपर अनुरक्त थी और उसको ही मन में अपना पति मान लिया था। शाल्व ने भीष्म के रथ का पीछा किया और उसको रोकने का प्रयत्न किया। इसपर भीष्म और शाल्व के बीच घोर युद्ध छिड़ गया। शाल्व वीर अवश्य था, परन्तु धनुष के धनी भीष्म के आगे कबतक ठहर सकता था? भीष्म ने उसे हरा दिया; किन्तु काशीराज की कन्याओं की प्रार्थना पर उसे जीवित ही छोड़ दिया।

भीष्म काशीराज की कन्याओं को लेकर हस्तिनापुर पहुंचे। विचित्र-वीर्य के ब्याह की सारी तैयारी हो जाने के बाद जब कन्याओं को विवाह-मण्डप में ले जाने का समय आया तो काशीराज की जेठी लड़की अम्बा एकान्त में भीष्म से बोली—

"गांगेय, आप बड़े धर्मज्ञ हैं। मेरी एक शंका है, उसे आप ही दूर कर सकते हैं। मैंने अपने मन में सौभ-देश के राजा शाल्व को अपना पति मान लिया था। इसी बीच आप बलपूर्वक मुझे यहां ले आये। आप सब धर्मात्मा भी हैं। मेरे मन की बात जानने के बाद अब मेरे बारे में जो उचित समझें, करें।"

धर्मात्मा भीष्म को अम्बा की बात जंची। उन्होंने अम्बा को उसकी इच्छानुसार उचित प्रबन्ध के साथ शाल्व के पास भेज दिया और अम्बा की दोनों बहनों—अम्बिका और अम्बालिका का विचित्रवीर्य के साथ विवाह कर दिया।

अम्बा अपने मनोनीत वर सौभराज शाल्व के पास गई और सारा वृत्तांत कह सुनाया। उसने कहा—

"राजन्! मैं आपको ही अपना पति मान चुकी हूं। मेरे अनुरोध से भीष्म ने मुझे आपके यहां भेजा है। आप शास्त्रोक्त विधि से मुझे अपनी पत्नी स्वीकार कर लें।

पर शाल्व न माना। उसने अम्बा से कहा—"सारे राजकुमारों के सामने भीष्म ने मुझे युद्ध में पराजित किया और तुम्हें बलपूर्वक हरण करके ले गये। इतने बड़े अपमान के बाद मैं तुम्हें कैसे स्वीकार कर सकता हूं? तुम्हारे लिए अब उचित यही है कि तुम भीष्म के पास ही जाओ और उनकी सलाह के मुताबिक ही काम करो।" यह कहकर सौभराज शाल्व ने प्रणय-कामिनी अम्बा को भीष्म के पास लौटा दिया।

बेचारी अम्बा हस्तिनापुर लौट आई और भीष्म को सारा हाल कह सुनाया। उन्होंने विचित्रवीर्य से कहा—"वत्स, राजा शाल्व अम्बा को स्वीकार नहीं करता। इससे विदित होता है कि उसकी इच्छा अम्बा को पत्नी बनाने की नहीं थी। अब इसके साथ तुम्हारे ब्याह करने में

कोई आपत्ति नहीं रही ।" पर विचित्रवीर्य अम्बा के साथ ब्याह करने को राजी न हुए । क्षत्रिय जो ठहरे ! बोले—"भाईसाहब, इसका मन एक बार राजा शाल्व पर रीझ गया है और यह उन्हें मन में अपना पति मान चुकी है । क्षत्रिय होकर ऐसी स्त्री के साथ कैसे ब्याह करूं ?"

बेचारी अम्बा न इधर की रही न उधर की । कोई और रास्ता न देख वह भीष्म से बोली—"गांगेय, मैं तो दोनों ओर से ही गई । मेरा कोई सहारा न रहा । आप ही मुझे हर लाये थे । अतः अब आप ही का कर्त्तव्य है कि आप मेरे साथ ब्याह कर लें ।"

भीष्म ने उसकी बात ध्यान से सुनी और अपनी प्रतिज्ञा की याद दिलाकर बोले—"अपनी प्रतिज्ञा को मैं नहीं तोड़ सकता ।" उन्होंने अम्बा की परिस्थिति समझकर विचित्रवीर्य से दुबारा आग्रह किया कि वह अम्बा के साथ ब्याह करले, पर उसने न माना । तब भीष्म ने अम्बा को फिर समझाया और कहा कि सौभराज शाल्व ही के पास जाओ और एक बार फिर प्रार्थना करो । लेकिन अम्बा को दुबारा शाल्व के पास जाते लज्जा आई । उसने भीष्म से बहुत आग्रह किया कि वह ही उसे पत्नी के रूप में स्वीकार कर लें । किन्तु भीष्म अपनी प्रतिज्ञा से टस-से-मस न हुए ।

लाचार अम्बा फिर शाल्व के पास गई और उसने उसकी बहुत मिन्नतें कीं । लेकिन दूसरे की जीती हुई कन्या को स्वीकार करने से सौभराज ने साफ इन्कार कर दिया ।

कमल-नयनी अम्बा इस प्रकार छः साल तक हस्तिनापुर और सौभ-देश के बीच ठोकरें खाती फिरी । रो-रोकर बेचारी के आंसू तक सूख गये । उसके दिल के टुकड़े-टुकड़े हो गये । उसको पूछनेवाला कोई न रहा । उसने अपने इस सारे दुःख का कारण भीष्म को ही समझा । उनपर उसे बहुत क्रोध आया और प्रतिहिंसा की आग उसके मन में जलने लगी ।

भीष्म से बदला लेने की इच्छा से वह कई राजाओं के पास गई और उनको अपना दुखड़ा सुनाया । भीष्म से युद्ध करके उनका वध करने

की उसने राजाओं से प्रार्थना की । पर राजा लोग तो भीष्म के नाम से डरते थे । किसीमें इतना साहस न था कि भीष्म से युद्ध करें ।

जब मनुष्यों से उसकी कामना पूरी न हो सकी तो अम्बा ने भगवान कार्तिकेय का ध्यान करते हुए घोर तपस्या आरम्भ की । अन्त में उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर कार्तिकेय प्रकट हुए और सदा ताजे रहनेवाले कमल के फूलों की माला अम्बा के हाथों में देते हुए बोले—"अम्बा, तेरी तपस्या सफल होगी । यह माला लो । जो इसे पहनेगा, वह भीष्म के नाश का कारण होगा ।"

माला पाकर अम्बा बड़ी प्रसन्न हुई । उसने सोचा की अब मेरी इच्छा पूरी होगी । माला लेकर वह फिर कई राजाओं के दरवाजे गई और प्रार्थना की कि कोई भी भगवान् कार्तिकेय का दिया हुआ यह हार पहन ले और भीष्म से युद्ध करे । पर किसी क्षत्रिय में इतनी हिम्मत न थी कि महान् पराक्रमी भीष्म से शत्रुता मोल लेता । पर वह हिम्मत न हारी ।

उसने सुना था कि पांचाल-देश के राजा द्रुपद बड़े प्रतापी और वीर हैं । वह उनके पास गई और भीष्म से लड़ने के लिए प्रार्थना की । पर जब उन्होंने भी उसकी बात न मानी तब तो उसकी आशा पर पानी फिर गया । हताश हो वह द्रुपद के ही महल के द्वार पर माला टांगकर चली गई, उसके उद्विग्न हृदय को कहीं शान्ति न मिली । मानो व्यथा ही उसकी एकमात्र सहेली बन गई ।

क्षत्रियों से एकदम निराश होकर अम्बा ने तपस्वी ब्राह्मणों की शरण ली और उनसे कहा कि भीष्म ने कैसे उसके जीवन को दुखी और अपमानपूर्ण बना दिया ।

तपस्वियों ने कहा—"बेटी, तुम परशुराम के पास जाओ । वह तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करेंगे ।" ऋषियों की सलाह पर अम्बा क्षत्रिय-दमन परशुराम के पास गई ।

अम्बा की करुण कहानी सुनकर परशुराम का हृदय पिघल गया । उन्होंने दयार्द्र स्वर में कहा—"काशीराज-कन्ये, तुम मुझसे क्या चाहती हो ? यदि तुम्हारी यह इच्छा है कि मैं शाल्व से तुम्हारा ब्याह करा

दूं तो मैं प्रस्तुत हूं। शाल्व मेरा प्रिय है। वह मेरा कहा अवश्य मानेगा।"

अम्बा ने कहा—"ब्राह्मण-वीर, मैं ब्याह करना नहीं चाहती। मेरी प्रार्थना केवल यही है कि आप भीष्म से युद्ध करें। मैं आपसे भीष्म के वध की भीख मांगती हूं।"

परशुराम को अम्बा की प्रार्थना पसंद आई। क्षत्रियों के शत्रु जो ठहरे! बड़े उत्साह के साथ वह भीष्म के पास गए और उन्हें युद्ध के लिए ललकारा। दोनों कुशल योद्धा थे और धनुष-विद्या के जानकार भी। दोनों ही जितेन्द्रिय थे—ब्रह्मचारी थे। समान योद्धाओं की टक्कर थी। कई दिनों तक युद्ध होता रहा। फिर भी हार-जीत का निश्चय न हो सका। अन्त में परशुराम ने हार मान ली और उन्होंने अम्बा से कहा—"जो कुछ मेरे बस में था, कर चुका। अब तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम भीष्म ही की शरण लो।"

अम्बा के क्षोभ और शोक की सीमा न रही। निराश होकर वह हिमालय पर चली गई और कैलासपति महेश्वर की आराधना में कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। कैलासनाथ उससे प्रसन्न हुए और उसे दर्शन देकर बोले—"पुत्री, तुम्हारी तपस्या सफल हुई। अगले जन्म में तुम्हारे हाथों भीष्म की अवश्य मृत्यु होगी।" यह कहकर कैलासपति अन्तर्द्धान हो गये।

भीष्म से जितनी जल्दी हो सके बदला लेने के लिए अम्बा उत्कंठित हो उठी। स्वाभाविक मृत्यु तक ठहरना भी उसको दूभर मालूम हुआ। उसने एक भारी चिता जलाई। क्रोध के कारण उसकी आंखें अग्नि के समान ही प्रज्वलित हो उठीं। जब उसने धधकती हुई आग में कूदकर प्राणों की आहुति दी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों अग्नि से अग्नि की भेंट हो रही हो।

महादेव के वरदान से अम्बा दूसरे जन्म में राजा द्रुपद की कन्या हुई। पिछले जन्म की बातें उसे भली भांति याद थीं। जब वह ज़रा बड़ी हुई तो खेल-खेल में भवन के द्वार पर टंगी हुई वह कमल के फूलों की माला, जो अम्बा को पिछले जन्म में भगवान् कार्त्तिकेय से प्राप्त हुई थी, उठाकर उसने अपने गले में डाल ली। कन्या की यह बात देखकर राजा द्रुपद घबरा उठे। सोचा—इस पगली कन्या के कारण भीष्म से वैर क्यों मोल लूं? यह सोच राजा द्रुपद ने उसे अपने घर से निकाल दिया।

पर अम्बा ऐसी बातों से कब विचलित होनेवाली थी? उसने वन में जाकर फिर तपस्या शुरू की और तपोबल से स्त्री-रूप छोड़कर पुरुष बन गई और उसने अपना नाम शिखण्डी रख लिया।

जब कौरवों और पांडवों के बीच कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध हुआ तो भीष्म के विरुद्ध लड़ते समय शिखण्डी ने ही अर्जुन का रथ चलाया था। शिखण्डी रथ के आगे बैठा था और अर्जुन ठीक उसके पीछे। ज्ञानी भीष्म को यह बात मालूम थी कि अम्बा ही शिखण्डी का रूप धारण किये हुए है। इसलिए उन्होंने उसपर बाण चलाना अपनी वीरोचित प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा। शिखण्डी को आगे करके अर्जुन ने भीष्म पितामह पर हमला किया और अन्त में उनपर विजय प्राप्त की। जब भीष्म आहत होकर पृथ्वी पर गिरे तब जाकर अम्बा का क्रोध शान्त हुआ।

: ४ :

कच और देवयानी

एक बार देवताओं और असुरों के बीच इस बात पर लड़ाई छिड़ गई कि तीनों लोकों पर किसका आधिपत्य हो। बृहस्पति देवताओं के गुरु थे और असुरों के शुक्राचार्य। वेद-मंत्रों पर बृहस्पति का पूर्ण अधिकार था और शुक्राचार्य का ज्ञान सागर-जैसा अथाह था। इन्हीं दो ब्राह्मणों के बुद्धि-बल पर देवासुर-संग्राम होता रहा।

शुक्राचार्य को मृत-संजीवनी विद्या का ज्ञान था। इससे युद्ध में जितने भी असुर मारे जाते उनको वह फिर जिला देते थे। इस तरह युद्ध में जितने असुर खेत रहते थे, वे शुक्राचार्य की संजीवनी विद्या से जी उठते और फिर मोर्चे पर आ डटते। देवताओं के पास यह विद्या नहीं थी। देव-गुरु बृहस्पति संजीवनी विद्या नहीं जानते थे। इस कारण देवता सोच में पड़ गये। उन्होंने आपस में इकट्ठे होकर मंत्रणा की

और एक युक्ति खोज निकाली । वे सब देव-गुरु के पुत्र कच के पास गये और उनसे बोले—"गुरुपुत्र ! तुम हमारा काम बना दो तो बड़ा उपकार हो । तुम अभी जवान हो और तुम्हारा सौन्दर्य मन को लुभाने-वाला है । तुम यह काम आसानी से कर सकोगे । करना यह है कि तुम शुक्राचार्य के पास ब्रह्मचारी बनकर जाओ और उनकी खूब सेवा-टहल करके उनके विश्वासपात्र बन जाओ; उनकी सुन्दरी कन्या का प्रेम प्राप्त करो और फिर शुक्राचार्य से संजीवनी विद्या सीख लो ।"

कच ने देवताओं की प्रार्थना मान ली ।

शुक्राचार्य असुरों के राजा वृषपर्वा की राजधानी में रहते थे । कच वहां पहुंचकर असुर-गुरु के घर गया और आचार्य को दण्डवत करके बोला—"आचार्य, मैं अंगिरा मुनि का पोता और बृहस्पति का पुत्र हूं । मेरा नाम कच है । आप मुझे अपना शिष्य स्वीकार करने की कृपा करें । मै आपके अधीन पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करूंगा ।"

उन दिनों ब्राह्मणों में यह नियम था कि कोई सुयोग्य व्यक्ति किसी उपाध्याय या आचार्य का शिष्य बनकर विद्याध्ययन करना चाहता तो उसकी प्रार्थना स्वीकार की जाती । शर्त यह रहती कि जो शिष्य बनना चाहे उसे ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्ण पालन करना आवश्यक होता था ।

इस कारण विरोधीपक्ष का होने पर भी शुक्राचार्य ने कच की प्रार्थना स्वीकार कर ली । उन्होंने कहा—"बृहस्पति-पुत्र ! तुम अच्छे कुल के हो । तुम्हें मैं अपना शिष्य स्वीकार करता हूं । इससे बृहस्पति भी गौरवान्वित होंगे ।"

कच ने ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा ली और शुक्राचार्य के यहां रहने लगा । वह बड़ी तत्परता के साथ शुक्राचार्य और उनकी कन्या देवयानी की सेवा-शुश्रूषा करने लगा । आचार्य शुक्र अपनी पुत्री को बहुत चाहते थे । इस कारण कच देवयानी को प्रसन्न रखने का हमेशा प्रयत्न करता । उसकी इच्छाओं का बराबर ध्यान रखता । इसका असर देवयानी पर भी हुआ । वह कच के प्रति आसक्त होने लगी, पर कच अपने ब्रह्मचर्य-व्रत पर दृढ़ रहा । इस तरह कई वर्ष बीत गए ।

असुरों को जब पता चला कि देव-गुरु बृहस्पति का पुत्र कच शुक्राचार्य

का शिष्य हो गया है तो उनको भय हुआ कि कहीं शुक्राचार्य से वह संजीवनी-विद्या न सीख ले । अतः उन्होंने कच को मार डालने का निश्चय किया ।

एक दिन कच जंगल में आचार्य की गायें चरा रहा था कि असुर उसपर टूट पड़े और उसके टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तों को खिला दिया । शाम हुई तो गायें अकेली घर लौटीं ।

जब देवयानी ने देखा कि गायों के साथ कच नहीं आया है तो उसके मन में शंका पैदा हो गई । उसका दिल धड़कने लगा । वह पिता के पास दौड़ी गई और बोली—"पिताजी, सूरज डूब गया । गायें अकेली वापस आ गईं । आपका अग्निहोत्र भी समाप्त हो गया । पर फिर भी न जाने क्यों कच अभी तक नहीं लौटा । मुझे भय है कि जरूर उसपर कोई-न-कोई विपत्ति आ गई होगी । उसके बिना मैं कैसे जिऊंगी ?" कहते-कहते देवयानी की आंखें भर आईं ।

अपनी प्यारी बेटी का कष्ट शुक्राचार्य से नहीं देखा गया । उन्होंने संजीवनी-विद्या का प्रयोग किया और मृत कच का नाम पुकारकर बोले—"आओ, कच ! मेरे प्रिय शिष्य कच, आओ !" संजीवन मंत्र की शक्ति ऐसी थी कि शुक्राचार्य के पुकारते ही मरे हुए कच के शरीर के टुकड़े कुत्तों के पेट फाड़कर निकल आये और जुड़ गये । कच जीवित हो उठा और गुरु के सामने हाथ जोड़कर आ खड़ा हुआ । उसके मुख पर आनन्द की झलक थी ।

देवयानी ने पूछा—"क्यों कच ! क्या हुआ था ? किसलिए इतनी देर हुई ।"

कच ने सरल भाव से उत्तर दिया—"जंगल में गायें चराने के बाद लड़की का गट्ठा सिर पर रखे आ रहा था कि ज़रा थकावट मालूम हुई । एक बरगद के पेड़की छाया में ज़रा देर विश्राम करने बैठ गया । गायें भी पेड़ की ठंडी छाया में खड़ी हो गईं । इतने में कुछ असुरों ने आकर पूछा—

"तुम कौन हो ?"

"मैंने उत्तर दिया—'मैं बृहस्पति का पुत्र कच हूं ।' इसपर उन्होंने

परन्तु मुझपर तलवार का वार किया और मुझे मार डाला। न जाने कैसे फिर मैं जीवित हो गया हूं ! बस मैं इतना ही जानता हूं।"

कुछ दिन और बीत गए। एक बार कच देवयानी के लिए फूल लाने जंगल गया। असुरों ने वहीं उसे घेर लिया और खत्म कर दिया। और उसके टुकड़ों को पीसकर समुद्र में बहा दिया।

इधर देवयानी कच की बाट जोह रही थी। शाम होने के बाद भी जब कच न लौटा तो घबराकर उसने अपने पिता से कहा। शुक्राचार्य ने पहले ही की भांति संजीवन-मंत्र का प्रयोग किया। कच समुद्र के पानी से जीवित निकल आया और सारी बातें देवयानी को कह सुनाईं।

इस प्रकार असुर इस ब्रह्मचारी के पीछे हाथ धोकर पड़ गए थे। उन्होंने तीसरी बार फिर कच की हत्या डाली। उसके मृत शरीर को जलाकर भस्म कर दिया और उसकी राख मदिरा में घोलकर स्वयं शुक्राचार्य को ही पिला दी। शुक्राचार्य को मदिरा का बड़ा व्यसन था। असुरों की दी हुई सुरा बिना देखे-भाले ही पी गये। कच के शरीर की राख उनके पेट में पहुंच गई।

सन्ध्या हुई, गायें घर लौट आईं; पर कच न आया। देवयानी फिर पिता के पास आंखों में आँसू भरकर बोली—"पिताजी कच को पापियों ने फिर मार डाला मालूम होता है। उसके बिना मैं पलभर भी जी नहीं सकती।"

शुक्राचार्य बेटी को समझाते हुए बोले—"मालूम होता है, असुर लोग कच का प्राण लेने पर तुल गए हैं। मैं कितनी ही बार उसे क्यों न जिलाऊँ, आखिर वे उसे मारकर ही छोड़ेंगे। किसीकी मृत्यु पर शोक करना तुम-जैसी समझदार लड़की को शोभा नहीं देता। तुम मेरी पुत्री हो। तुम्हें कमी किस बात की है ! सारा संसार तुम्हारे आगे सिर झुकाता है। फिर तुम्हें किस बात का शोच है; व्यर्थ शोक न करो।"

शुक्राचार्य ने हजार समझाया, किन्तु देवयानी न मानी। उस तेजस्वी ब्रह्मचारी पर वह जान जो देती थी। उसने कहा—"पिताजी, अंगिरा ऋषि का पोता और देव-गुरु बृहस्पति का बेटा कच कोई साधा-

रण युवक नहीं है। वह अटल ब्रह्मचारी है। तपस्या ही उसका धन है। वह यत्नशील था और कार्य-कुशल भी। ऐसे युवक के मारे जाने पर मैं उसके बिना नहीं जी सकती। मैं भी उसीका अनुकरण करूंगी।" यह कहकर शुक्र-कन्या देवयानी ने अनशन शुरू कर दिया—खाना-पीना छोड़ दिया।

शुक्राचार्य को असुरों पर बड़ा क्रोध आया। उनको लगा कि अब असुरों का भला नहीं, जो ऐसे निर्दोष ब्राह्मण की हत्या करने पर तुल गये हैं। उन्होंने कच को जीवित करने के लिए संजीवन-मंत्र पढ़ा और पुकारकर बोले—"वत्स, आ जाओ।"

उनके पुकारते ही कच जीवित हो उठा और आचार्य के पेट के अन्दर से ही बोला—"भगवन् मेरा दण्डवत स्वीकार करें।"

अपने पेट के भीतर से कच को बोलते हुए सुनकर शुक्राचार्य बड़े अचरज में पड़ गए और पूछा—"हे ब्रह्मचारी ! मेरे पेट के अन्दर तुम कैसे पहुंचे ? क्या यह भी असुरों की ही करतूत है ? जल्दी बताओ। मैं इन पापियों का सत्यानाश कर डालूंगा।" क्रोध के मारे शुक्राचार्य के ओठ फड़कने लगे।

कच ने शुक्राचार्य को पेट के अन्दर से ही सारी बातें बता दीं, महानुभाव, तपोनिधि तथा असीम महिमावाले शुक्राचार्य को जब यह ज्ञात हुआ कि मदिरा-पान के ही कारण धोखे में उनसे यह अनर्थ हुआ है तो उन्हें अपने ही ऊपर बड़ा क्रोध आया। तत्काल ही मनुष्य-मात्र की भलाई के लिए यह अनुभव-वाणी उनके मुंह से निकल पड़ी—

"जो मन्दबुद्धि अपनी नासमझी के कारण मदिरा पीता है धर्म उसी क्षण उसका साथ छोड़ देता है। वह सभीकी निन्दा और अवज्ञा का पात्र बन जाता है। यह मेरा निश्चित मत है। लोग आज से इस बात को शास्त्र मान लें और इसीपर चलें।"

इसके बाद शुक्राचार्य ने शान्त होकर अपनी पुत्री से पूछा—"बेटी, यदि कच को जिलाता हूं तो मेरी मृत्यु हो जाती है, क्योंकि उसे मेरा पेट चीरकर ही निकलना पड़ेगा। बताओ, तुम क्या चाहती हो ?"

यह सुनकर देवयानी रो पड़ी। आँसू बहाती हुई बोली—"हाय, अब मैं क्या करूं? कच के बिछोह का दुःख मुझे आग की तरह जला देगा और आपकी मृत्यु के बाद तो मैं जीवित रह ही न सकूंगी। हे भगवन्, मैं तो दोनों तरफ से मरी।"

शुक्राचार्य कुछ देर सोचते रहे। उन्होंने दिव्य दृष्टि से जान लिया कि बात क्या है। वह कच से बोले—"बृहस्पति-पुत्र, तुम्हारे यहां आने का रहस्य मेरी समझ में आ गया है। अब तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। देवयानी के लिए तुम्हें जिलाना ही पड़ेगा। साथ ही मुझे भी जीवित रहना होगा। इसका केवल एक ही उपाय है और वह यह कि मैं तुम्हें संजीवनी विद्या सिखा दूं। तुम मेरे पेट के अन्दर ही वह सीख लो। और फिर मेरा पेट चीरकर निकल आओ। उसके बाद उसी विद्या से तुम मुझे जिला देना।"

कच के मन की मुराद पूरी हो गई। उसने शुक्राचार्य के कहे अनुसार संजीवनी विद्या सीख ली और पूर्णिमा के चन्द्र की भांति आचार्य का पेट चीरकर निकल आया। मूर्तिमान बुद्धि के समान ज्ञानी शुक्राचार्य मृत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। थोड़ी ही देर में कच ने संजीवनी- मंत्र पढ़कर उनको जिला दिया। देवयानी के आनन्द की सीमा न रही।

शुक्राचार्य जी उठे तो कच ने उनके आगे दण्डवत की और अश्रुधारा से उनके पांव भिगोता हुआ बोला—"अविद्वान् को विद्या पढ़ानेवाले आचार्य माता और पिता के समान हैं। आपने मुझे एक नई विद्या प्रदान की। इसके अलावा अब आपकी कोख ही से मानो मेरा जन्म हुआ, सो आप तो मेरे लिए मां के समान हैं।"

इसके बाद कई वर्ष तक कच शुक्राचार्य के पास ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए रहा। व्रत समाप्त होने पर गुरु से आज्ञा लेकर वह देवलोक लौटने को प्रस्तुत हुआ तो देवयानी ने उससे कहा—"अंगिरा मुनि के पौत्र कच, तुम शीलवान् हो। ऊंचे कुल के हो। इन्द्रिय-दमन करके तुमने तपस्या की और शिक्षा प्राप्त की। इस कारण तुम्हारा मुखमंडल सूर्य की भांति तेजस्वी है। जब तुम ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन

कर रहे थे तब मैंने तुमसे स्नेहपूर्ण व्यवहार किया था। अब तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम भी वैसा ही व्यवहार मुझसे करो। तुम्हारे पिता बृहस्पति मेरे लिए पूज्य हैं। अतः तुम अब मुझसे यथाविधि विवाह कर लो।" यह कहकर शुक्र-कन्या सलज्ज खड़ी रही।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी जो देवयानी ने ऐसी स्वतंत्रता से बातें कीं। वह जमाना ही ऐसा था कि जब शिक्षित ब्राह्मण कन्याएं निर्भय तथा स्वतंत्र होती थीं। मन की बात कहते झिझकती न थीं।

देवयानी की बात सुनकर कच ने कहा—"अकलंकिनी, एक तो तुम मेरे आचार्य की बेटी हो, सो मेरा धर्म है कि मैं तुम्हें पूज्य समझूं। दूसरे मेरा शुक्राचार्य के पेट से पुनर्जन्म हुआ, इससे भी मैं तुम्हारा भाई बन गया हूं। तुम मेरी बहन हो। अतः तुम्हारा यह अनुरोध न्यायोचित नहीं।"

किन्तु देवयानी ने हठ नहीं छोड़ा। उसने कहा—"तुम तो बृहस्पति के बेटे हो, मेरे पिता के नहीं। तिसपर मैं शुरू से ही तुमसे प्रेम करती आई हूं। उसी प्रेम और स्नेह से प्रेरित होकर मैंने पिता से कहकर तुम्हें तीन बार जिलाया। मेरा विशुद्ध प्रेम तुम्हें स्वीकार करना ही होगा।"

देवयानी ने बहुत अनुनय-विनय की, पर कच ने उसकी बात न मानी। तब मारे क्रोध के देवयानी की भौंहें चढ़ गईं। विशाल काली-काली आँखें लाल बन गईं।

यह देखकर कच ने बड़े नम्र भाव से कहा—"शुक्र-कन्ये! तुम्हें मैं अपने गुरु से भी अधिक समझता हूं। तुम मेरी पूज्य हो। नाराज न होओ। मुझपर दया करो। मुझे अनुचित कार्य के लिए प्रेरित न करो। मैं तुम्हारे भाई समान हूं। मुझे स्वस्ति कहकर विदा करो। आचार्य शुक्रदेव की सेवा-टहल अच्छी तरह और नियमपूर्वक करती रहना। स्वस्ति।" यह कहकर कच वेग से इन्द्रलोक चला गया।

शुक्राचार्य ने अपनी बेटी को समझा-बुझाकर शांत किया।

●

: ५ :

देवयानी का विवाह

असुर राजा वृषपर्वा की बेटी शर्मिष्ठा और शुक्राचार्य की बेटी देवयानी एक दिन अपनी सखियों के संग वन में खेलने गईं । खेल-कूद के बाद लड़कियां तालाब में स्नान करने लगीं । इतने में जोरों की आंधी चली और सबके कपड़े उलट-पलट हो गये । लड़कियां नहाकर बाहर निकल आईं और जो भी कपड़ा हाथ में आया, लेकर पहनने लगीं । इस गड़बड़ी में वृषपर्वा की बेटी शर्मिष्ठा ने धोखे से देवयानी की साड़ी पहन ली । देवयानी को विनोद सूझा । उसने शर्मिष्ठा से कहा—"अरी असुर-पुत्री ! क्या तुम्हें इतना भी पता नहीं कि गुरुकन्या का कपड़ा शिष्य की लड़की को नहीं पहनना चाहिए ? सचमुच तुम बड़ी नासमझ हो ।"

यद्यपि देवयानी को अपने ऊंचे कुल का घमंड जरूर था, लेकिन यह बात उसने मजाक में ही कही थी । राजकुमारी शर्मिष्ठा को इससे बड़ी चोट लगी । वह मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गई और बोली—"अरी भिखारिन ! क्या भूल गई कि मेरे पिताजी के आगे तेरे गरीब बाप हर रोज सिर नवाते हैं और उनके आगे हाथ फैलाते हैं ? भिखारी की लड़की होकर तेरा यह घमंड ! अरी ब्राह्मणी ! याद रख कि मैं उस राजा की कन्या हूं जिसके लोग गुण गाते हैं और तू उस दीन ब्राह्मण की बेटी है, जो मेरे पिता का दिया खाता है । इस फेर में न रहना कि तुम ऊंचे कुल की हो । मैं उस कुल की हूं जो देना जानता है लेना नहीं और तू उस कुल की है जो भीख मांगकर निर्वाह करता है । एक दीन ब्राह्मण की यह मजाल कि मुझे तमीज सिखाये ! धिक्कार है तुझे और तेरे कुल को ?"

यों असुरराज-कन्या देवयानी पर बरस पड़ी । उसके तीखे शब्द-बाण देवयानी से न सहे गए । वह भी क्रुद्ध हो उठी । राज-कन्या और गुरु-कन्या में देर तक तू-तू मैं-मैं होती रही । आखिर हाथापाई तक नौबत आई । ब्राह्मणी की कन्या भला असुरराज की बेटी के आगे कहां ठहर सकती

थी ? शर्मिष्ठा ने देवयानी के जोर का थप्पड़ लगाया और उसे एक अन्धे कुएं में धकेल दिया । दैवयोग से कुआं सूखा था । असुर-कन्याओं ने समझा कि देवयानी मर चुकी होगी, वे महल लौट आईं ।

देवयानी को कुएँ में गिरने से बड़ी चोट आई । कुआँ गहरा था । अतः वह अन्दर पड़ी तड़फड़ाती रही ।

संयोग से भरतवंश के राजा ययाति शिकार खेलते हुए उधर से आ निकले । उन्हें प्यास लगी थी और वह पानी खोजते-खोजते उस कुएं के पास पहुंचे । कुएं के अन्दर झांका तो कुछ प्रकाश-सा दीखा । एकदम आश्चर्य-चकित रह गए । कुएं के अन्दर उन्होंने बजाय पानी के एक तरुणी को देखा । उसका कोमल शरीर अंगारों की भांति प्रकाशमान था और उससे सौंदर्य की आभा फूट रही थी ।

"तरुणी ! तुम कौन हो ? तुमने तो गहने पहने हैं । तुम्हारे नाखून लाल हैं । तुम किसकी बेटी हो ? और किस कुल की हो ? कुएं में कैसे गिर पड़ीं ?" राजा ने आश्चर्य और अनुकंपा के साथ पूछा ।

देवयानी ने अपना दाहिना हाथ बढ़ाते हुए राजा से कहा—"मैं असुर-गुरु शुक्राचार्य की कन्या हूं । पिताजी को यह मालूम नहीं है कि मैं कुएं में पड़ी हूं । कृपाकर मुझे बाहर निकालिये ।" राजा ने देवयानी का हाथ पकड़कर कुएं से बाहर निकाल लिया ।

शर्मिष्ठा से अपमानित होने पर देवयानी ने मन में निश्चय कर लिया था कि अब वह वृषपर्वा के राज्य में अपने पिताजी के पास वापस नहीं जायगी । वहां जाने से बेहतर है कि कहीं और ही जंगल में चली जाय । उसने ययाति से अनुरोध-पूर्ण स्वर में कहा—"मालूम नहीं आप कौन हैं ? पर ऐसा लगता है कि आप बड़े शक्तिशाली, यशस्वी और चरित्रवान् हैं । आप कोई भी हों, मेरा दाहिना हाथ आप ग्रहण कर चुके हैं, अतः आपको मैंने अपना पति मान लिया है । आप मुझे स्वीकार करें ।"

ययाति ने उत्तर दिया—"हे तरुणी ! तुम ब्राह्मणी हो, और शुक्राचार्य की बेटी, जो संसार-भर के आचार्य होने योग्य हैं । मैं ठहरा साधारण क्षत्रिय । मैं तुमसे कैसे ब्याह कर सकता हूं ? अतः देवी, मुझे क्षमा

करो और तुम भी अपने घर जाओ।"

यह कहकर राजा ययाति देवयानी से विदा होकर चल दिये।

उस जमाने में ऊंचे कुल का कोई पुरुष निचले कुल की कन्या से विवाह कर लेता तो उसे अनुलोम विवाह कहते थे। निचले कुल के पुरुष के साथ ऊंचे कुल की कन्या का विवाह प्रतिलोम कहा जाता था। प्रतिलोम विवाह मना किया गया था; क्योंकि स्त्री के कुल को कलंक न लगने देना उन दिनों जरूरी समझा जाता था। यही कारण था कि ययाति ने देवयानी की प्रार्थना अस्वीकार कर दी।

ययाति के चले जाने पर देवयानी वहीं कुएं के पास सांप की फुंफकार की भांति आहें भरती और सिसकियां लेती हुई खड़ी रही। शर्मिष्ठा की बातों ने उसके हृदय को छेद डाला था, वह घर नहीं जाना चाहती थी।

इधर जब देवयानी देर तक वापस न आई तो शुक्राचार्य घबराये। उन्होंने फौरन अपनी एक सेविका को देवयानी की तलाश में भेज दिया। सेविका अपनी कुछ सहेलियों को साथ लिये उस जंगल में गई जहां देवयानी अपनी सखियों के साथ खेलने गई थी। वहां एक पेड़ के नीचे देवयानी को खड़ा देखा। उसकी आँखें रोते रहने के कारण लाल हो गई थीं। मुख मलिन था और क्रोध के कारण उसके ओठ कांप रहे थे।

देवयानी का यह हाल देखकर सेविका घबरा गई और बड़ी आतुरता से पूछा कि क्या बात है?

देवयानी के मुख से मानों चिनगारियां निकलीं! उसने कहा—"पिताजी से जाकर कहना कि उनकी बेटी अब राजा वृषपर्वा के राज्य में कदम न रक्खेगी।"

देवयानी का यह हाल जानकर शुक्राचार्य बड़े दुःखी हुए। वह बेटी के पास दौड़े आये और उसे गले लगा लिया। दोनों खूब रोये। थोड़ी देर बाद जब शुक्राचार्य शांत हुए तो देवयानी को बड़े प्यार से कोमल स्वर में समझाते हुए बोले—"बेटा, लोग अपने ही किये का फल भोगते हैं। बुराई का नतीजा बुरा और भलाई का भला ही हुआ करता है। दूसरे की बुराई से हमें कुछ भी हानि नहीं पहुंच सकती। अतः तुम किसी

पर रोष न करो। जो कुछ हुआ उसे अपने ही दोष का परिणाम समझकर शांत हो जाओ।"

पर अपमानित देवयानी को इस उपदेश से शांति नहीं मिली। वह बोली—"पिताजी मुझमें दोष हो सकते हैं, लेकिन चाहे दोष हों या गुण, उन सबकी जिम्मेदारी अकेले मुझ पर ही है। दूसरों का उनसे कोई मतलब नहीं। तब वृषपर्वा की लड़की ने क्यों कहा कि तेरा बाप राजाओं की चापलूसी करता फिरता है और भिखारी है। पिताजी, बताइये क्या यह सच है कि आप चापलूसी करते हैं? वृषपर्वा के आगे सिर झुकाते हैं? भिखारी की तरह उसके आगे हाथ फैलाते हैं? उस असुर की लड़की ने मेरा इतना अपमान किया! फिर भी मैं चुप रही। कोई प्रतिवाद नहीं किया। ऊपर से वह दानवी मुझे मार-पीटकर और कुएं में धकेलकर चली गई। फिर भी आप कहते हैं कि यह सब अपने किये का फल है! और मैं शांत होकर घर वापस लौट जाऊं! पिताजी, आप ही बताइये कि इतना अपमानित होने के बाद मैं शर्मिष्ठा के पिता के राज्य में कैसे रह सकती हूं?" यह कहकर देवयानी फूट-फूटकर रोने लगी।

शुक्राचार्य देवयानी को समझाते हुए बोले—"बेटी, वृषपर्वा की कन्या ने असत्य कहा। निश्चय ही तुम किसी चापलूस की बेटी नहीं हो, न तुम्हारा पिता भीख मांगकर गुजर करता है; बल्कि तुम उस पिता की बेटी हो, जिसका सारा संसार गुण गाता है। इस बात को देवेन्द्र तक जानता है। भरतवंश का राजा ययाति जानता है ओर खुद वृषपर्वा भी जानता है। अपने मुंह अपनी प्रशंसा करना अच्छा नहीं लगता। अतः मैं अधिक कुछ नहीं कहूंगा। तुम मेरे कुल के यश-रूपी प्रकाश को बढ़ानेवाला कन्या-रत्न हो। तुम शांत होओ और घर चलो।"

देवयानी को समझाते हुए वह फिर बोले—"बेटी, जिसने दूसरों की कड़वी बातें सह लीं, उसने मानों संसार पर विजय पा ली। मनुष्य के मन में जो क्रोध है, वह अड़ियल घोड़े के समान है। घोड़े की बागडोर हाथ में पकड़ लेने-भर से कोई घुड़सवार नहीं हो जाता। चतुर घुड़सवार वह है जो क्रोध-रूपी घोड़े पर काबू पा सके। सांप जैसे केंचुली को

निकाल देता है, वैसे ही क्रोध को जो मन से निकाल सके, वही पुरुष कहला सकता है । दूसरों के द्वारा निन्दा किये जाने पर भी जो दुःखी नहीं होता, वही अपने यत्न में सफल हो सकेगा । जो हर महीने यज्ञ करते हुए सौ बरस तक दीक्षित रहे, उससे भी बढ़कर श्रेय उसीको है, जिसने क्रोध पर विजय पा ली हो । जो बात-बात पर बिगड़ता है, उसे क्या नौकर, क्या मित्र, क्या पत्नी, क्या भाई सब छोड़कर चले जाते हैं । धर्म और सच्चाई तो एकदम ही उसका साथ छोड़ देते हैं । समझदार लोग बालकों की बातों पर ध्यान नहीं दिया करते ।''

यह सुन देवयानी ने नम्रभाव से कहा—''पिताजी, मैं यद्यपि उम्र में छोटी हूं, फिर भी धर्म का कुछ मर्म तो जानती हूं । क्षमा बड़ा धर्म है, यह मुझे मालूम है । फिर भी जिसमें शील नहीं, जो कुल की मर्यादा नहीं जानते, उनके पास रहना कहां का धर्म है ? समझदार लोग ऐसे लोगों के साथ कभी नहीं रहते जो कुलीनों की निन्दा करते हैं, कुलवानों की इज्जत करना नहीं जानते । जिनमें शील नहीं, जिनका व्यवहार सज्जनोचित नहीं, वे चाहे संसार-भर के धनी हों, फिर भी चण्डाल ही समझे जाते हैं । सज्जनों को ऐसे लोगों से दूर ही रहना चाहिए । तलवार के घाव पर मलहम लग सकता है, किन्तु शब्दों का घाव जीवन-भर नहीं भर सकता । वृषपर्वा की कन्या की बातों से मेरे सारे शरीर में आग-सी लग गई है । जैसे पीपल की लकड़ी रगड़ खाकर जल उठती है वैसे ही मेरा मन जल रहा है । अब मैं शांत कैसे होऊं ?''

देवयानी की ये बातें सुनकर शुक्राचार्य के माथे पर बल पड़ गए । वह वहां से सीधे असुर-राज वृषपर्वा की सभा में गये । उनका मुंह क्रोध से लाल हो रहा था । वृषपर्वा को सिंहासन पर बैठे देखकर बोले—''राजन् ! पाप का फल तत्काल ही चाहे न मिले, पर मिलता जरूर है और वह पापी के वंश की जड़ें तक काट देता है और तुम पाप के रास्ते चल पड़े हो । बृहस्पति का पुत्र कच, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता हुआ, प्रेम से मेरी सेवा-टहल करके शिक्षा पा रहा था । उस निर्दोष ब्राह्मण को तुमने कई बार मरवाया । तब भी मैं चुप रहा । पर अब क्या देखता हूं कि मेरी प्यारी बेटी देवयानी को, जोकि आत्म-

भिमान को प्राणों से भी अधिक समझती है, तुम्हारी लड़की ने अपमानित किया और मार-पीटकर कुएं में धकेल दिया ! यह अपमान देवयानी के लिए असहनीय है । उसने निश्चय किया है कि अब वह तुम्हारे राज्य में नहीं रहेगी । और तुम जानते हो कि वह मुझे प्राणों से अधिक प्रिय है । उसके बिना मैं यहां नहीं रह सकता । अतः मैं भी तुम्हारा राज्य छोड़कर जा रहा हूं ।''

आचार्य की बातें सुनकर वृषपर्वा तो हक्का-बक्का रह गया । वह नम्रतापूर्वक बोला—''गुरुदेव, मैं निर्दोष हूं । आपने जो कुछ कहा, उन सब बातों से मैं सर्वथा अपरिचित हूं । आप मुझे छोड़ जायंगे तो मैं पल-भर जी नहीं सकता । मैं आग में कूदकर मर जाऊंगा ।''

शुक्राचार्य दृढ़तापूर्वक बोले—''तुम और तुम्हारे दानव-गण चाहे आग में जल मरो, चाहे समुद्र में डूब मरो, जबतक मेरी प्राणप्यारी बेटी का दुःख दूर न होगा, मेरा मन शांत नहीं होगा । जाकर मेरी बेटी को समझाओ । अगर वह मान गई, तो ही मैं यहां रह सकता हूं । वरना नहीं ।

राजा वृषपर्वा सारे परिवार को साथ लेकर देवयानी के पास गया और उसके पांव पकड़कर क्षमा मांगी ।

देवयानी दृढ़ता के साथ बोली—''तुम्हारी लड़की शर्मिष्ठा ने मेरा बुरी तरह से अपमान किया और मुझे भिखमंगे की बेटी कहा । इस कारण उसे मेरी नौकरानी बनकर रहना मंजूर हो और पिताजी जहां मेरा ब्याह करें, वहां मेरी दासी बनकर मेरे साथ जाने को राजी हो तो मैं तुम्हारे राज्य में रह सकती हूं, अन्यथा नहीं ।''

असुर-राज को देवयानी की शर्त माननी पड़ी । उसने अपनी बेटी शर्मिष्ठा को बुला भेजा और उसे सारी बातें समझाईं ।

शर्मिष्ठा ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया । उसने शर्म से आंखें नीची करके कहा—''सखी देवयानी की इच्छा पूरी हो । ऐसा न हो कि मेरे अपराध के कारण पिताजी आचार्य को गंवा बैठें । गुरुपुत्री की दासी बनकर रहना मुझे स्वीकार है ।'' तब जाकर देवयानी का क्रोध शांत हुआ और वह पिता के साथ नगर को लौटी ।

जंगल में देवयानी की इस घटना के कई दिन बाद राजा ययाति से दुबारा भेंट हुई। देवयानी ने उनपर अपना प्रेम फिर प्रकट किया और कहा—"जब एक बार आप मेरा दाहिना हाथ पकड़ चुके हैं, तो फिर आप मेरे पति के ही समान हैं। आप मुझे अपनी पत्नी स्वीकार कर लें।" परन्तु ययाति ने फिर इनकार कर दिया। उन्होंने कहा—"क्षत्रिय होकर ब्राह्मण-कन्या से विवाह करने की मैं कैसे हिम्मत करूं ?"

तब देवयानी उन्हें साथ लेकर अपने पिता के पास गई और ब्याह के लिए पिता की अनुमति लेकर ही मानी। ब्राह्मण-पुत्री देवयानी का क्षत्रिय राजा ययाति के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह हो गया।

ययाति और देवयानी का विवाह इस बात का सबूत है कि आम रिवाज न होते हुए भी प्रतिलोम विवाह उन दिनों हुआ करते थे। शास्त्रों में यह जरूर कहा जाता था कि अमुक कार्य उचित है और अमुक नहीं; किन्तु जब सबकी पसंदगी से कोई कार्य किया जाता था तो शास्त्रोक्त न होने पर भी लोग प्रायः उसे सही मान लिया करते थे।

देवयानी ययाति के रनिवास में आई और शर्मिष्ठा उसकी दासी बनकर उसके साथ रहने लगी। इस प्रकार ययाति और देवयानी कई वर्ष तक सुख-चैन से रहे।

इस बीच एक दिन शर्मिष्ठा ने राजा ययाति को अकेला पाकर उनसे प्रार्थना की कि वह उसे भी अपनी पत्नी बना लें। ययाति ने उसकी प्रार्थना मान ली और उसके साथ गुप्त रूप से विवाह कर लिया; देवयानी को इस बात का पता न चलने दिया। लेकिन चोरी आखिर कहांतक छिपती ? देवयानी को एक दिन पता चल ही गया कि शर्मिष्ठा उसकी सौत बनी हुई है। यह जानकर वह मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गई, रोती-पीटती अपने पिता के पास दौड़ी गई और शिकायत की कि राजा ययाति ने वचन-भंग किया है। शर्मिष्ठा को उसने अपनी पत्नी बना लिया है।"

यह सुनकर शुक्राचार्य को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने शाप दिया कि राजा ययाति इसी घड़ी बूढ़े हो जायं।

उनका शाप देना था कि ययाति को बुढ़ापे ने आ घेरा। वह अभी

अधेड़ उम्र के ही थे। जवानी उनकी बीत नहीं चुकी थी और बुढ़ापा आ गया। वह शुक्राचार्य के पास दौड़े गये, उनसे क्षमा मांगी और शाप-मुक्ति के लिए बहुत अनुनय-विनय की।

शुक्राचार्य को उनके हाल पर दया आई। सोचा—आखिर मेरी कन्या को इसीने तो कुएं से निकालकर बचाया था। वह सान्त्वनापूर्ण स्वर में बोले—"राजन्! तुम शाप-वश बूढ़े हो गये। इसका निवारण तो मेरे पास है नहीं, पर एक बात है। अगर कोई पुरुष अपनी जवानी तुम्हें दे दे और तुम्हारा बुढ़ापा अपने ऊपर ले ले तो तुम फिर से जवान बन सकते हो।"

यह युक्ति बताकर शुक्राचार्य ने बूढ़े ययाति को आशीर्वाद देकर विदा किया।

: ६ :
ययाति

राजा ययाति पांडवों के पूर्वजों में थे। वह कुशल योद्धा थे। कभी लड़ाई के मैदान में उनकी हार नहीं हुई। यह बड़े ही शीलवान थे। पितरों और देवताओं की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ करते और सदा प्रजा की भलाई में लगे रहते। इससे उसका यश बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था।

ऐसे कर्त्तव्य-शील राजा जवानी बीतने से पहले ही शापवश रंग-रूप बिगाड़ने और दुःख देने वाले बुढ़ापे को प्राप्त हो गये। जो बुढ़ापे को पहुँच चुके है वे ही अनुभव कर सकते हैं कि बुढ़ापा कैसी बुरा बला है। तिस पर ययाति की तो अभी जवानी की दुपहरी भी न हो पाई थी! उनकी ग्लानि का पूछना क्या ?

ययाति की भोगलालसा भी अभी छूटी न थी। उनके पांचों पुत्र अभी सुन्दर और जवान थे। वे अस्त्र-विद्या में निपुण थे और गुणवान् भी थे। ययाति ने अपने पांचों बेटों से एक-एक करके प्रार्थना की कि अपनी जवानी थोड़े दिन के लिए उनको दे दें। उन्होंने कहा—"प्यारे पुत्रो, तुम्हारे नाना शुक्राचार्य के शाप से मुझे अचानक ही बुढ़ापे ने

दबा लिया है। अभी तक मैंने भोग-विलास की तरफ ज्यादा ध्यान ही नहीं दिया था। नियमपूर्वक कर्त्तव्य करने में ही मैंने अपना समय बिता दिया। मुझपर दया करो और अपनी जवानी कुछ समय के लिए मुझे दे दो। जो मेरा बुढ़ापा ले लेगा और मुझे अपनी जवानी दे देगा वही मेरे राज्य का अधिकारी होगा। मैं उसकी जवानी लेकर कुछ दिन अपनी भोग-लालसा पूरी कर लेना चाहता हूं।"

राजा की इस प्रार्थना के उत्तर में बड़े बेटे ने कहा—"पिताजी, आप यह क्या मांग रहे हैं? अगर मैं आपको अपनी जवानी देकर आपका बुढ़ापा खुद ले लूं तो नौकर-चाकर और युवतियां मेरी हँसी नहीं उड़ायंगी? यह मुझसे नहीं हो सकता। मुझसे ज्यादा आपको मेरे और भाइयों पर प्यार है। उन्हींसे क्यों नहीं मांगते?"

दूसरे बेटे ने कहा—"बुढ़ापा आदमी को कमजोर बना देता है, रंग-रूप बिगाड़ देता है। बुद्धि भी बूढ़े की स्थिर नहीं रहती। आप मुझे कहते हैं कि ऐसा बुढ़ापा ले लो! क्षमा कीजिएगा, पिताजी, मुझमें इतनी हिम्मत नहीं है।"

तीसरे बेटे ने भी इसी तरह इन्कार कर दिया। उसने कहा—"बूढ़ा न हाथी पर चढ़ सकता है, न घोड़े पर सवार हो सकता है। उसकी जबान लड़खड़ाती है। ऐसा बुढ़ापा लेकर मैं क्या करूं? इससे तो मौत ही अच्छी। नहीं पिताजी, मैं आपकी यह बात नहीं मान सकता।"

जब इस तरह तीन बेटों ने इन्कार कर दिया तो राजा निराश-से हो गये। उन्हें बड़ा क्रोध आया। फिर भी उन्होंने चौथे बेटे से बड़ी अनुनय-पूर्वक कहा—"प्यारे पुत्र, मैं असमय ही बूढ़ा हो गया हूं। तुम थोड़े दिन के लिए मेरा बुढ़ापा अपने ऊपर ले लो और अपनी जवानी मुझे दे दो। कुछ दिन सुख भोगने के बाद मैं अपना बुढ़ापा वापस ले लूंगा और तुम्हारी जवानी लौटा दूंगा। इतनी दया तो मुझ-पर करो।"

चौथे बेटे ने कहा—"क्षमा कीजिये, पिताजी! बुढ़ापा पराधीनता का ही तो दूसरा नाम है। बूढ़े को बात-बात पर दूसरों का मुंह

ताकना पड़ता है। अकेले चलते हुए भी वह लड़खड़ाता है। शरीर का मैल दूर करने तक के लिए उसे दूसरों का सहारा लेना पड़ता है। मैं अपनी स्वाधीनता खोना नहीं चाहता।"

चारों बेटों से कोरा जवाब पाकर राजा ययाति के शोक-संताप की सीमा न रही। पांचवे बेटे पुरु से उन्होंने रुद्ध कंठ से प्रार्थना की—"बेटा पुरु, तुमने कभी मेरी बात नहीं टाली। अब तुम ही मेरी रक्षा कर सकते हो। शुक्राचार्य के शाप से मुझे असमय में बूढ़ा होना पड़ा है। ज़रा देखो तो, सारे शरीर पर झुरियां पड़ी हैं। शरीर कांप रहा है। बाल एकदम पक गए हैं। इतना उपकार अपने पिता पर करो कि मेरा बुढ़ापा कुछ समय के लिए ले लो और अपनी जवानी मुझे दे दो। ज़रा भोग की प्यास बुझा लूं, फिर तुम्हें तुम्हारी जवानी वापस दे दूंगा। अपने भाइयों की तरह तुम भी नाहीं न कर देना।"

पिता की यह प्रार्थना सुनकर पुरु से न रहा गया। उसका जी भर आया। वह बोला—"पिताजी! आपकी आज्ञा सिर आंखों पर है। मैं खुशी-खुशी अपनी जवानी आपको दे देता हूं और आपका बुढ़ापा तथा राजकाज संभालने का बोझ अपने ऊपर ले लेता हूं।" ययाति ने यह सुनते ही पुत्र को प्रेम से गले लगा लिया।

उसी समय पुत्र की जवानी ययाति को प्राप्त हो गई। पुरु बूढ़ा हो गया और राज-काज संभालने लगा।

जवानी पाकर ययाति दोनों पत्नियों के साथ बहुत दिनों तक भोग-विलास करते रहे। जब पत्नियों से जी नहीं भरा तो यक्षराज कुबेर के नन्दन-वन में किसी अप्सरा के साथ कई वर्ष तक सुख भोगते रहे। इतने पर भी ययाति की भोग की प्यास बुझी नहीं। उनकी वासना कम नहीं हुई, बल्कि दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई।

तब ययाति अपने बेटे पुरु के पास आये और बोले—"प्रिय पुत्र! मैंने अनुभव करके जान लिया कि कामवासना वह आग है, जो विषय-भोग से नहीं बुझती। मैंने धर्मग्रन्थों में पढ़ा तो था कि जैसे घी डालने से आग बुझने की बजाय भड़क उठती है, वैसे ही विषय-भोग से लालसा बढ़ती ही जाती है, कम नहीं होती। इसकी सच्चाई अब मुझे मालूम

हुई। धन-दौलत और स्त्रियों के पाने से मनुष्य की वासना कभी शांत नहीं होती। वासनाएं तभी शांत होती हैं जब मनुष्य इच्छाओं को अपने काबू में रक्खे। जिसमें न राग है, न द्वेष, वही शांति प्राप्त करता है। इसी स्थिति को ब्राह्मी-स्थिति कहते हैं।"

बेटे को यह उपदेश देकर ययाति ने अपना बुढ़ापा उससे वापस ले लिया और पुरु को जवानी लौटा दी। पुरु को राजगद्दी पर बिठाकर वृद्ध ययाति वन में चले गए। जंगल में बहुत दिनों तक तपस्या की और स्वर्ग सिधारे।

: ७ :
विदुर

नगर के बाहर किसी वन में महर्षि माण्डव्य का आश्रम था। माण्डव्य स्थिर-चित्त, सत्यवादी एवं शास्त्रज्ञ थे। आश्रम में ही रहते और तपस्या में समय बिताते थे। एक दिन वह आश्रम के बाहर एक पेड़ के नीचे बैठे ध्यान कर रहे थे कि इतने में कुछ डाकू डाके का माल लिये उधर से आ निकले। राजा के सिपाही उनका पीछा कर रहे थे, इसलिए डाकू छिपने की जगह खोजते-खोजते उधर आये। आश्रम पर उनकी दृष्टि पड़ी तो सोचा कि इसमें छिपकर जान बचा लें। तेजी से आश्रम के भीतर घुस गए और डाके का माल एक कोने में गाड़कर दूसरे कोने में छिप रहे। इतने में उनका पीछा करते हुए राजा के सैनिक भी वहां आ पहुंचे।

ध्यानमग्न बैठे माण्डव्य-मुनि को देखकर सिपाहियों के सरदार ने उनसे पूछा—"इस रास्ते से कोई डाकू आये हैं? आये हैं तो किस रास्ते गये हैं? जल्दी बताइये। वे राज्य में डाका डालकर आये हैं। हमें उनका पीछा करना है।" पर मुनि तो ध्यान में लीन थे। उन्होंने कुछ सुना ही नहीं, जवाब क्या देते?

सरदार ने दुबारा डपटकर पूछा। फिर भी मुनि ने सुना नहीं। वह चुप रहे। इतने में कुछ सिपाहियों ने आश्रम के अन्दर तलाश करके

देख लिया कि डाकू वहीं छिपे हुए हैं और डाके का माल भी आश्रम में ही गड़ा हुआ है। सैनिकों ने अपने सरदार को भी आश्रम में बुला लिया और डाकुओं को पकड़कर हथकड़ी पहना दी।

सिपाहियों के सरदार ने मन में सोचा—"अच्छा तो यह बात है! अब समझ में आया कि ऋषि ने चुप्पी क्यों साधी थी।" उसने माण्डव्य को डाकुओं का सरदार समझ लिया और सोचा कि उन्हींकी प्रेरणा से यह डाका डाला गया है। इस विचार से उसने अपने साथ के सिपाहियों को वहीं ऋषि की रखवाली के लिए छोड़ दिया और राजा के दरबार में जाकर सारी बातें कह सुनाई।

जब राजा ने सुना कि कोई ब्राह्मण डाकुओं का सरदार बना हुआ है और मुनि के वेष में लोगों को धोखा दे रहा है तो उसे बहुत क्रोध आया। बिना विचारे ही उसने आज्ञा दे दी कि उस दुरात्मा को तुरन्त सूली पर चढ़ा दो। क्रोध के मारे राजा को यह भी सुध न रही कि ज़रा जांच-पड़ताल तो कर लेता।

निर्दोष माण्डव्य को सैनिकों के सरदार ने तुरन्त सूली पर चढ़ा दिया और उनके आश्रम में जो डाके का माल पाया गया, उसे राजा के हवाले कर दिया।

महर्षि माण्डव्य तपस्या में लीन थे और उसी लीनावस्था में ही सूली पर चढ़ा दिये गए। तपस्या के कारण सूली का प्रभाव उनपर न पड़ सका। बहुत दिनों तक वह जीवित रहे और सूली का दुःख सहते रहे। जब यह समाचार और तपस्वियों को मालूम हुआ तो वे लोग माण्डव्य के पास आ पहुंचे और उनकी सेवा करने लगे।

तपस्वियों ने ऋषि माण्डव्य से पूछा—"महर्षि, आप तो बड़े पुण्यात्मा हैं! आपको किस कारण यह दारुण दुःख भोगना पड़ा है?"

शांति के साथ माण्डव्य ने कहा—"राजा संसार का रक्षक माना जाता है। जब उसीकी आज्ञा से यह दंड मुझे मिला है तो मैं किसे दोष दूं?"

उधर राजा को खबर पहुंची कि महर्षि माण्डव्य सूली पर चढ़ाये जाने पर, भूखे-प्यासे रहते हुए भी, जीवित हैं। वन के रहनेवाले बहुत

से ऋषि-मुनि उनकी सेवा में लगे हैं। यह खबर पाकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और भय भी। तुरन्त अपने परिवार के लोगों को साथ में लेकर वह वन में गया। जब सूली पर माण्डव्य को जीवित बैठे देखा तो सन्न रह गया। उसे अपनी भूल मालूम हुई। उसने फौरन आज्ञा दी कि मुनि को सूली पर से उतार दिया जाय। मुनि के सूली से उतारे जाने पर वह उनके पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाकर बोला —"अनजान में मुझसे यह भारी भूल हो गई है। दया करके मुझे क्षमा कर दें।"

माण्डव्य को राजा पर क्रोध तो आया, पर उन्होंने उसे क्षमा कर दिया और वह धर्मदेव के पास गये और बोले—"धर्मदेव! कृपया यह तो बतायें कि मैंने कौन-सा पाप किया, जो मुझे यह दारुण दुःख भोगना पड़ा?"

माण्डव्य की तपस्या का बल धर्मराज जानते थे। उन्होंने बड़ी नम्रता के साथ ऋषि की आवभगत की और बोले—"महर्षि, आपने टिड्डियों और चिड़ियों को पकड़कर सताया था। इसी पाप के फलस्वरूप आपको यह कष्ट भोगना पड़ा। आप जानते है कि थोड़े-से दान का बहुत फल मिलता है, वैसे ही थोड़े-से पाप का भी बहुत दंड मिल जाता है।"

धर्मराज की बात सुनकर माण्डव्य मुनि को बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने पूछा—"मैंने ऐसा पाप कब किया?"

धर्मदेव ने कहा—"बचपन में।"

यह सुनकर माण्डव्य को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कहा—"बचपन में नासमझी से मैंने जो पाप किया उसका तुमने न्यायोचित मात्रा से अधिक दंड दिया। इस अन्याय के लिए मैं शाप देता हूं कि तुम मर्त्य-लोक में जाकर मनुष्य-योनि में जन्म लो।"

इस प्रकार माण्डव्य ऋषि के शाप-वश विचित्रवीर्य की रानी अम्बालिका की दासी की कोख से धर्मदेव का जन्म हुआ। वह ही आगे चलकर विदुर के नाम से प्रख्यात हुए।

विदुर धर्मदेव के अवतार थे। धर्म-शास्त्र तथा राजनीति में उनका ज्ञान अथाह था। वह बड़े निस्पृह थे। क्रोध उन्हें छू तक नहीं गया था। संसार के बड़े-बड़े लोग उनको महात्मा कहकर पूजते थे। उनका

सुयश सारे संसार में फैला हुआ था। युवावस्था में ही पितामह भीष्म ने उनके विवेक तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उन्हें राजा धृतराष्ट्र का प्रधान मंत्री नियुक्त कर दिया था।

तीनों लोकों में महात्मा विदुर-जैसा धर्मनिष्ठ या नीतिमान कोई नहीं था। जिस समय धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को जुआ खेलने की अनुमति दी, विदुर ने धृतराष्ट्र से बहुत आग्रहपूर्वक निवेदन किया—"राजन्, मुझे आपका यह काम ठीक नहीं जंचता। इस खेल के कारण आपके बेटों में आपस में वैर-भाव बढ़ेगा। इसको रोक दीजिये।"

धृतराष्ट्र विदुर की बात से प्रभावित हुए और अपने बेटे दुर्योधन को अकेले में बुलाकर उसे इस कुचाल से रोकने का प्रयत्न किया।

बड़े प्रेम के साथ वह बेटे से बोले—"गंधारी के लाल! इस जुए के खेल को विदुर ठीक नहीं समझता। इस कुविचार को तुम छोड़ दो। विदुर बड़ा बुद्धिमान है, हमेशा हमारा भला चाहता आया है। उसका कहा मानने में हमारी भलाई है। भूत तथा भविष्य की बातें जाननेवाले बृहस्पति ने जितने शास्त्र-ग्रंथ रचे हैं, विदुर ने उन सबका ज्ञान प्राप्त किया है। यद्यपि विदुर मुझसे उमर में छोटा है, फिर भी हमारे कुल का प्रधान वही समझा जाता है। वत्स! जुआ खेलने का विचार छोड़ दो। विदुर कहता है कि उससे विरोध बहुत बढ़ेगा और यह राज्य के नाश का कारण हो जायगा; छोड़ दो इस विचार को।"

इस तरह कई मीठी बातों से धृतराष्ट्र ने अपने बेटे को सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न किया, किन्तु दुर्योधन न माना। बूढ़े धृतराष्ट्र अपने बेटे को बहुत प्यार करते थे। अपनी इस कमजोरी के कारण उसका अनुरोध वह टाल न सके और युधिष्ठिर को जुआ खेलने का न्यौता भेजना ही पड़ा।

धृतराष्ट्र पर बस न चला तो विदुर युधिष्ठिर के पास गए। उनको जुआ खेलने को जाने से रोकने का प्रयत्न किया। इस खेल की बुराइयां उनको बताईं। युधिष्ठिर ने विदुर की बातें ध्यानपूर्वक सुनीं और बड़े आदर के साथ बोले—"चाचाजी! मैं यह सब मानता हूं, पर जब काका धृतराष्ट्र बुलावें तो मैं कैसे इन्कार करूं? युद्ध या खेल के लिए बुलाये

जाने पर न जाना क्षत्रिय का धर्म तो नहीं है।"

यह कहकर युधिष्ठिर कुल की मर्यादा रखने के लिए जुआ खेलने गये।

: ८ :
कुन्ती

यदुवंश के प्रसिद्ध राजा शूरसेन श्रीकृष्ण के पितामह थे। इनके पृथा नाम की कन्या थी। उसके रूप और गुणों की कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। शूरसेन के फुफेरे भाई कुन्तीभोज के कोई संतान न थी। शूरसेन ने कुन्तीभोज को वचन दिया था कि उनके जो पहली संतान होगी उसे कुन्तीभोज को गोद दे देंगे। उसीके अनुसार शूरसेन ने पृथा कुन्तीभोज को गोद दे दी। कुन्तीभोज के यहां आने पर पृथा का नाम कुन्ती पड़ गया।

कुन्ती के बचपन में ऋषि दुर्वासा कुन्तीभोज के यहां एक बार पधारे। कुन्ती ने एक वर्ष तक बड़ी सावधानी व सहनशीलता के साथ उनकी सेवा-शुश्रूषा की। उसकी सेवा-टहल से दुर्वासा ऋषि प्रसन्न हुए और एक दैवी मंत्र का उसे उपदेश दिया और बोले—"कुन्तीभोज-कन्ये यह मंत्र पढ़कर तुम किसी भी देवता का ध्यान करोगी तो वह तुम्हारे सामने प्रकट होगा तथा अपने ही समान एक तेजस्वी पुत्र तुम्हें प्रदान करेगा।"

महर्षि दुर्वासा ने दिव्य ज्ञान से यह मालूम कर लिया था कि कुन्ती को अपने पति से कोई संतान नहीं होगी। इसी कारण उन्होंने उसे ऐसा वर दिया। कुन्ती उस समय बालिका ही थी। उत्सुकतावश उसे यह जानने की प्रबल इच्छा हुई कि जो मंत्र मिला है उसका प्रयोग करके क्यों न देखा जाय?

आकाश में भगवान सूर्य अपनी प्रकाशमान किरणें फैला रहे थे। कुन्ती ने उन्हींका ध्यान करके मंत्र पढ़ा। तुरन्त ही क्या देखती है कि आकाश में बादल छा गये। वह आश्चर्य के साथ यह दृश्य देख ही रही

थी कि स्वयं भगवान् सूर्य एक सुन्दर युवक के रूप में उसके सामने आकर खड़े हुए। उनकी कांति में ऐसा आकर्षण था कि उसका मन उनकी ओर खिचा जा रहा था। इस अद्भुत घटना को देखकर कुन्ती चकित रह गई और घबराहट के साथ पूछा—"भगवन्! आप कौन हैं?"

सूर्य ने कहा—"प्रिये? मैं आदित्य हूं। तुमने मेरा आह्वान किया इसलिए तुम्हें पुत्र-दान करने आया हूं।" कुन्ती भय से कांपती हुई बोली—"भगवन्? मैं अभी कन्या हूं। पिता के अधीन हूं। कौतूहलवश दुर्वासा मुनि के दिये हुए मंत्र का प्रयोग कर बैठी। मुझ नादान लड़की का अपराध क्षमा कर दें।"

परन्तु मन्त्र के अधीन होने के कारण सूर्य वापस न जा सके। उन्होंने लोकनिन्दा से डरती हुई बालिका कुन्ती को समझाया और धीरज बँधाकर बोले—"राजकन्ये? डरो मत। मैं तुम्हें वर देता हूं कि तुम्हें किसी प्रकार कलंक न लगेगा। मुझसे पुत्र पाने के बाद भी तुम कुंआरी ही रहोगी।"

इस प्रकार समस्त संसार को प्रकाश तथा जीवन देनेवाले सूर्य के संयोग से कुमारी कुन्ती ने सूर्य के ही समान तेजस्वी एवं सुन्दर बालक को जन्म दिया। जन्मजात कवच और कुण्डलों से शोभित वही बालक आगे चलकर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ कर्ण के नाम से विख्यात हुआ। बालक के जन्म होते ही सूर्य के वरदान से कुन्ती फिर कुंआरी हो गई।

पुत्र हो जाने के बाद अब कुन्ती को लोकनिन्दा का डर हुआ। बहुत सोचने-विचारने के बाद उसने बच्चे को छोड़ देना ही उचित समझा। बच्चे को एक सन्दूक में बड़ी सावधानी के साथ बन्द करके उसे गंगा की धारा में बहा दिया। वह पेटी नदी में तैरती हुई आगे निकल गई। बहुत आगे जाकर अधिरथ नाम के एक सारथी की नजर उसपर पड़ी। उसने पेटी निकाली और खोलकर देखा तो उसमें एक सुन्दर बच्चा सोया मिला। अधिरथ निःसंतान था। बालक को पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। घर जाकर उसने उसे अपनी स्त्री को दे दिया। सूर्य-पुत्र कर्ण इस तरह एक सारथी के घर पलने लगा।

इधर कुन्ती विवाह के योग्य हुई। राजा कुन्तीभोज ने उसका स्वयं-

वर रचा। कुन्ती की अनुपम सुन्दरता और मधुर गुणों का यश दूर तक फैला हुआ था। उससे विवाह करने की इच्छा से देश-विदेश के अनेक राजकुमार स्वयंवर में आये। हस्तिनापुर के राजा पाण्डु भी स्वयंवर में शरीक हुए थे। राजकुमारी कुन्ती हाथ में वरमाला लिये मंडप में आई तो उसकी निगाह एक राजकुमार पर पड़ी जो अपने तेज से दूसरे सारे राजकुमारों के तेज को फीका कर रहा था। कुन्ती ने उसीके गले में वरमाला डाल दी। वह राजकुमार भारतश्रेष्ठ महाराज पाण्डु थे। महाराज पाण्डु का कुन्ती से ब्याह हो गया और वह कुन्ती सहित हस्तिनापुर लौट आये।

उन दिनों राजवंशों में एक से अधिक ब्याह करने की प्रथा प्रचलित थी। ऐसे ब्याह भोग-विलास के लिए नहीं, बल्कि वंश-परम्परा को चालू रखने की इच्छा से किये जाते थे। इसी रिवाज के अनुसार पितामह भीष्म की सलाह से महाराज पाण्डु ने मद्रराज की कन्या माद्री से भी ब्याह कर लिया।

: ९ :

पाण्डु का देहावसान

एक दिन महाराजा पाण्डु वन में शिकार खेलने गए। वहीं जंगल में हरिन के रूप में एक ऋषि-दंपति भी किल्लोल कर रहे थे। पाण्डु ने अपने तीर से हरिन को मार गिराया। उनको यह पता नहीं था कि ये ऋषि-दम्पति हैं। ऋषि ने मरते-मरते पाण्डु को शाप दिया, "पापी अपनी पत्नी के साथ क्रीड़ा करते हुए ही तुम्हारी भी मृत्यु हो जायगी।" ऋषि के शाप से पाण्डु को बड़ा दुःख हुआ। साथ ही वह अपनी भूल से खिन्न होकर नगर को लौटे और पितामह भीष्म तथा विदुर को राज्य का भार सौंपकर अपनी पत्नियों के साथ वन में चले गए और वहां व्रती ब्रह्मचारी का-सा जीवन व्यतीत करने लगे। कुन्ती ने देखा कि महाराज को पुत्र-लालसा तो है, लेकिन ऋषि के शाप-वश वह पुत्रोत्पत्ति नहीं कर सकते। अतः उसने बचपन में दुर्वासा ऋषि से पाये वरदानों का पाण्डु से

जिक्र किया। तब पाण्डु ने कुन्ती से उन मंत्रों का प्रयोग करने को कहा।

उनके अनुरोध से कुन्ती और माद्री ने महर्षि दुर्वासा के दिये हुए मंत्र का प्रयोग करके देवताओं के अनुग्रह से पांचों पांडवों को जन्म दिया। वन में ही पांचों का जन्म हुआ और वहीं तपस्वियों के संग वे पलने लगे। अपनी दोनों स्त्रियों तथा बेटों के साथ महाराजा पाण्डु कई बरस वन में रहे।

बसंत ऋतु थी। लताएं रंग-बिरंगे फूलों से लदी थीं। चिड़ियां चहक रही थीं। साराव न आनन्द में डूबा हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। महाराजा पाण्डु माद्री के साथ प्रकृति की इस उद्गारमय सुषमा को निहार रहे थे। हठात् उनके मन में ऋतु के प्रभाव से काम-वासना सजग हो उठी। वह माद्री के साथ क्रीड़ा करने को आतुर हो उठे। माद्री ने बहुत रोका परन्तु पाण्डु न माने। कामवश बुद्धि खो बैठे और ऋषि के शाप का असर हो गया। तत्काल उनकी मृत्यु हो गई।

माद्री के दुःख का पार न रहा। पति की मृत्यु का वह कारण बनी, यह सोचकर पाण्डु के साथ ही वह जलती हुई चिता पर लेट गई और प्राणत्याग कर दिये।

इस दुर्घटना से कुन्ती और पांचों पांडवों के शोक की सीमा न रही। ऐसा प्रतीत हुआ कि यह दुःख उनसे सहा न जायगा। पर वन के ऋषि-मुनियों ने बहुत समझा-बुझाकर उनको शांत किया और उन्हें हस्तिनापुर ले जाकर पितामह भीष्म के सुपुर्द किया। युधिष्ठिर की उम्र उस समय सोलह वर्ष की थी।

हस्तिनापुर के लोगों ने जब ऋषियों से सुना कि वन में पाण्डु की मृत्यु हो गई तो उनके शोक की सीमा न रही। भीष्म, विदुर आदि स्वजनों ने यथाविधि पाण्डु का श्राद्ध-कर्म किया। सारे राज्य के लोगों ने ऐसा शोक मनाया मानों उनका कोई सगा मर गया हो।

पोते की मृत्यु पर शोक करती हुई सत्यवती को समझाते हुए व्यासजी बोले—"अतीत सुखकर ही रहा। भविष्य में बड़े दुःख तथा संकट की संभावना है। पृथ्वी की जवानी बीत चुकी है। अब वह समय आनेवाला है जो छल-प्रपंच एवं पापों से भरा होगा। भरतवंश पर

बड़ी विपत्ति पड़नेवाली है। तुम्हारे लिए अच्छा यही होगा कि अपने वंश की दुर्गति को देखो ही नहीं और वन में जाकर तपस्या करो।"

व्यासजी की बात मानकर सत्यवती अपनी दोनों विधवा पुत्रवधुओं —अम्बिका और अम्बालिका को साथ लेकर वन में चली गई। तीनों वृद्धाएं कुछ दिनों तपस्या करती रहीं और बाद में स्वर्ग सिधार गईं। अपने कुल में जो छल-प्रपंच तथा अन्याय होनेवाले थे, उन्हें न देखना ही उन्होंने उचित समझा।

: १० :

भीम

पाँचों पांडव तथा धृतराष्ट्र के सौ पुत्र, जो कौरव कहलाते थे, हस्तिनापुर में साथ-साथ रहने लगे। खेल-कूद, हँसी-मजाक सबमें वे साथ ही रहते। शरीर-बल में पाण्डु का पुत्र भीम सबसे बढ़कर था। खेलों में वह दुर्योधन और उसके भाइयों को खूब तंग किया करता; खूब उनको मारता-पीटता और बाल पकड़कर खींचता। कभी आठ-दस बच्चों को लेकर पानी में डुबकी मार लेता और बड़ी देर तक उनको पानी के अन्दर ही दबाये रखता; यहांतक कि बेचारों का दम घुटने लग जाता। कौरव कभी पेड़ पर चढ़-चढ़कर फल खाते होते या खेलते होते तो भीम पेड़ को जोर से लात मारकर हिला देता और वे बालक पेड़ से ऐसे गिर पड़ते जैसे पके हुए फल। भीम के ऐसे खेलों से बच्चे बहुत तंग आ जाते और उनका सारा शरीर छोटे-छोटे घावों से भरा रहता। यद्यपि भीम मन में किसीसे बैर नहीं रखता था और बचपन के जोश के कारण ही ऐसा करता था, फिर भी दुर्योधन तथा उसके भाइयों के मन में भीम के प्रति द्वेषभाव बढ़ने लगा।

इधर सभी बालक उचित समय आने पर कृपाचार्य से अस्त्र-विद्या के साथ-साथ अन्य विद्याएं भी सीखने लगे। विद्या सीखने में भी पांडव कौरवों से आगे ही रहते। इससे कौरव और खीझने लगे। दुर्योधन पांडवों को हर प्रकार नीचा दिखाने का प्रयत्न करता। भीम से तो उसकी

जरा भी नहीं पटती थी।

एक बार सब कौरवों ने आपस में सलाह करके यह निश्चय किया कि भीम को गंगा में डुबोकर मार डाला जाय और उसके मरने पर युधिष्ठिर-अर्जुन आदि को कैद करके बन्दी बना लिया जाय। दुर्योधन ने सोचा था कि ऐसा करने से सारे राज्य पर उसका अधिकार हो जायगा।

एक दिन दुर्योधन ने धूमधाम से जल-क्रीड़ा का प्रबन्ध किया और पांचों पाण्डवों को उसके लिए न्योता दिया। बड़ी देर तक खेलने व तैरने के बाद सबने भोजन किया और अपने-अपने डेरों में आकर सो रहे। दुर्योधन ने छल से भीम के भोजन में विष मिला दिया था। सब लोग खूब खेले-तैरे थे, सो थक-थकाकर सो गये। भीम को विष के कारण गहरा नशा आया। वह डेरे पर भी न पहुंचने पाया और नशे में चूर होकर गंगा-किनारे रेती में ही पड़ गया। ऐसी ही हालत में दुर्योधन ने उसके हाथ-पैर लताओं से बांधकर गंगा में बहा दिया।

लताओं से जकड़ा हुआ भीम का शरीर गंगा की धारा में बहता हुआ दूर निकल गया। पानी में ही कुछ विषैले सांपों ने उसे काट लिया। सांपों के विष के प्रभाव से भीम के शरीर से भोजन के विष का प्रभाव दूर हो गया और वह जल्दी ही होश में आ गया। इस प्रकार विष के शमन हो जाने से भीम का शारीरिक बल और बढ़ गया।

इधर दुर्योधन मन-ही-मन यह सोचकर खुश हो रहा था कि भीम का तो काम ही तमाम हो गया होगा। जब युधिष्ठिर वगैरह जगे और भीम को न पाया तो इधर-उधर पूछताछ की। दुर्योधन ने उनको झूठ-मूठ समझा दिया कि वह तो कभी का नगर की ओर चला गया है। युधिष्ठिर ने उसकी बात पर विश्वास कर लिया और चारों भाई अपने महलों में वापस आ गये। लेकिन वहां युधिष्ठिर ने देखा कि भीम का कहीं पता नहीं। तब वह चिन्तित हो गये। कुन्ती के पास जाकर पूछा—"मां! आपने भीम को कहीं देखा? वह तो खेलकर हमसे पहले ही आ गया था। यहां से कहीं और तो नहीं गया?"

यह सुनकर कुन्ती भी घबरा गई। तब चारों भाइयों ने मिलकर वह सारा जंगल तथा गंगा का किनारा, जहां जल-क्रीड़ा की थी, छान डाला।

पर भीम का कहीं पता नहीं चला । अन्त में निराश हो दुःखी-हृदय से वे अपने महल को लौट आये ।

इतने ही में क्या देखते हैं कि भीम झूमता-झामता चला आ रहा है । पांडवों और कुन्ती के आनन्द का ठिकाना न रहा । युधिष्ठिर, कुन्ती, आदि ने भीम को गले से लगा लिया ।

पर यह सब हाल देख कुन्ती को बड़ी चिन्ता हुई । उसने विदुर को बुला भेजा और अकेले में उनसे बोली—"दुष्ट दुर्योधन जरूर कोई-न-कोई चाल चल रहा है । राज्य के लोभ से वह भीम को मार डालना चाहता है । मुझे इसकी बड़ी चिन्ता हो रही है ।"

राजनीति-कुशल विदुर कुन्ती को समझाते हुए बोले—"तुम्हारा कहना सही है । पर कुशल इसीमें है कि इस बात को अपने तक ही रखो । प्रकट रूप से दुर्योधन की निन्दा कदापि न करना; नहीं तो इससे उसका द्वेष और बढ़ेगा । तुम्हारे पुत्रों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । वे चिरजीवी होंगे इसमें कोई संदेह नहीं । तुम निश्चिंत रहो ।"

इस घटना से भीम बहुत उत्तेजित हो गया था । उसे समझाते हुए और साथ-ही-साथ सावधान करते हुए युधिष्ठिर ने कहा—"भाई भीम, अभी समय नहीं आया है । तुम्हें अपने-आपको संभालना होगा । इस समय तो हम पांचों भाइयों को यही करना है कि किसी प्रकार एक-दूसरे की रक्षा करते हुए बचे रहें ।

भीम के वापस आ जाने पर दुर्योधन को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसका हृदय और जलने लगा । द्वेष और ईर्ष्या उसको खाये जाने लगी । लंबी सांसें लेकर वह रह गया । ईर्ष्या की आग में जलते रहने के कारण उसका शरीर धीरे-धीरे सूखने लगा ।

: ११ :

कर्ण

पांडवों ने पहले कृपाचार्य से और बाद में द्रोणाचार्य से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा पाई । उनको जब विद्या में काफी निपुणता प्राप्त हो गई तो

एक भारी समारोह किया गया जिसमें सबने अपने-अपने कौशल का प्रदर्शन किया । सारे नगरवासी इस समारोह को देखने आये थे । तरह-तरह के खेल हुए और हरेक राजकुमार यही चाहता था कि वही सबसे बढ़कर निकले । आपस में लाग-डांट बड़े जोर की थी । पर तीर चलाने में पांडु-पुत्र अर्जुन का कोई सानी न था । अर्जुन ने धनुष-विद्या में कमाल का खेल दिखाया । उसकी अद्भुत चतुरता को देख सभी दर्शक और राजवंश के सभी उपस्थित लोग दंग रह गए । यह देख दुर्योधन का मन ईर्ष्या से और जलने लगा ।

अभी खेल हो ही रहा था कि इतने में रंग-भूमि के द्वार पर किसी के खम ठोंकते हुए आने का शब्द सुनाई दिया । दर्शकों और खिलाड़ी राजकुमारों का ध्यान उधर चला गया और वे उत्सुकता से उधर देखने लगे । देखते क्या हैं कि एक रोबीला और तेजस्वी युवक मस्तानी चाल से रंगभूमि में आकर अर्जुन के सामने खड़ा हो गया ।

यह युवक और कोई नहीं, अधिरथ द्वारा पोषित कुन्ती-पुत्र कर्ण ही था । लेकिन उसके कुन्ती-पुत्र होने की बात किसीको मालूम न थी ।

रंगभूमि में आते ही उसने अर्जुन को ललकारा—"अर्जुन ! जो कुछ करतब तुमने यहां दिखाये हैं उससे भी बढ़कर कौशल मैं दिखा सकता हूं । क्या तुम इसके लिए तैयार हो ?"

इस चुनौती को सुनकर दर्शक-मंडली में बड़ी खलबली मच गई । पर ईर्ष्या की आग से जलनेवाले दुर्योधन को बड़ी राहत मिली । वह बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने बड़े तपाक से कर्ण का स्वागत किया और उसे छाती से लगाकर बोला—

"कहो कर्ण, कैसे आये ? बताओ, हम तुम्हारे लिए क्या कर सकते हैं ?"

कर्ण बोला—"राजन् ! मैं अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध और आपसे मित्रता करना चाहता हूं ।"

कर्ण की चुनौती को सुनकर अर्जुन को बड़ा तैश आया, वह बोला—"कर्ण ! सभा में जो बिना बुलाये आते हैं और जो बिना किसीसे पूछे बोलने लगते हैं, वे निन्दा के योग्य होते हैं ।"

यह सुन कर्ण ने कहा—"अर्जुन, यह उत्सव केवल तुम्हारे ही लिए नहीं मनाया जा रहा है । सभी प्रजाजन इसमें भाग लेने का अधिकार रखते हैं । क्षत्रियों का धर्म बल का अनुयायी है । व्यर्थ डींगें मारने से फायदा क्या ? चलो, तीरों से बात कर लें !"

जब कर्ण ने अर्जुन को यों चुनौती दी तो दर्शक लोगों ने तालियां बजाकर कोलाहल मचाया । उनके दो दल बन गए । एक दल अर्जुन को बढ़ावा देने लगा और दूसरा कर्ण को । इसी प्रकार वहां इकट्ठी स्त्रियों के भी दो दल बन गए । इससे मालूम होता है कि संसार में 'पार्टीबाजी' की यह प्रथा मुद्दत से चली आती है ।

कुन्ती ने कर्ण को देखते ही पहचान लिया और भय और लज्जा के मारे मूर्च्छित-सी हो गई । उसकी यह हालत देखकर विदुर ने दासियों को बुलाकर उसे चेत करवाया और मीठे शब्दों में आश्वासन दिया और समझाया । कुन्ती किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सी हो गई ।

इस बीच कृपाचार्य ने उठकर कर्ण से कहा—"अज्ञात-वीर ! महाराज पांडु का पुत्र और कुरुवंश का वीर अर्जुन तुम्हारे साथ द्वंद्व करने के लिए तैयार है । पर तुम पहले अपना परिचय दो तो ! तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, किस राज-कुल को तुम विभूषित करते हो ? क्योंकि द्वंद्व-युद्ध बराबरवालों में ही होता है । कुल का परिचय पाये बगैर राज-कुमार कभी द्वंद्व करने को तैयार नहीं होते ।"

कृपाचार्य की यह बात सुनकर कर्ण का सिर लज्जा से इस प्रकार झुक गया जैसे वर्षा के जल में भीगा हुआ कमल । कर्ण लज्जा के कारण श्री-विहीन हो गया ।

कर्ण को इस तरह लज्जित देखकर दुर्योधन उठ खड़ा हुआ और बोला—"अगर बराबरी की ही बात है तो मैं आज ही कर्ण को अंगदेश का राजा बनाता हूं ।" यह कहकर दुर्योधन ने तुरन्त पितामह भीष्म एवं पिता धृतराष्ट्र से अनुमति लेकर वहीं रंगभूमि में ही राज्याभिषेक की सामग्री मंगाई और कर्ण का राज्याभिषेक करवाया और उसे अंगदेश का राजा घोषित कर दिया ।

इतने में बूढ़ा सारथी अधिरथ, जिसने कर्ण को पाला था, लाठी

टेकता हुआ और भय के मारे कांपता हुआ सभा में प्रविष्ट हुआ । कर्ण, जो अभी-अभी अंगदेश का नरेश बना दिया गया था, उसको देखते ही धनुष नीचे रखकर उठ खड़ा हुआ और पिता मानकर बड़े आदर के साथ उसके आगे सिर नवाया । बूढ़े ने भी 'बेटा' कहकर उसे गले लगा लिया और अभिषेक-जल से भीगे हुए कर्ण के सिर पर आनन्द के आंसू बहाकर उसे और भिगो दिया ।

यह देखकर भीम खूब कहकहा मारकर हँस पड़ा और बोला—"सारथी के बेटे, धनुष छोड़कर हाथ में चाबुक लो, चाबुक ! वही तुम्हें शोभा देगा । तुम भला कबसे अर्जुन के साथ द्वंद्व-युद्ध करने के योग्य हो गये ?"

यह सब देख सभा में खलबली मच गई । इस समय सूरज भी डूब रहा था । इस कारण सभा विसर्जित हो गई । मशाल और दीपकों की रोशनी में दर्शक-वृन्द तरह-तरह से शोर मचाते हुए चले गए । अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार कुछ लोग अर्जुन की, कुछ कर्ण की और कुछ दुर्योधन की जय बोलते जाते थे ।

इस घटना के बहुत काल बाद एक बार देवराज इन्द्र बूढ़े ब्राह्मण के वेश में अंग-नरेश कर्ण के पास आये और उसके जन्मजात कवच और कुण्डल की भिक्षा मांगी । देवराज इन्द्र को डर था कि युद्ध में कर्ण की शक्ति से उनके पुत्र अर्जुन पर विपत्ति आ सकती है । इस कारण कर्ण की ताकत कम करने की इच्छा से ही उन्होंने दानवीर कर्ण से यह भिक्षा मांगी थी ।

कर्ण को उसके पिता सूर्यदेव ने पहले से सचेत कर दिया था कि उसे धोखा देने के लिए इंद्र ऐसी चाल चलनेवाले हैं; परन्तु कर्ण इतना दानी था कि किसीके कुछ मांगने पर वह नाहीं कर ही नहीं सकता था । इस कारण यह जानते हुए भी कि भिखारी के वेश में इन्द्र मुझसे धोखा कर रहे हैं, जन्मजात कवच और कुण्डल निकालकर भिक्षा में दे दिये ।

इस अद्भुत दानवीरता को देखकर देवराज इन्द्र चकित रह गए । कर्ण की प्रशंसा करते हुए बोले—"कर्ण, तुमने आज वह काम किया है जो और किसीके बूते का नहीं था । तुमसे मैं बहुत प्रसन्न हूं । तुम जो

भी वरदान चाहो, मांगो ।"

कर्ण ने देवराज से कहा—"आप प्रसन्न हैं तो शत्रुओं का संहार करनेवाला अपना 'शक्ति' नामक शस्त्र मुझे प्रदान करें।"

बड़ी प्रसन्नता के साथ अपना वह शस्त्र कर्ण को देते हुए देवराज ने कहा—"युद्ध में तुम जिस किसीको लक्ष्य करके इसका प्रयोग करोगे वह अवश्य मारा जायगा । परन्तु एक ही बार तुम इसका प्रयोग कर सकोगे । तुम्हारे शत्रु को मारने के बाद यह हमारे पास आ जायगा।" इतना कहकर इन्द्र चले गए।

एक बार कर्ण को परशुरामजी से ब्रह्मास्त्र का मंत्र सीखने की इच्छा हुई । उसे यह पता था कि परशुरामजी ब्राह्मणों को छोड़कर और किसी को शस्त्र-विद्या नहीं सिखाते । इसलिए वह ब्राह्मण के वेश में परशुराम-जी के पास गया और प्रार्थना की कि वह उसे शिष्य स्वीकार करने की कृपा करें । परशुरामजी ने उसे ब्राह्मण समझकर शिष्य बना लिया । इस प्रकार छल से कर्ण ने ब्रह्मास्त्र चलाना सीख लिया ।

एक दिन परशुराम कर्ण की जांघ पर सिर रखकर सो रहे थे । इतने में एक काला भौंरा कर्ण की जांघ के नीचे घुस गया और काटने लगा। कीड़े के काटने से कर्ण को बहुत पीड़ा हुई और जांघ से लहू की धारा बहने लगी, पर कर्ण ने जांघ को ज़रा भी हिलाया-डुलाया नहीं—इस भय से कि कहीं गुरुदेव की नींद न खुल जाय । जब खून से परशुराम की देह भीगने लगी तो उनकी नींद खुली । उन्होंने देखा कि कर्ण की जांघ से जोरों से खून बह रहा है । यह देख परशुराम बोले—"बेटा, सच बताओ, तुम कौन हो ? इतनी शारीरिक पीड़ा सहते हुए स्थिर रहना ब्राह्मण के बूते का नहीं है । केवल क्षत्रिय ही यह पीड़ा सह सकता है ।"

कर्ण असली बात न छिपा सका । उसने स्वीकार कर लिया कि वह ब्राह्मण नहीं, बल्कि सूत-पुत्र है ।"

यह जानकर परशुराम को बड़ा क्रोध आया । क्षत्रियों के तो वे दुश्मन थे । अतः उन्होंने उसी घड़ी कर्ण को शाप देते हुए कहा—"चूंकि तुमने अपने गुरु को ही धोखा दिया, इसलिए जो विद्या तुमने मुझसे

सीखी है, वह अन्त समय में तुम्हारे काम न आयगी । ऐन वक्त पर तुम उसे भूल जाओगे और रण-क्षेत्र में तुम्हारे रथ का पहिया पृथ्वी में धंस जायगा ।"

परशुरामजी का यह शाप झूठा न हुआ। जीवन-भर कर्ण को उनकी सिखाई हुई ब्रह्मास्त्र-विद्या याद रही, पर कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन से युद्ध करते समय कर्ण को वह याद न रही ।

दुर्योधन के घनिष्ठ मित्र कर्ण ने अन्त समय तक कौरवों का साथ न छोड़ा । कुरुक्षेत्र के युद्ध में भीष्म तथा आचार्य द्रोण के आहत हो जाने के बाद दुर्योधन ने कर्ण को ही कौरव सेना का सेनापति बनाया था । कर्ण ने दो दिन तक अद्‌भुत कुशलता के साथ युद्ध का संचालन किया । अखिर जब शाप-वश उसके रथ का पहिया जमीन में धंस गया और धनुष-बाण रखकर जमीन में धंसा पहिया निकालने का वह प्रयत्न करने लगा, तभी अर्जुन ने उस महारथी पर प्रहार किया । माता कुन्ती ने जब यह सुना तो उसके दुःख का पार न रहा ।

: २ :

द्रोणाचार्य

आचार्य द्रोण महर्षि भारद्वाज के पुत्र थे । उन्होंने पहले अपने पिता के पास वेद-वेदान्तों का अध्ययन किया और बाद में उसने धनुर्विद्या भी सीखी । पांचाल-नरेश का पुत्र द्रुपद भी द्रोण के साथ ही भारद्वाज-आश्रम में शिक्षा पा रहा था । दोनों में गहरी मित्रता थी । कभी-कभी राजकुमार द्रुपद उत्साह में आकर द्रोण से यहांतक कह देता था कि पांचाल देश का राजा बन जाने पर आधा राज्य तुम्हें दे दूंगा ।

शिक्षा समाप्त होने पर द्रोणाचार्य ने कृपाचार्य की बहन से ब्याह कर लिया । उससे उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम उन्होंने अश्वत्थामा रखा । द्रोण अपनी पत्नी और पुत्र को बड़ा प्रेम करते थे ।

द्रोण बड़े गरीब थे । वह चाहते थे कि किसी तरह धन प्राप्त किया जाय और स्त्री-पुत्र के साथ सुख से रहा जाय । उन्हें खबर लगी कि

परशुराम अपनी सारी सम्पत्ति गरीब ब्राह्मणों को बांट रहे हैं तो भागे-भागे उनके पास गए; लेकिन उनके पहुंचने तक परशुराम अपनी सारी सम्पत्ति वितरित कर चुके थे और वन-गमन की तैयारी कर रहे थे।

द्रोण को देखकर वह बोले—"ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! आपका स्वागत है। पर मेरे पास जो कुछ था वह मैं बांट चुका। अब यह मेरा शरीर और मेरी धनुर्विद्या ही बाकी बची है। बताइये, मैं आपके लिए क्या करूं ?"

तब द्रोण ने उनसे सारे अस्त्रों का प्रयोग, उपसंहार और रहस्य सिखाने की प्रार्थना की। परशुराम ने यह स्वीकार कर लिया और द्रोण को धनुर्विद्या की पूरी शिक्षा दे दी।

कुछ समय बाद राजकुमार द्रुपद के पिता का देहावसान हो गया और द्रुपद राजगद्दी पर बैठा। द्रोणाचार्य को जब द्रुपद के पांचाल देश की राजगद्दी पर बैठने की खबर लगी तो यह सुनकर वह बड़े प्रसन्न हुए और राजा द्रुपद से मिलने पांचाल देश को चल पड़े। उन्हें द्रुपद की गुरु के आश्रम में लड़कपन में की गई बातचीत याद थी। सोचा, यदि आधा राज्य न भी देगा तो कम-से-कम कुछ धन तो जरूर ही देगा।

यह आशा लेकर, द्रोणाचार्य राजा द्रुपद के पास पहुंचे और बोले—"मित्र द्रुपद, मुझे पहचानते हो न ? मैं हूं तुम्हारा लड़कपन का मित्र द्रोण।"

ऐश्वर्य के मद में भूले हुए राजा द्रुपद को द्रोणाचार्य का आना बुरा लगा और द्रोण का अपने साथ मित्र का-सा व्यवहार करना तो और भी अखरा। वह द्रोण पर गुस्से हो गया और बोला—"ब्राह्मण, तुम्हारा यह व्यवहार सज्जनोचित नहीं। मुझे मित्र कहकर पुकारने का तुम्हें साहस कैसे हुआ ? सिंहासन पर बैठे हुए एक राजा के साथ एक दरिद्र प्रजाजन की मित्रता कभी हुई है ? तुम्हारी बुद्धि कितनी कच्ची है ! लड़कपन में लाचारी के कारण हम दोनों को जो साथ रहना पड़ा, उसके आधार पर तुम द्रुपद से मित्रता का दावा करने लगे ! दरिद्र की धनी के साथ, मूर्ख की विद्वान् के साथ और कायर की वीर के साथ मित्रता कहीं हो सकती है ? मित्रता बराबरी की हैसियतवालों में ही होती है। जो किसी राज्य का स्वामी न हो, वह राजा का मित्र कभी हो नहीं

सकता।" द्रुपद की इन कठोर गर्वोक्तियों को सुनकर द्रोणाचार्य बड़े लज्जित हुए और उन्हें क्रोध भी बहुत आया।

उन्होंने निश्चय किया कि इस अभिमानी राजा को सबक सिखाकर और बचपन में जो मित्रता की बात हुई थी उसे पूरा करके चैन लेंगे। वह हस्तिनापुर पहुंचे और वहां अपनी पत्नी के भाई (अपने साले) कृपाचार्य के यहां गुप्त-रूप से रहने लगे।

एक रोज हस्तिनापुर के राजकुमार नगर के बाहर कहीं गेंद खेल रहे थे कि इतने में उनकी गेंद एक अंधे कुएं में जा गिरी। युधिष्ठिर उसको निकालने का प्रयत्न करने लगे तो उनकी अंगूठी भी कुएं में गिर पड़ी। सभी राजकुमार कुएं के चारों ओर खड़े हो गये और पानी के अन्दर चमकती हुए अंगूठी को झांक-झांककर देखने लगे, पर उसे निकालने का उपाय उनको नहीं सूझता था।

एक कृष्ण वर्ण का ब्राह्मण मुस्कराता हुआ यह सब चुपचाप देख रहा था। राजकुमारों को उसका पता नहीं था। राजकुमारों को अचरज में डालता हुआ वह बोला—"राजकुमारो ! तुम क्षत्रिय हो, भरतवंश के दीपक हो। ज़रा-सी धनुर्विद्या जाननेवाले जो काम कर सकते हैं वह भी तुम लोगों से न हो सका। बोलो, मैं गेंद निकाल दूं तो तुम मुझे क्या दोगे ?"

"ब्राह्मण श्रेष्ठ ! आप गेंद निकाल देंगे तो कृपाचार्य के घर आपकी बढ़िया दावत करेंगे।" युधिष्ठिर ने हँसते हुए कहा।

तब द्रोणाचार्य ने पास में पड़ी हुई एक सींक उठा ली और मंत्र पढ़कर उसे पानी में फेंका। सींक गेंद को ऐसे जाकर लगी जैसे तीर। और फिर इसी तरह लगातार कई सींकें मंत्र पढ़-पढ़कर वह कुएं में डालते गये। सींकें एक दूसरे के सिर से चिपकती गईं। जब आखिरी सींक का सिरा कुएं के बाहर तक पहुंचा तो द्रोणाचार्य ने उसे पकड़कर खींच लिया और गेंद निकल आई।

सब राजकुमार आश्चर्य से यह करतब देख रहे थे। जब गेंद निकल आई तो वे सब मारे खुशी के उछल पड़े। उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने ब्राह्मण से विनती की कि युधिष्ठिर की अंगूठी भी निकाला

दीजिये। द्रोण ने तुरन्त धनुष चढ़ाया और कुएं में तीर मारा। पल भर में बाण अंगूठी को अपनी नोंक में लिये ऊपर आ गया। द्रोणाचार्य ने अंगूठी युधिष्ठिर को दे दी।

यह चमत्कार देखकर राजकुमारों को और भी ज्यादा अचरज हुआ। उन्होंने द्रोण के आगे आदरपूर्वक सिर नवाया और हाथ जोड़कर पूछा—"महाराज! हमारा प्रणाम स्वीकार कर लीजिये। हमें अपना परिचय दीजिये कि आप कौन हैं? हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? हमें आज्ञा कीजिये।"

द्रोण ने कहा—"राजकुमारों! यह सारी घटना सुनाकर पितामह भीष्म से ही मेरा परिचय प्राप्त करलें।"

राजकुमारों ने जाकर पितामह भीष्म को सारी बात कह सुनाई तो भीष्म ताड़ गये कि हो न हो वह सुप्रसिद्ध आचार्य द्रोण ही होंगे। यह सोच उन्होंने निश्चय कर लिया कि आगे राजकुमारों की अस्त्र-शिक्षा द्रोणाचार्य के ही हाथों पूरी कराई जाय। बड़े सम्मान से उन्होंने द्रोण का स्वागत किया और राजकुमारों को आदेश दिया कि वे धनुर्विद्या गुरु द्रोण से ही सीखा करें।

कुछ समय बाद जब राजकुमारों की शिक्षा पूरी हो गई तो द्रोणाचार्य ने उनसे गुरु-दक्षिणा के रूप में पांचाल-राजा द्रुपद को कैद कर लाने के लिए कहा। उनकी आज्ञानुसार पहले दुर्योधन और कर्ण ने द्रुपद के राज्य पर धावा किया, पर पराक्रमी द्रुपद के आगे वे न ठहर सके। हारकर वापस आये। तब द्रोण ने अर्जुन को भेजा अर्जुन ने पांचालराज की सेना को तहस-नहस कर दिया और राजा द्रुपद को उनके मंत्री-सहित कैद करके आचार्य के सामने ला खड़ा किया।

द्रोणचार्य ने मुस्कराते हुए द्रुपद से कहा—"हे वीर! डरो नहीं। किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका न करो। लड़कपन में तुम्हारी-हमारी मित्रता थी। साथ-साथ खेले-कूदे, उठे-बैठे। बाद में जब तुम राजा बन गए तो ऐश्वर्य के मद में आकर तुम मुझे भूल गए और मेरा अपमान किया। तुमने कहा था कि राजा के साथ राजा ही मित्रता कर सकता है। इसी कारण मुझे युद्ध करके तुम्हारा राज्य छीनना पड़ा।

परन्तु मैं तो तुम्हारे साथ मित्रता ही करना चाहता हूं, इसलिए आधा राज्य तुम्हें वापस लौटा देता हूं; क्योंकि मेरे मित्र बनने के लिए भी तो तुम्हें राज्य चाहिए न! मित्रता तो बराबरी की हैसियतवालों में ही हो सकती है!"

द्रोणाचार्य ने इसको अपने अपमान का काफी बदला समझा और उन्होंने द्रुपद को बड़े सम्मान के साथ विदा किया।

इस प्रकार राजा द्रुपद का गर्व चूर हो गया, लेकिन बदले से घृणा दूर नहीं होती। किसीके अभिमान को ठेस लगने पर जो पीड़ा होती है, वह सहन करना बड़ा कठिन होता है। द्रोण से बदला लेने की भावना द्रुपद के जीवन का लक्ष्य बन गई। उसने कई कठोर व्रत और तप इस कामना से रखे कि उसे एक ऐसा पुत्र हो जो द्रोण को मार सके। और एक ऐसी कन्या हो, जो अर्जुन से ब्याही जा सके। आखिर उसकी कामना पूरी हुई। उसके धृष्टद्युम्न नामक एक पुत्र हुआ और द्रौपदी नाम की एक कन्या। आगे चलकर कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में अजेय द्रोणाचार्य इसी धृष्टद्युम्न के हाथों मारे गये थे।

: १३ :

लाख का घर

भीमसेन का शरीर-बल और अर्जुन की युद्ध-कुशलता देख-देखकर दुर्योधन की जलन दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। वह ऐसे उपाय सोचने लगा कि जिससे पाण्डवों का नाश हो सके। इस कुमन्त्रणा में उसका मामा शकुनी और कर्ण सलाहकार बने हुए थे।

बूढ़े धृतराष्ट्र बुद्धिमान थे। अपने भतीजों से उनको स्नेह भी काफी था, परन्तु अपने पुत्रों से उनको मोह भी अधिक था। दृढ़ निश्चय की उनमें कमी थी। किसी बात पर वह स्थिर नहीं रह सकते थे। अपने बेटे पर अंकुश रखने की शक्ति उनमें नहीं थी। इस कारण यह जानते हुए भी कि दुर्योधन कुराह चला रहा है, उन्होंने उसका ही साथ दिया। दुर्योधन पाण्डवों के विनाश की कोई-न-कोई चाल चलता ही रहता

था। पर उधर विदुर गुप्त रूप से पाण्डवों की सहायता करते रहते थे जिससे पाण्डव समय पर चेत जायं और सुरक्षित रह सकें।

इधर पाण्डवों की लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ती जाती थी। चौराहों पर, सभा-समाजों में, जहां कहीं भी लोग इकट्ठे होते, पाण्डवों के गुणों की प्रशंसा ही सुनने में आती। लोग कहते कि राजगद्दी पर बैठने के योग्य तो युधिष्ठिर ही हैं। वे कहते—

"धृतराष्ट्र तो जन्म के अन्धे थे। इस कारण उनके छोटे भाई पांडु ही सिंहासन पर बैठे थे। उनकी अकाल मृत्यु हो जाने और पाण्डवों के बालक होने के कारण कुछ समय के लिए धृतराष्ट्र ने राजकाज सम्हाला था। अब जब युधिष्ठिर बड़े हो गये हैं तो फिर आगे धृतराष्ट्र को राज्य अपने ही अधीन रखने का क्या अधिकार है? पितामह भीष्म का तो कर्तव्य है कि वह धृतराष्ट्र से राज्य का भार युधिष्ठिर को दिला दें। युधिष्ठिर ही सारी प्रजा के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार कर सकेंगे।"

ज्यों-ज्यों पाण्डवों की यह लोकप्रियता दुर्योधन के देखने में आती, ईर्ष्या से वह और भी अधिक कुढ़ने लगता।

एक रोज धृतराष्ट्र को अकेले में पाकर दुर्योधन बोला—"पिताजी, पुरवासी लोग तरह-तरह की बातें करते हैं—आपके बारे में भी और स्वयं पितामह के बारे में भी। वैसे लोग अब पितामह को सम्मान की निगाह से कम ही देखते हैं। लोग तो हलचल मचा रहे हैं कि युधिष्ठिर को जल्दी ही राज-सिंहासन पर बिठा दिया जाय। इस कारण ऐसा लगता है कि हमपर कोई बड़ी विपत्ति आनेवाली है। जन्म से दिखाई न देने के कारण आप, बड़े होते हुए भी, राज्य से वंचित ही रह गये। राज्य-सत्ता आपके छोटे भाई के हाथ में चली गई। अब यदि युधिष्ठिर को राजा बना दिया गया तो फिर सात पीढ़ियों तक हम राज्य की आशा नहीं कर सकेंगे। युधिष्ठिर के बाद उसीका बेटा राजा बनेगा। हम तो फिर कहीं के न रहेंगे। हो सकता है कि हमें भीख मांगने तक को मजबूर होना पड़े। ऐसे जीवन से तो नरक अच्छा! पिताजी, हमसे तो यह अपमान न सहा जायगा।"

यह सुनकर राजा धृतराष्ट्र सोच में पड़ गये। बोले—"बेटा, तुम्हारा

कहना ठीक है। लेकिन युधिष्ठिर के विरुद्ध कुछ करना भी तो कठिन है। युधिष्ठिर धर्मानुसार चलता है, सबसे समान स्नेह करता है, अपने पिता के समान ही गुणवान् है। इस कारण प्रजाजन भी उसे चाहते हैं। इसीसे उसकी सहायता करनेवालों की भी कमी नहीं है। हमारे जितने भी मंत्री हैं, उन सबका पांडु ने उपकार किया था। सेनानायकों, सैनिकों और उनके बाल-बच्चों की इतनी सहायता की थी कि अभी तक सब उसका आभार मानते हैं। जो भी पांडु के गुणों से परिचित हैं, वे अवश्य ही युधिष्ठिर का साथ देंगे। इस कारण पांडवों पर विजय पाना हमारे लिए सम्भव नहीं। उलटे यदि हम धर्म के विरुद्ध कुछ कर बैठे तो नगरवासी सब हमारे विरुद्ध हो जायंगे और हमें भाई-बन्धुओं सहित उखाड़ फेंकेंगे। लोगों ने इतना न किया तो भी राज्य छोड़कर तो हमें जरूर ही चला जाना पड़ेगा। लोक-निन्दा और अपयश के पात्र होंगे सो अलग।"

यह सुन दुर्योधन बोला—"पिताजी, आप व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं। इसमें चिन्ता की तो बात ही कोई नहीं है। थोड़ी कुशलता से काम लेना होगा। मौका पड़ने पर पितामह भीष्म किसीके पक्ष में न रहेंगे। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा मेरे मित्र हैं—वह मेरा ही साथ देंगे। आचार्य अपने बेटे को छोड़कर विपक्ष में नहीं जायंगे। विदुर चाचा भले ही हमारा साथ न दें, पर हमारा विरोध करने की शक्ति तो उनमें भी नहीं है। इसलिए पिताजी, मेरा इतना कहा मानिये। आपको और कुछ नहीं करना है, सिर्फ पाण्डवों को किसी-न-किसी बहाने वारणावत के मेले में भेज दीजिये। इतनी-सी बात से, मैं आपको विश्वास दिलाता हूं, हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होगा। यहां तो पांडवों को बढ़ती देखकर मेरा जी जल रहा है। यह दुःख मेरे लिए असह्य हो उठा है। मेरी नींद हराम हो गई है। अगर ऐसी ही परिस्थिति रही तो फिर मैं अधिक दिन जी नहीं सकूंगा। आप शीघ्र ही इनको वारणावत भेज देने की स्वीकृति दें, ताकि यहां हम अपनी ताकत बढ़ा सकें।"

•

इस बीच अपने पिता पर और अधिक प्रभाव डालने के इरादे से दुर्योधन ने कुछ कूटनीतिज्ञों को अपने पक्ष में मिला लिया। बारी-बारी

से वे बूढ़े धृतराष्ट्र के पास जाने और पांडवों के विरुद्ध उन्हें उभारने लगे। इनमें कणिक नाम का ब्राह्मण मुख्य था, जो शकुनी का मंत्री था। उसने धृतराष्ट्र को राजनीतिक चालों का भेद बताते हुए अनेक उदाहरणों एवं प्रमाणों से अपनी दलीलों की पुष्टि की। अन्त में बोला—"राजन्! जो ऐश्वर्यवान् है, वही संसार में श्रेष्ठ माना जाता है। यह बात ठीक है कि पांडव अपने भतीजे हैं; परन्तु वे बड़े शक्ति-सम्पन्न भी हैं। इस कारण अभी से चौकन्ने हो जाइये। आप पांडु-पुत्रों से अपनी रक्षा कर लीजिये, वरना पीछे पछताइएगा।"

धृतराष्ट्र ध्यान से सुन रहे थे। कणिक बोलता गया—"मैंने जो कुछ कहा, उसके लिए मुझसे नाराज न होइएगा। राजनीति के जानकार लोगों का मत है कि राजा को हमेशा अपने बल का प्रदर्शन करते रहना चाहिए। किसीको इतना-सा भी मौका न देना चाहिए कि वह राजा की ताकत को जरा भी ठेस पहुंचा सके। राज-काज की बातें हमेशा गुप्त ही रखनी चाहिए। किसी भी कार्य को शुरू करने पर उसे अच्छी तरह पूरा किये बिना बीच ही में न छोड़ना चाहिए। शत्रु की ताकत थोड़ी ही क्यों न हो, तत्काल ही उसका नाश कर देना चाहिए। कभी-कभी छोटी-सी चिनगारी सारे जंगल को जला देती है। इस कारण शत्रु को कमजोर समझकर लापरवाह नहीं रहना चाहिए। वश में आये शत्रु का तुरन्त वध कर देना चाहिए। उसपर दया न करनी चाहिए। इसलिए राजन्! पांडु के पुत्रों से आप अपना बचाव कर लीजिये। वे बड़े ताकतवर हैं।"

कणिक की बातों पर धृतराष्ट्र विचार कर ही रहे थे कि दुर्योधन ने आकर कहा—"पिताजी, मैंने राजकीय कर्मचारियों को प्रलोभनों एवं धन से सन्तुष्ट कर लिया है। मुझे सन्देह नहीं कि वे हमारी ही सहायता करेंगे। सब मंत्रियों को भी मैंने अपनी तरफ कर लिया है। आप अगर किसी तरह पांडवों को समझाकर वारणावत भेज दें तो फिर नगर और राज्य हमारे ही हाथ में रहेंगे। प्रजाजन तो हमारे पक्ष में आ ही जायंगे। जब राज्य पर हमारा शासन पक्का हो जाय तब फिर पांडव बड़ी खुशी से लौट सकते हैं। फिर हमें उनसे कोई खतरा नहीं रहेगा।"

दुर्योधन और उसके साथी धृतराष्ट्र को रात-दिन इसी तरह पांडवों के विरुद्ध कुछ-न-कुछ कहते-सुनाते रहते और उनपर अपना प्रभाव डालते रहते थे। आखिर धृतराष्ट्र कमजोर पड़े और उनको लाचार होकर अपने बेटे की सलाह माननी पड़ी। पांडवों को वारणावत भेजने की तैयारियां होने लगीं। दुर्योधन के पृष्ठ-पोषकों ने वारणावत की सुन्दरता और खूबियों के बारे में पांडवों को बहुत ललचाया। कहा कि वारणावत में एक भारी मेला होने वाला है जिसकी शोभा देखते ही बनेगी। उनकी बातें सुन-सुनकर खुद पांडवों को भी वारणावत जाने की उत्सुकता हुई, यहांतक कि उन्होंने स्वयं आकर धृतराष्ट्र से वहां जाने की अनुमति मांगी।

धृतराष्ट्र स्नेह का दिखावा करते हुए मीठे स्वर में बोले—"ठीक है, तुम्हारी इच्छा है तो जरूर हो आओ। वारणावत के लोग भी तुम्हें देखने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। उनकी भी इच्छा पूरी हो जायगी।"

धृतराष्ट्र की अनुमति पाकर पांडव बड़े खुश हुए और भीष्म आदि से विदा लेकर माता कुन्ती के साथ वारणावत के लिए रवाना हो गए।

पांडवों के चले जाने की खबर पाकर दुर्योधन की खुशी की तो सीमा न रही। वह अपने दोनों साथियों, कर्ण एवं शकुनि, के साथ बैठकर पांडवों तथा कुन्ती का काम तमाम करने का उपाय सोचने लगा। उसने अपने मंत्री पुरोचन को बुलाकर गुप्त रूप से सलाह की और एक योजना बनाई। पुरोचन ने यह सारा काम पूर्ण सफलता के साथ पूरा करने का वचन दिया और तुरन्त वारणावत के लिए रवाना हो गया।

एक शीघ्रगामी रथ पर बैठकर पुरोचन पांडवों से बहुत पहले वारणावत जा पहुंचा। वहां पहुंचकर उसने पांडवों के ठहरने के लिए एक बड़ा खूबसूरत महल बनवाया। सन, घी, मोम, तेल, लाख, चरबी, आदि जल्दी आग पकड़नेवाली चीजों को मिट्टी में मिलाकर उसने यह सुन्दर भवन बनवाया। दीवारों पर जो रंग लगा था, वह भी

जल्दी भड़कनेवाली चीजों का लगा था। जहां-तहां कमरों में भी ऐसी ही चीजें गुप्त रूप से रखी गई थीं कि जिनको जल्दी ही आग लग सके। पर इतनी खूबी से यह सब प्रबंध किया गया था कि देखनेवालों को इन बातों का तनिक भी पता नहीं लग सकता था। भवन में ऐसे-ऐसे आसन और पलंग बिछे थे कि देखकर जी ललचा जाता था। इस प्रकार बड़ी चतुराई से पुरोचन पांडवों के लिए वारणावत में ठहरने के लिए भवन बना रहा था। इस बीच अगर पांडव वहां जल्दी पहुंच गए तो कुछ समय ठहरने के लिए एक और जगह का प्रबन्ध पुरोचन ने कर रखा था।

दुर्योधन की योजना यह थी कि कुछ दिनों तक पांडवों को लाख के भवन में आराम से रहने दिया जाय। जब वे पूर्ण रूप से निःशंक हो जायं, तब रात में, जबकि वे सो रहे हों, भवन में आग लगा दी जाय, जिससे पांडव तो जलकर भस्म हो जायं और कौरवों पर कोई दोष भी न लगा सके। सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। ऐसी यह योजना कुशलतापूर्वक दुर्योधन ने बनाई थी।

: १४ :
पाण्डवों की रक्षा

पांचों पांडव माता कुन्ती के साथ वारणावत के लिए चल पड़े। जाने से पहले बड़ों को यथोचित आदर-सहित प्रणाम किया और समवयस्कों से वे प्रेम से मिले और विदा ली। उनके हस्तिनापुर छोड़कर वारणावत जाने की खबर पाकर नगर के लोग उनके साथ हो लिये। बहुत दूर जाने के बाद युधिष्ठिर का कहा मानकर, नगरवासियों को लौट जाना पड़ा। विदुर ने उस समय युधिष्ठिर को सांकेतिक भाषा में चेतावनी देते हुए कहा—

"जो राजनीति-कुशल शत्रु की चाल को समझ लेता है, वही विपत्ति को पार कर सकता है। ऐसे तेज हथियार भी होते हैं जो किसी धातु के बने नहीं होते। ऐसे हथियार से अपना बचाव करने का उपाय जो

जान लेता है वह शत्रु से मारा नहीं जा सकता। जो चीज ठंडक दूर करती है और जंगलों का नाश करती है, वह बिल के अन्दर रहनेवाले चूहे को नहीं छू सकती। सेही जैसे जानवर सुरंग खोदकर जंगली आग से अपना बचाव कर लेते हैं। बुद्धिमान लोग नक्षत्रों से दिशाएं पहचान लेते हैं।"

दुर्योधन के षड्यंत्र और उससे बचने का उपाय विदुर ने युधिष्ठिर को इस तरह गूढ़ भाषा में बतला दिया कि जिसमें दूसरे लोग न समझ सकें। युधिष्ठिर ने भी 'समझ लिया' कहकर विदा ली। रास्ते में कुन्ती के पूछने पर युधिष्ठिर ने मां और भाइयों को, जो कुछ विदुर ने कहा था, सब बता दिया। दुर्योधन की बुरी नीयत के बारे में जानकर सबके मन उदास हो गये। बड़े आनन्द के साथ वारणावत के लिए चले थे, लेकिन यह सब सुनकर सबके मन में चिन्ता छा गई।

वारणावत के लोग पांडवों के आगमन की खबर पाकर बड़े खुश हुए और उनके वहां पहुंचने पर उन्होंने बड़े ठाट से उनका स्वागत किया। जबतक लाख का भवन बनकर तैयार हुआ, पांडव दूसरे घरों में रहे जहां पुरोचन ने पहले से उनके ठहरने का प्रबन्ध कर रखा था।

लाख का भवन बनकर तैयार हो गया तो पुरोचन उन्हें उसमें ले गया। उसका नाम 'शिवम्' रखा गया। शिवम् का मतलब होता है कल्याण करनेवाला। जिस भवन को नाशकारी योजना से प्रेरित होकर दुर्योधन ने बनवाया, उसका नाम पुरोचन ने 'शिवम्' रखा।

भवन में प्रवेश करते ही युधिष्ठिर ने उसे खूब ध्यान से देखा। विदुर की बातें उन्हें याद थीं। ध्यान से देखने पर युधिष्ठिर को पता चल गया कि यह घर जल्दी आग लगनेवाली चीजों से बना हुआ है। युधिष्ठिर ने भीम को भी यह भेद बता दिया; पर साथ ही उसे सावधान करते हुए कहा—"यद्यपि हमें साफ मालूम हो गया है कि यह स्थान खतरनाक है तो भी हमें विचलित न होना चाहिए। पुरोचन को इस बात का जरा भी पता न लगे कि उसके षड्यंत्र का भेद हमपर खुल गया है। मौका पाकर हमें यहां से निकल भागना होगा। पर अभी जल्दी में ऐसा कोई काम न करना चाहिए जिससे शत्रु के मन में जरा

भी संदेह पैदा होने की सम्भावना हो।"

युधिष्ठिर की इस सलाह को भीमसेन सहित सब भाइयों ने तथा कुंती ने मान लिया और उसी लाख के भवन में रहने लगे। इतने में विदुर का भेजा हुआ एक सुरंग बनानेवाला कारीगर वारणावत नगर में जा पहुंचा। उसने एक दिन पांडवों को अकेले में पाकर उन्हें अपना परिचय देते हुए कहा—"आप लोगों की भलाई के लिए हस्तिनापुर से रवाना होते समय विदुर ने युधिष्ठिर को सांकेतिक भाषा में जो-कुछ उपदेश दिया था वह बात मैं जानता हूं। यही मेरे सच्चे मित्र होने का सबूत है। आप मुझपर भरोसा रखें। मैं आप लोगों की रक्षा का प्रबन्ध करने के लिए आया हूं।"

इसके बाद वह कारीगर महल में पहुंच गया और गुप्त रूप से कुछ दिनों में ही उसने एक सुरंग बना दी। इस रास्ते पांडव महल के अन्दर से नीचे-ही-नीचे महल की चहारदीवारी और गहरी खाई को लांघकर और बचकर बेखटके बाहर निकल सकते थे।

यह काम इतने गुप्त रूप से और इस खूबी से हुआ कि पुरोचन को अन्त तक इस बात की खबर न होने पाई।

पुरोचन ने लाख के भवन के द्वार पर ही अपने रहने के लिए स्थान बनवा दिया था। इस कारण पांडवों को भी सारी रात हथियार लेकर चौकन्ने रहना पड़ता था। कभी-कभी वे शिकार खेलने के बहाने आस-पास के जंगलों में घूम-फिर आते और वन के रास्तों को अच्छी तरह देख लेते। इस तरह पड़ौस के प्रदेश और जंगली रास्तों का उन्होंने खासा परिचय प्राप्त कर लिया। वे पुरोचन से ऐसे हिल-मिलकर व्यवहार करते जैसे उसपर उन्हें कोई संदेह ही न हो, मानो वह उनका घनिष्ट मित्र न हो। सदा हंसते-खेलते रहते। उनके व्यवहार को देखकर किसीको जरा भी संदेह नहीं हो सकता था कि उनके मन में किसी बात का चिन्ता या आशंका है।

उधर पुरोचन भी कोई जल्दी नहीं करना चाहता था। उसने सोचा कि ऐसे अवसर पर, इस ढंग से भवन को आग लगाई जाय कि कोई उसे दोषी न ठहरा सके। दोनों ही पक्ष अपने-अपने दांव खेल रहे थे।

इसी तरह कोई एक बरस बीत गया।

एक दिन पुरोचन ने सोचा कि अब पांडवों का काम तमाम करने का समय आ गया। समझदार युधिष्ठिर उसके रंग-ढंग से ताड़ गए कि वह क्या सोच रहा है। उन्होंने भी अपने भाइयों से कहा—"पुरोचन ने अब हमें मारने का निश्चय कर लिया मालूम होता है। यही समय है कि हमें भी अब यहां से भाग निकलना चाहिए।"

युधिष्ठिर की सलाह से माता कुन्ती ने उसी रात को एक बड़े भोज का प्रबन्ध किया। नगर के सभी लोगों को भोजन कराया गया। बड़ी धूम-धाम रही, मानो कोई बड़ा उत्सव हो। खूब खा-पीकर भवन के सब कर्मचारी गहरी नींद में सो गए। नौकर-चाकर शराब के नशे में चूर थे। पुरोचन भी सो गया।

आधी रात के समय भीमसेन ने भवन में कई जगह आग लगादी। और फिर पांचों भाई, माता कुंती के साथ सुरंग के रास्ते अंधेरे में रास्ता टटोलते-टटोलते बाहर निकल आये। भवन से बाहर वे निकले ही थे कि आग ने सारे भवन को अपनी लपटों में ले लिया। पुरोचन के रहने के मकान में भी आग लग गई।

आग देखकर सारे नगर के लोग वहां इकट्ठे हो गए और पांडवों के भवन को भयंकर आग की भेंट होते देखकर हाहाकार मचाने लगे। कौरवों के अत्याचार से जनता क्षुब्ध हो उठी और तरह-तरह से उनकी निन्दा करने लगी। पांडवों को मारने लिए पापी दुर्योधन और उसके साथी कैसे षड्यंत्र रच रहे हैं, कैसी चालें चल रहे हैं, यह सोचकर लोग क्रोध में अनाप-शनाप बकने लगे, हाय-तोबा मचाने लगे और उनके देखते-देखते सारा भवन जलकर राख हो गया। पुरोचन का मकान और स्वयं पुरोचन भी आग की भेंट हो गया।

वारणावत के लोगों ने तुरंत ही हस्तिनापुर में खबर पहुंचादी कि पांडव जिस भवन में ठहराये गए थे, वह जलकर राख हो गया और भवन में कोई भी जीता नहीं बचा।

यह खबर पाक बूढ़े धृतराष्ट्र को शोक तो जरूर हुआ, परन्तु मन-ही मन उनको आनन्द भी हो रहा था कि उनके बेटों के दुश्मन खत्म हो

गए । उनके मन की इस दोरुखी हालत का भगवान व्यास ने बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है । वह लिखते हैं—"गरमी के दिनों में जैसे गहरे तालाब का पानी सतह पर गरम होता रहता है, किन्तु गहराई में ठंडा रहता है, ठीक उसी तरह धृतराष्ट्र के मन में शोक भी था और आनन्द भी ।"

धृतराष्ट्र और उनके बेटों ने पांडवों की मृत्यु पर बड़ा शोक मनाया । सब गहने उतार दिये । एक मामूली कपड़ा पहने गंगा-किनारे गए और पांडवों तथा कुन्ती को तिलांजली दी । फिर सब मिलकर बड़े जोर-जोर से रोते और विलाप करते घर लौटे ।

सब लोग जी-भर रोये; परन्तु दार्शनिक विदुर ने जीना-मरना तो प्रारब्ध की बात होती है, यह विचारकर शोक को मन ही में दबा लिया । अधिक शोक-प्रदर्शन न किया । इसके अलावा विदुर को यह भी पक्का विश्वास था कि पांडव लाख के भवन से बचकर निकल गये होंगे । इस कारण, यद्यपि दिखावे के लिए दूसरों से मिलकर वह भी कुछ रोये, फिर भी मन में यही अन्दाजा लगाते रहे कि अभी पांडव किस रास्ते और कितनी दूर गए होंगे और कहां पहुंचे होंगे, इत्यादि । पितामह भीष्म तो मानो शोक के सागर में मग्न थे । पर उनको भी विदुर ने धीरज बंधाया और पांडवों के बचाव के लिए किये गए अपने सारे प्रबंध का हाल बताकर उन स्नेहपूर्ण पितामह को चिन्ता-मुक्त कर दिया ।

लाख के घर को जलता छोड़कर पांचों भाई माता कुन्ती के साथ बच निकले और जंगल में पहुंच गए । जंगल में पहुंचने पर भीमसेन ने देखा कि रात-भर जगे होने तथा चिन्ता और भय से पीड़ित होने के कारण चारों भाई बहुत थके हुए हैं । माता कुंती की तो दशा बड़ी ही दयनीय थी । बेचारी थककर चूर हो गई थीं । सो महाबली भीम ने माता को उठाकर अपने कंधे पर बिठा लिया और नकुल एवं सहदेव को कमर पर ले लिया । युधिष्ठिर और अर्जुन को दोनों हाथों में पकड़ लिया और फिर वह वायुदेव का पुत्र भीम उस जंगली रास्ते में उन्मत्त हाथी के समान झाड़-झंखाड़ और पेड़-पौधों को इधर-उधर हटाता व

रौंदता हुआ तेजी से चलने लगा । जब वे गंगा के किनारे पहुंचे तो वहां विदुर की भेजी हुई एक नाव मिली । युधिष्ठिर ने मल्लाह से सांकेतिक प्रश्न करके जांच लिया कि वह मित्र है और विश्वास करने योग्य है । नाव में बैठकर रातोंरात उन्होंने गंगा पार की और फिर अगले दिन शाम होने तक चलते ही रहे कि किसी सुरक्षित स्थान पर पहुंच जायं ।

सूरज डूब गया और रात हो चली । चारों तरफ अंधेरा छा गया । वन-प्रदेश जंगली जानवरों की भयानक आवाज से गूंजने लगा । कुंती और पांडव एक तो थकावट के मारे चूर हो रहे थे, ऊपर से प्यास और नींद भी उन्हें सताने लगी । चक्कर-सा आने लगा । एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव हो गया । भीम के सिवाय और सब भाई वहीं जमीन पर बैठ गये । कुंती से तो बैठा भी नहीं गया । दीन भाव से बोली, "मैं तो प्यास से मरी जा रही हूं । अब मुझसे बिल्कुल नहीं चला जाता । धृतराष्ट्र के बेटे चाहें तो भले ही मुझे यहां से उठा ले जायं, मैं तो यहीं पड़ी रहूंगी ।" यह कहकर कुंती वहीं जमीन पर गिरकर बेहोश हो गई । माता और भाइयों का यह हाल देखकर क्षोभ के मारे भीमसेन का हृदय गरम हो उठा । वह उस भयानक जंगल में बेधड़क घुस पड़ा और इधर-उधर घूमघामकर उसने एक जलाशय का पता लगा ही लिया । उसने कमल के पत्तों के दोनों में पानी भर लिया और अपना दुपट्टा भिगोकर उसमें भी पानी लाकर माता व भाइयों की प्यास बुझाई । पानी पीकर चारों भाई और माता कुन्ती ऐसे सोये कि उन्हें अपनी सुध-बुध तक न रही ।

अकेला भीमसेन मन-ही-मन कुछ सोचता हुआ चिंतित भाव से बैठा रहा । उसके निर्दोष मन में यह विचार उठा—"देखो, इस जंगल में कितने ही पेड़-पौधे हैं । वे सब एक दूसरे की रक्षा करते हुए कितने मजे से लहलहा रहे हैं ! जब पेड़-पौधे तक हिल-मिलकर प्रेम के साथ रह सकते हैं तो दुरात्मा धृतराष्ट्र और दुर्योधन मनुष्य होकर हमसे इतना वैर-भाव क्यों रखते हैं ?"

पांचों भाई माता कुंती को साथ लिये अनेक विघ्न-बाधाओं का

सामना करते और बड़ी मुसीबतें झेलते हुए उस जंगली रास्ते में आगे बढ़ते ही चले गए। वे कभी माता को उठाकर तेज चलते, कभी थके-मांदे बैठ जाते। कभी एक-दूसरे से होड़ लगाकर रास्ता पार करते।

चलते-चलते रास्ते में एक दिन महिष व्यास से उनकी भेंट हुई। सबने उनको दण्डवत प्रणाम किया। महिष ने उन्हें धीरज बंधाया और सदुपदेशों से उनको सांत्वना दी। कुन्ती जब रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाने लगीं तो व्यासजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—"कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं जो हमेशा धर्म के ही काम करता रहे। ऐसा भी कोई नहीं जो पाप-ही-पाप करता हो। संसार में हरेक मनुष्य पाप भी करता है और धर्म-कर्म भी। अतः जब किसीपर कोई विपत्ति पड़े तो उसे अपने-ही किये का फल मानकर सह लेना चाहिए अपने-अपने कर्म का फल हरेक को भोगना ही पड़ता है, यह समझकर दुःखी न हो। धीरज धर हिम्मत से सब सह लो।"

कुन्ती को इस प्रकार समझाने के बाद व्यासजी ने पाण्डवों को सलाह दी कि वे ब्राह्मण ब्रह्मचारियों का वेश धरकर एकचक्रा नगरी में जाकर रहें। उनकी सलाह के अनुसार पाण्डवों ने मृगचर्म, वल्कल आदि धारण करलिये और ब्राह्मणों के वेश में एकचक्रा नगरी जाकर ब्राह्मण के घर में रहने लगे।

: १५ :

बकासुर-वध

माता कुन्ती के साथ पांचों पांडव एकाचक्रा नगरी में भिक्षा मांगकर अपनी गुजर करके दिन बिताने लगे। ब्राह्मणों के घरों से भिक्षा मांग लाते और जो कुछ मिलता उसे माता के सामने लाकर रख देते। भिक्षा के लिए जब पांचों भाई निकल जाते तो कुन्ती का जी बड़ा बेचैन हो उठता। वह बड़ी चिन्ता से उनकी बाट जोहती रहती। उनके लौटने में ज़रा भी देर हो जाती कि कुन्ती के मन में तरह-तरह की आशंकाएं उठने लगतीं।

पांचों भाई भिक्षा में जितना भोजन लाते, कुन्ती उसके दो हिस्से कर देती। एक हिस्सा भीमसेन को दे देती और बाकी आधे में से पांच हिस्से करके चारों बेटे और खुद खा लेती थी। तिसपर भी भीमसेन की भूख मिटती न थी। वह भूखा ही रह जाया करता था।

भीमसेन वायुदेव का अंशावतार था। इसलिए उसमें जितनी अमानुषिक ताकत थी उतनी ही अमानुषिक भूख थी। यही कारण था कि उसको लोग वृकोदर भी कहते थे। वृकोदर का मतलब है भेड़िये का-सा पेटवाला। भेड़िये का पेट देखने में छोटा होने पर भी मुश्किल से भरता है। भीमसेन के पेट का भी यही हाल था। एकचक्रा नगरी में भिक्षा मांगने से जो थोड़ा-बहुत अन्न मिल जाता था उससे बेचारे भीम को भला क्या सन्तोष हो सकता था। हमेशा ही भूखा रहने के कारण वह दिन-पर-दिन दुबला होने लगा और उसका शरीर पीला पड़ने लगा।

भीमसेन का यह हाल देखकर कुंती और युधिष्ठिर बड़े चिन्तित रहने लगे।

जब थोड़े-से भोजन से पेट न भरने लगा तो भीमसेन ने कुछ दिनों से एक कुम्हार से दोस्ती कर ली थी। उसे मिट्टी वगैरा खोदने में मदद देकर खुश कर लिया। कुम्हारा भीम से बड़ा खुश हुआ और एक बड़ी भारी हांडी बनाकर दे दी। भीम उसी हांडी को लेकर भिक्षा के लिए निकलता। उसका भीम-काय शरीर और उसकी वह विलक्षण हांडी देखकर बच्चे तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।

एक दिन चारों भाई भिक्षा के लिए गए। अकेला भीमसेन माता कुन्ती के साथ घर पर रहा। इतने में ब्राह्मण के घर के भीतर से बिलख-बिलखकर रोने की आवाज आई। ऐसा मालूम होता था कि मानो कोई मर गया हो। कुन्ती का जी भर आया। वह इस दुःख का कारण जानने की इच्छा से घर के भीतर गई। अन्दर जाकर देखा कि ब्राह्मण और उसकी पत्नी आंखों में आंसू भरे सिसकियां लेते हुए एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं।

ब्राह्मण बड़े दुखी हृदय से अपनी पत्नी से कह रहा था—"अभागिनी कितनी ही बार मैंने तुझे समझाया कि इस अन्धेर नगरी को छोड़कर कहीं

और चले जायं, पर तुमने न माना। कहती रहीं कि यहीं पैदा हुई,यहीं पली तो यहीं रहूंगी। मां-बाप तथा भाई-बन्धुओं का स्वर्गवास हो जाने पर भी यही हठ करती रहीं कि यह मेरे बाप-दादे का गांव है, यहीं रहूंगी। बोलो, अब क्या कहती हो?

"फिर तुम मेरे धर्म-कर्म की संगिनी हो, मेरी सन्तान की मां और मेरी पत्नी हो। मेरे लिए भी तुम मां-समान हो और मित्र भी हो। मेरा जीवन सर्वस्व तुम्हीं हो। कैसे तुम्हें मृत्यु के मुंह में भेजकर अकेले जिऊं।

"और अपनी बेटी की भी बलि कैसे चढ़ा दूं? यह तो ईश्वर की दी हुई धरोहर है, जिसे सुयोग्य वर को ब्याह देना मेरा कर्त्तव्य है। परमात्मा ने हमारे वंश को चलाये रखने के लिए यह कन्या दी है। इसे मौत के मुंह में डालना घोर पाप होगा।

"और जो पुत्र मुझे और हमारे पितरों को तिलांजली देने तथा श्राद्धकर्म करने का अधिकारी है, उसको कैसे काल-कवलित होने दूं। हाय तुमने मेरा कहा नहीं माना! उसीका फल अब भुगतना पड़ रहा है। और यदि मैं शरीर त्यागता हूं तो फिर इन अनाथ बच्चों का भरण-पोषण कौन करेगा? हा दैव! मैं अब क्या करूं? और कुछ करने से तो अच्छा उपाय यह है कि सभी एक-साथ मौत को गले लगा लें। यही अच्छा होगा।" कहते-कहते ब्राह्मण सिसक-सिसककर रो पड़ा।

ब्राह्मण की पत्नी रोती-रोती बोली—"प्राणनाथ! पति को पत्नी से जो प्राप्त होना चाहिए, वह मुझसे आपको प्राप्त हो गया। जिस उद्देश्य के लिए पुरुष स्त्री से ब्याह करता है, वह मैंने आपके लिए पूरा कर दिया है। मेरे गर्भ से आपके एक पुत्री और एक पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं। मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया। मेरे न होने पर भी आप अकेले ही बच्चों को पाल-पोस सकते हैं, किन्तु आपके बिना मुझसे वह नहीं हो सकेगा। इसके अलावा दुष्टों से भरे हुए इस संसार में किसी अनाथ स्त्री का जीना बड़ा मुश्किल है। जैसे चील-कौवे बाहर फेंके हुए मांस के टुकड़ों को उठा ले जाने की ताक में मंडराते हैं वैसे ही दुष्ट लोग विधवा स्त्री को हड़प जाने की ताक में लगे रहते हैं। घी

में भीगे हुए कपड़े पर जैसे कुत्ते टूट पड़ते हैं और चारों तरफ से उसे खींचने लगते हैं वैसे ही पति के मरने पर पत्नी को बदमाश लोग फंसा लेते हैं और वह स्त्री उनके चक्कर में पड़कर ठोकरें खाती-फिरती है। आप न रहे तो इन अनाथ बच्चों की देख-भाल भी अकेले मुझसे नहीं हो सकेगी। आपके बिना ये दोनों बच्चे वैसे ही तड़प-तड़पकर प्राण दे देंगे, जैसे सरोवर का पानी सूख जाने पर मछलियां। इसलिए नाथ, मुझे ही राक्षस के पास जाने दीजिये। पति के जीते-जी पत्नी का स्वर्गवास हो जाय, इससे बढ़कर भाग्य की बात और क्या हो सकती है! शास्त्र भी तो यही कहते हैं। सो आप मुझे आज्ञा दें। मेरे बच्चों की रक्षा करें। मैं जीवन का सुख भोग चुकी। एक साध्वी नारी का जो धर्म है, उसका नियम से पालन करती रही; आपकी सेवा-शुश्रूषा में कोई कसर न रखी तो यह निश्चित है कि मुझे स्वर्ग प्राप्त होगा। मुझे मरने का कोई दुःख नहीं है। मेरी मृत्यु के बाद आप चाहें तो दूसरी पत्नी ला सकते हैं। अब मुझे प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दें, ताकि मैं राक्षस का भोजन बनूं।"

पत्नी की ये व्यथाभरी बातें सुनकर ब्राह्मण से न रहा गया। उसने स्त्री को छाती से लगा लिया और असहाय-सा होकर दीन स्वर में आंसू बहाने लगा। अपनी पत्नी को प्यार करते हुए वह बोला—"प्रिये, ऐसी बातें न करो। मुझसे सुना नहीं जाता। तुम्हारी जैसी बुद्धिमती पत्नी को छोड़ना मेरे लिए महापाप होगा। समझदार पति का पहला कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी की रक्षा करे। उसको चाहिए कि कभी स्त्री का साथ न छोड़े। तब फिर मुझसे बड़ा दुरात्मा और पापी कौन होगा, जो तुम्हें राक्षस की बलि चढ़ा दे और खुद जीवित रहे।"

माता-पिता को इस तरह बातें करते देख ब्राह्मण की बेटी से न रहा गया। उसने करुण स्वर में कहा—"पिताजी, आप मेरी भी तो बात सुन लें। उसके बाद फिर जो आपको उचित लगे, करें। अच्छा तो यह है कि राक्षस के पास आप मुझे भेज दें। मुझे भेजने से आपको कोई नुकसान नहीं पहुंचेगा और आप सब बच जायंगे। जैसे नाव के सहारे नदी पार की जाती है, वैसे ही मेरे सहारे इस आफत को पार कर लीजिये। पिताजी, यदि आप मृत्यु के मुंह में पड़ जायंगे तो फिर मेरा नन्हा-सा भाई तड़प-

तड़पकर जान दे देगा। आप मर जायंगे तो फिर मेरा भी कोई सहारा न रह जायगा और मुझे बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा। मेरी समझ से मैं इस योग्य हूं कि इस सारे परिवार को मुसीबत से छुटकारा दे सकती हूं। कुल के बचाव की दृष्टि से अपनी बलि चढ़ाने से मेरा जीवन भी सार्थक होगा। यह नहीं तो कम-से-कम मेरी ही भलाई के विचार से भी आपको मुझे ही राक्षस के पास भेजना होगा।"

बेटी की बातें सुनकर माता-पिता दोनों के आंसू उमड़ आये। दोनों ने बेटी को प्यार से गले लगा लिया और बार-बार उसका माथा चूमते हुए वे रोने लगे। लड़की भी रो पड़ी। सबको इस तरह रोते देखकर ब्राह्मण का नन्हा-सा बालक अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से माता-पिता और बहन को देखते हुए उन्हें समझाने लगा। बारी-बारी से उनके पास जाता और अपनी तोतली बोली में—"बापा, रोओ मत," "मां, रोओ मत," "दीदी, रोओ मत!" कहता हुआ बारी-बारी से उनकी गोद में जा बैठता। जब इसपर भी बड़े लोगों का रोना बन्द न हुआ तो लड़का उठा और पास में पड़ी हुई लकड़ी हाथ में लेकर घुमाता हुआ बोला—"उस राक्षस को तो मैं ही इस लकड़ी से इस तरह जोर से मार डालूंगा।" बच्चे की तोतली बोली और वीरता का अभिनय देखकर उस संकटभरी घड़ी में भी सबको हँसी आ गई और थोड़े क्षण के लिए वे अपना दुःख भूल गए।

कुन्ती खड़ी-खड़ी यह सब देख रही थी। अपनी बात कहने का उसने यही ठीक मौका देखा। वह बोली—"हे ब्राह्मण देवता, क्या आप कृपा करके मुझे बता सकते हैं कि आप लोगों के इस असमय दुःख का कारण क्या है? मुझसे बन पड़ा तो मैं आपको संकट से छुड़वाने का प्रयत्न कर सकूंगी।"

ब्राह्मण ने कहा—"देवी! आप इस बारे में क्या कर सकेंगी? फिर भी बताने में तो कोई हर्ज है नहीं। सुनिये, इस नगरी के समीप एक गुफा है, जिसमें बक नामक एक बड़ा अत्याचारी राक्षस रहा करता है। पिछले तेरह वर्ष से इस नगरी के लोगों पर वह बड़े जुल्म ढा रहा है। इस देश का राजा एक क्षत्रिय है, जो वेत्रकीय नाम के महल में रहता है।

लेकिन वह इतना निकम्मा है कि प्रजा को राक्षस के अत्याचार से बचा नहीं रहा है। इससे बकासुर नगर के लोगों को जहां देखता वहीं मार-कर खा जाता था। क्या स्त्रियां, क्या बूढ़े, क्या बच्चे कोई भी इस राक्षस के अत्याचार से न बच सके। इस हत्याकांड से घबराकर नगर के लोगों ने मिलकर उससे बड़ी अनुनय-विनय की कि कोई-न-कोई नियम बना ले। लोगों ने कहा—"इस तरह मनमानी हत्या करना तुम्हारे भी हक में ठीक नहीं है। मांस, अन्न, दही, मदिरा आदि तरह-तरह की खाने-पीने की चीजें जितनी तुम चाहो उतनी हांड़ियों में भरकर व बैलगाड़ियों में रखकर हम तुम्हारी गुफा में प्रति सप्ताह भेज दिया करेंगे। गाड़ी हांकनेवाला आदमी व गाड़ी खींचनेवाले दो बैल भी तुम्हारे खाने के लिए ही होंगे। इनको छोड़कर औरों को तंग न करने की कृपा करो।" बकासुर ने लोगों की यह बात मान ली और तबसे इस समझौते के अनुसार यह नियम बना हुआ है कि लोग बारी-बारी से एक-एक आदमी और खाने की चीजें हर सप्ताह उसे पहुंचा दिया करते हैं और उसके बदले में यह बलशाली राक्षस बाहरी शत्रुओं और हिंस्र जन्तुओं से इस प्रदेश की रक्षा करता है।

"जिस किसीने भी इस मुसीबत से देश को छुड़ाने का प्रयत्न किया, उसको तथा उसके बाल-बच्चों तक को इस राक्षस ने तत्काल ही मार-कर खा लिया। इस कारण किसीकी हिम्मत भी नहीं पड़ती कि इसके विरुद्ध कुछ करे। देवी, हमारे ऊपर जो राजा बना बैठा है, उसमें तो इतनी भी शक्ति नहीं कि इस राक्षस के पंजे से हमें छुड़ाये। जिस देश का राजा शक्ति-सम्पन्न न हो, उस देश की प्रजा के सन्तान ही न होनी चाहिए। सुखी एवं शिष्ट गृहस्थ-जीवन नयशील व शक्तिशाली राजा के अधीन ही संभव है। परन्तु जब खुद राजा ही कमजोर हो—देश की रक्षा करने योग्य न हो—तो न ब्याह करना चाहिए, न धन ही कमाना चाहिए। हमारी कष्ट-कथा यह है कि इस सप्ताह में उस राक्षस को खाने के लिए आदमी और भोजन भेजने की हमारी बारी है। किसी गरीब आदमी को खरीदकर भेजना चाहूं तो उसके लिए मेरे पास इतना धन भी नहीं है। स्त्री-बच्चों को अकेले भेजना मुझसे नहीं हो सकता। अब तो मैंने यही

सोचा है कि सबको साथ लेकर ही राक्षस के पास चला जाऊंगा। हम सब एक साथ ही उस पापी के पेट में चले जायं यही अच्छा होगा। आपने पूछा तो आपको बता दिया। इस कष्ट को दूर करना तो आपके बस में भी नहीं है, देवी।"

ब्राह्मण की बात का कोई उत्तर देने से पहले कुंती ने भीमसेन से सलाह की। उसने लौटकर कहा—"विप्रवर, आप इस बात की चिन्ता छोड़ दें। मेरे पांच बेटे हैं, उनमें से एक आज राक्षस के पास भोजन लेकर चला जायगा।"

सुनकर ब्राह्मण चौंक पड़ा और बोला—"आप भी कैसी बात कहती हैं? आप हमारे अतिथि हैं। हमारे घर में आश्रय लिये हुए हैं। आपके बेटे को मौत के मुंह में मैं भेजूं, यह कहां का न्याय है? मुझसे यह नहीं हो सकता।"

ब्राह्मण को समझाते हुए कुन्ती बोली—"द्विजवर! घबराइये नहीं। जिस बेटे को मैं राक्षस के पास भेजनेवाली हूं वह कोई ऐसा-वैसा नहीं है। वह ऐसे मंत्र सीखा हुआ है कि जिसके बल से इस अत्याचारी राक्षस का भोजन बनने के बजाय वह उसका काम तमाम करके लौट आवेगा। कई बलिष्ठ राक्षसों को उसके हाथों मारे जाते मैं स्वयं देख चुकी हूं। इसलिए आप किसी बात की चिन्ता न करें। हां, इस बात का ध्यान रखें कि किसीको इस बात की कानों-कान खबर न हो, क्योंकि यदि यह बात फैल गई तो फिर मेरे बेटे की विद्या आगे काम न देगी।"

कुन्ती को डर था कि यदि यह बात फैल गई तो दुर्योधन और उनके साथियों को पता लग जायगा कि पाण्डव एकचक्रा नगरी में छिपे हुए हैं। इसीसे उसने ब्राह्मण से इस बात को गुप्त रखने का आग्रह किया था।

कुन्ती ने जब भीमसेन को बताया कि उसे बकासुर के पास भोजन-सामग्री लेकर जाना होगा, तो वह तो फूला न समाया। उसके अंग-अंग में बिजली-सी दौड़ गई। जब पांचों भाई भिक्षा मांगकर घर लौटे तो युधिष्ठिर ने देखा कि भीमसेन के मुख पर असाधारण आनन्द की झलक है। युधिष्ठिर ने तुरन्त ही ताड़ लिया कि भीमसेन को कोई बड़ा काम करने का मौका मिला है। माता कुन्ती से उन्होंने पूछा—"मां, आज

भीमसेन बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा है? क्या बात है? कोई भारी काम करने की तो उसने नहीं ठानी है?"

कुंती ने जब सारी बात बताई, तो युधिष्ठिर खीझ उठे। बोले—"यह तुम कैसा दुस्साहस करने चली हो, मां! भीमसेन ही के बलबूते पर तो ज़रा निश्चिन्त हो पाये हैं। दुष्टों ने छल-प्रपंच रचकर हमारा जो राज्य छीन लिया है, उसे भी तो हम इसीके शौर्य और बल से वापस लेने की आशा कर रहे हैं। अगर भीमसेन न होता तो लाख के भवन की जलती आग से हम भला कैसे बच सकते थे? ऐसे भीम को—ऐसे अपने पुत्र को—गंवाने की आपको भी खूब सूझी! लगातार दुःख झेलने के कारण कहीं बुद्धि तो नहीं खो बैठी हो, मां!" युधिष्ठिर की इन कड़ी बातों का उत्तर देते हुए कुंती बोली—"बेटा युधिष्ठिर! इन ब्राह्मण के घर में हमने कई दिन आराम से बिताये। जब इनपर विपदा पड़ी है, तो मनुष्य होने के नाते हमें उसका बदला चुकाना ही चाहिए। मैं बेटा भीम की शक्ति और बल से अच्छी तरह परिचित हूं। तुम इस बात की चिन्ता मत करो। जो हमें वारणावत से यहांतक उठा लाया, जिसने हिडिंब का वध किया, उस भीम के बारे में मुझे न तो कोई डर है, न चिन्ता। भीम को बकासुर के पास भेजना हमारा कर्तव्य है।"

इसके बाद नियम के अनुसार नगर के लोग मांस, मदिरा, अन्न, दही आदि खाने-पीने की चीजें गाड़ी में रखकर ले आये। गाड़ी में दो काले बैल जुते हुए थे। भीमसेन उछलकर गाड़ी में बैठ गया। शहर के लोग भी बाजे बजाते कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे चले। एक निश्चित स्थान पर लोग रुक गए और अकेला भीम गाड़ी दौड़ाता हुआ आगे गया।

गुफा के नजदीक पहुंचकर भीमसेन ने देखा कि रास्ते में जहां-तहां हड्डियां पड़ी हुई हैं। खून के चिह्न, मनुष्यों के व जानवरों के बाल व खाल इधर-उधर पड़े हुए हैं। कहीं टूटे हुए हाथ-पांव तो कहीं धड़ पड़े हुए हैं। चारों तरफ बड़ी बदबू आ रही है। ऊपर गिद्ध और चीलें मंडरा रही हैं।

इस वीभत्स दृश्य की तनिक भी परवाह न करते हुए भीमसेन ने गाड़ी वहीं खड़ी कर दी और मन-ही-मन कहा—"ऐसा स्वादिष्ट भोजन फिर

थोड़े ही मिलेगा । राक्षस के साथ लड़ने के बाद खाना ठीक नहीं रहेगा; क्योंकि मार-धाड़ में ये सभी चीजें बिखरकर नष्ट हो जायंगी और किसी काम की भी न रहेंगी । फिर इसके अलावा यह भी बात है कि राक्षस को मारने पर छूत लग जायगी और ऐसी हालत में तो खा भी न सकूंगा; इसलिए यही ठीक है कि पहले इन चीजों को खतम कर लिया जाय ।

उधर राक्षस मारे भूख के तड़प रहा था । जब बहुत देर हो गई तो बड़े क्रोध के साथ वह गुफा के बाहर आया। देखता क्या है कि एक मोटा-सा मनुष्य बड़े आराम से बैठा भोजन कर रहा है । यह देखकर बकासुर की आंखें क्रोध से एकदम लाल हो उठीं । इतने में भीमसेन की भी निगाह उसपर पड़ी । उसने हँसते हुए उसका नाम लेकर पुकारा । भीमसेन की यह ढिठाई देखकर राक्षस गुस्से में भर गया और तेजी से भीमसेन पर झपटा । उसका शरीर बड़ा लम्बा-चौड़ा था । सिर के तथा मूंछों के बाल आग की ज्वाला की तरह लाल थे । मुंह इतना चौड़ा था कि वह उसके एक कान से लेकर दूसरे कान तक फैला हुआ था । स्वरूप इतना भयानक कि देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे ।

भीमसेन ने बकासुर को अपनी ओर आते देखा तो उसकी तरफ पीठ फेर ली और उसकी कुछ भी परवाह न करके खाने में ही लगा रहा । राक्षस ने भीमसेन के पास आकर उसकी पीठ पर जोर का घूंसा मारा; परन्तु भीमसेन को मानो कुछ हुआ ही नहीं । वह सामने पड़ी चीजों को खाने में ही लगा रहा । खाली हाथों काम न बनते देखकर राक्षस ने एक बड़ा-सा पेड़ जड़ से उखाड़ लिया और उसे भीमसेन पर दे मारा । पर भीमसेन ने बायें हाथ पर उसे रोक लिया और दाहिने हाथ से अपना खाना जारी रखा । जब मांस तथा अन्न खतम हो गया, तो घड़ा-भर दही पीकर उसने मुंह पोंछ लिया और तब मुड़कर राक्षस को देखा । भीम का इस प्रकार निबटना था कि दोनों में भयानक मुठभेड़ हो गई । भीमसेन ने बकासुर को ठोकरें मारकर गिरा दिया और कहा—"दुष्ट, राक्षस ! ज़रा विश्राम तो कर ले ।"

थोड़ी देर सुस्ताकर कहा—"अच्छा ! अब उठो फिर !" बकासुर उठकर भीम के साथ लड़ने लगा । भीमसेन ने उसको और ठोकरें लगाकर

फिर गिरा दिया । इस तरह बार-बार पछाड़ खाने पर भी राक्षस उठकर भिड़ जाता । आखिर भीम ने उसे मुंह के बल गिरा दिया और उसकी पीठ पर घुटनों की मार देकर उसकी रीढ़ तोड़ डाली ।

राक्षस पीड़ा के मारे चीख उठा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये । उसके मुंह से खून की धारा बह निकली ।

भीमसेन उसकी लाश को घसीट लाया और नगर के फाटक पर ले जाकर पटक दी; फिर नदी पर जाकर स्नान किया और मां को आकर सारा हाल बताया । माता कुंती आनन्द और गर्व के मारे फूली न समाई ।

: १६ :
द्रौपदी-स्वयंवर

जिस समय पांडव एकचक्रा नगरी में ब्राह्मणों के भेष में जीवन बिता रहे थे, उन्हीं दिनों पांचाल-नरेश की कन्या द्रौपदी के स्वयंवर की तैयारियां होने लगीं । एकचक्रा नगरी के रहनेवाले ब्राह्मण यह खबर पाकर बड़े प्रसन्न हुए और स्वयंवर का तमाशा देखने तथा दान वगैरा पाने की इच्छा से पांचाल देश जाने की तैयारी करने लगे । पांडवों की भी इच्छा हुई कि जाकर स्वयंवर में सम्मिलित हों, पर माता कुंती से अनुमति मांगते उन्हें ज़रा संकोच हुआ ।

लेकिन कुंती भी दुनियादारी की बातों को समझती थी । बेटों के रंग-ढंग से उसने भांप लिया कि वे द्रौपदी के स्वयंवर में पांचाल देश जाना चाहते हैं । उसने युधिष्ठिर से कहा—"बेटा ! इस नगरी में अब हम काफी रह चुके हैं । यहां के वनों, उपवनों तथा दूसरे दृश्यों का भी हम काफी आनन्द ले चुके । एक ही जगह रहने और एक ही दृश्य को देखते रहने से मन ऊब जाता है । तिसपर यहां भिक्षान्न भी दिन-पर-दिन कम मिलने लगा है । किसी और जगह चले जायं तो अच्छा होगा । सुनती हूं पांचाल देश की भूमि बड़ी उपजाऊ है । तो फिर वहीं क्यों न चलें ?"

नेकी और पूछ-पूछ, पाण्डवों ने माता की बात एक स्वर से मान

ली और वे पांचाल देश के लिए चल पड़े।

एकचक्रा नगरी के ब्राह्मणों के झुण्ड पांचाल देश के लिए रवाना हुए। पांडव भी उनके साथ ही हो लिये। कई दिन चलने के बाद वे राजा द्रुपद की सुन्दर राजधानी में पहुंचे। नगर की सैर करने और राज-भवनों को देख लेने के बाद पांचों भाई माता कुंती के साथ किसी कुम्हार की झोंपड़ी में आ टिके। पांचाल देश में भी पाण्डव ब्राह्मण-वृत्ति ही धारण किये रहे। इस कारण कोई उनको पहचान न सका।

यद्यपि द्रोणाचार्य के साथ राजा द्रुपद का समझौता हो चुका था, फिर भी द्रोणाचार्य की शत्रुता का विचार करके द्रुपद सदा चिन्तित ही रहा करता था। अतः अपनी शक्ति बढ़ाने तथा द्रोण की शक्ति कम करने के खयाल से पांचाल-नरेश की इच्छा थी कि द्रौपदी का ब्याह धनुष के धनी अर्जुन के साथ हो जाय। पर जब उसने सुना कि पांचों पाण्डव वारणावत के लाख के भवन में जलकर भस्म हो गये तो राजा द्रुपद के शोक की सीमा न रही। परन्तु शीघ्र ही यह भी उसके सुनने में आया कि उनके जीते रहने की भी संभावना हो सकती है। इससे राजा द्रुपद की सोई आशा फिर जाग उठी। सोचा, स्वयंवर रच दूं तो शायद पाण्डव किसी तरह आकर उसमें सम्मिलित हो जायं।

स्वयंवर के लिए बड़े सुन्दर मंडप का निर्माण हुआ। उसके चारों तरफ राजकुमारों के रहने के लिए सजाये हुए कई भवन थे। जी को लुभानेवाले खेल-तमाशों एवं प्रदर्शनों का भी प्रबन्ध किया गया था। दो सप्ताह तक बड़ी धूमधाम के साथ उत्सव मनाया गया।

स्वयंवर-मंडप में एक बृहदाकार धनुष रक्खा हुआ था, जिसकी डोरी फौलादी तारों की बनी थी। ऊपर काफी ऊंचाई पर एक सोने की मछली टंगी हुई थी। उसके नीचे एक चमकदार यन्त्र बड़े वेग से घूम रहा था। राजा द्रुपद ने घोषणा की थी कि "जो राजकुमार उस भारी धनुष को तानकर डोरी चढ़ायेगा और ऊपर घूमते हुए गोल यन्त्र के मध्य में से तीर चलाकर ऊपर टंगे हुए निशाने को गिरा देगा उसीको द्रौपदी वर-माला पहनाएगी।"

इस स्वयंवर के लिए दूर-दूर से अनेक क्षत्रिय वीर आये हुए थे।

मण्डप में सैकड़ों राजा इकट्ठे हुए थे, जिनमें धृतराष्ट्र के सौ बेटे, अंग-नरेश कर्ण, श्रीकृष्ण, शिशुपाल, जरासन्ध आदि भी शामिल हुए थे। दर्शकों की भी भारी भीड़ थी। सभा में सागर की लहरों के सदृश गंभीर शोर हो रहा था। बाजे बज रहे थे, शंख, तुरही आदि के मंगल निनाद से दिशाएं गूंज रही थीं। राजकुमार धृष्टद्युम्न घोड़े पर सवार होकर आगे आया। उसके पीछे हाथी पर सवार द्रौपदी आई। उसने मंगल-स्नान करके अपने केश अगर के सुगन्धित धुएं से सुखा रखे थे। वह रेशमी साड़ी पहने थी। स्वाभाविक सौंदर्य ही मानो उसका भूषण प्रतीत होता था। हाथ में फूलों का हार लिये राजकन्या हाथी पर से उतरी और सभा में पदार्पण किया। एकत्रित राजकुमार उसकी छवि निहार-कर आनन्दमुग्ध हो गये। कनखियों से उन्हें देखती हुई द्रुपद-राज-कन्या सभा के बीच में से होकर मण्डप में जा पहुंची।

ब्राह्मणों ने ऊंचे स्वर से मंत्र पढ़कर अग्नि में आहुति दी और "स्वस्ति" कहकर आशीर्वाद दिये। धीरे-धीरे बाजों का स्वर मन्द हो चला। राजकुमार धृष्टद्युम्न अपनी बहन का हाथ पकड़कर मण्डप के बीच में ले गया और गंभीर स्वर में घोषणा करते हुए बोला—

"मण्डप में उपस्थित सब वीर सुनें, यह धनुष है, ये बाण हैं, वह निशाना है। जो भी रूपवान, बली एवं कुलीन व्यक्ति घूमते हुए यन्त्र के बीच में से पांच बाण चलाकर निशाना गिरा देगा, मेरी बहन उसको ही वरमाला पहनाएगी; यह सत्य है।"

यह घोषणा करने के बाद धृष्टद्युम्न बारी-बारी से उपस्थित राज-कुमारों के नाम एवं कुल का परिचय अपनी बहन को देने लगा।

इसके बाद एक-एक करके राजकुमार उठते और धनुष पर डोरी चढ़ाते, हारते और अपमानित होकर लौट आते। कितने ही सुप्रसिद्ध वीरों को इस तरह मुंह की खानी पड़ी।

इस प्रकार शिशुपाल, जरासन्ध, शल्य, दुर्योधन-जैसे पराक्रमी राज-कुमार तक असफल हो गये।

जब कर्ण की बारी आई तो सभा में एक लहर दौड़ गई। सबने सोचा, अंग-नरेश जरूर सफल हो जायंगे। कर्ण ने धनुष उठाकर खड़ा

कर दिया और तानकर प्रत्यंचा भी चढ़ानी शुरू की और अभी डोरी के चढ़ाने में बाल-भर की कसर रह गई थी कि इतने में धनुष का डण्डा हाथ से छूट गया और उछलकर जोर से उसके मुंह पर लगा। अपनी चोट सहलाता हुआ कर्ण अपनी जगह पर जा बैठा।

इतने में उपस्थित ब्राह्मणों के बीच में से एक तरुण ब्रह्मचारी उठ खड़ा हुआ। ब्राह्मणों की मंडली में से ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन को यों खड़ा होते देखकर सभा में बड़ी खलबली मच गई। लोगों में तरह-तरह की चर्चा होने लगी और सभा में दो पक्ष हो गये। उपस्थित ब्राह्मणों में भी दो दल बन गये। स्वयंवर के एक दल ने इस ब्रह्मचारी का खूब स्वागत किया और नारे लगाये। दूसरे ने उसका विरोध किया।

बहुत-से ब्राह्मणों ने चिल्लाकर कहा कि जिस प्रयत्न में कर्ण और शल्य जैसे महारथी हार मान चुके हैं उसमें इस ब्राह्मण ब्रह्मचारी का हारना सारे विप्रकुल के लिए अपमान की बात हो जायगी। अतः इसे दुःसाहस नहीं करना चाहिए। दूसरे ब्राह्मणों ने बड़े जोश के साथ इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"इस युवक में ऐसा उत्साह और साहस झलक रहा है कि जिससे आशा होती है कि यह जरूर ही जीतेगा। जो काम क्षत्रियों से न हो सका, वह शायद इस ब्राह्मण के हाथों हो जाय। ब्राह्मण में शारीरिक बल भले कम हो, तपोबल तो है हीं! अतः इसके इस प्रयत्न करने में कौन-सी आपत्ति हो सकती है?" इस प्रकार अनेक चर्चाओं के बाद ब्राह्मण-समूह भी अर्जुन के प्रतियोगिता में भाग लेने के पक्ष में हो गया और सब ब्राह्मणों ने एकस्वर से 'तथास्तु' कहकर अर्जुन को अशीर्वाद दे दिया।

इधर अर्जुन धनुष के समीप जाकर खड़ा हो गया और राजकुमार धृष्टद्युम्न से पूछा—"कुमार, क्या ब्राह्मण भी इस प्रतियोगिता में भाग लेकर लक्ष्य-वेध कर सकते हैं?"

धृष्टद्युम्न ने उत्तर दिया—"द्विजोत्तम, जो कोई भी इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर शर्त के अनुसार लक्ष्य-वेध करेगा, यह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, मेरी बहन उसकी पत्नी हो जायगी। मैं यह वचन दे चुका हूं। उसे नहीं तोड़ूंगा।"

तब अर्जुन ने भगवान् नारायण का ध्यान करके धनुष हाथ में लिया और उसपर डोरी चढ़ा दी। उसने धनुष पर तीर चढ़ाया और आश्चर्य-चकित लोगों को मुस्कराते हुए देखा। लोग मंत्र-मुग्ध से उसे देख रहे थे। उसने और देरी न करके तुरन्त एक के बाद एक पांच बाण उस घूमते हुए चक्र में मारे और हजारों लोगों के देखते-देखते निशाना टूटकर नीचे गिर पड़ा।

सभा में कोलाहल मच गया; बाजे बज उठे। उपस्थित हजारों ब्राह्मणों ने अपने-अपने अंगोछे ऊपर फेंककर आनन्द का प्रदर्शन किया। ब्राह्मण तो ऐसे खुश हुए मानो द्रौपदी को उन सबने पा लिया हो।

उस समय राजकुमारी द्रौपदी की शोभा कुछ अनूठी हो गई। वह आगे बढ़ी और सकुचाते हुए लेकिन प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मण-वेष में खड़े अर्जुन को वरमाला पहना दी।

माता को यह शुभ-समाचार सुनाने के लिए युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव तीनों भाई मण्डप से उठकर चले गए। परन्तु भीम नहीं गया। उसे भय था कि निराश राजकुमार कहीं अर्जुन को कुछ कर न बैठें।

और भीमसेन का अनुमान ठीक ही निकला। राजकुमारों में बड़ी हलचल मच गई। उन्होंने शोर मचाया—"ब्राह्मणों के लिए स्वयंवर की रीति नहीं होती। यदि इस कन्या को कोई भी राजकुमार पसन्द न था तो उसे चाहिए था कि वह कुंवारी ही रह जाती और चिता पर चढ़ जाती, बजाय इसके कि वह एक ब्राह्मण की पत्नी बने। यह कैसे हो सकता है? यह तो स्वयंवर की प्रथा पर कुठाराघात करना है। कम-से-कम धर्म की रक्षा के लिए हमें चाहिए कि इस अनुचित ब्याह को न होने दें।"

राजकुमारों का जोश बढ़ता गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि भारी विप्लव मच जायगा। यह हाल देखकर भीमसेन चुपके से बाहर गया, एक पेड़ को जड़ से उखाड़कर ऐसे झंझोड़ा कि उसके सारे पत्ते झड़ गए, फिर उसे मामूली लाठी की तरह कन्धे पर रखकर अर्जुन के बगल में आकर खड़ा हो गया। अर्जुन ब्राह्मण के वेष में मृग-छाल ओढ़े खड़ा था। द्रौपदी उसके मृगचर्म का सिरा पकड़े हुए चुपचाप खड़ी रही।

श्रीकृष्ण, बलराम और कुछ राजा लोग विप्लव मचानेवाले राजकुमारों को समझाने लगे। वे समझाते रहे और इस बीच भीम और अर्जुन द्रौपदी को साथ लेकर कुम्हार की कुटिया की ओर चल दिये।

जब भीम और अर्जुन द्रौपदी को साथ लेकर सभा से जाने लगे तो द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न चुपके से उनके पीछे हो लिया। कुम्हार की कुटिया में उसने जो देखा उससे उसके आश्चर्य की सीमा न रही। वह तुरन्त लौट आया और अपने पिता से बोला—"पिताजी, मुझे तो ऐसा लगता है कि ये लोग कहीं पाण्डव ही न हों! बहन द्रौपदी उस युवक की मृगछाला पकड़े जब जाने लगी तो मैं भी उनके पीछे हो लिया। वे एक कुम्हार की झोंपड़ी में जा पहुंचे। वहां अग्नि-शिखा की भांति एक तेजस्वी देवी बैठी थीं। वहां जो बातें हुईं, उनसे मेरा विश्वास हो गया कि वह कुन्ती देवी ही होनी चाहिए।"

राजा द्रुपद के बुलावा भेजने पर पांचों भाई माता कुन्ती और द्रौपदी को साथ लेकर राजभवन पहुंचे। युधिष्ठिर ने राजा को अपना सही परिचय दे दिया। यह जानकर कि ये पाण्डव हैं, राजा द्रुपद फूले न समाये। उनकी इच्छा पूरी हुई। "महाबली अर्जुन मेरी बेटी के पति हो गये हैं तो फिर अब द्रोणाचार्य की शत्रुता की मुझे चिन्ता नहीं रही!" यह विचारकर उन्होंने सन्तोष की सांस ली।

किन्तु जब युधिष्ठिर ने बताया कि हम पांचों भाई एक साथ द्रौपदी से ब्याह करने का निश्चय कर चुके हैं तो पांचाल-राजा को बड़ा अचरज हुआ और घृणा भी। पाण्डवों के निश्चय का विरोध करते हुए वे बोले—"यह कैसा अन्याय है! यह विचार किसी भी समय धर्म नहीं माना गया। संसार की प्रचलित रीति के विरुद्ध है। ऐसा अनुचित विचार आपके मन में उठा ही कैसे?"

इसका समाधान करते हुए युधिष्ठिर ने कहा—"राजन्! क्षमा करें! हममें यह बात तय हुई है कि जो-कुछ प्राप्त हो, बांटकर समान रूप से भोगें। भारी विपदा के समय हमने यह निश्चय किया था। हमारी माता का भी यही कहना था। अब हम इससे विमुख नहीं हो सकते।"

राजा द्रुपद ने अपने को स्थिति के अनुकूल करते हुए कहा—"यदि

आप, कुन्ती देवी, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी अदि सब इस बात को उचित समझें, तो फिर ऐसा ही हो।" और फिर सबकी सम्मति से द्रौपदी के साथ पांचों पाण्डवों का ब्याह हो गया।

: १७ :

इन्द्रप्रस्थ

द्रौपदी के स्वयंवर में जो-कुछ हुआ उसकी खबर जब हस्तिनापुर पहुंची तो धर्मात्मा विदुर बड़े खुश हुए। धृतराष्ट्र के पास दौड़े गए और बोले—"धृतराष्ट्र, हमारा कुल शक्ति-सम्पन्न हो गया है। राजा द्रुपद की पुत्री हमारी बहू बन गई है। हमारे भाग्य जग गये। आज बड़ा सुदिन है।"

धृतराष्ट्र ने अपने बेटे के प्रति अन्ध-प्रेम के कारण विदुर की बात का गलत अर्थ समझा। दुर्योधन भी तो स्वयंवर में गया था न! सो उन्होंने समझा कि दुर्योधन ने द्रौपदी को स्वयंवर में प्राप्त किया। बोले—"अहोभाग्य है हमारा! विदुर अभी जाकर बहू द्रौपदी को ले आओ, और पांचालराजा की बेटी का खूब धूमधाम से स्वागत करने का प्रबन्ध करो। चलो, जल्दी करो।"

तब विदुर असली बात उन्हें बताते हुए बोले—"भाग्यशाली पाण्डव जीवित हैं। राजा द्रुपद की कन्या को स्वयंवर में अर्जुन ने प्राप्त किया है। पांचों भाइयों ने विधिपूर्वक द्रौपदी के साथ ब्याह कर लिया है और देवी कुन्ती के साथ वे सब द्रुपद के यहां कुशल से हैं।"

यह सुनकर धृतराष्ट्र सहम-से गये। उनका उत्साह ठंडा पड़ गया। पर उसे प्रकट न करके हर्ष का बहाना करते हुए बोले—"भाई विदुर! तुम्हारी बातों से मुझे असीम आनन्द हो रहा है। क्या सचमुच मेरे प्यारे भाई पाण्डु के पुत्र जीवित हैं? वे कुशल से तो हैं? मैं कितना शोक मना रहा था, कितना व्याकुल हो रहा था उनकी मृत्यु के समाचार से! तुम्हारे इस समाचार ने मेरे तप्त हृदय में मानो अमृत बरसा दिया। आनन्द मेरे अन्दर समा नहीं रहा है। राजा द्रुपद की बेटी हमारी बहू

बन गई है, यह बड़ा ही अच्छा हुआ। हमारे अहोभाग्य !"

उधर दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि पांडवों ने लाख के घर की भीषण आग से किसी तरह बचकर और एक बरस तक कहीं छिपे रहने के बाद अब पराक्रमी पांचालराज की कन्या से ब्याह कर लिया है और पहले से भी अधिक शक्तिशाली बन गये हैं तो उनके प्रति उसके मन में ईर्ष्या की आग और अधिक प्रबल हो उठी। दबा हुआ वैर फिर से जाग उठा।

दुर्योधन और दुःशासन ने शकुनी को अपना दुखड़ा सुनाया—"मामा, अब क्या करें ? निकम्मे पुरोचन ने हमें कहीं का न रक्खा ! हमारी चाल बेकार हो गई। सचमुच ही हमारे वैरी पांडव चतुराई में हमसे कहीं बढ़े-चढ़े निकले। दैव भी उन्हींका साथ दे रहा हैं। मृत्यु तो उनके पास तक नहीं फटकती। और अब तो द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न और शिखंडी भी उनके साथी बन गये। मामा, हमें तो अब डर लगने लगा है। आप कोई-न-कोई कारगर उपाय बताइये।"

उसके बाद कर्ण और दुर्योधन धृतराष्ट्र के पास गए और एकांत में उनसे दुर्योधन ने कहा—"पिताजी, चाचा से आपने कैसे कहा कि हमारे भग्य खुल गए हैं ! कहीं शत्रु की बढ़ती से भी किसीके भाग्य खुलते है ? पांडव तो हमारे शत्रु हैं। उनकी बढ़ती तो हमारे नाश ही का कारण बनेगी। हमने कितने ही उपाय किये फिर भी उनका कुछ बिगाड़ न सके। हमारे सब प्रयत्न उलटकर हमपर ही आफतें ढाने लगे हैं, यह क्या आप नहीं देखते हैं। अब चाहे जो हो, हमें चाहिए कि हम अभी पाण्डवों को नष्ट कर दें, नहीं तो फिर हमारी ही तबाही होगी। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। अतः जल्दी ही हम ऐसा कोई उपाय करें, जिससे हम सदा के लिए निश्चिन्त हो सकें।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"बेटा, तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। भैया विदुर से मैंने जो कहा था, उसका तुम खयाल न करना। बात यह है कि विदुर को हमारे मन की बात मालूम न होनी चाहिए। इसलिए मैंने उससे ऐसी बातें कीं। तुम्हीं बताओ, अब क्या करना चाहिए ?"

दुर्योधन ने कहा—"मुझे तो चिन्ता के कारण आगा-पीछा कुछ भी

नहीं सूझता। मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है। कभी कुछ सोचता हूं, कभी कुछ। फिर भी जो सूझता है, आपको बताता हूं, सुनिये। पाण्डव पांचों भाई एक मां के बेटे नहीं हैं। इस बात का लाभ उठाकर माद्री तथा कुंती के बेटों में किसी तरह फूट डाली जा सके—एक दूसरे के विरुद्ध उभाड़ा जा सके—तो हमारा काम बन सकता है। एक उपाय तो यह है। इसके अलावा राजा द्रुपद को भी धनादि देकर अपने पक्ष में कर लेने का प्रयत्न किया जा सकता है। द्रुपद में और पाण्डवों में केवल यही संबंध है कि उनकी बेटी से उन्होंने ब्याह कर लिया है ? पर यह नहीं कहा जा सकता कि केवल इसी एक बात के लिए राजा द्रुपद हमारी मित्रता अस्वीकार कर देंगे। धन में वह शक्ति है कि जिससे असंभव भी संभव बन जाता है।"

दुर्योधन की इस बात को कर्ण ने हँसी में ही उड़ा दिया। बोला—"ऐसा सोचना तो बेकार की बातें हैं।"

दुर्योधन ने कहा—"तो फिर हमें कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे पाण्डव यहां आयें ही नहीं, क्योंकि यदि वे इधर आये तो जरूर राज्य पर भी अपना अधिकार जमाना चाहेंगे। अच्छा यही है कि यह होने ही न दिया जाय। इसके लिए कुछ चतुर ब्राह्मणों को सिखा-पढ़ाकर पांचाल देश में भेजा जा सकता है कि वहां जाकर वह तरह-तरह की अफवाहें उड़ायें। पाण्डवों के पास हमारे आदमी एक-एक करके भिन्न-भिन्न रूप से जायं और उनसे कहें कि हस्तिनापुर जाने से उनपर विपत्ति आने की संभावना है। इस तरह पांडवों के मन में भय पैदा किया जाय तो वे यहां लौटना नहीं चाहेंगे।"

दुर्योधन की इस युक्ति को भी कर्ण ने ठुकरा दिया।

फिर दुर्योधन ने कहा—"अगर यह न हो सके तो फिर द्रौपदी द्वारा ही पांचों भाइयों में फूट पैदा कराई जा सकती है। प्रचलित रीति और मानव-स्वभाव के विरुद्ध एक स्त्री से पांच आदमियों ने एक साथ ब्याह कर लिया है। इसको निभाना बड़ा कठिन काम है। इससे हमारा काम और भी आसान हो सकता है। काम-शास्त्र के निपुण लोगों की सहायता से पाण्डवों के मन में एक-दूसरे पर तरह-तरह के सन्देह उत्पन्न किये जा

सकते हैं। मेरा विश्वास है कि इससे हमारा काम अवश्य बन जायगा। कुछ सुन्दर युवतियों के द्वारा कुंती के बेटों का मन भी फेर लिया जा सकता है, जिससे उनके चाल-चलन पर स्वयं द्रौपदी को शंका हो जाय। अगर ऐसा हो जाय तो स्वयं द्रौपदी का मन उनकी तरफ से हट जायगा। यदि किसी एक पाण्डव के प्रति द्रौपदी का मन मैला हो जाय तो उस पाण्डव को चुपके से हस्तिनापुर ले आया जाय और फिर जो कुछ कराना हो उसके द्वारा कराया जाय।

इसपर कर्ण को हँसी आ गई। उसने कहा—"दुर्योधन ! तुम्हें उल्टी ही सूझा करती है। चाल चलने और प्रपंच रचने से पाण्डवों को जीतने की आशा व्यर्थ है। जब वे यहांपर थे तब उन्हें अनुभव ही क्या था ? तब तो वे उतने ही निःसहाय थे जितने पंख उगने से पहले पंछी के बच्चे होते हैं। जब उस निःसहाय अवस्था में भी तुम उनको अपनी चाल में न फंसा सके तो अब वह बात कैसे हो सकती है ? अब एक साल बाहर रहने और दुनिया देख लेने से उन्हें काफी अनुभव प्राप्त हो चुका है। एक शक्ति-सम्पन्न राजा के यहां उन्होंने शरण ली है। तिसपर उनके प्रति तुम्हारा वैर-भाव उनसे छिपा नहीं। इसलिए छल-प्रपंच से अब काम नहीं बनेगा। आपस में फूट डालकर भी उनको हराना संभव नहीं। राजा द्रुपद धन के प्रलोभन में पड़नेवाले व्यक्ति नहीं हैं। लालच दिखाकर उनको अपने पक्ष में करने का विचार बेकार है। पाण्डवों का साथ वे कभी नहीं छोड़ेंगे। द्रौपदी के मन में पाण्डवों के प्रति घृणा पैदा हो ही नहीं सकती। ऐसे विचार की ओर ध्यान देना भी ठीक नहीं। हमारे पास केवल एक ही उपाय रह गया है और वह यह कि पांडवों की ताकत और अधिक बढ़ने से पहले उनपर हमला कर दिया जाय और उनको कुचल डाला जाय। अगर हम हिचकिचाते रहे तो और भी कितने ही राजा उनके साथी बन जायंगे। यादव-सेना के साथ श्रीकृष्ण के पांचाल राज्य में पहुंचने से पहले ही हमें पाण्डवों पर चढ़ाई कर देनी चाहिए और हमें अचानक द्रुपद के राज्य पर टूट पड़ना चाहिए। तभी हम पाण्डवों की शक्ति मिटा सकेंगे, अन्यथा नहीं। मैदान में जौहर दिखलाना और अपने बाहु-बल से काम लेना यही क्षत्रि-

योचित उपाय है। कुचक्र रचने से काम नहीं बनेगा।"

कर्ण की तथा अपने बेटों की परस्पर-विरोधी बातें सुनकर धृतराष्ट्र इस बारे में कोई निश्चय नहीं कर सके। वे पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण को बुलाकर उनसे सलाह-मशविरा करने लगे।

पांडु-पुत्रों के जीवित रहने की खबर पाकर पितामह भीष्म के मन में भी आनन्द की लहरें उठ रही थीं। धृतराष्ट्र ने उनसे पूछा—"पितामह, खबर मिली है कि पांडु के पुत्र जीवित हैं और पांचाल-राज के यहां कुशल से हैं। अब उनका क्या किया जाय ?"

धर्मात्मा एवं नीतिज्ञ भीष्म ने कहा—"बेटा ! वीर पांडवों के साथ संधि करके आधा राज्य उन्हें दे देना ही उचित है। सारे देश के प्रजा-जन यही चाहते हैं और खानदान की इज्जत रखने का भी यही उपाय है। लाख के भवन के जल जाने के बारे में नगर के लोग तरह-तरह की बातें कर रहे हैं। सब लोग तुम्हें ही दोषी ठहरा रहे हैं। यदि पांडवों को वापस बुला लो और उन्हें आधा राज्य दे दो तो कुल का कलंक मिटा सकोगे। मेरी तो यही सलाह है।"

आचार्य द्रोण ने भी यही सलाह दी। उन्होंने कहा—"राजन् ! कुशल राजदूतों को पांचाल देश भेजकर संधि की शर्तें तय करालें। फिर पांडवों को यहां बुलाकर बड़े भाई युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करके आधा राज्य उन्हें दे दीजिये। मुझे भी यही उचित लगता है।"

अंगनरेश कर्ण भी इस अवसर पर धृतराष्ट्र के दरबार में उपस्थित था। पाण्डवों को आधा राज्य देने की सलाह उसे बिलकुल अच्छी न लगी। दुर्योधन के प्रति कर्ण के हृदय में अपार स्नेह था। इस कारण द्रोणाचार्य की सलाह सुनकर उसके क्रोध की सीमा न रही। धृतराष्ट्र से बोला—"राजन् ! मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आपके धन से धनी और आपके सम्मान से प्रतिष्ठित आचार्य द्रोण भी आपको ऐसी कुमन्त्रणा देते हैं ! राजन् ! शासकों का कर्त्तव्य है कि मन्त्रणा देनेवालों की नियत को पहले परख लें तब फिर उनकी मन्त्रणा पर ध्यान दें। केवल शब्दों को ही महत्त्व न देना चाहिए।"

कर्ण की इन बातों से द्रोणाचार्य क्रोधित हो उठे। गरजकर बोले—

"दुष्ट कर्ण ! तुम राजा को गलत रास्ता बता रहे हो। तुमने शिष्टता से बातें करना भी नहीं सीखा। यह निश्चित है कि यदि राजा धृतराष्ट्र ने मेरी तथा पितामह भीष्म की सलाह न मानी और तुम जैसों की सलाह पर चले तो फिर कौरवों का नाश ही होने वाला है !"

इसके बाद धृतराष्ट्र ने धर्मात्मा विदुर से सलाह ली। विदुर ने कहा—"हमारे कुल के नायक भीष्म तथा आचार्य द्रोण ने जो बताया वही श्रेयस्कर है। वे बड़े बुद्धिमान हैं। सदा हमारी भलाई करते आये हैं। सो उनकी बातों के अनुसार ही कार्य होना चाहिए। जैसे दुर्योधन आदि आपके बेटे हैं, वैसे ही पांडव भी आपके हैं। उनकी बुराई सोचने की सलाह जो भी दे, उसे अपने कुल का शत्रु समझिएगा। कम-से-कम अपनी भलाई के लिए भी आपको पांडवों से न्यायोचित व्यवहार करना चाहिए। पांचाल-नरेश द्रुपद, उनके दोनों शक्तिमान पुत्र, यदुवंश के श्रीकृष्ण और उनके साथी आदि सब उनके पक्ष में हैं। इस हालत में पांडवों को युद्ध में हराना संभव भी नहीं हो सकता। कर्ण की सलाह किसी काम की नहीं, उसपर ध्यान न देना ही ठीक है। योंही हमपर यह दोष लगा हुआ है कि पांडवों को लाख के भवन में ठहराकर उनको मरवा डालने का हमने प्रयत्न किया। इस दाग़ को धो डालना ही ठीक होगा। यह जानकर कि पांडव अभी जीवित हैं, हमारी सारी प्रजा आनन्द मना रही है और पांडवों के दर्शन के लिए उत्सुक हो रही है। दुर्योधन की बात न सुनिये। कर्ण और शकुनि अभी कल के बच्चे हैं। राजनीति से अनभिज्ञ हैं। उनकी युक्तियां कभी कारगर न हो सकेंगी। इसलिए राजन्, भीष्म के आदेशानुसार ही काम कीजिये।"

अन्त में सब सोच-विचारकर धृतराष्ट्र ने पांडु के पुत्रों को आधा राज्य देकर सन्धि कर लेने का निश्चय किया और पांडवों को द्रौपदी तथा कुंती सहित सादर लिवा लाने के लिए विदुर को पांचाल देश भेजा।

विदुर भांति-भांति के वस्त्र, रत्न, आभूषण और अन्य अमूल्य उपहार साथ लेकर पांचाल देश को रवाना हो गये।

पांचाल देश में पहुंचकर विदुर ने राजा द्रुपद को अमूल्य उपहार

भेंट करके उनका सम्मान किया और राजा धृतराष्ट्र की तरफ से अनुरोध किया कि पांडवों को द्रौपदी सहित हस्तिनापुर जाने की अनुमति दें।

विदुर का अनुरोध सुनकर राजा द्रुपद के मन में शंका हुई। उनको धृतराष्ट्र पर विश्वास न आया। सिर्फ इतना कह दिया कि पांडवों की जैसी इच्छा हो वही करना ठीक होगा।

तब विदुर ने माता कुंती के पास जाकर दण्डवत की और अपने आने का कारण उन्हें बताया। कुन्ती के मन में भी शंका हुई कि कहीं पुत्रों पर फिर कोई आफत न आ जाय। चिन्तित होकर वह बोलीं—"विचित्रवीर्य के पुत्र विदुर ! तुम्हींने मेरे बेटों की रक्षा की थी। इन्हें अपने ही बच्चे समझना। तुम्हारे ही भरोसे पर इन्हें छोड़ती हूं और तुम जो कहोगे वही करूंगी।

विदुर ने उन्हें बहुत समझाया और धीरज देते हुए कहा—"देवी, आप निश्चिन्त रहें। आपके बेटों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। वे संसार में खूब यश कमाएंगे और विशाल राज्य के स्वामी बनेंगे। आप सब बेखटके हस्तिनापुर चलिये।" आखिर द्रुपद राजा ने भी अनुमति दे दी और विदुर के साथ कुन्ती और द्रौपदी समेत पाण्डव हस्तिनापुर को रवाना हो गए।

उधर हस्तिनापुर में पांडवों के स्वागत की बड़ी धूम-धाम से तैयारी होने लगी। गलियों में पानी छिड़का गया था और रंगबिरंगे फूल बिछाये गए थे। सारा नगर सजाया गया था। जब पांचों पांडव कुन्ती और द्रौपदी के साथ नगर में प्रविष्ट हुए तो लोगों के आनन्द का पार न था।

जैसाकि पहले ही निश्चय हो चुका था, युधिष्ठिर का यथा-विधि राज्याभिषेक हुआ और आधा राज्य पांडवों के अधीन किया गया। राज्याभिषेक के उपरान्त युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हुए धृतराष्ट्र ने कहा—"बेटा युधिष्ठिर ! भैया पांडु ने इस राज्य को अपने बाहु-बल से बहुत विस्तृत किया था। मेरी कामना यही है कि उन्हींके समान तुम भी यशस्वी बनो और सुख से रहो। तुम्हारे पिता पांडु मेरा कहा कभी

नहीं टालते थे—प्रेम-भाव से उसे मानते थे। तुमसे भी मुझे वही ग्राशा है। मेरे अपने बेटे बड़े दुरात्मा हैं। एक साथ रहने से, संभव है, तुम दोनों के बीच वैर बढ़े। इस कारण मेरी सलाह है कि तुम खांडवप्रस्थ को अपनी राजधानी बना लेना और वहीं से राज करना। इसमें तुममें ग्रौर मेरे बेटों में शत्रुता होने की संभावना न रहेगी। खांडवप्रस्थ वह नगरी है जो पुरु, नहुष, ययाति जैसे हमारे प्रतापी पूर्वजों की राजधानी रही है। हमारे वंश की पुरानी राजधानी खांडवप्रस्थ को फिर से बसाने का यश और श्रेय तुम्हींको प्राप्त हो।"

धृतराष्ट्र के मीठे वचन मानकर पांडवों ने खांडवप्रस्थ के भग्नावशेषों पर, जो कि उस समय तक निर्जन वन बन चुका था, निपुण शिल्पकारों से एक नये नगर का निर्माण कराया। सुन्दर भवनों, अभेद्य दुर्गों आदि से सुशोभित उस नगर का नाम इन्द्रप्रस्थ रखा गया। इन्द्रप्रस्थ की शान एवं सुन्दरता ऐसी हो गई कि सारा संसार उसकी प्रशंसा करते न थकता था। अपनी इस राजधानी में द्रौपदी और माता कुन्ती के साथ पांचों पांडव तेईस बरस तक सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए न्यायपूर्वक राज करते रहे।

: १८ :
सारंग के बच्चे

पशु-पक्षियों में भी मनुष्य जैसे व्यवहार का आरोप करना पौराणिक आख्यायिकाओं की एक बड़ी खूबी है। पुराणों के पशुपक्षी भी मनुष्य की-सी बोली बोलते हैं और लौकिक न्याय एवं दार्शनिक सिद्धान्त तक के उपदेश देने लगते हैं; परन्तु साथ ही हर प्राणी के अपने स्वभाव की भी झांकी उनमें स्थान-स्थान पर पाई जाती है।

स्वाभाविकता एवं कल्पना का यह सुन्दर सम्मिश्रण पौराणिक साहित्य की खास विशेषता है।

खांडवप्रस्थ के खंडहरों पर पांडवों ने नये-नये नगर तथा गांव बसाए और अपने राज्य की नींव डाली। पुरु-वंश की पुरानी राजधानी

खांडवप्रस्थ अब तक भयानक वन के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी। हिंस्र जन्तुओं तथा पक्षियों ने उसे अपना निवास-स्थान बना लिया था। कितने ही दुष्टों एवं डाकुओं ने उस वन को अपना अड्डा बनाया हुआ था, और वे निर्दोष लोगों को पीड़ा पहुंचाते रहते थे। कृष्ण और अर्जुन ने यह हाल देखा तो निश्चय किया कि इस जंगल को जला डालें और फिर नये नगर बसावें।

इस वन के एक पेड़ पर जरिता नामक एक सारंग चिड़िया अपने चार बच्चों के साथ रहती थी। बच्चे अभी नन्हे-नन्हे-से थे। उनके पर तक नहीं उगे थे। जरिता और उसके बच्चों को इस तरह छोड़कर उसका नर किसी दूसरी सारंग चिड़िया के साथ घूमता-फिरता था। बेचारी जरिता अपने बच्चों के लिए कहीं से चुग्गा लाकर देती और उनको पालती-पोसती थी। इतने में एक दिन श्रीकृष्ण और अर्जुन की आज्ञानुसार जंगल में आग लगा दी गई। आग की प्रचंड ज्वाला में सारा जंगल भस्म होने लगा। जंगल के जानवर इधर-उधर भागने लगे। सारे वन में तबाही मच गई।

इस भीषण आग को देखकर जरिता घबरा उठी और आंसू बहाती हुई विलाप करने लगी—"हाय, अब मैं क्या करूं? भयंकर आग सारे वन को जलाती हुई निकट आ रही है। आग की गरमी हर घड़ी समीप होती जा रही है। कभी थोड़ी ही देर में यह हमें भी जला डालेगी! वह देखो! एक के बाद एक पेड़ गिरते जा रहे हैं। उनके गिरने की आवाज सुनकर जंगली जानवर घबराकर इधर-उधर भाग रहे हैं। हाय मेरे बच्चो! मैं अब क्या करूं? न तुम्हारे पर हैं, न पैर ही! अभी तुम भी आग की भेंट हो जाओगे! तुम्हारे निर्दय पिता हम सबको छोड़कर चले गए हैं। तुम्हें साथ लेकर उड़ने की भी तो शक्ति मुझमें नहीं है। अब मैं तुम्हें कैसे बचाऊं?"

मां का यह करुण विलाप सुनकर बच्चे बोले—"मां, दुःखी न होओ! हमारे ऊपर तुम्हारा जो प्रेम है वह तुम्हारे शोक का कारण न बने। हम यहां मर भी जायं तो भी कुछ बिगड़ेगा नहीं। हम सद्गति को प्राप्त होंगे। किन्तु तुम भी ग्रगर हमारे संग आग की भेंट हो

जाओगी तो हमारे वंश का अन्त हो जायगा। इसलिए तुम यहां से बचकर कहीं दूर चली जाओ। यदि हम मर जायं तो भी तुम्हारे और संतान हो सकती है। इसलिए मां, तुम सोच-विचाकर वही करो जिससे कुल की भलाई हो।"

बच्चों के यों कहने पर भी उन्हें छोड़ जाने को मां का जी नहीं मानता था। उसने कह दिया—"मैं भी यहीं तुम्हारे साथ अग्नि की भेंट चढ़ जाऊंगी।"

●

मन्दपाल नाम के एक दृढ़व्रती ऋषि आजीवन विशुद्ध ब्रह्मचारी रहकर स्वर्ग सिधारे। जब वह स्वर्ग के द्वार पर पहुंचे तो द्वारपालों ने उन्हें रोका और यह कहकर लौटा दिया कि जिन्होंने अपने पीछे एक भी सन्तान न छोड़ी हो उनके लिए स्वर्ग का द्वार नहीं खुलता। तब ऋषि ने सारंग की योनि में जन्म लिया और जरिता नाम की सारंग से सहवास किया। जरिता जब चार अण्डे दे चुकी थी, तब ऋषि ने उसे छोड़ दिया और लपिता नाम की एक और सारंग चिड़िया के साथ रहने लगे।

समय पाकर जरिता के चारों अण्डे फूटे और उनमें से चार बच्चे निकले। ऋषि के बच्चे होने के कारण उनमें स्वाभाविक विवेक था। यही कारण था कि उन्होंने अविचलित होकर अपनी मां को यों धीरज बंधाया।

मां ने अपने बच्चों से कहा—"बच्चो! इस पेड़ के नज़दीक एक चूहे का बिल है। मैं तुम्हें उठाकर बिल के द्वार पर छोड़ देती हूं। तुम धीरे-से बिल के भीतर घुसकर अन्दर छिप जाना जिससे आग की गरमी न लगे। मैं बिल का द्वार मिट्टी से बन्द कर दूंगी और जब आग बुझ जायगी तो मिट्टी हटा दूंगी और तुम्हें निकाल लूंगी।"

किन्तु बच्चों ने न माना। वे बोले—"बिल के अन्दर जायंगे तो वहां चूहा हमें खा लेगा। चूहे से खाया जाना अपमानजनक है। ऐसी मृत्यु से तो यही अच्छा है कि हम आग में ही जलकर मरें।"

"अरे, इस बिल में चूहा नहीं है। थोड़ी देर हुई मैंने देखा था कि उसे एक चील उठा ले गई।" मां ने बच्चों को समझाते हुए कहा।

बच्चों ने फिर भी नहीं माना। कहा—"एक चूहे को चील उठा ले गई तो विपदा थोड़े ही दूर हो गई। कितने ही और चूहे बिल के अन्दर रहते होंगे, मां। तुम जल्दी चली जाओ। आग की लपटें नजदीक आ रही हैं, कुछ ही क्षण में आग इस पेड़ को घेर लेगी। इससे पहले तुम अपने प्राण बचा लो। बिल के अन्दर छिपना हमसे नहीं हो सकेगा। और हमारी खातिर तुम भी क्यों व्यर्थ जान गंवाती हो? आखिर हमारा तुम्हारा नाता ही क्या है? हमने तुम्हारी कभी कुछ भलाई भी की है? कुछ नहीं। उल्टे हम तो तुम्हें कष्ट ही पहुंचाते रहे, सो तुम हमें छोड़ कर चली जाओ। अभी तुम्हारी जवानी नहीं बीती है। तुम्हें अभी और सुख भोगना है। यदि हम आग की भेंट हो गए तो निश्चय ही हमें स्वर्ग प्राप्त होगा। यदि बच गए तो आग के बुझ जाने पर तुम फिर पास आ सकती हो। इसलिए अब तुम चली जाओ।"

बच्चों के यों आग्रह करने पर मां उड़कर चली गई।

थोड़ी देर में बच्चोंवाले पेड़ पर भी आग लग गई; पर बच्चे तनिक भी विचलित न हुए। बेखटके विपत्ति की प्रतीक्षा करते आपस में बात-चीत करते रहे।

देठे ने कहा—"समझदार व्यक्ति आनेवाली विपत्ति को पहले ही ताड़ लेता है और इस कारण विपत्ति आने पर घबराता नहीं।"

छोटे बच्चों ने कहा—"तुम बड़े साहसी और बुद्धिमान् हो। तुम्हारे जैसे धीर विरले ही मिलते हैं।"

फिर सब बच्चे प्रसन्न मुख से अग्नि की स्तुति करने लगे, मानो वेदों का अध्ययन किये हुए ब्राह्मण ब्रह्मचारी हों—"हे अग्निदेवता, हमारी मां चली गई है। पिता को तो हम जानते ही नहीं। जबसे हम अण्डा तोड़कर बाहर निकले थे तभी से पिताजी के दर्शन नहीं हुए। धुएं की ध्वजा फहरानेवाले अग्निदेव! अभी तो हमारे पर भी नहीं उगे हैं। हम अनाथ बच्चों के तुम्हीं रक्षक हो! तुम्हारी ही हम शरण लेते हैं। हमारा कोई नहीं है। हमारी रक्षा करो!"

और आश्चर्य की बात हुई कि पेड़ पर जो आग लगी तो उसने उन बच्चों को छुआ तक नहीं। सारा वन-प्रदेश जलकर राख का ढेर बन

गया पर बच्चों का कुछ न बिगड़ा। उनके प्राण बच गए।

जब आग बुझ गई तो जरिता बड़े उद्विग्न-भाव से पेड़ पर भागी आई। वहां देखती क्या है कि बच्चे कुशलपूर्वक आपस में बातें कर रहे हैं। उसके आश्चर्य और आनन्द का पार न रहा। एक-एक बच्चे को गले लगाया और बार-बार उनको चूमकर प्यार करती रही।

उधर सारंग पंछी व्यथित हृदय से अपनी नई प्रेमिका लपिता के पास बैठा चीत्कार कर रहा था—"मेरे बच्चे अग्नि की भेंट हुए होंगे। हाय, मेरे बच्चे जल गये होंगे!"

इसपर लपिता आग-बबूला हो उठी। बोली—"अच्छा, यह बात है! मैं तो पहले से ही जानती थी कि मेरी बनिस्बत मेरी सौत की और उसके बच्चों की चिंता आपको अधिक है। तुम उसके पास जाना चाहते हो। पर आप ही ने तो कहा था कि जरिता के बच्चों को आग नहीं जला सकती, क्योंकि अग्नि देवता ने वरदान दिया है। तो फिर झूठ-मूठ क्यों चीखते-चिल्लाते हो? साफ-साफ क्यों नहीं बता देते कि मुझे तुमसे घृणा हो गई है? यदि जरिता के पास जाने की इच्छा है तो सच्ची बात बता दो और खुशी से चले जाओ। अविश्वसनीय पति के धोखे में आई हुई कितनी ही अबलाओं की भांति मैं भी दुखिया जंगल में फिरती रहती! जाओ, शौक से चले जाओ।"

"तुम्हारा विचार ठीक है।" सारंग-रूपी मन्दपाल मुनि ने कहा, "सन्तान ही की इच्छा से मैंने पंछी की योनि में जन्म लिया है। मुझे सचमुच ही बच्चों की चिन्ता सता रही है। मैं बस वहां जाकर उनको देखकर जल्दी ही लौट आऊंगा।"

अपनी नई पत्नी को यों समझाकर सारंग-रूपी मन्दपाल अपनी पहली पत्नी जरिता के पास उड़ गए।

जरिता ने अपने पति की तरफ आंख तक उठाकर भी नहीं देखा। अपने बच्चों के बच जाने की खुशी में वह फूली न समा रही थी। कुछ देर बाद पति से बड़ी उदासीनता के साथ पूछा—"कैसे आना हुआ?"

मन्दपाल ने और नजदीक आकर स्नेह से पूछा—"बच्चे कुशल से तो हैं? इनमें बड़ा कौन है?"

जरिता ने कहा—"कोई बड़ा हो या कोई छोटा, आपको इससे मतलब? मुझे निःसहाय छोड़कर जिसके पीछे गए थे, उसीके पास चले जाओ और मौज उड़ाओ।"

मन्दपाल ने कहा—मैंने अक्सर देखा है, बच्चों की मां होने पर कोई भी स्त्री अपने पति की परवाह नहीं करती। यही कारण है कि निर्दोष वसिष्ठ का भी उनकी पत्नी अरुन्धती ने एक बार बड़ा अनादर किया था।"

: १९ :

जरासंध

इन्द्रप्रस्थ में प्रतापी पाण्डव न्यायपूर्वक प्रजा-पालन कर रहे थे। युधिष्ठिर के भाइयों तथा साथियों की इच्छा हुई कि अब राजसूय-यज्ञ करके सम्राट्-पद प्राप्त किया जाय। इससे प्रतीत होता है, साम्राज्य की लालसा उन दिनों भी काफी थी।

इस बारे में सलाह करने के लिए युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को संदेश भेजा। जब श्रीकृष्ण को मालूम हुआ कि युधिष्ठिर उनसे मिलना चाहते हैं तो तत्काल ही वह द्वारका से चल पड़े और इन्द्रप्रस्थ पहुंचे।

युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा—"मित्रों का कहना है कि मैं राजसूय-यज्ञ करके सम्राट्-पद प्राप्त करूं। परन्तु राजसूय-यज्ञ तो वही कर सकता है जो सारे संसार के नरेशों का पूज्य हो और उनके द्वारा सम्मानित हो। आप ही इस विषय में मुझे सही सलाह दे सकते हैं; क्योंकि आप ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जो मुझपर अपने स्नेह के कारण मेरी कमियों पर ध्यान न दें और गुणों ही को बढ़ा-चढ़ाकर बताएं। न ऐसे ही लोगों में से हैं जो स्वार्थ साधने की इच्छा से और इस विचार से कि सुननेवाले को प्रिय लगनेवाली ही सलाह दी जाय, भले ही वह सच्चाई के विरुद्ध हो। मुझे विश्वास है कि आप ऐसा नहीं करेंगे।"

युधिष्ठिर की बात शांति के साथ सुनकर श्रीकृष्ण बोले—"मगध देश के राजा जरासंध ने सब राजाओं को जीतकर उन्हें अपने अधीन

कर रखा है। क्षत्रिय राजाओं पर जरासंध की धाक जमी हुई है। सभी उसका लोहा मान चुके हैं ग्रौर उसके नाम से डरते हैं। यहां तक कि शिशुपाल जैसे शक्ति-सम्पन्न राजा भी उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके हैं और उसकी छत्रछाया में रहना पसन्द करते हैं। अतः जरासंध के रहते हुए ग्रौर कौन सम्राट्-पद प्राप्त कर सकता है? जब महाराजा उग्रसेन के नासमझ लड़के कंस ने जरासंध की बेटी से ब्याह कर लिया था और उसका साथी बन चुका था तब मैंने ग्रौर मेरे बन्धुओं ने जरासंध के विरुद्ध युद्ध किया था। तीन बरस तक हम उसकी सेनाओं के साथ लगातार लड़ते रहे पर आखिर हार गए। जरासंध के भय से हमें मथुरा छोड़कर दूर पश्चिम द्वारका में जाकर नगर और दुर्ग बनाकर रहना पड़ा। आपके साम्राज्याधीश होने में दुर्योधन और कर्ण को आपत्ति न भी हो, फिर भी जरासंध से इसकी आशा रखना बेकार है। बग़ैर युद्ध के जरासंध इस बात को नहीं मान सकता। जरासंध ने आज तक पराजय का नाम तक नहीं जाना। ऐसे अजेय पराक्रमी राजा जरासंध के जीते-जी आप राजसूय-यज्ञ कर नहीं सकेंगे। किसी-न-किसी उपाय से पहले उसका वध करना होगा, उसने जो राजे-महाराजे बन्दीगृह में डाल रक्खे हैं उनको छुड़ाना होगा। जब यह हो जायगा तभी राजसूय-यज्ञ करना ग्रापके लिए साध्य होगा।"

श्रीकृष्ण की ये बातें सुनकर शान्तिप्रिय राजा युधिष्ठिर बोले—"आप का कहना बिल्कुल सही है। मेरे-जैसे और कितने ही राजा हैं जो ग्रपने-अपने राज्य में बड़े प्रतापी माने जाते हैं। जो पद प्राप्त नहीं हो सकता, उसकी इच्छा करना बेकार है। मेरे-जैसे व्यक्ति के लिए यह उचित नहीं कि सम्राट् के सम्मानित पद की आकांक्षा रक्खे। परमात्मा की बनाई हुई यह पृथ्वी काफी विशाल है, धन-धान्य की अटूट खान है। इस विशाल संसार में कितने ही राजाओं के लिए जगह है। कितने ही नरेश ग्रपने-अपने राज्यों का शासन करते हुए इसमें सन्तुष्ट रह सकते हैं। आकांक्षा वह आग है जो कभी बुझती नहीं। इसलिए मेरी भलाई इसी में दीखती है कि साम्राज्याधीश बनने का विचार छोड़ दूं और जो कुछ ईश्वर ने दिया है, उसी को लेकर सन्तुष्ट रहूं। भीमसेन आदि बन्धु तो चाहते हैं

कि मैं सम्राट् बन जाऊं; परन्तु जब पराक्रमी जरासंध से स्वयं आप इतने डरे हुए हैं तो फिर हमारी हस्ती ही क्या है?"

धर्मराज युधिष्ठिर की यह विनयशीलता भीमसेन को अच्छी न लगी। उसने कहा—"प्रयत्नशीलता राजा लोगों का खास गुण मानी जाती है। जो अपनी शक्ति को आप ही नहीं जानते, उनके पौरुष को धिक्कार है। हाथ-पर हाथ धर कर बैठे रहना मुझे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता। जो सुस्ती को झाड़ दे ग्रौर राजनीतिक चालों को कुशलता से काम में लाये वह अपने से अधिक ताकतवर को राजा को भी हरा सकता है। युक्ति के साथ प्रयत्न करते रहने से जीत अवश्य प्राप्त होगी। श्रीकृष्ण की नीति-कुशलता, मेरा शारीरिक बल और अर्जुन का शौर्य एक साथ मिल जाने पर कौन-सा ऐसा काम है जो हम नहीं कर सकते? यदि हम तीनों एक साथ चल पड़ें तो जरासंध की शक्ति को चूर करके लौटेंगे। आप इस बात की शंका न करें।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—"इसमें शक नहीं कि अत्याचारी जरासंध को मारना ही ठीक होगा। उसने बिना किसी अपराध के अनेक राजाग्रों को जेलखाने में डाल रखा है। उसका यह भी इरादा मालूम होता है कि जब पूरे एक सौ राजा पकड़े जा चुकेंगे तो बलि-पशुओं के स्थान पर उन राजाओं को वध करके यज्ञ का अनुष्ठान करेगा। ऐसे ग्रत्याचारी को मारना ही न्यायोचित है। यदि भीम और अर्जुन सहमत हों तो हम तीनों एक साथ जाकर उस ग्रन्यायी का वध करके जेल में पड़े हुए निर्दोष राजाग्रों को छुड़ा सकेंगे। यह बात मुझे पसन्द है।"

परन्तु युधिष्ठिर को यह बात न जंची। उन्होंने कहा—"मुझे भय है कि साम्राज्याधीश बनने के फेर में पकड़कर अपनी आंखों के तारे जैसे भीमसेन और अर्जुन को कहीं गंवा न बैठूं। जिस कार्य में उनके प्राणों पर बन आने की संभावना है उनके लिए उन्हें भेजने को मेरा मन नहीं मानता। मैं तो कहूंगा कि इस विचार को छोड़ देना ही अच्छा होगा।"

यह सुनकर वीर अर्जुन बोल उठा—"यदि हम यशस्वी भरतवंश की सन्तान होकर भी कोई साहस का काम न करें और साधारण लोगों की भांति जीवन व्यतीत करके संसार से कूंच कर जायं, तो धिक्कार है हमें

ग्रौर हमारे जीवन को ! हजार गुणों से विभूषित होने पर भी जो क्षत्रिय प्रयत्नशील नहीं होता, पराक्रमी नहीं होता और किसी काम को करने से हिचकिचाता रहता है, कीर्ति उससे मुंह मोड़कर चली जाती है। जीत उसकी होती है जो उत्साही हो। जो काम करने योग्य है, उसमें जी-जान से जो लग जाता है, उसी की जय होती है। सब साधनों के होने पर भी जिसमें जोश न हो, हौसला न हो, संभव है उसे हार खानी पड़े। अक्सर वे ही लोग हार खाते हैं जो ग्रपनी शक्ति को ग्राप नहीं जानते और जिनमें उत्साह और प्रयत्नशीलता का अभाव होता है। जिस काम को करने की हमें सामर्थ्य है, भाई युधिष्ठिर क्यों समझते हैं कि उसे हम न कर सकेंगे ?

"अभी हम उस अवस्था में थोड़े ही पहुंचे हैं जो गेरुआ वस्त्र पहनकर जंगल में चले जायं और निःस्पृहता का व्रत रखें ? अभी तो अपने कुल और जाति की परम्परा के अनुरूप हमारे लिए यही उचित होगा कि हम क्षत्रियोचित साहस से काम लें।"

श्रीकृष्ण अर्जुन की इन बातों से मुग्ध हो गए। बोले—"धन्य हो अर्जुन ! भरतवंश के वीर और कुन्ती के लाल अर्जुन से मुझे यही आशा थी। मृत्यु से डरना नासमझी की बात है। एक-न-एक दिन सबको मरना ही है। लड़ाई न करने से भी मौत से आज तक कोई भी नहीं बच सका है। नीतिशास्त्रों का कहना है कि ठीक-ठीक युक्ति से काम लेकर दूसरों को बस में कर लेना और विजय प्राप्त कर लेना ही क्षत्रियोचित धर्म है।"

अन्त में सब इसी निश्चय पर पहुंचे कि जरासंध का वध करना आवश्यक ही नहीं, बल्कि कर्त्तव्य है। धर्मात्मा युधिष्ठिर ने भी इस बात को मान लिया ग्रौर भाइयों को इसके लिए अनुमति भी दे दी।

उपर्युक्त संवाद इस बात का सबूत है कि पुराने समय में भी आजकल के समान ही राज-नेता लोग तर्क और बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही किसी प्रश्न के बारे में निर्णय किया करते थे।

: २० :

जरासंध-वध

मगध देश का राजा बृहद्रथ अपनी शूरता के लिए बड़ा विख्यात था। उसके अधीन तीन अक्षौहणी सेना थी। उचित समय पर यशस्वी राजा बृहद्रथ ने काशिराज की जुड़वां बेटियों से ब्याह किया। राजा बृहद्रथ ने अपनी पत्नियों को वचन दिया था कि वह दोनों में से किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं करेगा।

विवाह के बहुत दिन बीत जाने पर भी राजा बृहद्रथ के कोई संतान नहीं हुई। वृद्धावस्था आ जाने और सन्तान की ओर से निराश हो जाने पर राजा बृहद्रथ अपने मन्त्रियों के हाथ में राज्य का कार्यभार सौंपकर अपनी दोनों पत्नियों को लेकर वन में तपस्या करने चले गए।

एक दिन वन में महर्षि गौतम के वंशज चण्डकौशिक मुनि से उनकी भेंट हुई। राजा बृहद्रथ ने मुनिवर का विधिवत् आदर-सत्कार किया और उनको ग्रपनी व्यथा सुनाई। मुनि चण्डकौशिक को राजा के हाल पर दया आई। उन्होंने राजा से पूछा—"आप मुझसे क्या चाहते हैं ?"

बृहद्रथ ने करुण स्वर में कहा—"मुनिवर ! मैं बड़ा ही अभागा हूं। पुत्र-भाग से वंचित हूं। राज्य छोड़कर वन में तपस्या करने आया हूं। इस हालत में मैं आपसे और क्या मांग सकता हूं ?"

राजा की बातों से चण्डकौशिक का मन पिघल गया। वह उसी क्षण एक आम के पेड़ के नीचे आसन जमाकर बैठ गए और ध्यान में लीन हो गए। इतने में एक पका हुआ आम उनकी गोद में गिरा। महर्षि ने उसे लेकर राजा को देते हुए कहा—"राजन् ! यह लो, इससे तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा।"

राजा ने उस फल के दो टुकड़े किये और दोनों पत्नियों को एक-एक टुकड़ा खिला दिया। फल खाने के बाद दोनों पत्नियों के गर्भ रह गया। राजा बृहद्रथ बड़े प्रमुदित हुए। राजा-महिषियां तो आनन्द के मारे फूली न समाईं। पर जब बच्चे पैदा हुए तो रानियों पर वज्र गिरा, क्योंकि वे

बच्चे पूरे नहीं थे, बल्कि आधे थे; एक-एक बच्चे के केवल एक हाथ, एक पैर, एक आंख, एक कान तथा मुंह का आधा हिस्सा ही था। उनको देखने पर मन में एक साथ भय और घृणा होती थी; परन्तु दोनों टुकड़ों में जान थी और वे हरकत भी करते थे।

इन मनहूस मांस के पिण्डों को देखकर रानियां बड़ी ही व्याकुल हो उठीं और दाइयों को आज्ञा दी कि इन टुकड़ों को कपड़ों में लपेट कर कहीं दूर फेंक आयें। आज्ञा पाकर दाइयां उन टुकड़ों को उठाकर कूड़े-करकट के ढेर पर फेंक आईं।

इतने में नर-मांस खानेवाली एक राक्षसी मांस की तलाश में भटकती हुई उसी जगह आ पहुंची जहां बच्चों के वे टुकड़े थे। टुकड़े देखे तो राक्षसी ने उनको खाने के लिए एक साथ हाथ में उठाया। उसका उठाना था कि दोनों टुकड़े आपस में जुड़ गये और एक सुन्दर बच्चा बन गए। राक्षसी ने जब यह चमत्कार देखा तो सोचा कि इस बच्चे को मारना ठीक न होगा। यह सोचकर वह एक सुन्दर युवती के रूप में राजा बृहद्रथ के पास गई और बच्चा उसे दिया। कहा—"यह आप ही का बच्चा है।"

बच्चा पाकर बृहद्रथ के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने रनवास में जाकर रानियों के हाथ में बच्चा दे दिया और राज्यभर में पुत्र-प्राप्ति के उपलक्ष्य में बड़ा आनन्द मनाया।

जरासंध के जन्म की यह कथा है। मुनि चण्डकौशिक के वरदान के कारण जरासंध शरीर का इतना हट्टा-कट्टा और बली हुआ कि कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। फिर एक कमी यह थी कि चूंकि उसका शरीर दो अलग-अलग टुकड़ों के जुड़ने से एक हुआ था, इसलिए दो हिस्सों में बंटभी सकता था।

इस मनोरंजक कथा में यह सत्य छिपा हुआ है कि दो जुदे-जुदे भाग अगर आपस में जुड़ जायं तो भी कमजोर रहते हैं। उनके फट जाने की आशंका बनी रहती है।

जब जरासंध के साथ युद्ध करने और उसका वध करने का निश्चय हो गया तो श्रीकृष्ण बोले—"हंस, हिडिंबक, कंस तथा दूसरे सहायकों के खतम हो जाने के कारण अब जरासंध अकेला पड़ गया है। उसे

मारने का यही अच्छा मौका है। पर सेना लेकर उसपर हमला करना बेकार है। उसे तो द्वन्द्व-युद्ध में—कुश्ती लड़कर—ही मारना ठीक होगा।"

उन दिनों यह रिवाज था कि किसी क्षत्रिय को यदि कोई द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारता तो उसे उसकी वह चुनौती स्वीकार करनी पड़ती थी—फिर वह चाहे शस्त्र-युद्ध हो या कुश्ती। इसी रिवाज का लाभ उठाकर श्रीकृष्ण और पाण्डवों ने अपनी योजना बनाई।

श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन ने वल्कल पहन लिये, हाथ में कुशा ले ली और व्रती लोगों का-सा वेष धारण करके मगध देश के लिए रवाना हो गए। राह में सुन्दर नगरों तथा गांवों को पार करते हुए वे तीनों जरासंध की राजधानी में पहुंचे।

जरासंध को इधर कई अपशकुन हुए थे। इससे उसका मन बड़ा परेशान रहता था। पुरोहितों ने उसकी शान्ति कराई और उसके लिए उसने भी व्रत आदि रक्खे थे। ऐसे ही समय श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन राज-भवन में दाखिल हुए। वे निःशस्त्र थे और वल्कल पहने हुए थे। जरासंध ने कुलीन अतिथि समझकर उनका बड़े आदर के साथ स्वागत किया।

जरासंध के स्वागत का भीम और अर्जुन ने कोई जवाब नहीं दिया। वे दोनों मौन रहे। इस पर श्रीकृष्ण बोले—"मेरे दोनों साथियों ने मौन-व्रत लिया हुआ है, इस कारण अभी नहीं बोलेंगे। आधी रात के बाद व्रत खुलने पर बातचीत करेंगे।"

जरासंध ने इस बात पर विश्वास कर लिया और तीनों मेहमानों को यज्ञशाला में ठहराकर महल में चला गया।

कोई ब्राह्मण अतिथि जरासंध के यहां आता तो उसकी इच्छा तथा सुविधा के अनुसार बातें करना व उसका सत्कार करना जरासंध का नियम था। इसके अनुसार आधी रात के बाद जरासंध अतिथियों से मिलने गया, लेकिन अतिथियों के रंग-ढंग देखकर मगध-नरेश के मन में कुछ शंका हुई। सोचा कि दाल में कुछ काला अवश्य है। जरा गौर से देखने पर जरासंध ने ब्राह्मण अतिथियों के हाथों पर ऐसा चिह्न देखा

जो धनुष की डोरी द्वारा रगड़ खाने से पड़ जाता है। दूसरे चिह्नों से भी उसे पता चल गया कि ये ब्राह्मण नहीं हैं।

राजा जरासंध ने कड़ककर पूछा—"सच-सच बताओ, तुम लोग कौन हो ? ब्राह्मण तो नहीं दिखाई देते।"

इसपर तीनों ने सही हाल बता दिया और कहा—"हम तुम्हारे शत्रु हैं। तुमसे अभी द्वन्द्व-युद्ध करना चाहते हैं। हम तीनों में से किसी एक से, जिससे तुम्हारी इच्छा हो, लड़ सकते हो। हम सभी इसके लिए तैयार हैं।"

जरासंध को एकाएक यह सुनकर कुछ आश्चर्य तो हुआ; पर अपने भाव को दबाकर बोला—"तो यह बात है ! खैर, कोई हर्ज भी नहीं है। पर कृष्ण, तुम तो क्षत्रिय नहीं हो, ग्वाले हो और यह अर्जुन अभी बालक है; इसलिए तुम दोनों से तो मैं लड़ूंगा नहीं। हां, भीमसेन के बल की बड़ी प्रशंसा सुनी है, सो उसी के साथ लड़ना चाहूंगा।" यह कहकर जरासंध द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार हो गया।

भीमसेन को निःशस्त्र देखकर जरासंध ने भी शस्त्र फेंक दिए और मल्ल-युद्ध के लिए उसे ललकारा !

भीमसेन और जरासंध में कुश्ती शुरू हो गई। दोनों वीर एक दूसरे को पकड़ते, मारते और उठाते हुए लड़ने लगे। इस प्रकार पल पर भी विश्राम किये बगैर वे तेरह दिन और तेरह रात लगातार लड़ते रहे। चौदहवें दिन जरासंध थका और जरा देर को रुका। पर ठीक मौका देखकर श्रीकृष्ण ने भीम को इशारे से समझाया और भीमसेन ने फौरन जरासंध को उठाकर ऐसे जोर से चारों ओर घुमाया, जैसे चतुर लठैत लाठी को घुमाता है। फिर उसे जमीन पर जोर से पटक दिया और फुर्ती से उसके दोनों पैर पकड़कर उसके शरीर को चीरकर फेंक दिया। जरासंध को मरा देख विजय के गर्व में भीमसेन शेर की भांति गरज उठा; किन्तु पलक मारते जरासंध के चिरे हुए शरीर के टुकड़े आपस में फिर जुड़ गए और जरासंध उठकर क्रोधोन्मत्त हो भीमसेन से भिड़ गया।

यह देखकर भीमसेन निराश होकर सोच में पड़ गया कि ऐसे शत्रु का वध कैसे किया जाय ? श्रीकृष्ण ने भीमसेन को पस्त होते देखा।

कुछ सोचकर उन्होंने एक घास का तिनका उठाया। और बीच में से चीरकर बायें हाथ से दाहिने हाथ की ओर और दाहिने हाथ से बायें हाथ की ओर फेंक दिया। भीमसेन ने इशारे को समझ लिया और मौका पाते ही उसने दुबारा जरासंध का शरीर चीर डाला और दोनों हिस्सों को दायां-बायां करके फेंक दिया।

अबकी बार ये टुकड़े जुड़ नहीं सके और जहां-के-तहां निर्जीव पड़े रह गए। इस प्रकार अजेय जरासंध का अन्त हो गया।

श्रीकृष्ण और दोनों पाण्डवों ने उन सब राजाओं को छुड़ा दिया जिनको जरासंध ने अपने बन्दीगृह में डाल रक्खा था और जरासंध के पुत्र सहदेव को मगध की राजगद्दी पर बिठाकर इन्द्रप्रस्थ लौट आए।

इसके बाद पाण्डवों ने विजय-यात्रा की और सारे देश को महाराजा युधिष्ठिर की अधीनता में ले आये।

: २१ :

अग्रपूजा

किसी सभा की कार्रवाई पसन्द न आने पर अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए सभा से कुछ लोगों के इकट्ठे उठकर चले जाने की प्रथा प्रजा-सत्तावाद की कोई नई उपज नहीं है, बल्कि वह मुद्दत से चली आ रही है। 'वाक-आउट' की यह प्रथा हमारे देश में पुराने जमाने से प्रचलित थी। इसका सबूत महाभारत में मिलता है।

जिस समय पाण्डवों ने राजसूय-यज्ञ किया था, भारतवर्ष में छोटे-बड़े राजाओं की संख्या काफी थी। सारे भारत के राजा तथा प्रजा के लोग एक ही धर्म के अनुयायी थे; एक-जैसी ही उन सबकी संस्कृति थी। कोई राजा किसी दूसरे राजा के राज्य या सत्ता पर प्रायः आक्रमण नहीं करता था। हां, कभी-कभी कोई शक्तिशाली और साहसी राजा सारे देश के नरेशों के पास अपना प्रतिनिधि भेज देता और राजाधिराज बनने (सम्राट् की उपाधि धारण करने) के लिए उनकी स्वीकृति प्राप्त करता। यह 'दिग्विजय' अक्सर बगैर किसी लड़ाई-झगड़े के पूर्ण हो जाया

करती। जिस राजा को सम्राट् बनना होता वह राजसूय नाम का महा-यज्ञ करता। इस यज्ञ में सभी राजा सम्मिलित होते और सम्राट् की सत्ता मानने की रस्म अदा करके अपने-अपने राज्य को लौट जाते। इसी प्रथा के अनुसार, जरासंध के वध के बाद पाण्डवों ने राजसूय-यज्ञ किया। इसमें भारत-भर के राजा आये हुए थे।

जब अभ्यागत नरेशों का आदर-सत्कार करने की बारी आई तो प्रश्न उठा कि अग्रपूजा किसकी हो? सम्राट् युधिष्ठिर ने इस बारे में पितामह भीष्म से सलाह ली। वृद्ध भीष्म ने कहा कि द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की पूजा पहले की जाय।

युधिष्ठिर को भी यह बात पसन्द आई। उन्होंने छोटे भाई सहदेव को आज्ञा दी कि वह भगवान श्रीकृष्ण का पूजन करे। सहदेव ने विधि-वत् श्रीकृष्ण की पूजा की और गाय, अर्घ्य, मधुपर्क आदि उन्हें भेंट किये।

वासुदेव का इस प्रकार गौरवान्वित होना चेदि-नरेश शिशुपाल को अच्छा न लगा। वह एकाएक उठ खड़ा हुआ और ठहाका मारकर हंस पड़ा। सारी सभा की दृष्टि जब शिशुपाल की ओर गई तो वह ऊंचे स्वर में व्यंग-भाव से बोलने लगा—

"यह अन्याय की बात है कि एक मामूली से व्यक्ति को इस प्रकार गौरवान्वित किया जाता है। किन्तु इसमें आश्चर्य की भी बात क्या है? यहां के लोगों की बातें ही उल्टी होती हैं। जिसने सलाह मांगी उसका जन्म भी तो उल्टी रीति से ही हुआ था और जिसने सलाह दी, वह भी नीचे की ओर जानेवाली का ही बेटा है!

"फिर जिसने आज्ञा मानकर पूजा की, उसके पिता का भी तो पता नहीं है! ये हुए सत्कार करनेवाले! और जिसने इनकी पूजा स्वीकार की, उस गाय चरानेवालों के घर में पले अनाड़ी की कहानी किससे छिपी है? इस उल्टी कार्रवाई को जो सभासद् चुपचाप देख रहे हैं, मैं तो कहूंगा, वे गूंगे हैं। उनका इस सभा में बैठे रहना अपनी सज्जनता पर बट्टा लगाना है।"

शिशुपाल की इस तीखी वक्तृता से कुछ सभासद् प्रभावित हुए और शिशुपाल के साथ-साथ वे भी हंस पड़े। इससे उसका उत्साह बढ़

गया और वह युधिष्ठिर को लक्ष्य करके बोलने लगा—

"साम्राज्याधीश बनने की आकांक्षा रखनेवाले युधिष्ठिर! सभा में इतने बड़े-बड़े राजाओं के होते हुए तुमने इस ग्वाले की अग्रपूजा कैसे की? किसी को उचित गौरव न देना जितना बड़ा कसूर है, किसी को उसकी योग्यता से अधिक गौरव देना भी उतना ही भारी अपराध है। नीतिशास्त्र में निपुण होकर भी इतनी छोटी-सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आई?"

युधिष्ठिर को चुप देखकर शिशुपाल का जोश और भी बढ़ गया। वह बोलता गया—

"इस सभा में कितने ही बड़े-बड़े व्यक्ति उपस्थित हैं। कितने ही प्रतापी राजा विराजमान हैं। इन सबका अनादर करके एक गंवार ग्वाले को, जिसे राज-कुल की हवा तक नहीं लगी है, राजोचित गौरव देते हुए तुम्हें शर्म नहीं आई? कृष्ण कहां का राजा है? कृष्ण के राजा न होने की बात मैं इस आधार पर कह रहा हूं कि इसके पिता वसुदेव, राजा उग्रसेन के मंत्री हैं, स्वयं राजा नहीं हैं। कहीं मंत्री का बेटा भी राजाओं में शामिल किया जाता है? यदि तुमको देवकी के बेटे का पक्षपात करना था तो उसके लिए और कोई अवसर ढूंढ़ लेते। तुमने तो ऐसा करके महाराजा पाण्डु के नाम को बट्टा लगा दिया! राजसभा-संचालन का ढंग तक तुम नहीं जानते। तुम तो अभी बच्चे हो! पर इस बूढ़े भीष्म ने तुम लोगों को कुमंत्रणा देकर तुमसे भारी अपराध करवा दिया और फिर कम-से-कम उमर का भी तो खयाल करते! तुम्हें मालूम है कि इनके पिता वसुदेव भी तो यहीं, इसी सभा में मौजूद हैं। पिता के होते हुए बेटे को इस बात का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है कि वह पूजा ग्रहण करे? तुम्हारे आचार्य द्रोण भी यहां सभा में विराजमान हैं। तुमने कहीं यह तो नहीं समझ लिया कि कृष्ण यज्ञ-क्रिया में निपुण है? तो भगवान व्यास भी तो यहां उपस्थित हैं, जो यज्ञ करानेवाले महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ हैं! उनके रहते इस ग्वाले की पूजा तुमने कैसे की? और यदि तुम यह पूजा अपने ही वंश के पितामह भीष्म की करते तो भी कोई अनुचित बात न होती। तुमने वह भी तो नहीं किया।

"तुम्हारे कुल-गुरु कृपाचार्य भी यहां विराजमान हैं; उनका अनादर

करके तुमने एक चरवाहे की पूजा क्या समझकर की होगी ? फिर अपने ब्रह्मतेज से सारी सभा को प्रकाशित करनेवाले वीर अश्वत्थामा यहां उपस्थित हैं। सभी शास्त्रों के पण्डित रण-कुशल अश्वत्थामा की परवाह न करके तुमने अग्रपूजा के लिए इस कायर कृष्ण को कैसे चुन लिया ?

"ये राजाधिराज दुर्योधन भी तो विद्यमान हैं। फिर परशुराम के शिष्य कर्ण, जिन्होंने महावीर जरासंध से अकेले लड़कर विजय पाई थी, यहां विराजमान हैं। इन सब नरवीरों का अनादर करके एक ग्वाले को इस भारी सभा का अग्रज चुनने तुम्हें साहस कैसे हुआ ? केवल पक्षपात के कारण ही तुमने इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया, और एक ऐसे आदमी की पूजा की जो न तो वयोवृद्ध है, न किसी देश का राजा है और न यज्ञ-विधि ही जानता है। अपने इस कार्य से तुमने यहां उपस्थित महापुरुषों एवं महाराजाओं का भारी अपमान किया है। क्या हम सबका इस प्रकार अनादर करने के ही लिए तुमने यह सब आयोजन किया है ?"

युधिष्ठिर को यों आड़े हाथों लेने के बाद शिशुपाल सभा में उपस्थित राजाओं को देखकर बोला—

"उपस्थित राजागण ! हम युधिष्ठिर को राजाधिराज मानने को तैयार हुए हैं; पर इसका यह मतलब नहीं कि हम उनकी कृपादृष्टि के अभिलाषी हैं। यह बात भी नहीं कि हम उनकी शक्ति से डरकर यहां इकट्ठे हुए हैं। युधिष्ठिर ने घोषणा की थी कि न्याय की दृष्टि से वह राज करेंगे। हमने इस बात पर विश्वास किया और उन्हें धर्मात्मा समझकर गौरवान्वित किता; परन्तु अब, जब उन्होंने हमारे देखते-ही-देखते हमारा अपमान किया है तो वह धर्मात्मा की उपाधि के योग्य कैसे रहे ? जिस दुरात्मा ने कुचक्र रचकर वीर जरासंध को मरवा डाला उसी पापी की युधिष्ठिर ने अग्रपूजा की। इसके बाद उसे हम धर्मात्मा कैसे कह सकते हैं ? उनमें हमारा विश्वास नहीं रहा।"

इसके बाद शिशुपाल श्रीकृष्ण की तरफ देखकर बोला—"कृष्ण, अगर पाण्डव स्वार्थ-प्रेरित होकर नियम के विरुद्ध तुम्हारी अग्रपूजा करने को प्रस्तुत हुए तो तुम्हारी बुद्धि पर क्या पत्थर पड़ गए, थे जो तुमने

यह अनुचित पूजा स्वीकार कर ली। देवों के हिस्से का हविष्यान्न कहीं नीचे गिर जाय तो कुत्ता जैसे चोरी से उसे खा जाता है वैसे ही तुमने भी यह गौरव स्वीकार कर लिया है। इसके लिए तुम सर्वथा अयोग्य हो। कृष्ण ! तुम भी कैसे अनाड़ी हो जो इतना भी नहीं समझते कि यह तुम्हारी इज्जत नहीं हो रही, बल्कि तुम्हारी हंसी उड़ाई जा रही है ! शायद तुम्हें यह घमण्ड हो रहा होगा कि तुम्हें बड़ा गौरव प्राप्त हो गया है, लेकिन मैं तुम्हें बताता हूं कि पाण्डव तुम्हें जान-बूझकर बुद्धू बना रहे हैं। जैसे अन्धे को सुन्दर वस्तुएं दिखाई जायं या किसी हिजड़े को तरुणी ब्याह दी जाय, वैसे ही केवल तुम्हारा उपहास करने के लिए किसी राज्य के अधीश न होने पर भी तुम्हारा यह राजोचित सत्कार किया जा रहा है। क्या तुम इतना भी नहीं समझ पाते हो ?"

इस तरह शब्द-बाणों की बौछार कर चुकने के बाद शिशुपाल दूसरे कुछ राजाओं को साथ लेकर सभा से निकल गया।

राजाधिराज युधिष्ठिर नाराज हुए राजाओं के पीछे दौड़े गए और मीठी-मीठी बातों से उन्हें समझाने लगे। महाभारत के इस प्रसंग से पता चलता है कि उन दिनों भी सभा-समाजों में आजकल के-से तौर-तरीके काम में लाये जाते थे।

युधिष्ठिर के बहुत समझाने पर भी शिशुपाल न माना। उसका हठ और घमण्ड बढ़ता गया। अन्त में शिशुपाल और श्रीकृष्ण में युद्ध छिड़ गया जिसमें शिशुपाल मारा गया। राजसूय-यज्ञ संपूर्ण हुआ और राजा युधिष्ठिर को राजाधिराज की पदवी प्राप्त हो गई।

: २२ :
शकुनि का प्रवेश

राजसूय-यज्ञ के समाप्त होने पर आगन्तुक राजा तथा बड़े लोग युधिष्ठिर से विदा लेकर चलने लगे। जब भगवान् व्यास विदा लेने आये तो धर्मात्मा युधिष्ठिर ने उनका विधिवत् सत्कार किया। भगवान व्यास विदा मांगते हुए बोले—

"कुन्तीपुत्र ! साम्राज्याधीश का अलभ्य पद तुम्हें प्राप्त हो गया है। सारे कुरुवंश को तुमने गौरवान्वित कर दिया है । मुझे अब विदा दो।"

अपने वंश के पितामह एवं आचार्य व्यास के चरण छूकर युधिष्ठिर ने पूछा—"आचार्य ! मेरा मन कुशंकाओं से भरा हुआ है; आप ही उन्हें दूर कर सकते हैं । भविष्यद्रष्टा ब्राह्मण कहते हैं कि अनिष्ट की सूचना देनेवाले कुछ भयंकर उत्पात देखने में आये हैं । शिशुपाल के वध के साथ वे समाप्त हो जाते हैं या उनकी शुरूआत होती है ?"

युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए व्यासजी बोले—

"वत्स ! तुमको तेरह बरस तक और बड़े कष्ट झेलने होंगे । ये जो उत्पात देखने में आ रहे हैं वे क्षत्रिय-कुल के नाश की ही सूचना दे रहे हैं । शिशुपाल के वध के साथ इन कष्टों का अन्त नहीं हुआ । अभी तो और भी कितनी ही भारी-भारी दुर्घटनाएं होने को हैं । सैकड़ों राजा लोग मारे जायंगे और इस भारी विपदा के तुम्हीं कारण बनोगे । तुम पांचों भाइयों और कौरवों के बीच वैर बढ़ेगा, जिसके कारण एक भारी युद्ध छिड़ेगा । इस युद्ध में सारे क्षत्रिय-कुल का सत्यानाश तक होने की संभावना है । किन्तु तुम इन बातों से उदास या चिन्तित न होना । धीरज धरना; क्योंकि यह कालचक्र का फेर है जिसे कोई टाल नहीं सकता । अपनी पांचों इन्द्रियों पर काबू रखना और सावधानी के साथ स्थिर रहते हुए राज करना । अच्छा, अब मुझे विदा दो ।" यह कहकर भगवान् व्यास विदा हुए ।

भगवान् व्यास के चले जाने के बाद सम्राट् युधिष्ठिर के मन में उदासी छा गई । उन्होंने भाइयों को सारा हाल कह सुनाया और बोले—"भाइयो ! व्यासजी की बातों से मुझे जीवन से विराग हो रहा है । व्यासजी कह गये हैं कि मेरे कारण ही क्षत्रिय राजाओं का नाश होगा । यह जानने के बाद अब मेरे जीने से फायदा ही क्या है ?"

यह सुनकर अर्जुन बोला—"राजा होकर आपको शोभा नहीं देता कि इस तरह घबरा जायं । हर बात की छानबीन करके, जिस समय जो उचित जान पड़े, वही करना आपका कर्त्तव्य है ।"

युधिष्ठिर ने कहा—"भाइयो ! परमात्मा हमारी रक्षा करे ! युद्ध की संभावना ही मिटा देने के उद्देश्य से मैं शपथ लेता हूं कि आज से तेरह बरस तक मैं अपने भाइयों या किसी और बन्धु को बुरा-भला नहीं कहूंगा । सदा अपने भाई-बन्धुओं की इच्छा पर ही चलूंगा । ऐसा कुछ नहीं करूंगा जिससे आपस में मनमुटाव होने का डर हो; क्योंकि मनमुटाव ही के कारण झगड़े होते हैं ।

"क्रोध भी लड़ाई-झगड़ों का मूल कारण होता है । इसलिए मन से क्रोध को एकबारगी निकाल दूंगा । दुर्योधन और दूसरे कौरवों की बात कभी न टालूंगा । हमेशा उनकी इच्छानुसार काम करूंगा । जैसे व्यासजी ने सावधान किया है, क्रोध को कभी अपने ऊपर हावी न होने दूंगा ।"

युधिष्ठिर की बातें उनके भाइयों को भी ठीक लगीं । वे भी इसी निश्चय पर पहुंचे कि झगड़े-फसाद का हमें कारण नहीं बनना चाहिए ।

इस मनोभूमिका में जब चौपड़ के खेल के लिए धृतराष्ट्र ने बुलावा भेजा था तो युधिष्ठिर ने उसे मान लिया था । युधिष्ठिर ने तो यह शपथ इसलिए ली थी कि झगड़ा होने की संभावना ही दूर हो जाय । पर उनकी वही प्रतिज्ञा आखिर झगड़े का कारण बन गई । बुलावा न मानने से कहीं झगड़ा न हो जाय, इस भय से युधिष्ठिर चौपड़ खेले, किन्तु उसी पांसे के खेल के कारण आपसी मनमुटाव की आग लग गई जो अन्त में भयंकर युद्ध के रूप में परिणत हो गई, जिसने सारे क्षत्रिय-कुलों को भस्मसात् कर डाला ।

युधिष्ठिर की यह प्रतिज्ञा इस बात का सुप्रसिद्ध उदाहरण है कि मनुष्य के मन्सूबे, उसके उपाय तथा प्रयत्न होनी के आगे किसी काम के नहीं होते । होनी होकर रहती है और मनुष्य के प्रयत्नों का उल्टा ही नतीजा निकलता है ।

उधर युधिष्ठिर चिन्तित हो रहे थे कि कहीं कोई लड़ाई-झगड़ा न हो और इधर रायसूय-यज्ञ का ठाट-बाट तथा पाण्डवों की यश-समृद्धि का स्मरण ही दुर्योधन के मन को खाये जा रहा था । वह ईर्ष्या की जलन से बेचैन हो रहा था । युधिष्ठिर के सभा-मण्डप की कुशल कारीगरी ऐसी थी कि दुर्योधन देखकर मुग्ध हो गया । किवाड़ स्फटिक के बने हुए

थे, इसलिए दुर्योधन को उनके न होने का भ्रम हो जाता था। राजसूय-यज्ञ के समय देश-विदेश के राजा-महाराजाओं ने मण्डप में वह ऐश्वर्य ला उपस्थित किया, जो दुर्योधन ने कभी देखा न था। दुर्योधन ने यह भी देखा कि कितने ही देशों के राजा पांडवों के परम मित्र बने हैं। इस सबके स्मरण-मात्र से उसका दुःख और भी असह्य हो उठा। लंबी सांसें लेकर वह रह जाता। पांडवों के सौभाग्य की याद करके उसकी जलन बढ़ने लगती। अपने महल के कोने में इसी भांति चिन्तित और उदास वह एक रोज खड़ा था कि उसे यह भी पता न लगा कि उसके बगल में उसका मामा शकुनि आ खड़ा हुआ है।

"बेटा! यों चिन्तित और उदास क्यों खड़े हो? कौन-सा दुःख तुमको सता रहा है?" शकुनि ने पूछा।

दुर्योधन लम्बी सांस लेते हुए बोला—"मामा, चारों भाइयों समेत युधिष्ठिर देवराज इन्द्र के समान ठाट-बाट से राज कर रहा है। इतने राजाओं के बीच शिशुपाल की हत्या हुई, फिर भी इकट्ठे राजाओं में किसी की हिम्मत न पड़ी कि उसका विरोध करे। भय के कारण कांपते हुए सब-के-सब बैठे देखते रहे। क्षत्रिय राजाओं ने अपार धन और संपत्ति युधिष्ठिर के चरणों में सिर झुकाकर भेंट की। यह सब इन आंखों से देखने पर भी मैं कैसे शोक न करूं? मेरा तो अब जीना ही व्यर्थ मालूम होता है!"

शकुनि दुर्योधन को सांत्वना देता हुआ बोला—"बेटा दुर्योधन! इस तरह मन छोटा क्यों करते हो। आखिर पांडव तुम्हारे भाई ही तो हैं! उनके सौभाग्य पर तुम्हें जलन न होनी चाहिए। न्यायपूर्वक जो राज्य उनको प्राप्त हुआ, उसी का तो उपभोग वे कर रहे हैं। उनके भाग्य अच्छे हैं, इसी से उनको यह ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। पाण्डवों ने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं। जिस पर उनका अधिकार था, वही उन्हें मिला है। अपनी शक्ति से प्रयत्न करके यदि उन्होंने अपना राज्य तथा सत्ता बढ़ा ली है तो तुम जी छोटा क्यों करते हो? और फिर पाण्डवों की शक्ति और सौभाग्य से तुम्हारा बिगड़ता क्या है? तुम्हें कमी किस बात की है? तुम्हारे भाई-बन्धु तुम्हारा कहा मानते हैं। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कर्ण-जैसे महावीर तुम्हारे पक्ष में हैं। यही नहीं, बल्कि मैं, भीष्म, कृपाचार्य, जयद्रथ, सोमदत्त हम सब तुम्हारे साथ हैं। इन साथियों की सहायता से तुम सारे संसार पर विजय पा सकते हो। फिर दुःख क्यों करते हो?"

यह सुन दुर्योधन बोला—"जब ऐसी बात है, तो मामाजी, हम इन्द्रप्रस्थ पर चढ़ाई ही क्यों न कर दें? क्यों न पांडवों को वहां से मार भगावें?"

"युद्ध की तो बात ही न करो। वह खतरनाक काम है। तुम पांडवों पर विजय पाना चाहते हो तो युद्ध के बजाय चतुराई से काम लो। मैं तुमको ऐसा उपाय बता सकता हूं कि जिससे बगैर लड़ाई के ही युधिष्ठिर पर सहज में विजय पाई जा सके।" शकुनि ने कहा।

दुर्योधन की आंखें आशा से चमक उठीं। बड़ी उत्सुकता के साथ पूछा—"मामाजी! आप सच कह रहे हैं? क्या बगैर लड़ाई के पांडवों को जीता जा सकता है? आप ऐसा उपाय जानते हैं?"

शकुनि ने कहा—"दुर्योधन, युधिष्ठिर को चौसर के खेल का बड़ा शौक है। पर उसे खेलना आता नहीं है। हम उसे खेलने के लिए न्योता दें तो क्षत्रियोचित धर्म जानकर युधिष्ठिर अवश्य मान लेगा। तुम तो जानते ही हो कि मैं मंजा हुआ खिलाड़ी हूं। तुम्हारी ओर से मैं खेलूंगा, और युधिष्ठिर को हराकर उसका सारा राज्य और ऐश्वर्य, बिना युद्ध के, आसानी से छीनकर तुम्हारे हवाले कर दूंगा।"

: २३ :

खेलने के लिए बुलावा

दुर्योधन और शकुनि धृतराष्ट्र के पास गये। शकुनि ने बात छेड़ी—"राजन्! देखिये तो, आपका बेटा दुर्योधन शोक और चिन्ता के कारण पीला-सा पड़ गया है। मालूम होता है उसके शरीर का सारा खून ही सूख गया है। क्या आपको अपने बेटे की चिन्ता नहीं है? ऐसी क्या बात कि उसके इस दुःख का कारण तक आप नहीं पूछते?"

अंधे और बूढ़े धृतराष्ट्र को अपने बेटे पर अपार स्नेह था। शकुनि की बातों से वह सचमुच बड़े चिन्तित हो गए। अपने बेटे को उन्होंने छाती से लगा लिया और बोले—बेटा ! मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं कि तुम्हें किस बात का दुःख हो सकता है। तुम्हारे पास ऐश्वर्य की कमी नहीं। सारा संसार तुम्हारी आज्ञा पर चल रहा है। सुख ऐसे भोगने को मिले हैं कि जो देवताओं को भी शायद ही नसीब होते हों। फिर तुम्हें चिन्ता काहे की ? कृपाचार्य, बलराम (हलधर) और द्रोणाचार्य से वेद-वेदांग, अस्त्र-विद्या तथा दूसरे सब शास्त्र पूर्ण रूप से तुम सीखे हुए हो। मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो। सारे राज्य के अधीश बने हो। इसपर भी तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है ? बोलो !"

"पिताजी, मैं अब राजा कहलाने योग्य कहां रहा ? एक साधारण मनुष्य की भांति खाता-पीता, पहनता-ओढ़ता हूं। भला यह भी कोई जीना है !" दुर्योधन इस तरह धृतराष्ट्र के सामने अपना रोना रोने लगा। उसने अपने मन की वे बातें कहीं जो उसको अन्दर ही अन्दर खाये जा रही थीं। इन्द्रप्रस्थ की सुषमा, वहां की समृद्धि आदि का वर्णन करके उसने बताया कि उसके दुःख का कारण पांडवों का यह उत्कर्ष और संपदा है। धृतराष्ट्र को उपदेश-सा देते हुए वह बोला—"संतोष क्षत्रियोचित धर्म नहीं है। डरने या दया करने से राजाओं का मान-सम्मान जाता रहता है, उनकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। युधिष्ठिर की विशाल व धन-धान्य से भरपूर राज्यश्री को देखने के बाद मुझे ऐसा लगता है मानों हमारी संपत्ति और राज्य तो कुछ है ही नहीं। मेरा जी अब उससे नहीं भरता। पिताजी, मुझे ऐसा मालूम होता है कि पांडवों की उन्नति हो गई है और हमारा पतन।"

बेटे पर असीम प्यार के कारण और उसको इस प्रकार आकुल देखकर धृतराष्ट्र से न रहा गया। उन्होंने उसे समझाते हुए बताया कि क्या करना उचित होगा और क्या अनुचित। वह बोले—

"बेटा, तुम मेरे बड़े बेटे हो और तुम्हारी भलाई के लिए कहता हूं कि पांडवों से वैर न करो। वैर दुःख और मृत्यु ही का कारण हो सकता है। सरल-हृदय और निर्दोष युधिष्ठिर से शत्रुता क्यों कर रहे हो ?

उसकी शक्ति हमारी हो तो शक्ति है। जो यश एवं ऐश्वर्य उसने प्राप्त किये हैं, उन पर हमारा भी तो अधिकार है। हमारे ही साथी उसके भी साथी हैं। फिर युधिष्ठिर न तो हमसे जलता है, न हमसे वैर रखता है। तुम्हारा कुल उतना ही ऊंचा है जितना कि उसका और रण-कुशलता एवं साहस में भी तुम उसके समान ही हो। तब फिर अपने ही भाई से क्यों जलते हो ? यह तुम्हें शोभा नहीं देता।"

पर पुत्र को पिता की यह सीख पसन्द नहीं आई। वह पिता को राजनीति का पाठ पढ़ाता हुआ-सा बोला—"पिताजी, अगर आदमी में स्वाभाविक विवेक न हुआ तो उसका पढ़ा-लिखा होना किस काम का ? माना कि आप नीति-शास्त्रों के पारंगत हैं। फिर भी जैसे पाक में डूबने रहने वाली कलछी को उसके स्वाद का तनिक भी ज्ञान नहीं होता, वैसे ही शास्त्रों में डूबे रहने पर भी आपको उनके रहस्य का पता नहीं है। यदि यह बात न होती तो आप ऐसी बातें क्यों करते ! स्वयं बृहस्पति ने कहा है कि राजनीति और संसार की रीति-नीति एक दूसरे से भिन्न होती हैं। संतोष और सहनशीलता राजाओं का धर्म नहीं है। संसार की दृष्टि में न्याय हो या अन्याय, राजा का तो कर्त्तव्य यही है कि वह किसी भी प्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे और अपनी सत्ता में वृद्धि करे।"

शकुनि ने दुर्योधन की बातों का समर्थन किया और धृतराष्ट्र को सलाह दी कि चौसर के खेल के लिए पांडवों को बुलाया जाय। उसमें उन्हें हराकर बगैर लड़ाई के ही पांडवों पर विजय पाई जा सकती है। दुर्योधन के दुःख दूर करने का इस समय यही उपाय है।

इन कुमंत्रणाओं का प्रभाव धीरे-धीरे धृतराष्ट्र पर पड़ने लगा और उसका मन डावांडोल होने लगा। दुर्योधन ताड़ गया। मौका देखकर बोला—"पिताजी ! हथियार केवल वही नहीं होता जो घाव कर सके, बल्कि शत्रु को हराने में जो भी उपाय काम दे सकें, वे चाहे छिपे हों चाहे प्रकट रूप में, सब उपाय क्षत्रिय के हथियार माने जा सकते हैं। किसी के कुल या जाति से इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि वह शत्रु है या मित्र। जो भी दुःख पहुंचाए, चाहे वह सगा भाई ही

क्यों न हो, उसे शत्रु ही मानना चाहिए। केवल स्थितिपालक रहना, जो कुछ प्राप्त है, उसी को लेकर संतोष मानना क्षत्रियों के लिए उचित नहीं। जो राजा शत्रु की बढ़ती देखकर उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करता, उसका सर्वनाश निश्चित है। राजाओं का कर्त्तव्य है वि शत्रु की बढ़ती पहले ही से ताड़ लें और उसे रोकने का सब प्रकार से प्रयत्न करें। हमारे भाई-बन्दों की बढ़ती हमारे ही नाश का उसी प्रकार कारण बन जायगी, जिस प्रकार पेड़ की जड़ पर चींटियों का का बनाया हुआ बिल समय पाकर पूरे पेड़ का ही नाश कर देता है।"

दुर्योधन का कथन पूरा हुआ तो कुशाग्र-बुद्धि दुरात्मा शकुनि बोला—"महाराज, आप युधिष्ठिर को चौसर के खेल के लिए बुलावा भेज दें, आगे की सारी जिम्मेदारी मुझ पर छोड़ दें।"

दुर्योधन ने भी उत्साह के साथ कहा—"बिना प्राणों को जोखिम में डाले और युद्ध किये मामा शकुनि पांडवों की सम्पत्ति छीनकर मुझे सौंपने को तैयार हैं। आपको तो केवल यही करना है कि युधिष्ठिर को न्योता भर भेज दें।"

दोनों के इस प्रकार आग्रह करने पर भी धृतराष्ट्र ने तुरन्त हां नहीं की। वह बोले—"मुझे वह उपाय ठीक नहीं जंच रहा है। विदुर से भी तो सलाह कर लूं। वह बड़ा समझदार है। मैं हमेशा से उसका कहा मानता आया हूं। उससे सलाह कर लेने के बाद ही कुछ तय करना ठीक होगा।"

पर दुर्योधन को विदुर से सलाह करने की बात पसन्द नहीं आई। वह बोला—"विदुर चाचा तो साधारण नीति का ही उपदेश देंगे। इससे भला कभी काम बन सकता है? राजा लोग यदि विजय प्राप्त करना चाहें तो उन्हें धर्म को तो ताक पर ही रखना होगा। विदुर और व्यास धर्म की रट लगाते फिरते हैं। सच पूछा जाय तो वे हमारी ही बढ़ती में रोड़े अटकाने वाले हैं। फिर आप जानते हैं कि विदुर चाचा मुझे चाहते नहीं। वह पांडवों को स्नेह करते हैं। फिर उनसे सलाह लेने से लाभ क्या होगा?"

धृतराष्ट्र बोले—"पांडव शक्ति-सम्पन्न हैं। उनसे वैर मोल लेना

मुझे ठीक नहीं जंचता। जुए का खेल वैर-विरोध की जड़ होता है। जुए के कारण जो मामूली अनबन पैदा होती है, वह शीघ्र ही भारी विरोध का रूप धारण कर लेती है। जुए के खेल से होने वाली बुराइयों की कोई सीमा नहीं। इसलिए बेटा, मेरी तो यही राय है कि तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। इसे छोड़ दो।"

"निर्भय होकर अपनी रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। शत्रु की बढ़ती को रोकना अभी तो हमारे बस की बात है। अभी से सचेत होकर प्रयत्न करना ठीक होगा। बीमारी और मौत किसी के लिए ठहरती नहीं! चौसर का खेल कोई हमने तो ईजाद किया नहीं। यह तो हमारे पूर्वजों का ही चलाया हुआ है। जान पर खेले बगैर ही यह खेल खेलकर क्षत्रिय अपना उद्देश्य पूरा कर सकते हैं। इसमें कोई अन्याय भी नहीं होता।" दुर्योधन अपने हठ पर दृढ़ रहता हुआ बोला।

दुर्योधन ने इस तरह आग्रह करने पर आखिर धृतराष्ट्र ने हाथ टेक दिए। वह बोले—"बेटा! मैं तो ठहरा बूढ़ा! अब तुम्हीं इस राज्य के मालिक हो! जो तुम्हारी इच्छा हो वही करो! इतना अवश्य कहे देता हूं कि आगे चलकर तुम्हें इसके लिए पछताना होगा। यह विधि का कुचक्र है।"

बेटे का आग्रह मानकर धृतराष्ट्र ने चौसर खेलने के लिए अनुमति तो दे दी और सभा-मंडप बनने की भी आज्ञा दे दी; परन्तु गुपचुप महात्मा विदुर से भी उन्होंने इस बारे में सलाह की।

विदुर बोले—"राजन्! सारे वंश का इससे नाश हो जायगा। इसके कारण हमारे कुल के लोगों में आपसी मनमुटाव और झगड़े-फसाद होंगे। इससे भारी विपदा हम पर आयेगी। मेरा निवेदन है कि इस कुचाल को न होने दीजिये।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"भाई विदुर! प्रारब्ध हमारे अनुकूल हो तो मुझे खेल का भय नहीं। हां, यदि हमारे भाग्य ही खोटे हों तो फिर हम कर हा क्या सकते हैं? सारा संसार विधि के ही इशारों पर चल रहा है। इसके आगे किसी का बस नहीं चलता। सो तुम ही युधिष्ठिर के पास जाओ और उसे मेरी तरफ से खेल के लिए न्यौता

देकर बुला लाओ।"

धृतराष्ट्र की इन बातों से मालूम होता है कि वह विधि की चाल और मनुष्य के कर्त्तव्य को भली-भांति जानते थे; फिर भी उनकी बुद्धि चंचल हो जाती थी, स्थिर नहीं रहती थी। इसके अलावा अपने बेटे पर भी उनका असीम स्नेह था। यही उनकी कमजोरी थी। और यही कारण था कि उन्होंने बेटे की बात मान ली।

: २४ :
बाजी

विदुर को आता देख महाराजा युधिष्ठिर उठे और उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। किन्तु विदुर के चेहरे पर विषाद की रेखा देखकर चिन्तित-भाव से पूछा—"क्यों चाचाजी, आपका चेहरा उतरा हुआ क्यों है? हस्तिनापुर में सब कुशल से तो हैं? महाराजा और सारे राजकुमार कुशल से तो हैं? नगर के लोगों का व्यवहार तो ठीक है?"

विदुर आसन पर बैठते हुए शांति से बोले—"हस्तिनापुर में सब कुशलपूर्वक हैं। यहां तो सब आनन्दपूर्वक हैं न? हस्तिनापुर में खेल के लिए एक सभा-मंडप बनाया गया है, तुम्हारे मंडप के समान ही सुन्दर है। राजा धृतराष्ट्र की ओर से उसे देखने चलने के लिए मैं तुम लोगों को न्यौता देने आया हूं। राजा धृतराष्ट्र की इच्छा है कि तुम सब भाइयों सहित वहां आओ, उस मंडप को देखो और दो हाथ चौसर के भी खेल जाओ।"

"चाचाजी! चौसर का खेल अच्छा नहीं है। उससे आपस में झगड़े पैदा होते हैं। समझदार लोग उसे पसन्द नहीं करते। लेकिन इस मामले में हम तो आप ही के आदेशानुसार चलने वाले हैं। आपकी सलाह क्या है?" युधिष्ठिर ने पूछा।

विदुर बोले—"यह तो किसी से छिपा नहीं कि चौसर का खेल सारे अनर्थ की जड़ होता है। मैंने तो भरसक कोशिश की कि इसे न होने दूं, किन्तु राजा ने आज्ञा ने दी कि तुम्हें खेल के लिए न्यौता दे ही

आऊं। इसलिए आना पड़ा। अब तुम्हारी जो इच्छा हो, करो।"

भोग-विलास, जुआखोरी, शराब का व्यसन आदि ऐसे गड्ढे हैं जिन में लोग जानबूझकर गिरते हैं। इनसे होनेवाली बुराइयों को भली-भांति जानते हुए भी लोग आखिर इनके चक्कर में आ ही जाते हैं। महाभारत में इसका कई जगह जिक्र आता है कि युधिष्ठिर को चौसर खेलने का व्यसन था। राजवंशों की रीति के अनुसार किसी को भी खेल के लिए बुलावा मिल जाने पर उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा व्यास की चेतावनी के कारण युधिष्ठिर को डर था कि कहीं खेल में न जाने को ही धृतराष्ट्र अपना अपमान न समझ लें और यही बात कहीं लड़ाई का कारण न बन जाय। इन्हीं सब विचारों से प्रेरित होकर समझदार युधिष्ठिर ने न्योता स्वीकार कर लिया, यद्यपि विदुर ने उन्हें चेता दिया था। वह अपने परिवार के साथ हस्तिनापुर पहुंच गए। नगर के पास ही उनके तथा उनके परिवार के लिए एक सुन्दर विश्राम-गृह बना था। वहां ठहरकर उन्होंने आराम किया। अगले दिन सुबह नहा-धोकर वह सभा-मंडप में जा पहुँचे।

कुशल-समाचार के बाद शकुनि ने कहा—"युधिष्ठिर, खेल के लिए चौपड़ बिछा हुआ है। चलिए, दो हाथ खेल लें।"

"राजन्, यह खेल ठीक नहीं! बाजी जीत लेना साहस का काम नहीं। असित, देवल जैसे महान् ऋषियों ने पांसे के खेल का एक स्वर से खण्डन किया है। लौकिक न्याय के ज्ञान में इन मुनियों की पहुंच कुछ कम नहीं थी। इन महात्माओं का कहना है कि जुआ खेलना धोखा देने के समान है। क्षत्रिय के लिए मैदान में लड़कर विजय पाना ही उचित मार्ग है। आप तो ये सब बातें जानते ही हैं।" युधिष्ठिर ने बड़ी शिष्टता के साथ उत्तर दिया।

यद्यपि युधिष्ठिर ने उपर्युक्त बातें सहज भाव से कही थीं, लेकिन उनके मन में जरा-सा खेल लेने की भी इच्छा हो रही थी। शौकीन जो ठहरे! पर उन्हें यह भान भी था कि यह खेल बुरा है, इस कारण अपने को रोक रहे थे। उनके मन में जो तर्क-वितर्क हो रहा था उसको उन्होंने शकुनि से दलील करने के बहाने प्रकट कर दिया था। चतुर शकुनि यह

बात ताड़ गया। वह बोला—

"आप भी क्या कहते हैं, महाराज ! धोखा क्या, युद्ध क्या ! यह तो आदमी के अपने विचारों पर निर्भर होता है। स्पर्द्धा सबमें होती है। वेद पढ़े हुए पण्डितों में शास्त्रार्थ होते आपने नहीं देखा ? जिसका ज्ञान अधिक हो वह कम पढ़े हुए को जीत लेता है। कभी किसी ने कहा है कि शास्त्रार्थ में धोखेबाजी होती है ? जिसे हथियार चलाने में निपुणता प्राप्त हो वह नौसिखिये को हरा देता है। क्या यह धर्म है ? इस तरह जो ताकतवर है वह कमजोर को पछाड़ देता है। आप क्या इसे भी धोखा कहेंगे ? सयाने-सयाने की टक्कर कभी-कभी ही होती है। हर बात में जानकार या मंजा हुआ व्यक्ति कम जानकार को हरा दिया करता है। इसमें धोखेबाजी या न्याय का निर्णय कौन करे ? पांसे के खेल की भी यह बात है। मंजा हुआ खिलाड़ी कच्चे खिलाड़ी को हरा देता है। यह भी कोई धोखे की बात है ? हां, यह कहिए कि आपको हार जाने का डर लग रहा है, लेकिन इसमें धर्म की आड़ लेना उचित नहीं।"

युधिष्ठिर कुछ गर्म होकर बोले—"राजन्, ऐसी बात नहीं है। अगर मुझे खेलने को कहा गया तो मैं ना नहीं करूंगा। आप कहते हैं तो मैं तैयार हूं। तो मेरे साथ खेलेगा कौन ?"

दुर्योधन तुरन्त बोल उठा—"मेरी जगह खेलेंगे तो मामा शकुनि, किन्तु दांव लगाने के लिए जो धन-रत्नादि चाहिए, वे मैं दूंगा।"

युधिष्ठिर ने सोचा था कि दुर्योधन खेलेगा तो उसे तो मैं सहज ही में हरा दूंगा। किन्तु मंजे हुए खिलाड़ी शकुनि के विरुद्ध खेलते उन्हें जरा हिचकिचाहट-सी मालूम हुई।

बोले—"मेरी राय यह है कि किसी एक की जगह दूसरे को नहीं खेलना चाहिए। यह खेल के साधारण नियमों के विरुद्ध है।"

"अच्छा, तो अब दूसरा बहाना बना लिया !" शकुनि ने हंसते हुए कहा।

युधिष्ठिर ने कहा—"ठीक है। कोई बात नहीं, मैं खेलूंगा।"

और खेल शुरू हुआ। सारा मण्डप दर्शकों से खचाखच भरा था। द्रोण, भीष्म, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र-जैसे वयोवृद्ध भी उपस्थित थे। यह

बात साफ मालूम होने पर भी कि यह खेल झगड़े की जड़ साबित होगा, वे उसे रोक नहीं सके थे। उनके चेहरों पर उदासी छाई हुई थी। दूसरे कौरव राजकुमार बड़े चाव से खेल को देख रहे थे।

पहले रत्नों की बाजी लगी। फिर सोने-चांदी के खजानों की, उसके बाद रथों और घोड़ों की। तीनों दांव युधिष्ठिर हार गए। इस पर युधिष्ठिर ने नौकर-चाकरों को दांव पर लगाया, उन्हें भी हार गए। फिर तो अपनी सारी सेना और हाथियों की बाजी लगाई और हार गए। शकुनि का पांसा मानो उसके इशारों पर चलता था।

खेल में युधिष्ठिर बारी-बारी से अपनी गायें, भेड़, बकरियां, दास-दासी, रथ, घोड़े, सेना, देश, देश की प्रजा सब खो बैठे। लेकिन उनका चस्का न छूटा। भाइयों के शरीरों पर जो आभूषण और वस्त्र थे उनको भी बाजी पर लगा दिया और हार गए।

"और कुछ बाकी है ?" शकुनि ने पूछा।

"यह सांवले रंग का सुन्दर युवक, मेरा भाई नकुल खड़ा है। वह भी मेरा ही धन है। इसकी बाजी लगाता हूं। चलो !" युधिष्ठिर ने जोश के साथ कहा।

शकुनि ने कहा—"अच्छा, तो यह बात है ! तो यह लीजिए, आपका प्यारा राजकुमार अब हमारा हो गया !" कहते-कहते शकुनि ने पांसा फेंका और बाजी मार ली।

युधिष्ठिर ने कहा—"यह मेरा भाई सहदेव, जिसने सारी विद्याओं का पार पा लिया है। इस विख्यात पंडित को बाजी लगाना उचित तो नहीं, फिर भी लगाता हूं। चलो, देखा जायगा।"

"यह चला, और वह जीता।" कहते हुए शकुनि ने पांसा फेंका। सहदेव को भी युधिष्ठिर गंवा बैठे।

अब दुरात्मा शकुनि को आशंका हुई कि कहीं युधिष्ठिर खेल बन्द न कर दें। बोला—"युधिष्ठिर, शायद आपकी निगाह में भीमसेन और अर्जुन माद्री के बेटों से ज्यादा मूल्यवान हैं ! सो उनको बाजी पर आप लगायेंगे नहीं।"

युधिष्ठिर ने कहा—"मूर्ख शकुनि ! तुम्हारी चाल यह मालूम होती

है कि हम भाइयों में आपस में फूट पड़ जाय ! अधर्म तो मानो तुम्हारे जीवन की सांस है। सो तुम क्या जानो कि हम पांचों भाइयों के संबंध क्या हैं ? युद्ध के प्रवाह से हमें जो पार लगाने वाली नाव के समान है, पराक्रम में जिसका कोई सानी नहीं, जिसे विजय-श्री ने मानो अपना निवास-स्थान ही बना लिया है, उस अपने भाई अर्जुन को दांव पर लगाता हूं। चलो।"

शकुनि तो यही चाहता था। "तो यह चला" कहते हुए पांसा फेंका और अर्जुन भी हाथ से निकल गया।

असीम दुर्दैव मानो युधिष्ठिर को बेबस कर रहा था और उन्हें पतन की ओर बलपूर्वक लिये जा रहा था। वह बोले—"राजन् ! युद्ध में जो हमारा अगुआ है, असुरों को भय में डालनेवाले वज्रधारी देवराज इंद्र के समान जिसका तेज है, जो अपमान को कभी सह नहीं सकता, शारीरिक बल में संसार-भर में जिसका कोई जोड़ीदार नहीं, अपने उस भाई भीम को मैं दांव पर लगाता हूं।" और कहते-कहते युधिष्ठिर वायु-पुत्र भीमसेन से भी हाथ धो बैठे।

दुष्टात्मा शकुनि ने तब भी नहीं छोड़ा। पूछा—"और कुछ ?"

युधिष्ठिर ने कहा—"हां ! यदि इस बार तुम जीत गए तो मैं खुद तुम्हारे अधीन हो जाऊंगा।"

"लो, यह जीता !" कहते हुए शकुनि ने पांसा फेंका और यह बाजी भी ले गया।

इस पर शकुनि सभा के बीच उठ खड़ा हुआ और पांचों पांडवों को एक-एक करके पुकारा और घोषणा की कि वे अब उसके गुलाम हो चुके हैं। शकुनि की दाद देनेवालों के हर्षनाद से और पांडवों की इस दुर्दशा पर तरस खानेवालों के हाहाकार से सारा सभा-मंडप गूंज उठा।

सभा में इस तरह खलबली मचने के बाद शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा—"एक और चीज है जो तुमने अभी हारी नहीं। उसकी बाजी लगाओ तो अपने आपको भी छुड़ा सकते हो। अपनी पत्नी द्रौपदी को दांव पर क्यों नहीं लगाते ?"

और जुए के नशे में चूर युधिष्ठिर के मुंह से निकल पड़ा—"चलो, अपनी पत्नी द्रौपदी की भी बाजी लगाई !" यह मुंह से तो निकल गया, पर उसके परिणामों को सोचकर वह विकल हो उठे कि 'हाय, यह क्या कर डाला !'

धर्मात्मा युधिष्ठिर की इस बात पर सारी सभा में एकदम हाहाकार मच गया। जहां वृद्ध लोग बैठे थे, उधर से धिक्कार की आवाजें आने लगीं। लोग बोले—"छिः-छिः, कैसा घोर पाप है !" कुछ ने आंसू बहाये और कुछ लोग परेशानी के मारे पसीने से तर-बतर हो गए।

दुर्योधन और उसके भाइयों ने बड़ा कोलाहल मचाया और आनन्द से नाच उठे। पर युयुत्सु नाम का धृतराष्ट्र का एक बेटा शोक-सन्तप्त हो उठा और ठंडी आह भरकर उसने सिर झुका लिया

शकुनि ने पांसा फेंककर कहा—"यह लो, यह बाजी भी मेरी ही रही।"

बस, फिर क्या था ? दुर्योधन ने विदुर को आदेश देते हुए कहा—"आप अभी रनवास में जायें और द्रौपदी को यहां ले आएं। उससे कहें कि जल्दी आवे। अब उसे हमारे महल में झाड़ू देने का काम करना होगा।"

विदुर बोले—"मूर्ख ! नाहक क्यों मृत्यु को न्यौता देने चला है ? ध्यान रखो, तुम्हारी दशा ठीक उसी की-सी है, जो किसी अंधेरे-अथाह गड्ढे के मुंह पर रस्सी से बंधा लटक रहा हो। अपनी विषम परिस्थिति का तुम्हें ज्ञान नहीं, इसी कारण राजोचित व्यवहार छोड़कर निरे गंवार की-सी बातें करने लगे हो !"

दुर्योधन को यों फटकारने के बाद विदुर ने सभासदों की ओर देखकर कहा—"अपने को हार चुकने के बाद युधिष्ठिर को कोई अधिकार नहीं था कि वह पांचाल-राज की बेटी को दांव पर लगायें। कौरवों का अन्त समीप आ गया प्रतीत होता है। इसीलिए अपने हित की बात नहीं सुनते हैं और अपने ही पांव-तले गड्ढा खोद रहे हैं।"

विदुर की बातों से दुर्योधन बौखला उठा। अपने सारथी प्रातिकामी को बुलाकर उससे कहा—"विदुर तो हमसे जलते हैं और पांडवों से डरते हैं। तुम्हें तो कुछ डर नहीं है ! अभी रनवास में जाओ और द्रौपदी को बुला लाओ।"

: २५ :

द्रौपदी की व्यथा

आज्ञा पाकर प्रातिकामी रनवास में गया और द्रौपदी से बोला—"द्रुपदराज की पुत्री ! चौसर के खेल में युधिष्ठिर आपको दांव में हार बैठे हैं। आप अब राजा दुर्योधन के अधीन हो गई हैं। राजा की आज्ञा है कि अब आपको धृतराष्ट्र के महल में दासी का काम करना है। मैं आपको ले जाने के लिए आया हूं।"

राजसूय-यज्ञ करके राजाधिराज की पदवी जिन्होंने प्राप्त कर ली थी, उन सम्राट् युधिष्ठिर की पटरानी द्रौपदी, प्रातिकामी की इस अनहोनी-सी बात को सुनकर भौचक्की-सी रह गई ! पर जरा संभलकर बोली—"प्रातिकामी, यह मैं क्या सुन रही हूं ? अपनी ही राजमहिषी को किसी राजकुमार ने दांव पर लगाया है ? बाजी लगाने के लिए महाराज युधिष्ठिर के पास क्या और कोई चीज नहीं रही थी ?"

प्रातिकामी ने बड़ी नम्रता से समझाते हुए कहा—"युधिष्ठिर के पास कोई चीज नहीं रह गई थीं।" और सारथी ने जुए के खेल में जो कुछ हुआ था, उसका सारा हाल कह सुनाया।

प्रातिकामी की बातें सुनकर द्रौपदी अचेत-सी रह गई। उसे ऐसा लगा मानो उसका कलेजा फट जायगा। फिर भी वह क्षत्रिय स्त्री थी, जल्दी ही उसने अपने को संभाल लिया। क्रोध के मारे उसकी सुन्दर आंखें लाल हो उठीं, मानो आग के अंगारे हों। वह प्रातिकामी से बोली—"रथवान् ! जाकर उन हारनेवाले जुए के खिलाड़ी से पूछो कि पहले वह अपने को हारे थे या मुझे ? सारी सभा में यह प्रश्न उनसे करना और जो उत्तर मिले वह मुझे आकर बताओ। इसके बाद मुझे ले जाना।"

प्रातिकामी ने जाकर भरी सभा के सामने युधिष्ठिर से वही प्रश्न किया जो द्रौपदी ने उसे बताया था। प्रश्न सुन कर युधिष्ठिर अवाक् से रह गए ! उनसे कोई उत्तर देते न बना।

तब दुर्योधन ने प्रातिकामी से कहा—"द्रौपदी से जाकर कह दो कि वह स्वयं ही आकर पति से यह प्रश्न कर ले। तुम उसे शीघ्र यहां ले आओ।"

प्रातिकामी दुबारा रनवास में गया और द्रौपदी के आगे झुककर बड़ी नम्रता से बोला—"राजकुमारी ! नीच दुर्योधन की आज्ञा है कि आप सभा में आकर स्वयं ही युधिष्ठिर से प्रश्न कर लें।"

द्रौपदी ने कहा—"नहीं, मैं वहां नहीं जाऊंगी। अगर युधिष्ठिर जवाब नहीं देते हैं तो सभा में जो सज्जन विद्यमान हैं उन सबको तुम मेरा प्रश्न जाकर सुनाओ और उनका उत्तर आकर मुझे बताओ।"

प्रातिकामी लौटकर फिर सभा में गया और सभासदों को द्रौपदी का प्रश्न सुनाया।

यह सुनकर दुर्योधन झल्ला उठा। अपने भाई दुःशासन से बोला—"दुःशासन, यह सारथी भीमसेन से डरता मालूम होता है। तुम्हीं जाकर उस घमण्डी औरत को ले आओ।"

दुरात्मा दुःशासन के लिए इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी ! खुशी-खुशी वह द्रौपदी के रनवास की ओर चल दिया। शिष्टता को ताक पर रखकर वह निर्लज्ज सीधा द्रौपदी के कमरे में घुस गया और बोला, "सुन्दरी, आओ ! अब नाहक देर क्यों कर रही हो ? हमने तुम्हें जीत लिया है। अब शरम छोड़ो और कौरवों की बनकर रहो ! हमने कुछ अन्याय तो किया नहीं। खेल में न्यायोचित ढंग ही से तुम्हें प्राप्त किया है। सभा में चलो ! भाई बुलाते हैं।" कहते-कहते बेशर्म दुःशासन ने द्रौपदी का कोमल हाथ पकड़कर खींचना चाहा।

तीर की चोट से व्याकुल हरिणी की भांति आर्त नाद करती हुई द्रौपदी शोकातुर होकर अन्तःपुर में भाग चली। दुःशासन ने यहां भी उसका पीछा किया और उसे पकड़ लिया। फिर उसने द्रौपदी के गुंथे बाल बिखेर डाले, गहने तोड़-फोड़ दिये और अस्त-व्यस्त दशा में उसके बाल पकड़कर बलपूर्वक घसीटता हुआ सभा की ओर ले जाने लगा।

धृतराष्ट्र के लड़के दुःशासन के साथ मिलकर भारी पाप-कर्म करने पर उतारू हो गये !

दुःखी द्रौपदी ने अपना असीम क्रोध पी लिया। सभा में पहुंचकर वह गंभीर स्वर में उपस्थित वृद्धों को लक्ष्य करके बोली—"मंजे हुए खिलाड़ी

और धोखेबाज लोगों ने कुचक्र रचकर महाराज युधिष्ठिर को अपने जाल में फंसा लिया और उनसे मुझे दांव पर लगवा लिया। पर आप सब लोगों ने उसे मान कैसे लिया ?जो खुद पहले ही अपने-आपको पराधीन कर चुका हो—जिसकी स्वतन्त्रता छिन गई हो—वह अपनी पत्नी की बाजी कैसे लगा सकता है ? यह कहां का न्याय है कि वह पराधीन हो गया तो उसकी स्त्री भी पराधीन समझी जाय ? कुरुकुल के कई बुजुर्ग यहां हैं। आप लोगों के भी पत्नियां व बहू-बेटियां हैं। आप सब सत्य और न्याय को सामने रखकर मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये, मेरी आपत्ति का समाधान कीजिये।" इतना कहकर द्रौपदी विकल हो उठी।

पांचालराज की कन्या को यों आर्त्त स्वर में पुकारते और अनाथिनी सी विकल देखकर भीमसेन से चुप न रहा गया। वह कड़ककर बोला—"भाई साहब ! गये-गुजरे लोग भी, जुआ खेलना ही जिनका पेशा होता है, अपनी रखैल स्त्रियों तक की बाजी नहीं लगाते, किन्तु आप अन्धे होकर द्रुपदराज की पुत्री को हार बैठे और धूर्तों के हाथों आपने उसका अपमान कराया और पीड़ा पहुंचाई ! इस भारी अन्याय को मैं नहीं देख सकता। आप ही के कारण यह घोर पाप हुआ है। भाई सहदेव ! कहीं से जलती हुई आग तो ले आ ! जिन हाथों से युधिष्ठिर ने जुआ खेला है, उन्हीं को मैं जला डालूं।"

भीमसेन को आपे से बाहर देखकर अर्जुन ने उसे रोका और धीरे-से कहा—"भैया ! सावधान ! इससे पहले तुमने ऐसी बातें कभी नहीं कहीं। हमारे शत्रुओं के रचे कुचक्र ने हमारी भी बुद्धि फेर दी और हमको धर्म छोड़कर अधर्म की ओर ले गया। यदि हम इस जाल में फंस गये तो शत्रुओं का उद्देश्य पूरा हो जायगा। इसलिए सावधान !"

अर्जुन की बातों से भीमसेन शांत हो गया और उसने अपने को सम्हाल लिया और क्रोध पीकर रह गया।

द्रौपदी की ऐसी दीन अवस्था देखकर धृतराष्ट्र के एक बेटे विकर्ण को बड़ा दुःख हुआ। उससे नहीं रहा गया। वह बोला—"उपस्थित क्षत्रिय वीरो ! क्या कारण है कि इतना भारी अन्याय होते देखकर भी आप सबों ने चुप्पी साध ली है ? मैं उम्र में आप लोगों से छोटा हूं। फिर भी बूढ़े

अनुभवी लोग जब चुप हैं तो मुझे बोलना ही पड़ता है। सुनिये, चौसर के खेल के लिए युधिष्ठिर को धोखे से बुलावा दिया गया। वह धोखा खाकर इस जाल में फंसे और अपनी स्त्री तक की बाजी लगा दी। यह सारा कार्य न्यायोचित नहीं है। दूसरी बात यह है कि द्रौपदी अकेले युधिष्ठिर की ही पत्नी नहीं, बल्कि पांचों पांडवों की है, इसलिए उसको दांव पर लगाने का अकेले युधिष्ठिर को कोई हक नहीं था। इसके अलावा खास बात यह है कि एक बार जब युधिष्ठिर खुद अपने को ही दांव में हार गये तो फिर उनको द्रौपदी की बाजी लगाने का अधिकार ही क्या रहा ? मेरी एक और आपत्ति यह है कि शकुनि ने द्रौपदी का नाम लेकर युधिष्ठिर को उसकी बाजी लगाने के लिए उकसाया था। क्षत्रिय लोगों ने चौसर के खेल के जो नियम बना रखे हैं, यह उनके बिलकुल विरुद्ध है। किसी चीज को दांव पर लगाने की सलाह विपक्ष का खिलाड़ी कैसे दे सकता है ? इन सब बातों के आधार पर मैं इस सारे खेल को नियम-विरुद्ध ठहराता हूं। मेरी राय में द्रौपदी नियमपूर्वक नहीं जीती गई।"

युवक विकर्ण के भाषण से इकट्ठे लोगों के विवेक पर से भ्रम का पर्दा हट गया। सभा में बड़ा कोलाहल मच गया। सब एक स्वर से विकर्ण की प्रशंसा करने लगे और बोले—"धर्म की रक्षा हो गई ! धर्म की रक्षा हो गई।"

यह सब देख कर्ण उठ खड़ा हुआ और क्रुद्ध होकर बोला—"विकर्ण, अभी तुम बच्चे हो। सभा में इतने बड़े-बूढ़ों के होते हुए तुम कैसे बोल पड़े ! तुम्हें यहां बोलने और तर्क-वितर्क करने का कोई अधिकार नहीं है। तुम ऐसे नासमझ हो कि पूछो मत। अरे ! युधिष्ठिर ने पहली ही बाजी में जब अपनी सारी सम्पत्ति खो दी, तभी उसी घड़ी अपनी स्त्री को भी खो दिया। इसपर और वाद-विवाद कैसा ? जब युधिष्ठिर की सारी संपत्ति शकुनि की हो चुकी है तो इनके शरीर पर जितने कपड़े हैं ये भी सब शकुनि के हो चुके हैं। इसमें शंका की या आपत्ति की कोई गुंजाइश ही नहीं है। दुःशासन ! इन पांडवों के और द्रौपदी के कपड़े और गहने सब उतारकर शकुनि को दे दो !"

कर्ण की कठोर बातों से पांडवों पर वज्र टूट पड़ा। फिर भी पांचों

भाइयों ने यह सोचकर कि अभी उनके धर्म की परीक्षा होनी बाकी है, अपने अंगोछे उठाकर सभा में फेंक दिये।

यह देख दुःशासन द्रौपदी के पास गया और उसका वस्त्र पकड़कर खींचने लगा। अब बेचारी द्रौपदी क्या करती! मनुष्यों की आशा छोड़कर उसने ईश्वर की शरण ली और आर्त्त स्वर में पुकार उठी—"जगदीश! परमात्मन्! अब तू ही मेरी लाज रख! तू मुझ दीन अबला को न छोड़ देना! तेरी शरण लेती हूं! दीनबन्धु! मेरी सुन, मुझे बचा!" कहती हुई शोक-विह्वल द्रुपदकन्या तत्काल ही मूर्छित हो गई।

उस समय सभावालों ने एक अद्भुत चमत्कार देखा। दुःशासन द्रौपदी का वस्त्र पकड़कर खींचने लगा। ज्यों-ज्यों वह खींचता गया, त्यों-त्यों वस्त्र भी बढ़ता ही गया। अलौकिक शोभावाले वस्त्रों के सभा में ढेर लग गये।

अन्त में खींचते-खींचते दुःशासन की दोनों भुजाएं थक गईं। हांफता हुआ वह थकान से चूर होकर बैठ गया। यह दैवी चमत्कार देखकर सभा के लोगों में कंपकंपी-सी फैल गई और धीमे स्वर में बातें होने लगीं! इतने में भीमसेन उठा। उसके होंठ मारे क्रोध के फड़क रहे थे। ऊंचे स्वर में उसने यह भयानक प्रतिज्ञा की—"उपस्थित सज्जनो! मैं शपथ खाकर कहता हूं कि जबतक, भरतवंश पर बट्टा लगानेवाले इस दुरात्मा दुःशासन की छाती चीरकर इसके गरम खून से अपनी प्यास न बुझा लूंगा, तबतक इस संसार को छोड़कर पितृ-लोक नहीं जाऊंगा!" भीमसेन की इस प्रतिज्ञा को सुनकर उपस्थित लोगों के हृदय भय के मारे थर्रा उठे।

अचानक सियार बोलने लगे। गधों के रेंकने और मांसाहारी चील-कौओं के चीखने-चिल्लाने की मनहूस आवाजें चारों ओर से आने लगीं।

इन सब लक्षणों से धृतराष्ट्र ने समझ लिया कि यह सब ठीक नहीं हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि जो कुछ हो चुका है उसका परिणाम शुभ नहीं होगा। यह उनके पुत्रों और कुल के विनाश का कारण बन जायगा। उन्होंने परिस्थिति को सम्हालने के इरादे से द्रौपदी को बड़े प्रेम से अपने पास बुलाया और उसे शांत किया तथा सांत्वना दी।

उसके बाद युधिष्ठिर की ओर मुड़कर बोले—

"युधिष्ठिर, तुम तो अजातशत्रु हो। उदार-हृदय भी हो। दुर्योधन की इस कुचाल को क्षमा करो और इन बातों को मन से निकाल दो और भूल जाओ। अपना राज्य तथा संपत्ति वगैरा सब ले जाओ और इन्द्रप्रस्थ जाकर सुखपूर्वक रहो और स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करो!"

धृतराष्ट्र की इन मीठी बातों को सुनकर पाण्डवों के दिल शान्त हो गये और यथोचित अभिवादनादि के उपरान्त द्रौपदी और कुंती सहित सब पाण्डव इन्द्रप्रस्थ के लिए विदा हो गये।

पाण्डवों के विदा हो जाने के बाद कौरवों में बड़ी हलचल मच गई। पाण्डवों के इस प्रकार अपने पंजे से साफ निकल जाने के कारण कौरव बड़ा क्रोध-प्रदर्शन करने लगे और दुःशासन तथा शकुनि के उकसाने पर दुर्योधन फिर अपने पिता धृतराष्ट्र के सिर हो गया और पाण्डवों को खेल के लिए एक बार और बुलाने को उनको राजी कर लिया। उसने धृतराष्ट्र से कहा कि पाण्डवों को इस प्रकार लौटा देना ठीक नहीं हुआ। यहां उनका जो अपमान हुआ उसे वे नहीं भूलेंगे और इन्द्रप्रस्थ पहुंचते ही अपने दल-बल के साथ हमपर चढ़ाई कर देंगे। नीति तो यही कहती है कि शत्रुओं को एक बार छेड़ने के बाद खुला नहीं छोड़ना चाहिए। अतः आप उन्हें चौपड़ खेलने को फिर बुलाइए। इस बार ऐसी तरकीब निकालेंगे कि वे नाराज भी न हों और हमारा काम भी बन जाय।

और युधिष्ठिर को खेल के लिए बुलाने को फिर दूत भेजा गया। उन दिनों क्षत्रियों में यह रिवाज था कि अगर चौपड़ के खेल के लिए बुलावा आवे तो कोई क्षत्रिय उसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। यह एक प्रकार की चुनौती होती थी और उसे मानना ही पड़ता था। पिछली घटना के कारण दुःखी होते हुए भी युधिष्ठिर को यह निमंत्रण स्वीकार करना पड़ा। वह बोले—

"अगर हमें जुआ खेलना ही पड़ा तो खेलेंगे। यद्यपि मैं जानता हूं कि वह विनाशकारी है; पर इससे बचने का कोई उपाय भी तो नहीं है। मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता। जैसा प्रारब्ध में

होता है मनुष्य को वही करना पड़ता है। यद्यपि सुवर्ण का जीव होना असंभव है, परंतु राम हरिण को देखकर लोभ में आ ही गये। यह इस बात का प्रमाण है कि जब पुरुषों का पराभव होने को होता है, तब उनकी बुद्धि प्रायः नष्ट हो जाती है।"

धर्मपुत्र युधिष्ठिर फिर हस्तिनापुर लौटे और शकुनि के साथ फिर चौसर खेले। सभा के सब लोगों ने उन्हें बहुत रोका, पर ऐसा मालूम होता था मानों वह काल के अधीन हो गए थे।

इस बार खेल में यह शर्त थी कि हारा हुआ दल अपने भाइयों के साथ वन में जाय और बारह वर्ष वहां बितावे और तेरहवें वर्ष में अज्ञात-वास करे। अगर उस तेरहवें वर्ष में उनका पता चल जाय तो फिर उन सबों को बारह वर्ष का वनवास भोगना होगा। इस बार भी युधिष्ठिर हारे और पाण्डव अपने किये हुए वादे के अनुसार वन में चले गए। सभा में उपस्थित लोगों ने शर्म के मारे अपनी गर्दनें झुका लीं।

: २६ :
धृतराष्ट्र की चिन्ता

द्रौपदी को साथ लेकर पाण्डव वन की ओर जाने लगे। उनको देखने की इच्छा से सड़कों पर नगर के लोगों की इतनी भारी भीड़ इकट्ठी हो गई कि सड़कों पर चलना असंभव हो गया। ऊंचे भवनों में, मन्दिरों के गोपुरों में और पेड़ों पर बैठे लोग पाण्डवों को देखने जमा हो गए। स्त्रियां अट्टालिकाओं तथा झरोखों से देख रही थीं। राजाधिराज युधिष्ठिर को, जो छत्री और बाजों के समेत रथारूढ़ होकर जाने योग्य थे, वल्कल और मृगचर्म पहने, पैदल जाते देख लोगों में हाहाकार मच गया। कुछ लोगों ने 'हाय-हाय' की, कुछ ने 'छीः-छीः' करके कौरवों को धिक्कारा। सबकी आंखों में आंसू उमड़ आये।

धृतराष्ट्र ने विदुर को बुला भेजा और पूछा—"विदुर, पाण्डु के बेटे और द्रौपदी कैसे जा रहे हैं? मैं अंधा हूं! देख नहीं सकता। तुम्हीं बताओ, कैसे जा रहे हैं वे?"

विदुर ने कहा—"कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर कपड़े से चेहरा ढांक कर जा रहे हैं। भीमसेन अपनी दोनों भुजाओं को निहारता, अर्जुन हाथ में कुछ बालू लिये उसे बिखेरता, नकुल और सहदेव सारे शरीर पर धूल रमाये हुए, क्रमशः युधिष्ठिर के पीछे-पीछे जा रहे हैं। द्रौपदी ने बिखरे हुए केशों से सारा मुख ढक लिया है। और आंसू बहाती हुई युधिष्ठिर का अनुसरण कर रही है। पुरोहित धौम्य कालदेव की स्तुति में सामवेद के छन्द सस्वर गान करते हुए साथ-साथ जा रहे हैं।"

वह वर्णन सुनकर धृतराष्ट्र की आशंका और चिन्ता पहले से भी अधिक प्रबल हो उठी। उन्होंने बड़ी उत्कंठा से पूछा—"और नगर के लोग क्या कर रहे हैं?"

विदुर ने कहा—"महाराज! प्रत्येक जाति और वर्ण के लोग एक स्वर से यही कह रहे हैं कि धृतराष्ट्र ने लालच में पकड़कर पाण्डु के बेटों को जंगल में भेज दिया। कहते हैं—हा दैव! हमारे राजा, हमारे नायक नगर छोड़कर जा रहे हैं! कुरुवंश के वृद्धों को धिक्कार है, जिन्होंने नासमझ लड़कों के कहने में आकर इनके साथ ऐसा व्यवहार किया! धिक्कार है धृतराष्ट्र को, उनके लालच को! इस तरह नगर के सभी लोग हमारी निन्दा कर रहे हैं। नीले आकाश में बिजली कौंधने लगी है। पृथ्वी कांप उठी है। और भी कितनी ही अनिष्टकारी सूचनाएं हुई हैं।"

विदुर धृतराष्ट्र के साथ यों बातें कर रहे थे कि नारद मुनि भी उधर आ निकले। उन्होंने धृतराष्ट्र को और बातों के साथ यह बताया कि दुर्योधन के पाप-कर्म के कारण आज से ठीक चौदह वर्ष के बाद सारे कौरवों का नाश हो जायगा। यह भविष्यवाणी सुनाकर देवर्षि नारद जिस प्रकार एकाएक आये थे, वैसे ही चले गए।

दुर्योधन और उनके साथी नारद की भविष्यवाणी सुन भयभीत हो गए। वे आचार्य द्रोण के पास गए और उनके आगे गिड़गिड़ाते हुए बोले—

"आचार्य, सारा राज्य आप ही का है। हम आप ही की शरण हैं। आप हमारा साथ न छोड़ें।"

यह सुन द्रोणाचार्य बोले—"समझदार लोगों का मत है कि पाण्डव देवताओं के अंशावतार हैं, अजेय हैं। मैं भी यह जानता हूं। परन्तु फिर भी धृतराष्ट्र के पुत्रों ने मेरी शरण ली है, सो मैं उन्हें ठुकरा नहीं सकता। जहांतक मुझसे बन पड़ेगा, हृदयपूर्वक प्रेम के साथ उनकी सहायता किया करूंगा; किन्तु प्रारब्ध के आगे किसी का बस नहीं चलता। वनवास की अवधि पूरी होने पर पाण्डव बड़े क्रोध के साथ लौटेंगे। उनका श्वसुर द्रुपद मेरा शत्रु है। एक बार उस पर गुस्सा होकर मैंने उसे अपमानित भी किया था। उस अपमान का बदला लेने और मेरा नाश करने के लिए पुत्र की कामना करते हुए द्रुपद ने एक यज्ञ किया था और उसके फलस्वरूप उसके धृष्टद्युम्न नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ है। मेरे शत्रु राजा द्रुपद के साथ पाण्डवों की जो गहरी मित्रता एवं संबंध हुआ है, लोग कहते हैं कि वह मेरे वध के हेतु विधि का रचा हुआ एक चक्र है। तुम लोगों की करतूतों से उसी लोकमत की पुष्टि हो रही है। मैं तुम्हें सावधान किये देता हूं, तुम लोगों का अन्त अब दूर नहीं है। जो कुछ पुण्य-कर्म करना हो, बड़े-बड़े यज्ञ करने हों, सुख भोगना हो, सब अभी कर लो। विलंब न करो। आज से चौदह वर्ष बाद तुमपर भारी विपदा आने वाली है। दुर्योधन, मेरी सलाह मानो तो पाण्डवों से संधि कर लो। उसी में तुम्हारा भला है। मैंने अपनी राय दे दी। आगे तुम्हारी जो इच्छा!"

लेकिन द्रोणाचार्य की बातें दुर्योधन क्यों मानने लगा!

●

"राजन्, आजकल आप दुःखी क्यों रहते हैं?" संजय ने राजा धृतराष्ट्र से पूछा।

"पाण्डवों से वैर मोल ले लेने पर मैं निश्चिन्त रह ही कैसे सकता हूं?" अंधे राजा ने उत्तर दिया।

संजय बोला—"आप सच कह रहे हैं। जिसका नाश होना निश्चित हो, उसकी बुद्धि फिर जाती है। वह भले को बुरा और बुरे को भला समझने लग जाता है। प्रारब्ध लाठी लेकर किसीका सिर थोड़े ही फोड़ता है। जिसे दण्ड देना होता है उसका विवेक हर लेता है, जिससे भलाई के भ्रम में वह बुराई कर बैठता है और अपने-आप ही नाश के

गड्ढे में गिर जाता है। आपके बेटों की यही बात है। उन्होंने द्रौपदी का अपमान किया और अपने ही हाथों अपने सर्वनाश का गड्ढा खोद लिया।"

"समझदार विदुर ने जो सलाह दी थी वह धर्म एवं राजनीति के अनुकूल थी। किन्तु मैंने उसे ठुकरा दिया और अपने नासमझ बेटे की बात मान ली। हमें धोखा हो गया।" धृतराष्ट्र ने पश्चात्ताप के साथ कहा।

विदुर बार-बार धृतराष्ट्र से आग्रह करते कि आप पाण्डवों के साथ संधि कर लें। कहते—"आपके लड़कों ने घोर पाप-कर्म किया है जो युधिष्ठिर के साथ छल-कपट किया गया। आपको ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे पाण्डवों को आपका दिया हुआ राज्य फिर से प्राप्त हो जाय। युधिष्ठिर को वन से वापस बुला भेजें और अपने पुत्रों तथा पाण्डवों में संधि करवा दें। यदि दुर्योधन आपकी सलाह न माने तो उसको वश में करना आपका ही कर्त्तव्य है।" विदुर अक्सर इसी भांति धृतराष्ट्र को उपदेश दिया करते थे।

विदुर की बुद्धिमत्ता का धृतराष्ट्र पर भारी प्रभाव था, इसलिए शुरू-शुरू में वह विदुर की ये बातें सुन लिया करते थे। परन्तु बार-बार विदुर की ऐसी ही बातें सुनते-सुनते वह ऊब उठे।

एक दिन विदुर ने फिर वही बात छेड़ी तो धृतराष्ट्र झुंझलाकर बोले—"विदुर! तुम हमेशा पाण्डवों की तरफदारी करके मेरे लड़कों के विरुद्ध बातें किया करते हो। मालूम होता है कि तुम हमारा भला नहीं चाहते, नहीं तो बार-बार कैसे कहते कि मैं दुर्योधन का साथ छोड़ दूं। दुर्योधन मेरे कलेजे का टुकड़ा है, कैसे उसे ठुकरा दूं? ऐसी सलाह देने से क्या फायदा हो सकता है जो न न्यायोचित्त है, न मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही? तुम पर से मेरा विश्वास उठ गया है। मुझे अब तुम्हारी सलाह की जरूरत नहीं। अगर चाहो तो तुम भी पाण्डवों के पास चले जाओ।"

धृतराष्ट्र यह कहकर बड़े क्रोध के साथ विदुर के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना अन्तःपुर में चले गये।

विदुर ने मन में कहा कि अब इस वंश का सर्वनाश निश्चित है। उन्होंने तुरन्त अपना रथ जुतवाया और उस पर चढ़कर जंगल में उस ओर तेजी से चल पड़े, जहां पाण्डव अपने वनवास का काल व्यतीत कर रहे थे।

विदुर के चले जाने पर धृतराष्ट्र और भी चिन्तित हो गए। वह सोचने लगे कि मैंने यह क्या कर दिया! मेरी इस गलती से तो पाण्डवों की ही ताकत बढ़ेगी। विदुर को भगाकर भारी भूल कर दी। यह सोचकर धृतराष्ट्र ने संजय को बुलाया और कहा—"संजय! मैंने अपने प्रिय भाई विदुर को बहुत बुरा-भला कह दिया था। इससे वह गुस्सा होकर वन में चला गया है। तुम जाकर उसे किसी तरह समझा-बुझाकर मेरे पास वापस ले आओ।"

धृतराष्ट्र की बात मानकर संजय जंगल में पाण्डवों के आश्रम में जा पहुंचे। देखा, पाण्डव मृगचर्म पहने ऋषि-मुनियों के संग धर्म-चर्चा कर रहे हैं और विदुर भी उन्हीं के साथ बैठे हैं। संजय ने विदुर से बड़ी नम्रता के साथ कहा—"धृतराष्ट्र अपनी भूल पर पछता रहे हैं। आप यदि वापस नहीं लौटेंगे तो वह अपने प्राण छोड़ देंगे। कृपया अभी लौट चलिए।"

यह बात सुनकर धर्मात्मा विदुर युधिष्ठिर आदि से विदा लेकर हस्तिनापुर के लिए चल पड़े।

हस्तिनापुर पहुंचकर विदुर जब धृतराष्ट्र के सामने गए तो धृतराष्ट्र ने उन्हें बड़े प्रेम से गले लगा लिया। और गद्गद स्वर में बोले—"निर्दोष विदुर! मैं उतावली में जो बुरा-भला कह बैठा, उसका बुरा न मानना और मुझे क्षमा कर देना।"

●

एक बार महर्षि मैत्रेय धृतराष्ट्र के दरबार में पधारे। राजा ने उनका समुचित आदर-सत्कार करके प्रसन्न किया। फिर महर्षि से हाथ जोड़कर पूछा—"भगवन्! कुरुजांगल के वन में आपने मेरे प्यारे पुत्र वीर पाण्डवों को तो देखा होगा। वे कुशल से तो हैं? क्या वे वन ही में रहना चाहते हैं? हमारे कुल में आपसी मित्रभाव कहीं कम तो नहीं हो जायगा? आप मेरी शंका का समाधान करने की कृपा करें।"

महर्षि मैत्रेय ने कहा—"राजन्, काम्यक वन में संयोग से युधिष्ठिर से मेरी भेंट हो गई थी। वन के दूसरे ऋषि-मुनि भी उनसे मिलने उनके आश्रम में आये हुए थे। हस्तिनापुर में जो-कुछ हुआ था, उसका सारा हाल उन्होंने मुझे बताया था। यही कारण है कि मैं आपके यहां आया हूं। आपके और भीष्म के रहते ऐसा नहीं होना चाहिए था।"

इस अवसर पर दुर्योधन भी सभा में मौजूद था। मुनि ने उसकी ओर देखकर कहा—"राजकुमार, तुम्हारी भलाई के लिए कहता हूं, सुनो। पाण्डवों को धोखा देने का विचार छोड़ दो। वे बड़े वीर हैं। महाराज कृष्ण एवं द्रुपद उनके रिश्तेदार हैं। उनसे वैर मोल न लो। उनके साथ संधि कर लो। इसी में तुम्हारी भलाई है।"

ऋषि ने यों मीठी बातों से दुर्योधन को समझाया; पर जिद्दी व नासमझ दुर्योधन ने उनकी ओर देखा तक नहीं। कुछ बोला भी नहीं, बल्कि अपनी जांघ पर हाथ ठोंकता और पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदता वह मुस्कराता हुआ खड़ा रहा।

दुर्योधन की इस ढिठाई को देखकर महर्षि बड़े क्रोधित हुए। उन्होंने कहा—"दुर्योधन, तुम इतने अभिमानी हो कि जो तुम्हारा भला चाहते हैं उनकी बातों पर ध्यान न देकर गरूर में जांघ ठोंक रहे हो! याद रखो, अपने घमण्ड का फल तुम अवश्य पाओगे। लड़ाई के मैदान में भीमसेन की गदा से तुम्हारी यह जांघ टूटेगी और इसी से तुम्हारी मृत्यु होगी।"

धृतराष्ट्र ने फौरन उठकर मुनि के पांव पकड़ लिये और विनय की—"महर्षे! शाप न दें। कृपा करें।"

मुनि ने कहा—"राजन्! यदि दुर्योधन पाण्डवों से संधि कर लेगा तो मेरे शाप का प्रभाव नहीं होगा, वरना वह होकर ही रहेगा।"

महाभारत तो एक प्राचीन कथा है। पर उसमें भी मानव-स्वभाव वही पाया जाता है जो आज है। क्रोध और घृणा की ज्वाला से आज भी मानव-समाज उसी प्रकार ग्रस्त एवं त्रस्त है। जब हम क्रोध के शिकार हों, अगर यह अध्याय पढ़ें तो हमें शान्त और बुद्धिमान होने

में उससे सहायता मिलेगी और हम अपराध एवं मूर्खता से बचेंगे ।

: २७ :

श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा

शाल्व शिशुपाल का मित्र था । जब उसे खबर मिली कि श्रीकृष्ण के हाथों शिशुपाल मारा गया है तो उससे न रहा गया । श्रीकृष्ण पर उसे असीम क्रोध हो आया । तत्काल एक भारी सेना इकट्ठी करके द्वारका पर चढ़ाई कर दी और नगर को चारों तरफ से घेर लिया । श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ से लौटे नहीं थे । इस कारण उनकी अनुपस्थिति में राजा उग्रसेन ने द्वारका का प्रबन्ध किया ।

महाभारत में द्वारका के घेरे जाने का जो वर्णन है, उसे पढ़ते हुए ऐसा भ्रम हो जाता है कि कहीं हम आजकल की लड़ाई का ही तो वर्णन नहीं पढ़ रहे हैं । उन दिनों के युद्ध की कार्रवाइयां और तरीके ठीक आजकल के-से मालूम होते हैं ।

द्वारका का किलेबन्द नगर एक टापू पर बसा था । शत्रु के आक्रमण से बचाव के लिए हर प्रकार का बन्दोबस्त किया गया था । दुर्ग की बनावट ही ऐसी थी कि उसमें हजारों सैनिक सुरक्षित रहकर लड़ सकते थे । दुर्ग पर कई यंत्र लगे हुए थे । जमीन खोदकर कई सुरंगी रास्ते बनाए गये थे । किले के अन्दर तरह-तरह के हथियारों, पत्थर फेंकने वाली कलों, यहां तक कि बारूद के भी 'गोदाम' भरे पड़े थे । सैनिकों के कितने ही दल दुर्ग के अन्दर पहले ही से तैयार रखे गये थे और कितने ही जवान नये सिरे से भर्ती किये गए थे । शत्रु के घेरा डालते ही उग्रसेन ने डौंडी पटवा दी कि नगर के अन्दर ताड़ी-जैसी नशीली चीजों का सेवन करना मना है । साथ ही नट-नटियों और तमाशा दिखानेवालों को भी नगर से निकाल दिया गया । जहां-कहीं भी समुद्र पार करने के लिए पुल बने थे उन्हें तोड़ दिया गया । जहाज दूर पर ही रोक दिये गए । किले की चारों ओर की खाइयों में लोहे की सूलियां गाड़ दी गईं । किले की दीवारों की मरम्मत करा दी गई । रास्तों पर जहां-तहां

कटीले तारों की बाढ़ लगा दी गई ।

वैसे भी द्वारका नगरी दुर्गम थी । पर शाल्व के घेरा डालने के बाद उसको और भी सुरक्षित करने का प्रबन्ध कर दिया गया । लोगों के आने-जाने पर सख्त पाबन्दियां लगा दी गईं । मुहर लगे हुए अनुमति-पत्रों के बगैर शहर से न कोई बाहर जा सकता था, न अन्दर आ सकता था । सैनिकों का वेतन बढ़ा दिया गया और नियत समय पर दिया जाने लगा । सेना में जो जवान भरती हुए उनको अच्छी तरह जांच लिया जाता था ।

इस प्रकार द्वारका सब तरह से सुरक्षित थी । शाल्व को बड़ी निराशा हुई । वह घेरा उठाकर लौट गया ।

श्रीकृष्ण जब द्वारका लौटे तो उन्हें पता चला कि शाल्व के आक्रमण के कारण द्वारका के लोगों को बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी । यह देखकर श्रीकृष्ण को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने सौभदेश पर चढ़ाई करके शाल्व को युद्ध में बुरी तरह परास्त किया ।

इसी बीच हस्तिनापुर में हुई घटनाओं की खबर श्रीकृष्ण को लगी । उन्हें यह पता चला कि पांचों पाण्डव द्रौपदी-समेत वन में चले गये हैं । यह खबर पाते ही वह फौरन उस वन को चल पड़े जहां पाण्डव ठहरे हुए थे ।

श्रीकृष्ण जब पाण्डवों से भेंट करने जाने लगे तो उनके साथ कैकय भोज और वृष्णि जाति के नेता, चेदिराज धृष्टकेतु आदि भी गये । इन लोगों के साथ पाण्डवों का बड़ा स्नेह-सम्बन्ध था और वे उनको बड़ी श्रद्धा से देखते थे । इस प्रकार एक क्षत्रिय राजाओं का भारी दल पाण्डवों के आश्रम में जा पहुंचा ।

दुर्योधन और उनके साथियों की करतूतों का हाल जब श्रीकृष्ण और दूसरे पाण्डव-मित्रों को मालूम हुआ तो उनके क्रोध का ठिकाना न रहा । एक स्वर से सबने कहा—"दुराचारी कौरवों के खून से हम पृथ्वी की प्यास बुझायेंगे ।"

आगन्तुक राजा लोग जब अपने मन की कह चुके तो द्रौपदी श्रीकृष्ण से मिली । श्रीकृष्ण को देखते ही उसकी आंखों से गंगा-यमुना बह

चली। बड़ी मुश्किल से वह बोली—"मैं एक ही वस्त्र पहने हुए थी, जब दुष्ट दुःशासन मेरे केश पकड़कर भरी सभा में मुझे घसीटता ले गया। धृतराष्ट्र के लड़कों ने मेरा कितना अपमान किया था, कैसी हंसी उड़ाई थी मेरी ! पापियों ने समझ लिया था कि मैं उनकी लौंड़ी ही बन गई हूं। भीष्म और धृतराष्ट्र तो मानो भूल ही गये कि मैं उनकी बहू और राजा द्रुपद की कन्या हूं। मेरे पति भी मुझे इस अपमान से न बचा सके। हे जनार्दन ! नीच दुष्टों द्वारा मैं सताई जा रही थी और सारी सभा देख रही थी ! भीम का शारीरिक बल किसी काम का न रहा था, अर्जुन का गाण्डीव धनुष भी निकम्मा-सा पड़ा रहा। मैं दीन, असहाय-सी सब सहती रही। संसार में जो बिल्कुल ही कमजोर होते हैं वे भी अपनी स्त्री का बचाव किसी-न-किसी प्रकार अवश्य कर लेते हैं; किन्तु राजाधिराज पाण्डु की बहू और वीर पाण्डवों की पत्नी होकर भी मैं अनाथिन-सी अपमानित होती रही और किसी ने चूं तक न की ! दुष्टों ने मुझे बाल पकड़कर खींचा। जिस पापी दुर्योधन की आज्ञा से ये घोर कर्म हुए वह अब तक जीवित है और उस पापी की तरफ किसी ने उंगली तक नहीं उठाई। इस तरह अपमानित होने के बाद तो मेरा ही जीना बेकार है। मधुसूदन, मेरे न पति हैं, न पुत्र, न बन्धु ही। मेरा कोई नहीं रहा और आप भी मेरे न रहे !" यह कहते-कहते द्रौपदी के कोमल होंठ फड़कने लगे। उसके शब्द-शब्द से मानो चिनगारियां निकल रही थीं। बड़ी-बड़ी आंखों से गरम-गरम आंसुओं की धारा बहने लगी और कलेजा मुंह को आने लगा। वह आगे न बोल सकी।

इस प्रकार करुण स्वर में विलाप करती हुई द्रौपदी को श्रीकृष्ण ने बहुत समझाया और धीरज बंधाया। वह बोले—"बहिन द्रौपदी ! जिन्होंने तुम्हारा अपमान किया है, उन सबकी लाशें युद्ध के मैदान में खून से लथपथ होकर पड़ेंगी। तुम शोक न करो। मैं वचन देता हूं कि पाण्डवों की हर प्रकार से सहायता करूंगा। यह भी निश्चय मानो कि तुम सम्राज्ञी के पद को फिर सुशोभित करोगी। चाहे आकाश टूटकर गिर जाय, चाहे हिमालय फटकर बिखर जाय, चाहे पृथ्वी टुकड़ों में बंट जाय, चाहे समुद्र का पानी सूख जाय, मेरा यह वचन झूठा नहीं

होगा।"

श्रीकृष्ण की इस प्रतिज्ञा से द्रौपदी का मन खिल उठा। आंखों में आंसू भरे अर्जुन की ओर अर्थ-भरी दृष्टि से उसने देखा। अर्जुन भी द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए बोला—"हे सुनयने ! श्रीकृष्ण का वचन झूठा नहीं हो सकता। वही होगा जो उन्होंने कहा है। तुम धीरज धरो !"

धृष्टद्युम्न ने भी बहन को सांत्वना दी और समझाते हुए कहा कि श्रीकृष्ण और अर्जुन की प्रतिज्ञाएं अवश्य पूरी होंगी। उसने कहा कि द्रोणाचार्य को वह स्वयं, भीष्म को शिखण्डी, दुर्योधन को भीमसेन और सूत-पुत्र कर्ण को अर्जुन लड़ाई के मैदान में मौत के घाट उतारेंगे।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"मैं द्वारका में नहीं था। यदि होता तो चौसर का यह खेल ही न होने देता। धृतराष्ट्र के न बुलाने पर भी मैं सभा में पहुंच जाता और भीष्म, द्रोण जैसे बुजुर्गों को उचित ढंग से समझा-बुझा कर इस नाशकारी खेल को रुकवा देता। मुझे शाल्व से लड़ने के लिए द्वारका छोड़कर जाना पड़ा था। राजसूय-यज्ञ के समय शिशुपाल के वध से नाराज होकर शाल्व ने द्वारका पर जबरदस्त घेरा डाल दिया था। हस्तिनापुर से द्वारका जाने पर मुझे इसका पता लगा तो मैंने शाल्व का पीछा किया और उसके राज्य पर चढ़ाई कर दी। शाल्व को मौत के घाट उतारकर द्वारका लौटने को ही था कि रास्ते में हस्तिनापुर में हुए इस महा अनर्थ की खबर मुझे मिली। बस, रास्ते में से ही तुम लोगों से मिलने चला आया। जैसे बांध के टूट जाने पर जल को रोका नहीं जा सकता, ठीक उसी तरह तुम्हारे इस दुःख को अभी तुरन्त तो पूरा करना सम्भव नहीं है; लेकिन वह दूर तो करना ही है।"

इसके बाद श्रीकृष्ण पाण्डवों से विदा हुए। साथ में अर्जुन की पत्नी सुभद्रा और उसके पुत्र अभिमन्यु को भी वह द्वारकापुरी लेते गये। द्रौपदी के पुत्रों को लेकर धृष्टद्युम्न पांचाल देश चला गया।

: २८ :

पाशुपत

पाण्डव द्रौपदी के साथ वन में रहने लगे। शुरू-शुरू में द्रौपदी और भीमसेन युधिष्ठिर की सहनशीलता की कड़ी आलोचना किया करते थे। तीनों में जोर की बहस छिड़ जाया करती थी। द्रौपदी और भीमसेन शास्त्रों तथा सूक्तियों का प्रमाण देकर कहते कि क्षत्रिय का धर्म क्रोध ही है, न कि क्षमा या सहनशीलता। भीम कहता—"सहनशीलता तो क्षत्रियों को अपमान के गड्ढे में डाल देती है।" पर इन बातों से युधिष्ठिर कभी विचलित नहीं होते। वह कहते—"मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता। सहनशीलता और क्षमा हरेक जाति और वर्ग के लोगों के लिए सबसे बड़ा धर्म है।" यह सुनकर भीमसेन और बिगड़ता। वह चाहता था कि अवधि पूरी होने से पहले ही दुर्योधन और उसके साथियों पर अचानक हमला कर दिया जाय और उनका काम-तमाम करके राज्य पर फिर से अधिकार जमा लिया जाय।

युधिष्ठिर को ताना देते हुए वह कहता—"भाईसाहब, तत्त्व की बातें आप करते तो खूब हैं, पर उनका मतलब भी आपकी समझ में आता है? जैसे कोई वेद-मंत्रों को उनका मतलब जाने बिना ही रटता फिरे और उसी से संतुष्ट हो जाय, वैसे ही आप भी शास्त्रों की बातें रटते रहते हैं। आपकी बुद्धि ठिकाने नहीं है। क्षत्रिय होकर आप ब्राह्मणों की-सी नरमी बरतना चाहते हैं। न तो यह आपको शोभा देता है, न इससे हमारा काम ही बनेगा। क्षत्रिय को तो चाहिए कि वह निर्दयता और क्रोध से काम ले। वे ही उसके गुण हैं, सहनशीलता नहीं। शास्त्र भी यही कहते हैं। हम क्षत्रिय वीर हैं। हमारे लिए क्या यह उचित है कि कुचाल चलनेवाले धृतराष्ट्र के लड़कों से बदला लिये बगैर ही उनको छोड़ दें? धिक्कार है उस क्षत्रिय को जो छल-प्रपंच रचनेवाले शत्रुओं को तत्काल ही उनके किये का फल न चखाये। ऐसे क्षत्रिय का जन्म बेकार है, बल्कि मैं तो कहूंगा कि कुचक्र रचनेवालों का वध करने पर

हमें नरक ही क्यों न जाना पड़े, हमारे लिए वह स्वर्ग के बराबर होगा। आपकी यह सहनशीलता भी अजीब है कि जिसके कारण नीच और धोखे-बाज लोग हमारा राज्य छीनकर मौज उड़ा रहे हैं और हम यहां जंगल में पड़े रात-भर तारे गिनते रहते हैं! हमारे लिए तो अपकी यह क्षमा-भावना आग से भी ज्यादा भयानक साबित हो रही है। अर्जुन को और मुझको दिन-रात चिन्ता खाए जा रही है। आप अपने कर्त्तव्य की तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं और कुछ प्रयत्न करने के बजाय यही रट लगाते रहते हैं कि प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी। मैं पूछता हूँ कि वह पूरी होगी कैसे? अर्जुन, जिसका यश सारे संसार में फैला हुआ है, इस तरह कैसे छिपकर रह सकता है कि कोई उसका असली परिचय जान ही न सके? कहीं हिमालय पहाड़ को ज़रा-सी घास के अन्दर छिपाया जा सकता है? और नकुल और सहदेव छिपकर रहें भी तो कैसे? फिर राजा द्रुपद की यह सुविख्यात पुत्री भी तो हमारे साथ है। वह कहां और कैसे छिपेगी? तिस पर दुर्योधन के पास तो जासूसों की भी कमी नहीं है! यदि हम इस दु:साध्य काम में उतारू भी हो गए तो धृतराष्ट्र के लड़के हमारे पीछे भेदिये लगाकर हमें खोज निकालेंगे। फिर क्या होगा? नये सिरे से बारह साल का वनवास और एक साल का अज्ञातवास फिर भोगना होगा। यह हमसे कैसे हो सकेगा? इस प्रकार प्रतिज्ञा पूरी करना हमारे बस का तो है नहीं। वन में रहते हमें तेरह महीने पूरे हो चुके हैं। जैसे सोमलता के न मिलने पर किसी और लता से यज्ञ का काम चला लेते हैं, वैसे ही हम भी आपद्धर्म के न्याय से काम ले सकते हैं। तेरह बरस की जगह तेरह महीने ही काफी हो सकते हैं। शास्त्रों का कहना है कि धोखे में पड़कर जो प्रतिज्ञा की जाती है उसके टूट जाने पर प्रायश्चित्त करके उस दोष का परिमार्जन किया जा सकता है। बैल पर बोझ लादना होता है जरूर, लेकिन बैल को एक मुट्ठी घास खिलाने से उस थोड़े से पाप का प्रायश्चित्त हो जाता है। इसलिए शत्रु का वध करने का निश्चय कीजिए। क्षत्रियों के लिए इससे बढ़कर धर्म और कोई नहीं है।"

भीमसेन अक्सर इसी प्रकार उत्तेजित होकर बहस किया करता,

लेकिन द्रौपदी का ढंग कुछ और था। दुर्योधन और दुःशासन के हाथों जो अपमान उसे सहना पड़ा था, उसकी वह बार-बार याद दिलाती और शास्त्र-पुराणों के प्रमाण देकर ऐसे तर्क करती कि स्वयं युधिष्ठिर भी चकरा जाते। वह ठंडी आह भरकर विचार में पड़ जाते। सोचते—इन लोगों पर धार्मिक बातों का कोई प्रभाव नहीं होगा। इसलिए वह नीति-शास्त्र का सहारा लेते और अपनी और शत्रु की ताकत की तुलना करके भीमसेन और द्रौपदी को समझाते।

वह कहते—"भूरिश्रवा, द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा आदि बड़े-बड़े योद्धा शत्रु के पक्ष में हैं। इसके अलावा दुर्योधन और उसके भाई स्वयं युद्ध-कुशल हैं। छोटे-बड़े कितने ही राजा दुर्योधन के पक्ष में चले गए हैं। भीष्म और द्रोणाचार्य यद्यपि दुर्योधन को अधिक नहीं मानते हैं, फिर भी वे उसका साथ छोड़ेंगे, ऐसा नहीं दीखता। युद्ध में दुर्योधन की खातिर प्राणों तक की बलि चढ़ाने को वे तैयार हैं। अटल योद्धा कर्ण शस्त्र-विद्या का पार पा चुका है। वह बड़ा ही उत्साही वीर है और इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है। युद्ध के संचालन में भी उसे कमाल हासिल है। ऐसे-ऐसे कुशल योद्धा जब शत्रु के पक्ष में हैं तो अभी हमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। उतावली से काम नहीं बनेगा।"

इस भांति युधिष्ठिर अपने भाइयों की उत्तेजना कम करने और उनको सहनशील बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते थे।

इसी बीच एक बार व्यासजी से पाण्डवों की भेंट हो गई। उनकी सलाह मानकर अर्जुन दिव्यास्त्र प्राप्त करने के लिए हिमालय पर तपस्या करने गया। भाइयों से विदा लेने के बाद अर्जुन पांचाली से विदा मांगने गया तो वह बोली—"हे धनंजय, मेरी कामना है कि तुम जिस उद्देश्य के लिए जा रहे हो, वह पूरा हो। माता कुंती ने तुमसे जो-जो आशाएँ की हैं वे सब पूरी हों। हम सबके सुख-दुःख, जीवन, मान एवं संपत्ति के तुम्हीं आधार हो। कार्य सिद्ध करके कुशलपूर्वक जल्दी लौटना।"

यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि तपस्या के निमित्त जब अर्जुन जाने लगा तो यद्यपि द्रौपदी पत्नी-रूप में ही बोल रही थी, पर उसके हृदय में मातृभाव प्रबल हो उठा था। प्रेम की जगह वात्सल्य ने ले ली

थी। माता कुंती के स्थान पर स्वयं उसने अपने पति अर्जुन को आशीर्वाद देकर विदा किया।

अर्जुन हिमालय की ओर चल दिया। चलते-चलते वह इंद्रालिक नामक पर्वत पर जा पहुंचा। वहां एक बूढ़े ब्राह्मण से उसकी भेंट हुई।

"बच्चे! कौन हो तुम? कवच पहने, धनुष-बाण और तलवार लिये यहां कैसे भूल पड़े, बेटा! यह तो तपोवन है। जिन लोगों ने क्रोध और वासना को त्याग दिया हो, उन्हीं तपस्वियों के योग्य है यह स्थान। अस्त्र-शस्त्रों का तो यहां काम ही नहीं है। फिर क्षत्रियों के-से इस वेष में तुम यहां क्या करने आये हो?" बूढ़े ब्राह्मण ने मुस्कराते हुए पूछा। यह देवराज इंद्र थे और अपने पुत्र को देखने आये थे।

अर्जुन आश्चर्यचकित-सा खड़ा रहा। तब ब्राह्मण-रूपी देवराज इन्द्र अपने असली रूप में अर्जुन के सामने प्रकट हुए और बोले—"वत्स, तुम्हें देखने की इच्छा हुई, इसीलिए मैं यहां आया हूं। तुम्हें देखकर मेरा मन प्रसन्न हो गया। तुम्हें जिस वर की इच्छा हो, मांगो!"

अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—"मुझे दिव्य अस्त्र चाहिए। वही देने की कृपा करें।"

"धनंजय! अस्त्रों को लेकर क्या करोगे? जिस किसी सुख-भोग की इच्छा हो, वह मांगो। ऊंचे लोकों की चाह हो तो वह मांगो, दूंगा।" इन्द्र ने अर्जुन को परखने के लिए कहा।

परन्तु अर्जुन विचलित न हुआ। बोला—"देवराज! मुझे सुख भोगने या ऊंचे लोकों में जाने की इच्छा नहीं है। द्रौपदी और अपने भाइयों को वन में अकेला छोड़ आया हूं। मुझे सिर्फ कुछ अस्त्रों की आवश्यकता है।"

हजार आंखोंवाले इन्द्रदेव अर्जुन की दृढ़ता पर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"महादेवजी की तपस्या करो। उनके दर्शन हो जायं तो तुम्हारी कामना अवश्य पूरी होगी और तुम्हें दिव्यास्त्र भी प्राप्त होंगे।" कहकर इन्द्र अन्तर्धान हो गए।

इन्द्र के कथनानुसार अर्जुन महादेव का ध्यान करके तपस्या करने में लीन हो गया। इस प्रकार वह कई दिन तक वन में घोर तप करता

रहा।

संयोग ऐसा हुआ कि पिनाकपाणि महादेव देवी पार्वती के साथ व्याध के रूप में शिकार के लिए उसी वन में आ पहुंचे। वे एक जंगली सूअर का पीछा कर रहे थे। सामने अर्जुन को देखकर सूअर उनपर झपटा। अर्जुन चौंक उठा और उसने अपने गांडीव पर बाण चढ़ाकर चला दिया। ठीक उसी समय पिनाक तानकर महादेवजी ने भी सूअर पर तीर मारा। सूअर पर दोनों तीर एक साथ लगे और उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

अपने शिकार पर एक शिकारी को हमला करते देखकर अर्जुन को गुस्सा आ गया। वह तेज होकर बोला—"कौन हो तुम लोग? अपनी स्त्री के साथ यहां क्यों भटक रहे हो? और तुमने मेरे शिकार पर अपना तीर चलाने की हिम्मत कैसे की?"

शिकारी ने नफरत से मुंह बनाते हुए कहा—"इस जंगल में तो शिकार भरे पड़े हैं। हम इसी जंगल में रहते हैं, इसलिए वे सब हमारे ही हैं। तुम तो वनवासी नहीं मालूम पड़ते। तुम्हारा शरीर और रहन-सहन का ढंग यह बताता है कि तुम नगरवासी हो। तुम्हारे बजाय तो मुझे तुमसे यह पूछना चाहिए कि तुम कौन हो और यहां क्यों आये हो और क्या कर रहे हो? फिर तुम्हारा यह ख्याल गलत है कि शिकार तुमने मारा है। तीर पहले मेरा लगा है। और अगर तुम्हारा यह ख्याल है कि तुम्हारे तीर से शिकार मरा है तो इसका फैसला मुझसे लड़कर कर लो।"

अर्जुन को भला इससे अच्छा क्या लगता? वह उछल पड़ा और उसने व्याध-रूपधारी शिवजी पर नागास्त्र चला दिया।

किन्तु क्या देखता है कि उन बाणों का व्याध पर कोई असर ही नहीं हो रहा है। इसपर अर्जुन ने बाणों की और भी भारी वर्षा की। पर व्याध के शरीर पर उनका उतना-सा ही प्रभाव हुआ, जितना वर्षा की धारा का पहाड़ पर होता है। व्याध के मुख पर प्रसन्नता की झलक थी, यहां तक कि अर्जुन के तूणीर के सारे बाण समाप्त हो गए।

अब अर्जुन का मन शंकित हो गया। वह कुछ घबरा-सा गया।

फिर भी संभलकर उसने धनुष की नोक व्याध के शरीर में भोंकने की कोशिश की। व्याध इसपर भी विचलित न हुआ; हँसते-हँसते उसने अर्जुन के हाथ से धनुष छीन लिया। अजेय वीर अर्जुन एक जंगली व्याध के हाथों इस प्रकार परास्त हो रहा, परन्तु उसने फिर भी हार मानी नहीं। वह तलवार खींचकर व्याध पर टूट पड़ा और व्याध के सिर पर ज़ोर का वार किया। किन्तु आश्चर्य! तलवार के ही दो टुकड़े हो गए और व्याध अचल खड़ा रहा। तब अर्जुन ने पत्थरों की बौछार करनी शुरू की। उससे भी काम न बना तो मुट्ठी बांधकर घूंसे मारना शुरू किया, पर उसमें भी अर्जुन को हार खानी पड़ी। जब इससे भी कुछ न बना तो अर्जुन ने व्याध के साथ कुश्ती लड़ना शुरू कर दिया। परन्तु व्याध ने अर्जुन को खूब कसकर पकड़ लिया और उसे बेबस कर दिया।

अर्जुन को अब कुछ न सूझा। उसका दर्प चूर हो गया। अपने बल का घमंड छोड़ कर उसने देवाधिदेव महादेव का ध्यान किया। ईश्वर की शरण लेते ही उसके मन में मानो ज्ञान का उजाला फैल गया। वह तुरन्त जान गया कि व्याध कौन है। तुरन्त व्याधरूपी महादेव के पांवों पर गिर पड़ा और क्षमा मांगी और आशुतोष महादेव ने उसे क्षमा कर दिया। इसके बाद अर्जुन को उसके धनुष-बाण आदि सारे अस्त्र-शस्त्र वापस दे दिए और पाशुपत की विद्या एवं और भी कितने ही वरदान दिये।

अर्जुन की प्रसन्नता की सीमा न रही। महादेव के दिव्य स्पर्श के कारण उसके शरीर के सारे दोष दूर हो गए। उसकी शक्ति एवं कांति अनंत गुना बढ़ गई। महादेव ने अर्जुन से कहा—"तुम अब देवलोक जाओ और देवराज इन्द्र से भी मिल आओ।" यह कहकर महादेव अन्तर्धान हो गए, उसी प्रकार जैसे सूरज अपनी सुनहरी ज्योति समेट-कर अस्त हो जाता है।

पर अर्जुन को कुछ चेत नहीं था। वह खड़ा-खड़ा यही सोचता रहा—'क्या देवाधिदेव महादेव के मुझे प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे? उनके दिव्य स्पर्श का मुझे सद्भाग्य मिला? मुझे दिव्यास्त्र प्राप्त हो गए? मैं

कृतार्थ हो गया।' इस प्रकार खोया सा-अर्जुन खड़ा रहा। इसी बीच इन्द्र के सारथि मातलि ने उसके सामने देवराज का रथ लाकर खड़ा कर दिया और अर्जुन उसपर आरूढ़ होकर इन्द्रलोक को चल दिया।

: २९ :

विपदा किसपर नहीं पड़ती ?

वनवास के दिनों में एक बार श्रीकृष्ण और बलराम अपने साथी-संगियों के साथ पांडवों से मिलने गए। पांडवों की दशा देखकर बलराम का जी भर आया। वह श्रीकृष्ण से बोले—

"कृष्ण ! कहते तो हैं कि भलाई का फल अच्छा और बुराई का फल बुरा होता है; परन्तु यहां तो मालूम ऐसा पड़ता है कि भलाई या बुराई का असर किसी के जीवन पर पड़ता ही नहीं। यदि ऐसा न होता तो कैसे हो सकता था कि दुर्योधन तो विशाल राज्य का स्वामी बन जाय और महात्मा युधिष्ठिर जंगल में वल्कल पहने वैरागियों का जीवन व्यतीत करें ? दुर्योधन और उसके भाइयों की दिन-पर-दिन बढ़ती हो जा रही है, जबकि युधिष्ठिर राज्य, सुख और चैन से वंचित होकर वन में विपत्ति के दिन काट रहे हैं। इस उल्टे न्याय को देखकर परमात्मा पर से लोगों का विश्वास उठ जाय तो क्या आश्चर्य ! धर्म और अधर्म का यह उल्टा नतीजा देखकर मुझे शास्त्रों की धर्म-प्रशंसा ढोंग मालूम पड़ती है। राज्य के लोभ में पड़े हुए धृतराष्ट्र मृत्यु के समय अपनी करतूतों का क्या समाधान देंगे ? निर्दोष पाण्डवों को और यज्ञ की वेदी से उत्पन्न द्रौपदी को वनवास का यह महान् दुःख झेलते देखकर, और तो और, पत्थर तक पिघल जाते हैं। और पृथ्वी भी शोकातुर हो रही है।"

इसपर सात्यकि, जो पास ही खड़ा था, बोल उठा—"बलराम, यह दुःख मानने का समय नहीं है। रोने-धोने से भी कभी काम बना है ? समय गंवाना ठीक न होगा। आप, श्रीकृष्ण आदि हम सब बन्धुओं के जीते-जी पांडव इस प्रकार वनवास भोगें ही क्यों ? बन्धुओं

और हितेच्छुओं के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि पांडवों का दुःख दूर करने की हम अपनी ओर से बस भर कोशिश करें, भले ही पांडव इस बात का हमसे अनुरोध करें या न करें। हमें अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही होगा। चलिए, अपने बन्धु-बांधवों को इकट्ठा करके दुर्योधन के राज्य पर हमला कर दें और दुर्योधन को उसके कर्मों का दण्ड दें। वृष्णियों की सेना की सहायता से कौरवों का नाश करने में हम समर्थ हैं ही। और सेना की जरूरत भी क्या है ? आप और श्रीकृष्ण अकेले ही यह काम कर सकते हैं। मेरा मन तो ऐसा करता है कि कर्ण के सारे अस्त्र-शस्त्र चूरकर दूं और उसका सिर धड़ से अलग कर दूं। दुर्योधन और उसके साथियों का काम तमाम करके पांडवों का छिना हुआ राज्य अभिमन्यु को सौंप दूं। वनवास बिताने की प्रतिज्ञा में तो पाण्डव ही न बँधे हुए हैं। वे उसे खुशी से पूरा करते रहें। चलिए, आज का हमारा यही कर्त्तव्य है।"

श्रीकृष्ण, जो बलराम और सात्यकि दोनों की बातों को बड़े ध्यान से सुन रहे थे, बोले—"आप दोनों ने जो कहा वह है तो ठीक, किन्तु यह तो सोचना चाहिए कि पांडव दूसरों के जीते हुए राज्य को स्वीकार भी करेंगे ? मेरा तो ख्याल है कि पांडव जिस राज्य को अपने बाहुबल से न जीतें उसे दूसरों से जितवाना पसन्द न करेंगे। वीरों के वंश में पैदा हुई द्रौपदी भी इसे नहीं मानेगी। युधिष्ठिर राज्य के लोभ से या किसी दूसरे से डरकर अपने धर्म से टलने वाले व्यक्ति नहीं हैं। वह तो अपने प्रण पर अटल रहेंगे। इसलिए हमारे लिए यही उचित होगा कि प्रतिज्ञा पूरी होने पर पांचालराज, कैकय-नरेश आदि मित्रों को साथ लेकर पांडवों का साथ दें और फिर युद्ध में शत्रुओं का नाश करें।"

ये सब बातें सुनकर युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए। बोले—"श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा। हमें अपनी प्रतिज्ञा का ही पालन करना चाहिए। राज्य-प्राप्ति का ध्यान अभी नहीं। श्रीकृष्ण ही केवल मुझे ठीक-ठीक समझते हैं। हम तभी लड़ेंगे जब श्रीकृष्ण उसकी सलाह देंगे। अभी वृष्णि-कुल के वीरों से तो मैं यही कहूंगा कि वे लौट जायं और धर्म पर अटल रहें।

फिर जब समय अनुकूल होगा तब हम सब फिर मिलेंगे।" इस तरह युधिष्ठर ने अपने हितैषियों को समझा-बुझाकर विदा किया।

●

अर्जुन को पाशुपत-प्राप्ति के लिए गए बहुत दिन बीत गए। इतने समय बाद भी उसके न लौटने पर भीमसेन बड़ा चिन्तित हो गया। उसका दुःख और क्षोभ पहले से भी अधिक हो उठा। वह युधिष्ठर से कहने लगा—

"महाराज! आप जानते ही हैं कि अर्जुन ही हमारा प्राणाधार है। वह आपकी आज्ञा मानकर गया है। न जाने उसपर क्या कुछ बीत रही होगी। यदि ईश्वर न करे, उसके प्राणों पर बन आई तो फिर हमारा क्या होगा? अर्जुन के बिना तो हम कहीं के न रहेंगे। उसके बिना श्रीकृष्ण, द्रुपद, सात्यकि आदि सब मिलकर भी हमारा बचाव नहीं कर सकेंगे। यदि अर्जुन को कहीं कुछ हो गया तो फिर मुझसे उसका शोक न सहा जायगा। आपन ही तो चौपड़ का खेल खेलकर हमें इस दारुण दुःख में डाल दिया है और झेलना अब हमें पड़ रहा है। उधर हमारे शत्रुओं की ताकत बढ़ रही है। क्षत्रिय का कर्त्तव्य जंगल में रहना नहीं, बल्कि राज्य करना होता है। अपने कुल के धर्म को छोड़कर आप क्यों यह जिद पकड़े बैठे हैं? अब अर्जुन को किसी तरह वापस बुलाएं और श्रीकृष्ण को साथ लेकर धृतराष्ट्र के लड़कों पर हमला कर दें। ऐसा न होगा तो मुझे शान्ति न मिलेगी। जब तक दुरात्मा दुर्योधन और उसके साथी शकुनि, कर्ण आदि पापियों का काम तमाम नहीं होता, मुझे चैन नहीं मिलने का। हां, यह हो जाने के बाद आप फिर शौक से जंगल में जाकर तपस्या करते रह सकते हैं। जो काम तुरन्त करना आवश्यक हो—जो काम हमारे सामने हो—उसे करने में देरी लगाना भारी भूल होगी। जिसने हमें धोखा दिया, उसे चालाकी से मारना पाप नहीं हो सकता। शास्त्रों में कहा गया है कि एक वर्ष में पूरे होनेवाले कुछ व्रतों को एक दिन और रात में भी पूरा किया जा सकता है। इसके आधार पर हम भी तेरह दिन और तेरह रात्रि व्रत रक्खें तो तेरह बरस वनवास की प्रतिज्ञा शास्त्रोचित ढंग से भी पूरी हो जायगी। मुझे आपकी आज्ञा-भर

की देरी है। मैं तो दुर्योधन के प्राण लेने को वैसे ही उत्कंठित हो रहा हूं जैसे सूखे झाड़-झंखाड़ को फूंक डालने के लिए आग।"

भीम की इन जोशीली बातों को सुनकर युधिष्ठिर का कंठ भर आया। उन्होंने भीम को गले लगा लिया और बड़े प्रेम से उसे समझाते हुए बोले—"भैया मेरे! तेरह बरस पूरे होते ही गाण्डीवधारी अर्जुन और तुम लड़ाई में दुर्योधन का अवश्य वध करोगे, इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं है। पर अभी विचलित न होओ। उचित समय तक थोड़ा धीरज धरो। पाप के बोझ से दबे हुए दुर्योधन और उसके साथी अवश्यमेव उसका फल भोगेंगे। वे बचेंगे नहीं।"

●

दोनों भाइयों में यह चर्चा हो ही रही थी कि इतने में बृहदश्व ऋषि पांडवों के आश्रम में पधारे। युधिष्ठिर ने उनकी विधिवत् पूजा की और खूब आदर-सत्कार करके बड़े नम्र भाव से उनके पास बैठकर कहा—

"भगवन्! छली लोगों ने हमें चौपड़ के खेल में बुलाया और धोखे से हमारा राज्य और संपत्ति छीन ली। उनके फलस्वरूप मुझे और मेरे अनुपम वीर भाइयों को द्रौपदी के साथ वनवास का यह कष्ट भोगना पड़ रहा है। अर्जुन, बहुत दिन हुए, अस्त्र प्राप्त करने के लिए गया है, पर अभी तक लौटा नहीं। उसकी अनुपस्थिति में हमें ऐसा मालूम हो रहा है, मानो हमारे प्राण चले गए हैं। आप कृपया बताएं कि अर्जुन अस्त्र प्राप्त करके कब लौटेगा? हम उससे कब मिलेंगे? इस समय तो हम दुःख के सागर में गोते खा रहे हैं। संसार में शायद ही कोई ऐसा हुआ होगा जिसने मेरे जितना दुःख सहा हो। मैं बड़ा ही अभागा हूं।"

ऋषि बोले—"युधिष्ठिर! मन में शोक को स्थान न दो। अर्जुन अपने दिव्यास्त्रों एवं वरदानों को प्राप्त करके सकुशल वापस आयेगा। तुम लोग शत्रुओं पर विजय भी पाओगे। अतः यह न समझो कि तुम-जैसा अभागा संसार में कोई हुआ ही न होगा। शायद तुम राजा नल की कहानी नहीं जानते, जिसने तुमसे कहीं ज्यादा दुःख झेला था। निषध देश के प्रतापी राजा नल के बारे में क्या तुमने नहीं सुना? उसने भी चौपड़ खेला था और पुष्कर नाम के उसके एक दुर्बुद्धि भाई ने उसे राज्य

से निकालकर वन में भगा दिया था। वनवास के समय बेचारे नल के साथ न तो भाई ही थे, न ब्राह्मण लोग। कलि ने नल की बुद्धि भी हर ली थी। इस कारण उसके सारे गुण नष्ट हो गए थे। यहांतक कि उसने अपनी पत्नी को भी धोखा दिया और उसे वन में अकेली छोड़कर भाग गया था। तुम्हारे साथ तो देवताओं के सामन चार भाई हैं। कितने ही ज्ञानी ब्राह्मण सदा तुम्हें घेरे रहते हैं। अनुपम सती द्रौपदी साथ में है। तुम्हारी बुद्धि भी स्थिर है। उसमें कोई दोष नहीं है। फिर तुम्हें दु:ख काहे का? तुम तो भाग्य के बली हो। शोक करना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

इसके बाद ऋषि ने नल-दमयन्ती की कहानी विस्तार से युधिष्ठिर को सुनाई। अन्त में ऋषि बृहदश्व ने कहा—

"पाण्डुपुत्र! नल ने दारुण दु:ख सहने के बाद अन्त में सुख पाया था। वह कलि से पीड़ित था और जंगल में अकेले रहता था। किन्तु तुम्हारे साथ तुम्हारे भाई और द्रौपदी हैं। तुम सदा धार्मिक बातों का चिन्तन करते रहते हो। वेद-वेदांग के पंडित ब्राह्मण तुम्हें घेरे रहते और पवित्र कथाएं सुनाते रहते हैं। मनुष्य के जीवन में संकट का होना कोई नई बात नहीं है, इसलिए शोक न करो!"

: ३० :
अगस्त्य मुनि

युधिष्ठिर जब राजा थे तब जिन ब्राह्मणों ने उनके यहां आश्रय लिया था, वनवास के समय भी उन्होंने युधिष्ठिर का साथ नहीं छोड़ा। ऐसे कठिन समय में इतने सारे ब्राह्मणों का पालन करना कठिन काम था। लेकिन युधिष्ठिर उसे बड़ी आस्था के साथ निभा रहे थे। अर्जुन के तपस्या करने को जाने के बाद, एक बार लोमश नाम के यशस्वी ऋषि युधिष्ठिर के आश्रम में आये। उन्होंने देखा कि युधिष्ठिर को ऋषि-मुनियों की भारी भीड़ घेरे हुए है। उन्होंने युधिष्ठिर को सलाह दी कि वनवास के दिनों में इतने लोगों की भीड़ को साथ रखना उचित नहीं।

यह जितनी कम हो, उतना ही अच्छा। इसलिए अपने साथ के लोगों की संख्या कम कर लीजिए और कुछ समय के लिए तीर्थाटन के लिए चले जाइए।

लोमश ऋषि की सलाह मानकर युधिष्ठिर ने अपने साथ के लोगों को बताया—"हम लोग तीर्थाटन को जाने वाले हैं। मार्ग में काफी मुसीबतें आ सकती हैं। इस कारण जो लोग तकलीफ नहीं उठा सकते, जो स्वादिष्ट भोजन पाने की लालसा से साथ रहना चाहते हैं, जो अपने हाथ से भोजन नहीं पकाते और जो मुझे राजा समझकर यहां आश्रय लिये हुए हैं, अच्छा हो कि वे सब राजा धृतराष्ट्र के पास चले जायं। अगर वह आश्रय न दें तो पांचाल-नरेश द्रुपद के पास चले जायं।" ब्राह्मणों को इस भांति समझाकर और लोगों को इधर-उधर भेजकर युधिष्ठिर ने अपने पास का जमघट कम कर लिया और पुण्य क्षेत्रों की यात्रा के लिए निकल पड़े। यात्रा में वह प्रत्येक तीर्थ की पूर्व कथा भी जहां-जैसी प्रचलित होती, सुनते। इसी यात्रा के दौरान में पांडवों को अगस्त्य मुनि की कथा भी सुनने में आई।

•

एक बार यात्रा करते हुए महामुनि अगस्त्य ने देखा कि कुछ तपस्वी उलटे लटके हुए हैं और इस कारण बड़ी तकलीफ पा रहे हैं। उन्होंने पूछा कि आप लोग कौन हैं? यह घोर यातना क्यों सह रहे हैं? तपस्वियों ने उत्तर दिया—"बेटा! हम तुम्हारे पूर्वज पितर हैं। तुम अविवाहित ही रह गए, इस कारण तुम्हारे बाद हमें पिंड-तर्पण देनेवाला कोई नहीं रह जायगा। इसी कारण हमें यह घोर तपस्या करनी पड़ रही है। यदि तुम विवाह करके पुत्रवान् हो जाओ तो हम इस यातना से छुटकारा पा जायँगे।"

यह सुनकर अगस्त्य ने विवाह करने का निश्चय कर लिया।

विदर्भ देश के राजा के कोई सन्तान न थी। उन्हें इसका बड़ा शोक था। एक बार राजा ने अगस्त्य मुनि से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि मुझे सन्तान होने का वर दीजिए।

अगस्त्य ने वर तो दे दिया, किन्तु एक शर्त के साथ। वह बोले—

"राजन् ! तुम्हारे पुत्री होगी । लेकिन उसका विवाह मेरे साथ करना होगा ।"

वरदान देते समय मुनि ने स्त्रियोचित सौंदर्य के सारे लक्षणों से सुशोभित एक अनुपम सुन्दरी की कल्पना कर ली थी । विदर्भ-नरेश की रानी ने ऐसी ही एक पुत्री को जन्म दिया । उसका लावण्य अलौकिक था । पुत्री का नाम लोपामुद्रा रखा गया । दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हुई लोपामुद्रा विवाह-योग्य वय को प्राप्त हुई ।

विदर्भराज की कन्या की अनूठी सुन्दरता की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी । परन्तु फिर भी अगस्त्य के डर के मारे कोई राजकुमार उससे ब्याह करने को प्रस्तुत न होता था । इस बीच अगस्त्य मुनि फिर एक बार विदर्भराज की सभा में आ पहुंचे और राजा से बोले—"पितरों को संतुष्ट करने के लिए पुत्र पाने का इच्छुक हूं । अपने दिये वचन के अनुसार अपनी पुत्री का ब्याह मेरे साथ कर दीजिए ।"

अनेक सखियों से घिरी हुई और दास-दासियों की सेवा-टहल में पली अपनी लाड़ली बेटी को जंगल में रहनेवाले और साग-पात खानेवाले मुनि के हाथों सौंप देना राजा को बड़ा नागवार गुजरा । फिर भी वचन जो दे चुके थे ! ऋषि के क्रोध का भी डर था । राजा बड़े असमंजस में पड़ गए ।

राजा और रानी को इस प्रकार चिन्तित देखकर लोपामुद्रा ने कहा—"आप उदास क्यों होते हैं ? मेरे कारण आपको मुनि का शाप सहना पड़े, यह कभी नहीं हो सकता । मुनि के साथ मेरा ब्याह कर दीजिए । मुझे भी यही पसंद है ।"

बेटी की बातों से राजा को सान्त्वना मिली और राजा ने अगस्त्य मुनि के साथ लोपामुद्रा का विधिवत् विवाह कर दिया ।

ऋषि वन में जाने लगे तो लोपामुद्रा भी उनके साथ चलने को तैयार हुई ।

"ये कीमती आभूषण और वस्त्र यहीं उतार दो ।" मुनि ने कहा ।

लोपामुद्रा ने तुरन्त अपने सुन्दर गहने-कपड़े उतारकर सखियों को दे दिये और खुद वल्कल और मृग-चर्म पहनकर खुशी-खुशी अगस्त्य मुनि

के साथ हो ली ।

गंगा नदी के उद्गम पर अगस्त्य मुनि का आश्रम था । वहां लोपामुद्रा अगस्त्य के साथ व्रतपूर्वक रहने लगी । वह बड़ी सावधानी और चिन्ता के साथ मुनि की सेवा-शुश्रूषा करती और उनका मन बहलाती । इस प्रकार सेवा करके उसने उन्हें पूर्णरूप से लुभा लिया ।

लोपामुद्रा की सेवा, सौन्दर्य और हाव-भाव से मुनि के मन में काम जाग्रत हो उठा । उन्होंने लोपामुद्रा को गर्भ-धारण के लिए बुलाया । स्त्रियोचित लज्जा के साथ लोपामुद्रा ने सिर झुका लिया और हाथ जोड़कर कहा—"नाथ ! मैं वैसे आपकी आज्ञा पालन करने के लिए बाध्य हूं । किन्तु मेरी भी इच्छा आप पूरी कर देने की कृपा करें ।"

उसके अनुपम रूप और शील-स्वभाव से मुग्ध होकर मुनि ने कहा—"तथास्तु !"

लोपामुद्रा ने कहा—"मेरी इच्छा है कि पिता के यहां जो कोमल शैय्या और सुन्दर वेश-भूषा मुझे प्राप्त थी, यहां भी मिले । आप भी सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करें और तब हम दोनों संयोग करें ।"

"तुम्हारी इच्छा पूरी करने के लिए तो धन चाहिए । हम तो ठहरे जंगल में रहनेवाले दरिद्र ! धन कहां से लायें ?" अगस्त्य ने कहा ।

"स्वामिन् ! आपके पास जो तपोबल है वही सब-कुछ है । आप चाहें तो संसार का सारा ऐश्वर्य पल-भर में खड़ा कर सकते हैं ।" लोपामुद्रा ने कहा ।

"तुम्हारा कहना ठीक तो है । पर यदि मैं तपोबल से धनार्जन करने लग जाऊं तो फिर मेरा तपोबल सांसारिक वस्तु के लिए खर्च हो जायगा । क्या तुम्हें यह पसन्द है कि मैं इस प्रकार तपोबल गंवाऊं ?" अगस्त्य ने पूछा ।

"नहीं, मैं यह नहीं चाहती कि आपकी तपस्या इन बातों के लिए नष्ट हो । मेरी इच्छा तो यह थी कि आप तपोबल का सहारा लिये बगैर ही कहीं से काफी धन ले आते ।" लोपामुद्रा ने उत्तर दिया ।

"अच्छा, भाग्यवती ! मैं वही करूंगा, जिससे तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ।" कहकर अगस्त्य मुनि एक मामूली ब्राह्मण की भांति राजाओं से

धन की याचना करने चल पड़े।

अगस्त्य मुनि एक ऐसे राजा के यहां गए, जो अपने अटूट धन-वैभव के लिए प्रसिद्ध था। जाकर बोले—

"राजन्, कुछ धन की याचना करने आया हूं। किन्तु मुझे दान देने से ऐसा न हो कि किसी और जरूरतमंद को तकलीफ पहुंचे या और किसी आवश्यक खर्च में कमी पड़ जाय।"

राजा ने अपने राज्य के आय और व्यय का सारा हिसाब उठाकर अगस्त्य ऋषि के सामने रख दिया और कहा—"आप स्वयं ही देख लें। व्यय से जितनी अधिक आय हो, वह आप ले लें। अगस्त्य ने सारा हिसाब उलट-पलट कर देखा तो मालूम हुआ कि जितनी आमदनी है, उतना ही खर्च भी है। बचत कुछ नहीं है। किसी भी सरकार का आय और व्यय बराबर ही होता है। उन दिनों भी यही बात थी।

अगस्त्य ने सोचा कि यदि मैं यहां से कुछ लूंगा तो प्रजा को कष्ट पहुंचेगा, इसलिए राजा को आशीष देकर वह दूसरे राजा के यहां जाने लगे। यह देखकर राजा ने कहा—"मैं भी आपके साथ चलूंगा।" अगस्त्य ने उसे भी अपने साथ ले लिया और एक दूसरे राजा के यहां गए। वहां भी यही हाल था।

इस प्रकार अगस्त्य मुनि ने अपने अनुभव से जान लिया कि न्यायोचित ढंग से कर लेकर अपने राजोचित कर्तव्य का शास्त्रानुसार पालन करनेवाले किसी राजा से जितना-सा भी दान लिया जायगा, उतना ही कष्ट उसकी प्रजा को पहुंचेगा। यह सोच अगस्त्य तथा सब राजाओं ने तय किया कि इलवल नाम के एक अत्याचारी असुर राजा के पास जाकर दान लिया जाय।

इलवल और वातापी दोनों असुर भाई-भाई थे। ब्राह्मणों से उनको बड़ी नफरत थी। उन दिनों ब्राह्मण लोग मांस खा लेते थे। इससे फायदा उठाकर इलवल ब्राह्मणों को न्यौता देता और अपने भाई वातापी को आसुरी माया से बकरा बनाकर उसी का मांस ब्राह्मण मेहमानों को खिलाता। ब्राह्मणों के खा चुकने पर इलवल पुकारता—"वातापी! आ जाओ।" मरे हुए को जिलाने की शक्ति इलवल को प्राप्त थी।

उससे वातापी ब्राह्मण का पेट चीरकर हँसता हुआ सजीव निकल आता। इस प्रकार कितने ही ब्राह्मणों को इन असुरों ने मार डाला था। असुर सोचते थे कि इस प्रकार वे धर्म को धोखा देकर पुण्य-सुख भी लूट रहे हैं और ब्राह्मणों का काम तमाम करके अपना उद्देश्य भी पूरा कर रहे हैं। लेकिन यह उनकी भूल थी।

अगस्त्य के आने की खबर पाकर दोनों भाई बड़े खुश हुए कि अच्छा मोटा-ताजा शिकार फंसा है। उन्होंने ऋषि का आदरपूर्वक स्वागत किया और भोजन के लिए न्यौता दिया। हमेशा की तरह वातापी को बकरा बनाकर उसका मांस अगस्त्य को खिलाया गया। वे यह सोचकर बड़े खुश हो रहे थे कि बस, ये ऋषि अब घड़ी भर के ही मेहमान हैं। और मुनि जब भोजन कर चुके तो इलवल ने पुकारा—"वातापी! आओ भाई, जल्दी आओ। देर मत करना, नहीं तो कहीं ऋषि तुझे हज़्म न कर जायं।"

यह सुन अगस्त्य बोल उठे—"वातापी! अब आने की जल्दी न कर। संसार की भलाई के लिए तू हज़्म कर लिया गया है।" कहते कहते मुनि ने जोर की डकार ली और अपने पेट पर हाथ फेरा।

इलवल घबरा गया। चिल्ला-चिल्लाकर भाई का नाम लेकर पुकारने लगा, लेकिन वातापी जीवित हो तो आवे।

अगस्त्य मुनि मुस्कराकर बोले—"क्यों व्यर्थ को अपना गला फाड़ रहे हो? वातापी तो कभी का हज़्म हो चुका है।"

असुर इलविल अगस्त्य मुनि के पैरों पर गिर पड़ा और क्षमा मांगी तथा जितने धन की उन्हें इच्छा थी, उनके चरणों में लाकर रख दिया। ऋषि ने उसे क्षमा कर दिया, धन लेकर आश्रम लौटे और लोपामुद्रा की इच्छा पूर्ण की।

अगस्त्य ने लोपामुद्रा से पूछा—"तुम्हें अच्छे-अच्छे दस पुत्र चाहिए, या दस को हराने योग्य एक?"

लोपामुद्रा ने कहा—"नाथ! मुझे एक ही ऐसा बेटा चाहिए जो यशस्वी हो, विद्वान् हो और धर्म पर अटल रहे।"

कथा है कि लोपामुद्रा के एक ऐसा ही पुत्र उत्पन्न हुआ।

अगस्त्य मुनि की एक कथा और है—

एक बार विंध्याचल को मेरु पर्वत की ऊंचाई देखकर ईर्ष्या हो गई और वह स्वयं भी मेरु जितना ऊंचा होने की इच्छा से बढ़ने लगा। बढ़ते-बढ़ते विंध्याचल इतना ऊंचा हो गया कि सूर्य और चन्द्रमा की गति के रुक जाने का डर हो गया। देवताओं ने अगस्त्य मुनि से इस संकट से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह विंध्याचल के पास गए और बोले—"पर्वत-श्रेष्ठ ! ज़रा मुझे रास्ता दीजिये। एक आवश्यक कार्य से मुझे दक्षिण देश जाना है। मुझे रास्ता दे दीजिये और मेरे लौट आने तक रुके रहियेगा। उसके बाद आप बढ़ सकते हैं।"

विंध्याचल की अगस्त्य पर बड़ी श्रद्धा थी। इसी कारण अगस्त्य का अनुरोध मानकर उसने अपनी बढ़ती रोक ली। अगस्त्य दक्षिण-देश चले तो गए, किन्तु वापस न लौटे। और विंध्याचल उनकी बाट देखता हुआ आज तक रुका पड़ा है और बढ़ने नहीं पाया। इस प्रकार अगस्त्य मुनि दक्षिण देश में ही बस गए।

: ३१ :

ऋष्यश्रृंग

कुछ लोगों का ख्याल है कि बच्चों को विषय-सुख का ज़रा भी ज्ञान न होने दिया जाय तो वे पक्के ब्रह्मचारी बन सकते हैं। लेकिन यह गलत ख्याल है। इस ढंग से तो जिस किले का बचाव किया जाता है, वह सहज ही में दुश्मन के हाथ आ जाता है। इस पर प्रकाश डालने वाली बड़ी रोचक कथा महाभारत और रामायण में कही गई है। महाभारत के अनुसार लोमश ऋषि ने यह कथा पांडवों को विस्तारपूर्वक सुनाई—

महर्षि विभाण्डक ब्रह्मा के समान तेजस्वी थे। जिनके पुत्र ऋष्यश्रृंग थे। अपने पिता के साथ वह वन में रहा करते थे। ऋष्यश्रृंग ने अपने पिता के सिवा और किसी मनुष्य को नहीं देखा था। स्त्रियों के तो अस्तित्व

का तो उन्हें पता भी न था। इस भांति ऋष्यश्रृंग बचपन से ही विशुद्ध ब्रह्मचारी रहे।

●

एक बार अंग देश में भारी अकाल पड़ा। बारिश न होने के कारण सारी फसलें सूख गईं। लोग भूख और प्यास के मारे तड़प-तड़प कर मरने लगे। चौपायों के भी कष्ट की सीमा न रही। अकाल को यों देश पर हावी होते देखकर अंग-नरेश रोमपाद बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने ब्राह्मणों से सलाह ली कि प्रजा का यह दुःख कैसे दूर किया जाय। ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! ऋष्यश्रृंग नाम के एक ऋषि-कुमार हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत पर अटल हैं, यहां तक कि उन्हें स्त्रियों के अस्तित्व तक का भी पता नहीं है। उन्हें अगर राजधानी में बुला सकें तो उन महातपस्वी के राजधानी में पदार्पण करते ही वर्षा होने लग जायगी।"

यह सुनकर राजा रोमपाद अपने मंत्रियों से सलाह करने लगे कि ऋषिकुमार ऋष्यश्रृंग को ऋषि विभाण्डक के आश्रम से राजधानी में कैसे बुलाया जाय। उनकी सलाह से राजा ने शहर की कुछ सुन्दरी वारांगनाओं को बुलाकर आज्ञा दी कि वे वन में जाकर किसी-न-किसी उपाय से ऋषिकुमार को हर लावें।

गणिकाएं बड़े असमंजस में पड़ गईं। राजाज्ञा को न मानना दण्ड को न्यौता देना था और अगर मानती हैं तो उधर ऋषि विभाण्डक के शाप का डर था। करें तो क्या करें ? आखिर विवश होकर उन्हें राजा की आज्ञा माननी ही पड़ी राजा ने काफी धन और साज-सामान देकर उन्हें विदा किया।

वारांगनाओं की इस टोली की नायिका बड़ी चतुर थी। उसने एक सुन्दर बजरा बनवाया। उसमें उसने एक छोटा-मोटा बगीचा भी लगा दिया। पेड़-पौधे, झाड़-झंखाड़ सब नकली थे, फिर भी देखने से ज़रा भी पता नहीं चलता था कि यह बगीचा नहीं, बजरा है। इस बगीचे के बीच में एक आश्रम बना दिया गया। जब सब तैयारियां हो चुकीं तो बजरा चलाती हुई सब गणिकाएं विभाण्डक के आश्रम के

नजदीक जा पहुंचीं। बजरा वहीं किनारे के पेड़ से खूब सटाकर बांध दिया। इसके बाद डरी और सहमी हुई वे ऋषि के पास जा पहुंचीं।

ऋषि विभाण्डक उस समय आश्रम के अन्दर नहीं थे। कहीं बाहर गए हुए थे। मौका देखकर उन गणिकाओं में से जो सबसे सुन्दर थी, वह आश्रम के अन्दर चली गई। ऋषिकुमार ऋष्यश्रृंग आश्रम में अकेले थे।

"ऋषिकुमार ! आप सकुशल तो हैं ? फल-फूल तो आपको काफी मिल रहे हैं न ? वन में ऋषियों की तपस्या कुशलपूर्वक हो रही है न ? आपके पूज्य पिता का तप:तेज बढ़ ही रहा है न ? वेदाध्ययन ठीक से चल रहा है ?" गणिका तरुणी ने ऋषियों की-सी बोलचाल में कुशल-प्रश्न किये।

अतिथि का सौन्दर्य, सुकुमार, शरीर और समधुर कंठध्वनि भोले मुनिकुमार के लिए बिलकुल नई थी। यह सब देख-सुन उनके मन में एक नई उमंग जाग्रत हुई। स्वाभाविक वासना सजग हो उठी। वह अपने उद्वेग को रोक न सके। उन्होंने यही समझा था कि यह भी कोई ऋषिकुमार ही होगा; पर उनके मन में न जाने क्यों कुछ गुदगुदी-सी पैदा हो गई।

"आपके शरीर से आभा-सी फूट रही है। आप कौन हैं ? मैं आपको प्रणाम करता हूं। आपका आश्रम कहां है ? आप कौन-सा व्रत धारण किये हुए हैं ?" स्त्री और पुरुष का भेद न जाननेवाले भोले ऋष्यश्रृंग ने उस तरुणी गणिका से पूछा और उठकर आगन्तुक अतिथि के पांव धोये, अर्घ्य दिया और उसका इस तरह से आदर-सत्कार किया।

तरुणी ने मीठे स्वर में कहा—"यहां से तीन योजन की दूरी पर हमारा आश्रम है। मैं वहां से आपके लिए ये फल लाया हूं। आप मुझे प्रणाम न करें। मैं इस योग्य नहीं हूं। हमारा नमस्कार करने का ढंग निराला है। चाहता हूं कि उसी ढंग से आपको नमस्कार करूं।"

ऋषिकुमार उसके हाव-भाव और मधुर स्वर से मुग्ध होकर देखते रहे कि इतने में वह गणिका नगर से लाये हुए विविध पकवान, मोदक आदि उन्हें खिलाने लगी। उसके बाद सुगन्धित तथा रंग-बिरंगी

फूलों की मालाएं पहना दीं और तरह-तरह के पेय पदार्थ भी पीने को दिए। उसके बाद उसने ऋषिकुमार का आलिंगन करके चुंबन कर लिया और हंसकर बोली—"यही हमारा नमस्कार करने का ढंग है, ऋषिकुमार !"

इस प्रकार ऋषिकुमार और वह गणिका-सुन्दरी हास-विलास कर रहे थे कि तरुणी को ख्याल आया कि अब ऋषि विभाण्डक के लौटने का वक्त हो गया है। वह कुछ चंचल हो उठी और ऋषि-कुमार से बोली—"अब बहुत देर हो गई। अग्निहोत्र का समय हो आया। अब मुझे चलना चाहिए। कभी आप भी हमें हमारे आश्रम में पधार कर अनुगृहीत करें।"

इस प्रकार कहकर वह जल्दी से आश्रम से खिसक गई।

उधर विभाण्डक ऋषि आश्रम लौटे तो वहां का हाल देखकर चौंक पड़े। हवन-सामग्रियां इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। आश्रम साफ नहीं किया गया था। लताएं और पौधे टूटे पड़े थे और उनके पत्ते इधर-उधर बिखरे पड़े थे। ऋषिकुमार का मुख मलिन था। हमेशा की भांति उसमें ब्रह्मचर्य का तेज नहीं था। काम-वासना के कारण वह उद्भ्रान्त-से मालूम होते थे।

"बेटा, होम के लिए समिधा क्यों नहीं लाये ? इन कोमल पौधों को किसने तोड़ डाला ? आहुति के लिए दूध-दही लिया या नहीं ? यहां तुम्हारी सेवा-टहल के लिए कोई आया था क्या ? तुम्हें यह अद्भुत फूलों का हार किसने पहनाया ? बेटा, तुम्हारे मुख पर मलिनता क्यों छाई हुई है ?" विभाण्डक ने आतुर होकर पूछा।

भोले ऋषिकुमार ने उत्तर दिया—"पिताजी, अलौकिक रूपवाले कोई एक ब्रह्मचारी कहीं से आये हुए थे। उनका तेज, उनकी मधुर बोली और उनके अद्भुत रूप का वर्णन मैं कैसे करूं ? उनकी बातों और उनके नेत्रों ने मेरी अन्तरात्मा में न जाने कैसा अवर्णनीय आनन्द और स्नेह भर दिया है। जब उन्होंने मुझे अपनी कोमल बाँहों से आलिंगन में ले लिया तब मुझे ऐसे अलौकिक सुख का अनुभव हुआ जोकि इन फलों को खाने में भी नहीं आया था।" भोले-भाले ऋष्यश्रृंग इस प्रकार उस

गणिका की वेशभूषा और व्यवहार आदि का वर्णन करने लगे। वह भ्रमवश उसे ब्रह्मचारी ही समझे हुए थे। बोले—

"मेरा सारा शरीर मानों जल रहा है। मेरे मन में उस ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे जाने की प्रबल इच्छा हो उठती है। आप भी उन्हें यहां बुलाइएगा, पिताजी। उनका तेज और उनके व्रत की महिमा मैं आपको कैसे बताऊं? उनको फिर देखने को मेरा जी ललचा रहा है।" इस प्रकार ऋष्यश्रृंग की बातें धीरे-धीरे इस हद तक पहुंच गईं कि वे रोने और विलाप करने लगे।

विभाण्डक को सब बातें धीरे-धीरे समझ में आ गईं। उन्होंने पुत्र को समझाकर कहा—"बेटा, यह किसी राक्षस की माया है। राक्षस लोग हमेशा तपस्या में विघ्न डालने की ताक में रहते हैं। तपस्या भंग करने की कोई कुचेष्टा उठा नहीं रखते। तरह-तरह की चालें चलते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिए उन्हें पास भी न फटकने देना चाहिए।"

इसके बाद विभाण्डक कुचक्र रचनेवालों की तलाश में तीन दिन तक फिरते रहे और जंगल की चप्पा-चप्पा भूमि छान डाली। फिर भी वहां उन्हें कोई न मिला। हताश होकर वह आश्रम में लौट आये।

कुछ दिन बाद ऋषि विभाण्डक फिर एक बार फल-फूल लाने जंगल में दूर निकल गए। इतने में फिर वही गणिका ऋष्यश्रृंग के आश्रम की ओर धीरे-से आई। उसे दूर से देखते ही ऋष्यश्रृंग उसकी ओर ऐसे झपटे, जैसे बांध के अचानक टूट जाने पर पानी प्रबल वेग से प्रवाहित होता है।

"तेजोमय ब्रह्मचारी! चलो, चलो। पिताजी के आने से पहले ही तुम्हारे आश्रम में चले चलें।" ऋष्यश्रृंग ने कहा और बिना बुलाये ही वह उस गणिका के साथ हो लिये।

नकली आश्रमवाला बजरा नदी के किनारे बंधा था। दोनों जने उसपर चढ़ गए। ऋष्यश्रृंग के बजरे पर चढ़ते ही गणिकाओं ने उसे खोल दिया और वेग से उसे अंग-नरेश की राजधानी की ओर खेने लगीं। रास्ते में कितने ही मनोरंजक दृश्यों से ऋषिकुमार का मन बहलाती

हुई वे गणिका सुन्दरियां उन्हें अंग-नरेश की सभा में ले आईं।

अंग-नरेश रोमपाद के आनन्द की सीमा न रही। ऋष्यश्रृंग के पदार्पण करते ही सारे देश में खूब वर्षा होने लगी। सूखी झीलें और ताल-तलैये लबालब भर गए। खेत लहलहा उठे। नदियां उमड़ पड़ीं। प्रजा आनन्द मनाने लगी।

रोमपाद ने ऋषिकुमार को रनवास में ठहराया और उनकी सेवा-टहल के लिए दास-दासियां नियुक्त कर दीं। बाद में अपनी पुत्री शांता का विवाह भी ऋष्यश्रृंग के साथ कर दिया।

राजा की सभी कामनाएं तो पूरी हो गईं, किन्तु इस बात का भय बना रहा कि ऋषि विभाण्डक अपने पुत्र की खोज में आकर कहीं मुझे शाप न दे दें। मंत्रियों से सलाह करके राजा ने यह प्रबंध किया कि विभाण्डक के क्रोध को शांत करने का हर तरह का प्रयत्न किया जाय। इसके लिए राजा ने जंगल से लेकर राजधानी तक के तमाम रास्तों पर जहां-तहां सैकड़ों की संख्या में ग्वालों को गाय-बैलों के साथ ठहरा दिया। ग्वालों को कहा गया कि महर्षि विभाण्डक इस रास्ते से आने वाले हैं। उनका खूब आदर-सत्कार करना और कहना—"ये खेत, गाय-बैल, आदि सब आप ही के पुत्र की संपत्ति हैं। हम अब आप ही के अनुचर हैं। हमें आज्ञा कीजिए! आपके लिए हम क्या करें?" ऐसा कह-सुनकर हर तरह से मुनि के क्रोध को शांत करने की सब लोग कोशिश करना।

उधर विभाण्डक ऋषि जब आश्रम लौटे तो पुत्र को वहां न पाकर बड़े घबराये। उन्होंने सारा वन छान डाला. पर कुमार का पता न चला। दुःख और क्रोध से वह भर उठे। उन्हें विचार आया कि हो-न-हो, यह अंग-देश के राजा की करतूत होगी। यह विचार आते ही ऋषि तुरन्त रोमपाद राजा की राजधानी की ओर रवाना हो गए। वह नदियों और गांवों को पार करते हुए आगे बढ़ने लगे। क्रोध के कारण ऋषि की आंखें लाल हो रही थीं, मानो अंग-नरेश को जलाकर भस्म ही कर देंगे।

किन्तु रोमपाद की आज्ञानुसार रास्ते में ग्वालों ने खूब दूध पिलाकर और मीठे वचनों से ऐसा स्वागत किया कि राजधानी में पहुंचते-पहुंचते ऋषि का क्रोध एकदम शांत हो गया।

रोमपाद के राजभवन में पहुंचकर विभाण्डक ने देखा, ऋष्यश्रृंग राजभवन में इस प्रकार विराजमान हैं जैसे स्वर्ग में इन्द्र। उनके बगल में रोमपाद की राजकुमारी—ऋष्यश्रृंग की पत्नी—विराजमान थी। उसकी शोभा अनोखी ही थी।

यह सब देखकर विभाण्डक बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा को आशीर्वाद दिया और बेटे से बोले—"इस राजा की जो भी इच्छा हो, पूरी करना! एक पुत्र होने के बाद जंगल में लौट आना।" ऋष्यश्रृंग ने ऐसा ही किया।

लोमश मुनि युधिष्ठिर से कहते हैं—"नल के साथ दमयंती, वशिष्ठ के साथ अरुन्धती, राम के साथ सीता, अगस्त्य के साथ लोपामुद्रा और युधिष्ठिर, तुम्हारे साथ द्रौपदी, की भांति ऋष्यश्रृंग के साथ राजकुमारी शांता भी बाद में वन में चली गई। वन में उसने ऋष्यश्रृंग की बड़े प्रेम के साथ सेवा-टहल की और उनकी तपस्या में भी भाग लिया। यह वही स्थान है, जहां किसी समय ऋष्यश्रृंग का आश्रम था। इस नदी में स्नान करो और पवित्र होओ।"

पांडवों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उस तीर्थ में स्नान-पूजा की।

: ३२ :

यवक्रीत की तपस्या

महर्षि लोमश के साथ तीर्थाटन करते हुए पांडव गंगा-किनारे रैभ्य मुनि के आश्रम में पहुंचे। लोमश ऋषि ने पांडवों को उस स्थान की महिमा बताते हुए कहा—

"युधिष्ठिर! यही वह घाट है जहां दशरथ-पुत्र भरत ने स्नान किया था। वृत्रासुर को धोखे से मारने के कारण इन्द्र को ब्रह्म-हत्या का जो पाप लगा था, यहीं उसका प्रक्षालन हुआ था। सनत्कुमार को यहीं सिद्धि प्राप्त हुई थी। सामने जो पहाड़ दिखाई दे रहा है, उसीपर देवमाता अदिति ने संतान की कामना से तपस्या की थी। युधिष्ठिर! इस पवित्र पर्वत पर चढ़-कर अपने यशो-पथ के विघ्नों को दूर कर लो! इस गंगा के सतत-प्रवाही

जल में स्नान करने से अन्दर का अहंकार तुरंत धुल जाता है।" इस प्रकार ऋषि उस स्थान की पवित्रता की महिमा पांडवों को विस्तार से बताने लगे।

फिर वह बोले—"और सुनो! ऋषिकुमार यवक्रीत का यहीं पर नाश हुआ था।" इस भूमिका के साथ यवक्रीत की कथा कहना शुरू किया—

भरद्वाज और रैभ्य दो तपस्वी जंगल में पास-पास आश्रम बनाकर रहते थे। दोनों में गहरी मित्रता थी। रैभ्य के दो लड़के थे—परावसु और अर्वावसु। पिता और पुत्र सब वेद-वेदांगों के पहुंचे हुए विद्वान् माने जाते थे। उनकी विद्वत्ता का सुयश खूब फैला हुआ था।

भरद्वाज तपस्या में ही समय बिताते थे। उनके एक पुत्र था जिसका नाम था यवक्रीत। यवक्रीत ने देखा कि ब्राह्मण लोग रैभ्य का जितना आदर करते हैं, उतना मेरे पिता का नहीं करते। रैभ्य और उनके लड़कों की विद्वत्ता के कारण लोगों में उनकी बड़ी इज्जत होती देखकर यवक्रीत के मन में जलन पैदा हो गई। ईर्ष्या के कारण उसका शरीर जलने लगा।

अपनी अविद्या को दूर करने की इच्छा से यवक्रीत ने देवराज इन्द्र की तपस्या शुरू की। आग में अपने शरीर को तपाते हुए यवक्रीत ने अपने-आप को और देवराज को बड़ी यातना पहुंचाई। आखिर यवक्रीत की कठोर तपस्या देखकर देवराज को दया आई। उन्होंने प्रकट होकर यवक्रीत से पूछा—"किस कारण यह कठोर तप कर रहे हो?"

यवक्रीत ने कहा—"देवराज, मुझे संपूर्ण वेदों का ज्ञान अनायास ही हो जाय और वह भी ऐसा कि जैसा अबतक किसीने अध्ययन न किया हो। गुरु के यहां सीख तो सकता हूं; पर कठिनाई इस बात की है कि एक-एक छन्द को रटना पड़ता है और कई दिनों तक कष्ट उठाना पड़ता है। मैं चाहता हूं कि बिना आचार्य के मुख से सीखे ही भारी विद्वान् बन जाऊं। मुझे अनुगृहीत कीजिए!"

यह सुन इन्द्र हँस पड़े। बोले—"ब्राह्मणकुमार! तुम उलटे रास्ते चल पड़े हो। अच्छा यही है कि किसी योग्य आचार्य के यहां उसके शिष्य बनकर रहो और अपने परिश्रम से वेदों का अध्ययन करो और विद्वान् बनो!" यह कहकर इन्द्र अन्तर्धान हो गए।

किन्तु भरद्वाज-पुत्र ने इसपर भी अपना हठ न छोड़ा। उसने और भी घोर तप करना शुरू कर दिया। उसकी कठोर तपस्या के कारण देवताओं को बड़ी तकलीफ पहुंची। देवराज फिर प्रकट हुए और यवक्रीत से बोले—"मुनिकुमार! तुमने बगैर सोचे-समझे यह हठ पकड़ा है। तुम्हारे पिता वेदों के ज्ञाता हैं। उनसे तुम वेद सीख सकते हो। जाओ और आचार्य से वेद सीखकर पंडित बनो। शरीर को व्यर्थ कष्ट न पहुंचाओ!"

इन्द्र के दुबारा आग्रह करने पर भी यवक्रीत ने अपना हठ न छोड़ा। उसने कहा—"यदि मेरी कामना को आप पूरा न करेंगे तो मैं अपने शरीर का एक-एक अंग काटकर जलती आग में तबतक डालता रहूंगा जबतक कि मेरी इच्छा पूरी न कर दें।"

यवक्रीत की विलक्षण तपस्या जारी रही। इसी बीच एक दिन जब वह गंगा-स्नान करने जा रहा था तो उसने रास्ते में एक बूढ़े को गंगा के किनारे बैठे, किनारे पर से बालू की मुट्ठी भर के गंगा की बहती धारा में फेंकते देखा।

उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। बोला—"यह क्या कर रहे हो, बूढ़े बाबा?"

बूढ़े ने कहा—"गंगा पार करने में लोगों को बड़ा कष्ट होता है। सोचता हूं कि रेत डालकर गंगा के उस पार तक एक बांध बना दिया जाय जिससे लोगों को आने-जाने में सुविधा हो जाय।"

यह सुनकर यवक्रीत हँस पड़ा। बोला—"बूढ़े बाबा! यह भी कभी हो सकता है कि बहती धारा में रेत डालकर बांध लगाया जाय? बेकार का परिश्रम है तुम्हारा! कोई और काम करो तो ठीक।"

बूढ़े ने कहा—"क्यों, मेरा यह परिश्रम बेकार का क्यों है? आप भी तो बग़ैर सीखे ही वेदों का पार पाने के लिए तप कर रहे हैं! उसी भांति मैं भी गंगा पर बांध बांधने की कोशिश कर रहा हूं।"

यवक्रीत समझ गया कि यह बूढ़ा और कोई नहीं, स्वयं इन्द्र हैं और उसे सीख देने के निमित्त ही यह कर रहे हैं। उसे ज्ञान हो गया और वह नम्रता से बोला—"देवराज! अगर आपके निकट मेरा यह प्रयत्न व्यर्थ है तो फिर मुझे ऐसा वर दीजिए जिससे मैं भारी विद्वान् बन जाऊं।"

इन्द्र बोले—"तथास्तु! अभी से जाकर वेदों का अध्ययन शुरू कर

दो। समय पाकर तुम बड़े विद्वान् बन जाओगे।"

वर पाकर यवक्रीत आश्रम लौट आया।

: ३३ :

यवक्रीत की मृत्यु

इन्द्र से वरदान पाकर यवक्रीत ने वेदों का अध्ययन किया और विद्वत्ता प्राप्त कर ली। उसे इस बात का बड़ा गर्व हो गया कि इन्द्र के वरदान से मुझे वेदों का ज्ञान हुआ है। उसका इस प्रकार डींगें मारना उसके पिता ऋषि भरद्वाज को अच्छा न लगा। उन्हें डर हुआ कि कहीं रैभ्य का अनादर करके यह नाश को न पहुंच जाय।

भरद्वाज ने बेटे को बहुत समझाया कि इस प्रकार गर्व करना ठीक नहीं। वह बोले—"बेटा! देवताओं से वरदान पाना कोई बड़ी बात नहीं। नीच लोग भी हठ पकड़कर तपस्या करने लग जाते हैं तो विवश होकर देवताओं को वरदान देना ही पड़ता है। पर इससे वर पानेवालों की बुद्धि फिर जाती है। वे गर्वीले हो जाते हैं और फिर उस घमंड के कारण शीघ्र ही उनका विनाश भी हो जाता है।" और अपनी बात की पुष्टि में पुराणों में से एक दृष्टांत देते हुए भरद्वाज ने यह कथा सुनाई—

पुराने समय में बलाधि नाम के एक यशस्वी ऋषि थे। उनके एक पुत्र था, जिसकी छोटी उम्र में ही मृत्यु हो गई थी। पुत्र के विछोह से व्यथित होकर ऋषि ने एक अमर पुत्र की कामना करते हुए घोर तपस्या की।

देव प्रकट होकर ऋषि से बोले—"मनुष्य-जाति अमरत्व को प्राप्त नहीं कर सकती। मनुष्य की आयु की सीमा निश्चित होती है। सो आप अपनी सन्तान की आयु की कोई हद निश्चित कर दें।"

ऋषि ने सोचकर कहा—"तो फिर ऐसा वर दीजिए कि जबतक वह सामने का पहाड़ अचल रहेगा तबतक मेरा पुत्र भी जीवित रहेगा।" देवताओं ने 'तथास्तु' कहकर वर दे दिया।

उचित समय पर ऋषि के एक पुत्र हुआ जिसका नाम मेधावी रक्खा गया।

मेधावी को इस बात का बड़ा गर्व था कि मेरे प्राणों को कोई कुछ क्षति नहीं पहुंचा सकता। मैं पहाड़ के समान अचल रहूंगा। इस घमण्ड के कारण वह सबके साथ बड़ी ढिठाई से पेश आता। किसी को कुछ समझता ही नहीं था।

एक दिन धनुषाक्ष नाम के किन्हीं महात्मा की मेधावी ने अवहेलना की। धनुषाक्ष ने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया—"तू भस्म हो जा !"

किन्तु आश्चर्य ! ऋषिकुमार मेधावी पर शाप का ज़रा भी प्रभाव न हुआ। वह अचल खड़ा रहा। देखकर ऋषि विस्मित रह गए। अचानक धनुषाक्ष को मेधावी को मिले वरदान की याद हो आई और तुरन्त अपने तपोबल से जंगली भैंसे का रूप धारण करके उन्होंने पहाड़ पर झपटकर सींग से ऐसी टक्कर मारी कि पहाड़ देखते-देखते उखड़ गया और उसी क्षण मेधावी के भी प्राण-पखेरू उड़ गए। उसका मृत शरीर धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा।

"इस आख्यायिका से सबक लो और वरदान पाने का गर्व मत करो। अपने विनाश का स्वयं ही कारण न बनो। शिष्टता और नम्रता का व्यवहार करो। महात्मा रैभ्य से छेड़-छाड़ न करो!" भरद्वाज ने यवक्रीत को सावधान करते हुए कहा।

•

वसन्त की सुहावनी ऋतु थी। पेड़-पौधे और लताएं रंग-बिरंगे फूलों से लदी थीं। सारा वन-प्रदेश सौंदर्य से अभिभूत था। संसार-भर में कामदेव का राज हो रहा था।

रैभ्य मुनि के आश्रम की फुलवारी में परावसु की पत्नी घूम रही थी। पवित्रता, सौंदर्य एवं धैर्य की पुतली वह तरुणी, किन्नर-कन्या-सी प्रतीत हो रही थी। इतने में दैवयोग से यवक्रीत उधर से आ निकला। परावसु की पत्नी पर उसकी नजर पड़ी। देखकर वह मुग्ध हो गया। उसके मन में कुवासना जाग उठी।

वासना से यवक्रीत का मस्तिष्क फिर गया। उसने परावसु की पत्नी को पुकारा—"सुन्दरी ! इधर तो आओ।" ऋषि-पत्नी उसकी भावभंगी और बातों से लज्जित और आश्चर्य-चकित रह गई, परन्तु फिर भी यवक्रीत

शाप न दे बैठे, इस भय से उसके पास चली गई! यवक्रीत की बुद्धि तो ठिकाने थी नहीं। कामवश होकर वह अपने पर से अधिकार खो बैठा था। उसने ऋषि-पत्नी को अकेले में ले जाकर उसके साथ दुराचार किया।

रैभ्य मुनि जब आश्रम लौटे तो अपनी बहू को बहुत दुःखी और रोते हुए देखा। पूछने पर उन्हें यवक्रीत के कुत्सित व्यवहार का पता लगा। यह जानकर उनके क्रोध की सीमा न रही। वह आपे से बाहर हो गए। गुस्से में अपने सिर का एक बाल तोड़कर उसे अभिमंत्रित करके होमाग्नि में डाला। वेदी से एक ऐसी कन्या निकली जो ऋषि की बहू के समान सुन्दरी थी।

मुनि ने एक और बाल चुनकर अग्नि में डाला तो एक भीषण रूप वाला दैत्य निकल आया। दोनों को रैभ्य ने आज्ञा दी कि जाकर यवक्रीत का वध करें। दोनों पिशाच 'जो आज्ञा' कहकर वहां से रवाना हो गए।

यवक्रीत प्रातःकर्म से निवृत्त हो रहा था। इतने में रूपवती डाइन ने उसके साथ खिलवाड़ करके उसका मन मोह लिया और चुपके से उसका कमण्डलु लेकर खिसक गई। इसी समय पिशाच भाला तानकर ऋषि-कुमार पर झपटा।

यवक्रीत हड़बड़ा कर उठा। उस अवस्था में वह शाप भी नहीं दे सकता था। उसने पानी के लिए कमण्डलु की तरफ देखा तो वह ग़ायब। बड़ा घबराया और पानी की तलाश में तालाब की ओर भागा। तालाब सूखा पड़ा था। पास के झरने की ओर भागा तो भी पानी नहीं था। जिस किसी भी जलाशय के पास गया उसे सूखा पाया। पिशाच भीषण रूप से उसका पीछा कर रहा था और डर के मारे यवक्रीत भागा-भागा फिर रहा था। उसका तपोबल तो नष्ट हो ही चुका था। कोई चारा न पाकर आखिर उसने अपने पिता की यज्ञशाला के अन्दर घुसने की कोशिश की। यज्ञशाला के द्वार पर जो द्वारपाल खड़ा था वह काना था। यवक्रीत भय के मारे चिल्लाता हुआ भागा आ रहा था। द्वारपाल उसे पहचान न सका और उसे रोक दिया। इतने में ही पिशाच पास पहुंच गया और यवक्रीत पर भाला तानकर मारा। यवक्रीत वहीं ढेर होकर गिर पड़ा।

भरद्वाज मुनि जब आश्रम में आये तो देखा कि यज्ञशाला तेज-विहीन है। द्वार पर उनका पुत्र मरा पड़ा है। उन्होंने समझ लिया कि रैभ्य की अवहेलना करने के कारण ही यवक्रीत ने यह दण्ड पाया है। पुत्र को मरा देखकर उनसे न रहा गया। उन्हें रैभ्य मुनि पर बड़ा क्रोध आया। आखिर पिता जो ठहरे!

शोक-संतप्त होकर विलाप करने लगे—"अरे बेटा, यह क्या कर लिया तुमने? क्या अपने घमण्ड की ही बलि चढ़ गए? अरे, यह कोई भारी पाप था जो तुमने सब वेद सीख लिये फिर इसके लिए तुम्हें क्यों शाप दिया गया? रैभ्य ने मेरे इकलौते बेटे को मुझसे निर्दयता से छीन लिया है तो मैं फिर क्यों चुप रहूं? मैं भी शाप देता हूं कि रैभ्य भी अपने ही बेटे के हाथों किसी दिन मारा जाय!"

पुत्रशोक और क्रोध के कारण भरद्वाज बिना सोचे-समझे और जांच-पड़ताल किये अपने मित्र को इस प्रकार शाप दे बैठे। पर जब उनका क्रोध शांत हुआ तो उनको बड़ा पछतावा हुआ। कहने लगे—"हाय, मैंने यह क्या कर डाला! जिसके कोई सन्तान न हो वही बड़ा भाग्यवान् है। फिर एक तो मेरा बेटा मुझसे बिछुड़ा और ऊपर से अपने प्रिय मित्र को भी शाप देकर मैंने उसका अहित किया। इससे तो मेरा जीना भी बेकार है।"

यह निश्चय करके भरद्वाज मुनि ने अपने पुत्र का दाह संस्कार किया और उसी आग में आप भी कूद पड़े और प्राण त्याग दिये।

: ३४ :
विद्या और विनय

एक बार रैभ्य मुनि के शिष्य राजा बृहद्युम्न ने एक भारी यज्ञ किया। यज्ञ करने के लिए राजा ने आचार्य रैभ्य से अपने दोनों पुत्रों को भेजने का अनुरोध किया। रैभ्य ने पुत्रों को जाने की अनुमति दे दी। परावसु और अर्वावसु दोनों प्रसन्न होकर बृहद्युम्न की राजधानी में गए।

यज्ञ की तैयारियां हो रही थीं कि इसी बीच एक दिन परावसु के

जी में आया कि ज़रा पत्नी से मिल आऊं। रातभर चलते-चलते सुबह पौ फटने से पहले ही वह आश्रम में आ पहुंचे। आश्रम के नजदीक ही झाड़ी के पास परावसु ने एक हिंसक पशु-सा कुछ देखा और भय के मारे उसपर हथियार चला दिया। पर उसे यह देखकर महान् दुःख हुआ कि उसने हिंसक पशु का चर्म ओढ़े अपने पिता रैभ्य मुनि को ही मार डाला है।

धोखे में पिता को मारने के कारण परावसु को बड़ा दुःख हुआ; पर भरद्वाज के शाप को याद करके मन को समझा लिया। पिता का दाह-संस्कार जल्दी से करके वह नगर को लौटा और भाई अर्वावसु को सारा हाल कहा। वह बोले—"मेरे इस पाप-कृत्य से राजा के यज्ञ-कार्य में विघ्न न पड़े, इसलिए मैं अकेला ही यज्ञ का काम चला लूंगा और तुम जाकर मेरी जगह ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त कर आओ। शास्त्रों में कहा है कि अनजान में की गई हत्या का प्रायश्चित्त हो सकता है। सो तुम मेरे बदले व्रत रखो और प्रायश्चित्त पूरा करके लौट आओ। तुम अकेले यज्ञ-कार्य न चला सकोगे, इसीलिए मैं यह अनुरोध कर रहा हूं।"

धर्मात्मा अर्वावसु ने यह बात मान ली और बोले—"ठीक है, राजा का यज्ञ आदि कार्य सुचारु रूप से करा दीजिए। मैं अकेले यह काम नहीं संभाल सकूंगा। आपकी जगह ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त मैं कर दूंगा और व्रत समाप्त करके लौट आऊंगा।"

यह कहकर अर्वावसु वन में चले गए और विधिवत् व्रत धारण करके भाई की ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त पूरा किया। व्रत समाप्त होने पर वह वापस यज्ञशाला में आ गए।

पर परावसु ने हत्या तो खुद की थी और प्रायश्चित्त अपने भाई से करवाया था, इस कारण उनका ब्रह्महत्या का दोष न धुल सका। उसके फलस्वरूप उसके मन में अनेक कुविचार उठने लगे। जब उन्होंने अर्वावसु को यज्ञशाला में आते देखा तो उनके मन में ईर्ष्या पैदा हो गई। अर्वावसु के मुख-मंडल से विशुद्ध ब्रह्म-तेज की आभा फूट रही थी। परावसु यह न देख सके। अपने को वह हीन अनुभव करने लगे और डाह तो उनके मन में पैदा हो ही गया था; उन्होंने अर्वावसु पर दोषा-

रोपण करके उन्हें अपमानित करने का विचार किया। वह चिल्लाकर राजा बृहद्युम्न से कहने लगे—"ब्रह्महत्या करनेवाला यह घातक इस पवित्र यज्ञशाला में कैसे प्रवेश कर रहा है ?"

राजा ने जब यह सुना तो अपने सेवकों को आज्ञा दी कि अर्वावसु को यज्ञशाला से बाहर कर दें।

अर्वावसु को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने राजा से नम्रतापूर्वक कहा—"राजन्, ब्रह्महत्या मैंने नहीं की है। मैं सच कहता हूं। असल में ब्रह्महत्या मेरे भाई परावसु ने की। मैंने तो उनके निमित्त प्रायश्चित्त किया और उनका पाप दूर किया है।" लेकिन अर्वावसु की इस बात पर किसीने भरोसा नहीं किया और उनका अपमान करके उन्हें यज्ञशाला से निकाल दिया गया।

लोग भी अर्वावसु की निन्दा करने लगे। कहने लगे—"कैसा अंधेर है! एक तो ब्रह्महत्या की, उसका प्राचश्चित्त भी कर आये और दोष उल्टे भाई पर मढ़ने चले!"

इस प्रकार अपमानित होकर और हत्यारे कहलाकर धर्मात्मा अर्वावसु कुंठित हृदय से यज्ञशाला से चुपचाप निकलकर सीधे वन में चले गए और घोर तपस्या करने लगे।

उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर देवताओं ने प्रकट होकर पूछा—"धर्मात्मा! आपकी कामना क्या है ?"

यज्ञशाला से निकलते समय अर्वावसु के मन में भाई के व्यवहार के प्रति जो क्रोध था वह अब तप और साधना से शांत हो चुका था। सो उन धर्मात्मा ने देवताओं से प्रार्थना की कि भाई परावसु का सब दोष धुल जाय और पिता रैभ्य फिर से जीवित हो उठें।

देवताओं ने प्रसन्न होकर 'तथास्तु' कहा।

लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा—"युधिष्ठिर, यही वह स्थान है जहां महान् विद्वान् रैभ्य का आश्रम था। पांडु-पुत्रो! गंगा के पवित्र जल में स्नान करके क्रोध से निवृत्त हो जाओ।"

अर्वावसु और परावसु दोनों एक महान् ऋषि के पुत्र थे। दोनों ने उनसे बड़ी विद्या पाई। लेकिन विद्या एक चीज है और विनय दूसरी

चीज। यह ठीक है कि मनुष्य भलाई को ग्रहण करने और बुराई से दूर रहने के लिए भले और बुरे का भेद समझ ले; परन्तु यह ज्ञान मनुष्य के विचारों में इस तरह समाहित हो जाना चाहिए कि उसके कार्यों पर उसका प्रभाव पड़े। तभी विद्या विनय बनती है। ज्ञान, जोकि दिमाग में भरी गई बहुत सारी बातों की केवल जानकारी-मात्र होता है, गुण की जगह नहीं ले सकता। वह तो केवल ऊपरी दिखावा-भर होता है—जैसे शरीर के ऊपर पहने जानेवाले कपड़े।

: ३५ :

अष्टावक्र

लोमश के साथ तीर्थाटन करते हुए एक बार पांडव एक ऐसे वन में जा पहुंचे जो उपनिषदों में श्वेतकेतु के आश्रम के नाम से वर्णित है। उस पवित्र वन के बारे में लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर को कथा सुनाई—

महर्षि उद्दालक वेदान्त का प्रचार करनेवाले महात्माओं में श्रेष्ठ माने जाते थे। उनके शिष्यों में से कहोड़ भी एक थे। कहोड़ आचार्य की खूब सेवा-टहल करते थे और बड़े संयमी थे; पर लिखने-पढ़ने में तेज न थे। इस कारण उद्दालक के दूसरे शिष्य कहोड़ की हँसी उड़ाते थे। फिर भी उद्दालक ने कहोड़ के शील-स्वभाव और संयम से खुश होकर अपनी कन्या सुजाता उन्हें ब्याह दी।

कहोड़ से सुजाता के एक पुत्र हुआ। कहते हैं कि वह जब गर्भ में था तभी उसको सारे वेद आते थे। किन्तु पिता कहोड़ तो थे अविद्वान्। वेद-मन्त्रों का न तो ठीक-ठीक उच्चारण कर सकते थे, न स्वर-सहित गा ही सकते थे। इस कारण उनका गलत-सलत वेद-पाठ गर्भ के शिशु के लिए असह्य हो उठा और वह वहां टेढ़ा-मेढ़ा हो गया। टेढ़े-मेढ़े शरीर के कारण बच्चे का नाम अष्टावक्र पड़ गया।

अष्टावक्र ने बालकपन में ही बड़ी विद्वत्ता का परिचय दिया। जब वह बारह साल के थे तभी वेद-वेदांगों का अध्ययन पूर्ण कर चुके थे।

एक बार बालक अष्टावक्र ने सुना कि मिथिला में राजा जनक एक

भारी यज्ञ कर रहे हैं, जिनमें बड़े-बड़े पण्डितों का शास्त्रार्थ होने वाला है। यह सुन अष्टावक्र तुरन्त अपने भांनजे श्वेतकेतु को भी साथ लेकर यज्ञ के लिए चल पड़े।

मिथिला नगरी में पहुंचकर वह यज्ञशाला की ओर जा ही रहे थे कि सड़क पर राजा जनक परिवार के साथ जाते हुए दिखाई दिए। राजा-सेवक आगे-आगे कहते जा रहे थे—"राजाधिराज जनक आ रहे हैं। हट जाओ, रास्ता दो, रास्ता दो!" अष्टावक्र को जब नौकरों ने रास्ते से हटने के लिए कहा तो उन्होंने जवाब दिया—

"शास्त्रों में कहा गया है कि अन्धे, अपाहिज, औरतें और बोझा उठाने वाले जब जा रहे हों तो स्वयं राजा को उनके लिए रास्ता देना चाहिए, और अगर वेद पढ़े हुए ब्राह्मण जा रहे हों तो राजा उनको रास्ते से हटने के लिए नहीं कह सकता। समझे!"

बालक की गंभीर बातें सुनकर राजर्षि जनक दंग रह गये। वह बोले—"ब्राह्मण-पुत्र ठीक कहते हैं। आग के आगे छोटे-बड़े का अन्तर नहीं होता। आग की जरा-सी चिन्गारी भी सारे जंगल को जला सकती है। इसलिए हट जाओ, ब्राह्मण-पुत्र को रास्ता दो!" कहकर राजा जनक ने अपने परिवार-सहित हटकर अष्टावक्र को रास्ता दे दिया।

•

अष्टावक्र और श्वेतकेतु यज्ञशाला में प्रवेश करने लगे।

"यहां बालकों का क्या काम? वेद पढ़े हुए लोग ही इस यज्ञशाला में जा सकते हैं।" द्वारपाल ने यह कहकर लड़कों को रोका। अष्टावक्र ने उत्तर दिया—"हम बालक नहीं हैं। दीक्षा लेकर वेद सीख चुके हैं। जो वेदान्त का ज्ञान प्राप्त कर चुके हों उनकी आयु या बाहरी शकल-सूरत देखकर कोई उन्हें बालक नहीं ठहरा सकता।" और यह कहकर अष्टावक्र यज्ञशाला के अन्दर घुसने लगे।

द्वारपाल ने डांटकर कहा—"ठहरो! अभी तुम बच्चे हो। अपने मुंह बड़े न बनो। उपनिषदों का ज्ञान और वेदान्त के तत्त्व जानना ऐसा-वैसा काम नहीं है। तुमने इसे बच्चों का खेल समझ रक्खा है क्या?"

अष्टावक्र ने कहा—"देखो भाई, सेमर की फल की तरह ऊपर से

मोटा-ताजा और अन्दर हल्की रुई से भरा रहना किस काम का? शरीर की बनावट से कद और ज्ञान का अन्दाज नहीं किया जाता। बड़ा वह नहीं है जो कद का लम्बा हो। लंबे कद का न होने पर भी अगर किसी में ज्ञान हो तो शास्त्रों में उसे बड़ा माना गया है। जिसमें ज्ञान का अभाव है, वह उम्र का चाहे बूढ़ा क्यों न हो, बालक ही समझा जाता है। इसलिए बालक समझकर मुझे मत रोको।"

द्वारपाल ने फिर कहा—"तुम बालक होकर बड़ों की-सी बातें न करो। छोटे मुंह बड़ी बात करना ठीक नहीं। क्यों व्यर्थ की बहस करते हो?"

अष्टावक्र ने समझाकर कहा—"भाई द्वारपाल! बालों का पक जाना उम्र के पक्की होने की निशानी नहीं है। किसी ऋषि ने यह नहीं कहा कि बूढ़ी आयु, पके बाल, धन-दौलत और बन्धु-मित्रों की भीड़ के होने से ही कोई बड़ा बन जाता है। बड़ा वही होता है जो वेद-वेदांगों का गहरा अध्ययन करके उनका अर्थ ठीक से समझा हुआ हो। मैं यहां इसी उद्देश्य से आया हूं कि महाराज की सभा के विद्वानों से मिलकर कुछ बातें करूं। जाओ, महाराजा जनक को मेरे आने की खबर दो और कहो कि मुनि अष्टावक्र आये हैं।"

द्वारपाल से इस प्रकार चर्चा हो रही थी कि महाराजा जनक वहां आ पहुंचे। द्वारपाल ने बालक के साहस की राजा को खबर दी। जनक ने अष्टावक्र को देखते ही पहचान लिया कि यह तो वही ब्राह्मण-बालक है जिससे सड़क पर भेंट हुई थी।

वह बोले—"बालक! मेरी सभा के विद्वान् बड़े-बड़े पंडितों को शास्त्रार्थ में हरा चुके हैं। आप तो अभी बालक ही हैं! आप यह दुःसाहस क्यों कर रहे हैं?"

अष्टावक्र ने कहा—"आप की सभा के विद्वानों ने शायद कुछ नाम-धारी पंडितों को हराया होगा और इसीका उन्हें घमण्ड हो गया मालूम होता है। मैं तो यह तब सही मानूंगा जब वे मेरे-जैसे वेदान्त के पहुंचे हुए विद्वान् को शास्त्रार्थ में हरावें। अपनी माता के मुंह मैंने सुना था कि मेरे पिताजी को आपके विद्वानों ने शास्त्रार्थ में हराकर समुद्र में

डुबोया था। मैं उसीका ऋण चुकाने यहां आया हूं। आप विश्वास रखें कि मैं आपके विद्वानों को हराकर रहूंगा। मेरे शास्त्रार्थ में हार खाकर वे उसी प्रकार लुढ़क जायंगे जैसे तेज दौड़नेवाली गाड़ी, धुरी के टूट जाने पर, लुढ़क पड़ती है। अतः आप अपने विद्वानों से मेरी भेंट कराने की कृपा करें।"

मिथिला-नरेश के विख्यात पंडितों और बालक अष्टावक्र में शास्त्रार्थ शुरू हुआ। दोनों तरफ से प्रश्नों और उत्तरों की बौछार-सी होने लगी। अन्त में सभासदों को मानना पड़ा कि अष्टावक्र की जीत हो गई। मिथिला-नगर के विद्वानों ने लज्जा से सिर झुका लिया। शर्त के अनुसार उन्हें समुद्र में डुबो दिया गया और वे वरुणालय सिधारे।

अष्टावक्र के स्वर्गवासी पिता की आत्मा अपने पुत्र की प्रशंसा को सुनकर आनन्दित हो उठी और उनके मुंह से उद्गार निकले पड़े—

"यह कोई नियम नहीं कि पुत्र पिता ही को पड़े। हो सकता है कि कमजोर पिता के बलिष्ठ और मन्द-मति के विद्वान् पुत्र हो। किसी की शकल-सूरत या आयु को देखकर उसकी महानता का निर्णय करना ठीक नहीं। बाहरी रंग-रूप अक्सर लोगों को धोखे में डालता है।"

: ३६ :
भीम और हनुमान

जबसे अर्जुन दिव्य अस्त्र-शस्त्र पाने के लिए हिमालय पर तपस्या करने गये थे तबसे पांडवों और द्रौपदी के लिए दिन काटना कठिन हो गया था।

अक्सर द्रौपदी करुण स्वर में कहती—"अर्जुन के बिना मुझे यहां काम्यक वन में बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। ऐसा मालूम होता है मानो वन की सुन्दरता ही लुप्त हो गई है। सव्यसाची (अर्जुन) को देखे बिना मेरा जी घबराता है। मुझे ज़रा भी चैन नहीं पड़ता।"

द्रौपदी की ऐसी बातें सुनकर एक बार भीमसेन बोला—"कल्याणी! अर्जुन की याद में तुम जो बातें कहती हो, वह मुझे ऐसे आह्लादित करती

है मानो अमृत की धारा हृदय में बह रही हो। अर्जुन के बिना मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है मानो इस सुन्दर वन की शोभा ही न रही हो; मानो इसमें चारों ओर अंधेरा छाया हुआ हो। अर्जुन को देखे बिना मुझे भी चैन नहीं पड़ती। ऐसा लगता है मानो दिशाएं घने अन्धकार से आच्छादित हो गई हैं। क्यों भाई सहदेव! तुम्हें कैसे लगता है?"

सहदेव ने कहा—"भाई अर्जुन के बिना तो सारा आश्रम सूना-सूना लग रहा है। कहीं और चलें और उनकी याद को भुलाने का प्रयत्न करें तो कैसा?"

युधिष्ठिर ने पुरोहित धौम्य से कहा—"अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्त करने को गए इतने दिन हो गए; वह अभी तक लौटा ही नहीं। मैंने तो उसे इसलिए हिमालय भेजा था कि वह देवराज से दिव्यास्त्र प्राप्त कर आये। अगर युद्ध हुआ तो यह तय बात है कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य धृतराष्ट्र के पुत्रों के ही पक्ष में लड़ेंगे। महारथी कर्ण भी उधर है ही। मैंने सोचा कि जब ऐसे-ऐसे महारथियों का युद्ध में सामना करना पड़े तो अच्छा हो कि अर्जुन हिमालय जाकर देवराज इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त कर आये। बिना ऐसा किये हम इन महारथियों से पार न पा सकेंगे। यह काम बड़ा कठिन है और अर्जुन को ऐसे कठिन काम पर भेजकर हम यहां आराम से दिन बिता रहे हैं, यह हमें बहुत खटकता है। अर्जुन का विछोह अब हमसे नहीं सहा जाता। यहां हम उसके साथ रह चुके हैं, इससे उसकी बड़ी याद आती है। अच्छा हो, यहां से कहीं दूर जाकर उसके वियोग को भूलने की कोशिश करें। आप ही बताइए कि हम कहां जायं?"

धौम्य ने अनेक जंगलों और पवित्र तीर्थों के बारे में युधिष्ठिर को बताया। सबने तय किया कि कहीं दूर की जगहों में विचरण करके अर्जुन के विछोह का दुःख दूर करने का प्रयत्न करें। यह सोच सब धौम्य के साथ चल पड़े और तीर्थों में घूमते हुए और हर तीर्थ की पवित्र कथा धौम्य के मुंह से सुनते हुए उन्होंने कुछ वर्ष बिताये। इस भ्रमण में कहीं ऊंचे पहाड़ों पर चढ़ते तो कहीं घने जंगलों को पार करते। जब कभी द्रौपदी थककर चूर हो जाती तो उस सुकोमल

राजकुमारी की व्यथा को देखकर सब और दुःखी हो जाते। ऐसे अवसरों पर भीमसेन बहादुरी से सबको धीरज बंधाता और अपने शारीरिक बल से काम लेकर सबका श्रम दूर करता। भीमसेन की असुर स्त्री हिडिबा का पुत्र घटोत्कच भी समय-समय पर आकर उन सबकी सहायता करता रहता था।

द्रौपदी-सहित पांडव हिमालय के दृश्य निहारते हुए जा रहे थे कि एक बार उनको एक भयावने जंगल से होकर जाना पड़ा। रास्ता बहुत ही कठिन था। मार्ग में द्रौपदी को तकलीफें उठाते देख युधिष्ठिर का जी भर आया। वह भीमसेन से बोला—"भाई भीम, द्रौपदी से इस रास्ते पर नहीं चला जायगा। इसलिए लोमश ऋषि के साथ मैं और नकुल तो आगे बढ़ते हैं और तुम व सहदेव द्रौपदी को लेकर गंगा के मुहाने पर जाकर रहो। जबतक हम तीनों लौट न आयें, द्रौपदी की सावधानी के से साथ रक्षा करते हुए तुम वहीं रहना।"

किन्तु भीमसेन न माना। वह बोला—"महाराज! एक तो द्रौपदी कभी इस बात पर राजी न होगी। दूसरे, जब एक अर्जुन के विछोह का आपको इतना दुःख है तो मुझे, सहदेव को और द्रौपदी को देखे बगैर आपसे कैसे रहा जायगा? फिर राक्षसों और हिंस्र जन्तुओं से भरे इस भीषण वन में आपको अकेला छोड़ जाने को भी मैं कभी राजी नहीं होऊंगा। इसलिए हम सब साथ ही जलेंगे। अगर कहीं द्रौपदी को चलने में कठिनाई मालूम होगी तो मैं उसे अपने कन्धे पर बिठाकर ले चलूंगा। नकुल और सहदेव को भी मैं उठा ले चलूंगा। आप उनकी चिन्ता न करें।"

भीमसेन की बातों से युधिष्ठिर हर्ष से फूल उठे। उन्होंने भीम को छाती से लगा लिया और आशीर्वाद दिया—"भगवान् करे, तुम्हारा शारीरिक बल हर घड़ी बढ़ता ही जाय।"

इतने में द्रौपदी मुस्कराती हुई युधिष्ठिर से बोली—"आप मेरी चिन्ता न करें। मुझे उठाकर ले चलने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मैं अच्छी तरह चल सकती हूं।" और पांडव फिर साथ-साथ चल पड़े।

हिमालय की तलहटी में विचरण करते हुए पांडव महाराज सुबाहु के राज्य कुलिन्द देश में जा पहुंचे। महाराजा ने उनका खूब आदर-सत्कार किया। कुछ दिन सुबाहु के राज्य में ठहरकर आराम करने के बाद उन्होंने फिर यात्रा शुरू कर दी और चलते-चलते नारायणाश्रम के रमणीय वन-प्रदेश में जा पहुंचे। उस जगह के सुन्दर दृश्यों को देखते हुए वे कुछ दिन वहां रहे।

उत्तर-पूरब से मलयानिल मन्द गति से बह रहा था। सुहावना मौसम था। द्रौपदी आश्रम के बाहर खड़ी मौसम की बहार ले रही थी। इतने में एक सुन्दर फूल हवा में उड़ता हुआ उसके पास आ गिरा। द्रौपदी ने उसे उठा लिया और वह उसकी महक और सौंदर्य पर मुग्ध हो गई। ऐसे ही कुछ और फूल पाने के लिए उसका जी मचल उठा।

भीमसेन के पास जाकर बोली—"भीम, देखा तुमने? कैसा कोमल और सुन्दर फूल है यह! कैसी मनोहर सुगन्ध है इसमें! कैसी इसकी शोभा है! मैं यह फूल महाराज को भेंट करूंगी। तुम जाकर ऐसे ही कुछ और फूल और ला सकोगे? काम्यक वन में हम इसी फूल का पौधा लगायेंगे।" यह कहती द्रौपदी हाथ में फूल लिये युधिष्ठिर के पास दौड़ी गई।

अपनी प्रिय द्रौपदी की इच्छा पूरी करने के लिए भीमसेन उस फूल की तलाश में निकल पड़ा। पवन उस दैवी फूल की सौरभ लिये बह रही थी। भीमसेन उसको सूंघता हुआ उत्तर-पूरब दिशा में अकेला आगे बढ़ चला। रास्ते में कितने ही जंगली जानवरों से उसका सामना हुआ। भीमसेन उनकी ज़रा भी उनकी परवाह न करता हुआ आगे बढ़ता गया।

चलते-चलते वह पहाड़ की घाटी में जा पहुंचा जहां केले के पेड़ों का एक विशाल बगीचा लगा हुआ था। बगीचे के बीच एक बड़ा भारी बन्दर रास्ता रोके लेटा हुआ था। बन्दर का शरीर लाल था और उससे ऐसी आभा फूट रही थी मानों आग का कोई बड़ा गोला हो। यह देख-कर भीमसेन जोर से चिल्ला उठा।

बन्दर ने ज़रा आंखें खोलीं और बड़ी लापरवाही से भीम की तरफ

देख कर कहा—"मैं कुछ अस्वस्थ हूं। इसलिए लेटा हुआ हूं। ज़रा आंख लगी थी तो तुमने आकर नींद खराब कर दी। मुझ सोते को क्यों जगाया तुमने? तुम तो मनुष्य हो। तुममें विवेक होना चाहिए। हम पशु हैं, इससे हममें तो विवेक का अभाव है; पर तुम जैसे विवेकशील प्राणी के लिए यह उचित नहीं कि किसी जानवर को दुःख पहुंचाओ; बल्कि तुम्हें तो चाहिए था कि हम नासमझ जानवरों पर दया करते। मालूम होता है कि तुम्हें धर्म का ज्ञान नहीं है। पर जाने भी दो, यह बताओ कि तुम हो कौन? कहां जाना चाहते हो? इस पहाड़ी पर इसके आगे बढ़ना संभव नहीं। यह तो देवलोक को जाने का रास्ता है। कोई मनुष्य यहां से आगे नहीं जा सकता। तुम यहां इस वन में चाहे जितने फल खा सकते हो और खा-पीकर वापस लौट जाओ।"

एक बन्दर के इस प्रकार मनुष्य-जैसा उपदेश देने पर भीमसेन को बड़ा क्रोध आया और बोला—"कौन हो तुम जो बन्दर की-सी शकल के होने पर भी बड़ी-बड़ी बातें करते हो? जानते हो, मैं कौन हूं? मैं कुरुवंश का वीर, कुन्ती देवी का बेटा और वायु का पुत्र हूं। समझे! मुझे रोको मत! मेरे रास्ते से हट जाओ और मुझे आगे जाने दो।"

भीम की बातें सुनकर बन्दर ज़रा मुस्कराया और बोला—"ठीक है, मैं हूं तो बन्दर ही, पर इतना कहे देता हूं कि इस रास्ते आगे बढ़ने की कोशिश न करना, नहीं तो खैर नहीं है।"

भीम ने कहा—"देखो जी, मैंने तुमसे कब पूछा था कि मैं उधर जाऊं या नहीं, और गया तो ठीक होगा या नहीं? इन बातों को छोड़ो और रास्ते से हट जाओ, मुझे आगे जाने दो।"

बन्दर बोला—देखो भाई, मैं तो बूढ़ा हूं। कठिनाई से उठ-बैठ सकता हूं। ठीक है, यदि तुम्हें आगे बढ़ना है तो मुझे लांघकर चले जाओ।"

भीमसेन ने कहा—"शास्त्रों में किसी जानवर को लांघना अनुचित कहा गया है। इससे मैं रुक गया, नहीं तो मैं कभी का तुम्हें और इस पहाड़ को एक ही छलांग में उसी प्रकार लांघकर चला गया होता जैसे हनुमान ने समुद्र को लांघा था।"

बन्दर ने कहा—"भाई, मुझे ज़रा बताना कि वह हनुमान कौन था जो समुद्र लांघ गया था?"

भीमसेन ज़रा कड़ककर बोला—"क्या कहा? तुम महावीर हनुमान को नहीं जानते जिन्होंने भगवान् रामचन्द्र की पत्नी सीता को खोजने के लिए सौ योजन चौड़ा समुद्र एक छलांग में लांघ दिया था? वे मेरे बड़े भाई हैं, समझे! और यह भी जान लो कि मैं बल और पराक्रम में उन्हीं के समान हूं। उठकर रास्ता दे दो, नहीं तो फिर मेरा क्रोध तुम्हें अभी ठिकाने लगा देगा। नाहक मृत्यु को न्यौता न दो।"

बन्दर बड़े करुण स्वर में बोला—"हे वीर! शांत हो जाओ! इतना क्रोध न करो। बुढ़ापे के कारण मुझसे हिला-डुला भी नहीं जाता। यदि मुझे लांघना तुम्हें अनुचित लगता हो तो मेरी इस पूंछ को हटाकर एक ओर कर दो और चले जाओ।"

यह सुन भीम को बड़ी हँसी आई। उसे अपनी ताकत का बड़ा घमंड था। सोचा कि इस बन्दर की पूंछ को पकड़कर ऐसे खींचूंगा कि याद करेगा। यह सोचकर भीमसेन ने बन्दर की पूंछ एक हाथ से पकड़ ली।

लेकिन आश्चर्य! भीम ने पूंछ पकड़ तो ली; पर वह उससे ज़रा भी हिली नहीं—उठने की तो कौन कहे! उसे बड़ा ताज्जुब होने लगा कि यह बात क्या है! उसने दोनों हाथों से पूंछ पकड़कर खूब जोर लगाया। उसकी भौंहें चढ़ गईं। आंखें निकल आईं और शरीर से पसीना बह चला; किन्तु पूंछ जैसी-की-तैसी ही धरी रही, ज़रा भी हिली-डुली नहीं। भीम बड़ा लज्जित हुआ। उसका गर्व चूर हो गया। उसे बड़ा विस्मय होने लगा कि मुझसे ताकतवर यह कौन है! भीम के मन में बलिष्ठों के लिए बड़ी श्रद्धा थी। वह नम्र हो गया।

बोला—"मुझे क्षमा करें। आप कौन हैं? सिद्ध हैं, गन्धर्व हैं, देव हैं, कौन हैं आप? एक शिष्य के नाते पूछता हूं। आप ही की शरण लेता हूं।"

हनुमान ने कहा—"हे कमलनयन पाण्डुवीर! सम्पूर्ण विश्व के प्राणाधार वायुदेव का पुत्र हनुमान मैं ही हूं। भैया भीम! यह देवलोक

जाने का रास्ता है। इस रास्ते में यक्ष और राक्षस भरे पड़े हैं। इस रास्ते जाने से तुम पर विपदा आने की आशंका थी। इसीसे मैंने तुम्हें रोका। मनुष्य इस रास्ते पर नहीं चल सकते। फिर तुम जिस सुगंधित फूल की खोज में आये हो उसके पौधे तो उस सामनेवाले जलाशय के आसपास के उपवन में लहरा रहे हैं। चले जाओ और अपनी इच्छा भर फूल चुन लो।"

"वानर-श्रेष्ठ ! मुझसे बढ़कर भाग्यवान् और कौन होगा जो मुझे आपके दर्शन प्राप्त हुए। अब मेरी केवल यही कामना है कि जिस आकार में आपने समुद्र लांघा था उसके भी दर्शन मैं कर लूं।" कहकर भीमसेन ने अपने बड़े भाई हनुमान को दण्डवत् प्रणाम किया।

भीम की बात पर हनुमान मुस्कराये और अपना शरीर बढ़ाकर सारी दिशाओं में ऐसे व्याप्त हो गए मानो एक पहाड़ सामने खड़ा हो गया हो। भीम हनुमान के दैवी रूप के बारे में बहुत सुन चुका था, पर अब उसने देख भी लिया। हनुमान के विशालकाय शरीर और उसके सूर्य की प्रभा के समान तेज ने उसे चकाचौंध कर दिया। उसकी आंखें आप-ही-आप मुंद गईं।

हनुमान ने अपनी बढ़ती रोककर कहा—"भीम ! इससे और बड़ा शरीर बढ़ाकर तुम्हें दिखाने का यह समय नहीं है। इतना जान लो कि शत्रुओं के सामने मेरा शरीर और भी विशाल बन सकता है।"

इसके बाद हनुमान ने अपना शरीर पहले का-सा छोटा कर लिया और भीमसेन को गले लगा लिया। महावीर मारुति के गले लगाते ही भीमसेन की सारी थकावट दूर हो गई और वह पहले से भी ज्यादा बल-शाली हो गया।

हनुमान प्रसन्न होकर बोले—"वीरवर भीम, अब तुम अपने आश्रम लौट जाओ। समय पड़ने पर मेरा स्मरण करना। तुम्हारे इस मनुष्य-शरीर को जब मैंने गले लगाया तो मुझे वह आनन्द प्राप्त हुआ जो उन दिनों भगवान् रामचन्द्र के स्पर्श से हुआ करता था। भाई, जिस वर की इच्छा हो, मुझसे मांग लो।"

"हे महावीर, मुझे आपके दर्शन हुए, यह हम पांचों भाइयों का अहोभाग्य था। यह निश्चित है कि आपकी सहायता से हम सभी शत्रुओं

पर विजय प्राप्त कर लेंगे।" भीमसेन ने श्रद्धा के साथ प्रणाम करते हुए कहा।

मारुति ने अपने छोटे भाई को आशीर्वाद देते हुए कहा—"भीम ! जब तुम लड़ाई के मैदान में सिंह की भांति गरजोगे तब मेरी भी गर्जना तुम्हारी गर्जना के साथ मिलकर शत्रुओं के हृदयों को हिला दिया करेगी। युद्ध के समय तुम्हारे भाई अर्जुन के रथ पर उड़ने वाली ध्वजा पर मैं विद्यमान रहूंगा। विजय तुम्हारी ही होगी।"

इसके बाद हनुमान ने भीमसेन को पास के झरने में जो सुगंधित फूल खिल रहे थे, जाकर दिखाये।

फूलों को देखते ही भीमसेन को वनवास का दुःख झेलती हुई द्रौपदी का स्मरण हो आया। उसने जल्दी से फूल तोड़े, महावीर हनुमान को फिर प्रणाम किया और आश्रम की ओर वेग से लौट चला।

: ३७ :
'मैं बगुला नहीं हूं'

पाण्डवों के वनवास के समय एक बार मार्कण्डेय मुनि पधारे। इस अवसर पर बातचीत के दौरान में युधिष्ठिर स्त्रियों के गुणों की प्रशंसा करते हुए बोले—

"स्त्रियों की सहनशीलता और सतीत्व से बढ़कर आश्चर्य की बात संसार में और क्या हो सकती है ? बच्चे को जन्म देने से पहले स्त्री को कितना असह्य कष्ट उठाना पड़ता है ! दस महीने तक वह बच्चे को अपनी कोख में पालती है। अपने प्राणों को जोखिम में डालकर, अवर्ण-नीय पीड़ा सहकर बच्चे को जन्म देती है। उसके बाद कितने प्रेम से उस बच्चे को पालती है। उसे सदा यही चिन्ता लगी रहती है कि मेरा बच्चा कैसा होगा ! पति के अत्याचारी होने पर भी, उसके घृणा करने पर भी, स्त्री उसके सारे अत्याचार चुपचाप सह लेती है और उसके प्रति अपने मन की श्रद्धा कभी कम नहीं होने देती। यह एक आश्चर्यजनक बात ही है।"

यह सुनकर मार्कण्डेय मुनि ने युधिष्ठिर को नीचे लिखी कथा सुनाई—

कौशिक नाम के एक ब्राह्मण थे। ब्रह्मचर्य-व्रत पर वह अटल थे। एक दिन वह पेड़ की छांह में बैठे हुए वेद-पाठ कर रहे थे कि इतने में उनके सिर पर किसी पंछी ने बीट कर दी। कौशिक ने ऊपर देखा तो पेड़ की डाल पर एक बगुला बैठा दिखाई दिया। ब्राह्मण ने सोचा, इसी नीच बगुले की यह करतूत है। उन्हें बड़ा क्रोध आया। उनकी क्रोधभरी दृष्टि बगुले पर पड़ते ही वह तत्काल भस्म होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बगुले के मृत शरीर को देखकर ब्राह्मण का मन उद्विग्न हो उठा। उन्हें बड़ा पछतावा होने लगा।

मन की भावनाओं के कार्यरूप में परिणत होने के लिए कितने ही बाहरी कारणों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु बाहरी कारण भावनाओं का हर वक्त साथ नहीं देते। इसी कारण हम कितनी ही बुराइयों से अक्सर बच जाते हैं। यदि यह बात न हो, यदि मन की सारी भावनाएं तत्काल ही कार्यरूप में परिणत होने लग जायं तो फिर इस संसार के कष्टों को कोई सहन न कर सके।

कौशिक बड़े पछताये कि एक निर्दोष पक्षी को मैंने मार दिया। क्रोध में आकर मैंने जो भावना की, उसने यह क्या अनर्थ कर दिया; यह सोचकर उन्हें बड़ा शोक हुआ। इतने में भिक्षा का समय हो आया और वह भिक्षा के लिए चल पड़े।

एक द्वार पर भिक्षा के लिए वह खड़े हुए। घर की मालकिन अन्दर बरतन साफ कर रही थी। कौशिक ने सोचा, काम पूरा होने पर मेरी तरफ ध्यान देगी। किन्तु इतने में स्त्री का पति, जो किसी काम पर बाहर गया हुआ था, लौट आया। आते ही बोला—"बड़ी भूख लगी है; खाना परोसो!" पति की बात सुनते ही गृह-पत्नी कौशिक की परवाह न करके अपने पति की सेवा-टहल में लग गई। पानी लाकर उसने पति के पांव धोये, आसन बिछाया, थाली परोसी और बैठकर पंखा झलने लगी।

कौशिक द्वार पर ही खड़े रहे। जब उस स्त्री का पति भोजन कर चुका, तभी कौशिक के लिए वह भिक्षा लाई। भिक्षा देते हुए उसने

कौशिक से कहा—"महाराज, आपको बहुत देर ठहरना पड़ा, क्षमा कीजिएगा।"

स्त्री की अपने प्रति की गई इस लापरवाही के कारण कौशिश क्रोध के मारे प्रज्वलित अग्नि-से मालूम पड़ रहे थे। बोल उठे—"देवी! मुझे और बहुत घरों में जाना है। यह तुम्हारे लिए उचित नहीं था जो तुमने मुझे इतनी देर तक ठहराये रखा।"

स्त्री ने कहा—"ब्राह्मण-श्रेष्ठ! पति की सेवा-शुश्रूषा में लगी रही, इसी कारण कुछ देर हो गई, उसके लिए मैं क्षमा चाहती हूं।"

कौशिक को अपनी दृढ़-व्रतता और जीवन की पवित्रता का बड़ा घमंड था। वह उस स्त्री को उपदेश देने लगे—"देवी! माना कि पति की सेवा-टहल करना स्त्री धर्म का होता है, किन्तु ब्राह्मण का अनादर करना भी तो ठीक नहीं। मालूम होता है तुम्हें अपने पतिव्रता होने का बड़ा घमंड है।"

स्त्री ने विनीत भाव से कहा—"नाराज न होइए। अपने पति की शुश्रूषा में रहनेवाली स्त्री पर कुपित होना उचित नहीं। आपसे प्रार्थना है कि मुझे पेड़वाला बगुला समझने की गलती न कीजिएगा। आपका क्रोध पति की सेवा में रत सती का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मैं बगुला नहीं हूं।"

स्त्री की बातें सुनकर ब्राह्मण कौशिक चौंक उठे। उन्हें बड़ा अचरज हुआ कि इस स्त्री को बगुले के बारे में कैसे पता लगा। वह आश्चर्य ही कर रहे थे कि इतने में वह बोली—

"महात्मन्! आपने धर्म का मर्म न जाना। शायद आपको इस बात का भी पता नहीं कि क्रोध एक ऐसा शत्रु है जो मनुष्य के शरीर ही के अन्दर रहते हुए उसका नाश कर देता है। मेरा अपराध हो तो क्षमा करें। आपके लिए उचित है कि आप मिथिलापुरी में रहनेवाले धर्मव्याध के पास जाकर उनसे उपदेश ग्रहण करें।"

ब्राह्मण विस्मित होकर बोले—"देवी! आपका कल्याण हो। आप मेरी जो निन्दा कर रही हैं, मेरा विश्वास है कि वह मेरी भलाई के ही लिए है। मैं अवश्य मिथिला जाऊंगा और धर्मव्याध से उपदेश ग्रहण करूंगा।"

यह कहकर कौशिक मिथिला नगरी को चल पड़े।

मिथिला पहुंचकर कौशिक धर्मव्याध की खोज करने लगे। उन्होंने सोचा कि जो महात्मा मुझे उपदेश देने योग्य हैं वह अवश्य ही कहीं किसी आश्रम में रहते होंगे। इस विचार से कितने ही सुन्दर भवनों और सुहावने बाग-बगीचों में ढूंढ़ा, पर कौशिक को धर्मव्याध का कोई पता न चला। अन्त में एक कसाई की दूकान पर वह पहुंचे। वहां एक हट्टा-कट्टा आदमी बैठा मांस बेच रहा था। लोगों ने इन्हें बताया कि वह जो दूकान पर बैठे हैं, वही धर्मव्याध हैं!

ब्राह्मण बड़े कुत्सित भाव से नाक-भौंह सिकोड़कर दूर ही पर खड़े रहे। उन्हें कुछ समझ में नहीं आया। ब्राह्मण को यों भ्रम में पड़ा देखकर कसाई जल्दी से उठकर उनके पास आया और बड़ी नम्रता के साथ बोला—"भगवान्! उस सती-साध्वी स्त्री ने ही तो आपको मेरे पास नहीं भेजा है?"

सुनकर कौशिक सन्न रह गए।

"द्विजवर! मैं आपके यहां आने का उद्देश्य जानता हूं। चलिए, घर पर पधारिए। आपकी इच्छा पूरी होगी।" यह कहकर धर्मव्याध ब्राह्मण को अपने घर ले गया। वहां पहुंचकर कौशिक ने धर्मव्याध को अपने माता-पिता की बड़ी श्रद्धा के साथ सेवा-टहल करते देखा। इससे निवृत्त होकर कसाई धर्मव्याध ने ब्राह्मण कौशिक को बताया कि जीवन क्या है, कर्म क्या है और मनुष्य के कर्त्तव्य क्या हैं। यह उपदेश पाकर कौशिक अपने घर लौट आये और धर्मव्याध के उपदेश के अनुसार अपने माता-पिता की सेवा-टहल में लग गए, जिनकी कि उपेक्षा करके वह वेदाध्ययन और तपस्या में लगे थे।

धर्मव्याध की कथा गीता के उपदेश का ही एक दूसरा रूप है। कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसमें परमात्मा व्याप्त न हो। इसलिए कोई भी काम ऐसा नहीं जो ईश्वरीय न हो। समाज के प्रचलित ढांचे के कारण, या खास मौका मिलने या न मिलने के कारण, अथवा अपनी पहुंच या विशेष परिश्रम के कारण भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न कामों में लग जाते हैं। इसमें ऊंच-नीच का या और किसी तरह का प्रश्न ही कहां उठ

सकता है। किसी भी काम को, अपने धर्म से डिगे बगैर करना ही ईश्वर की भक्ति करना है।

: ३८ :

द्वेष करनेवाले का जी कभी नहीं भरता

पाण्डवों के वनवास के दिनों में कई ब्राह्मण उनके आश्रम में गए थे। वहां से लौटकर वे हस्तिनापुर पहुंचे और धृतराष्ट्र को पाण्डवों के हाल-चाल सुनाये। धृतराष्ट्र ने जब यह सुना कि पाण्डव वन में आंधी-पानी और धूप में बड़ी तकलीफें उठा रहे हैं तो उनके मन में चिन्ता होने लगी। सोचने लगे, इस अनर्थ का अन्त भी कभी होगा? इसके परिणाम से कहीं मेरे कुल का सर्वनाश नहीं हो जायेगा! भीम का क्रोध अबतक अगर रुका हुआ है तो युधिष्ठिर के समझाने-बुझाने और दबाव के कारण ही। वह कबतक अपना क्रोध रोक सकेगा? सहन करने की भी तो हद होती है। और किसी-न-किसी दिन पांडवों का क्रोध बांध तोड़कर जरूर निकलेगा। इससे सारे कौरव-वंश के नाश हो जाने की ही संभावना है। यह सोच-सोचकर धृतराष्ट्र का मन कांप उठता।

कभी वह सोचते—"अर्जुन और भीम तो हमसे जरूर बदला लेकर रहेंगे। शकुनि, कर्ण, दुर्योधन और नासमझ दुःशासन को न जाने क्यों ऐसी मूर्खताभरी धुन सवार है? ये क्यों नहीं सोचते कि पेड़ की डाली के सिरे तक पहुंच जाना खतरे से खाली नहीं होता? थोड़े से शहद के लालच में पड़कर ये लोग शाखा के सिरे तक पहुंच चुके हैं। वे यह क्यों नहीं देखते कि भीमसेन के क्रोध-रूपी सर्वनाश का गड्ढा इन्हें निगल जाने के लिए मुंह-बाए तैयार है?"

फिर कभी सोचते—"आखिर हम लोग लालच में क्यों पड़ गए? हमें किस बात की कमी थी? सबकुछ तो हमें मिला है। फिर भी हम क्यों लोभ में फंसे? क्यों अन्याय करने पर उतारू हो गए? जो-कुछ प्राप्त था उसी का ठीक से उपभोग करते हुए सुखपूर्वक नहीं रह सकते थे क्या? लेकिन लालच में पड़कर जो पाप किये हैं उनका फल तो भुगतना पड़ेगा

ऐसा ही लगता है। पापके बीज बोये हैं तो पाप ही की फसल काटनी होगी। और फिर हम पांडवों का बिगाड़ क्या सके ? अर्जुन इन्द्रलोक जाकर दिव्यास्त्र प्राप्त करके कुशलपूर्वक लौट आया। सशरीर स्वर्ग जाकर सकुशल लौट आना कोई मामूली बात है ! अब तक तो किसी से यह हो नहीं सका है कि सदेह इन्द्रलोक जाकर फिर वहां के सुख-सौंदर्य को छोड़कर इस लोक में वापस लौट आये। यदि अर्जुन ने यह असंभव संभव कर दिखाया है तो वह केवल हमसे बदला लेने की गरज से किया होगा।" इसी भांति धृतराष्ट्र सोच किया करते। मन में तरह-तरह की आशंकाएं उठतीं और उनके मन को परेशान करती रहतीं।

लेकिन दुर्योधन और शकुनि कुछ और ही सोचते थे। धृतराष्ट्र की तरह चिन्ता करना तो दूर, उन्हें तो उसमें अजीब तरह का आनन्द आ रहा था और उनको यह विश्वास था कि अब आगे जल्दी ही शुभ दिन आने वाला है।

कर्ण और शकुनि दुर्योधन की चापलूसी किया करते—"राजन् ! जो राज्यश्री युधिष्ठिर का तेज और शोभा बढ़ा रही थी, वह अब हमारे पास आ गई है। बलिहारी है आपकी कुशाग्र बुद्धि की, जिसके कारण हमें यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"

किन्तु दुर्योधन को भला इतने से संतोष कहां होता ! वह कर्ण से कहता—"कर्ण ! तुम्हारा कहना ठीक तो है, परन्तु मैं तो चाहता हूं कि पांडवों को मुसीबतों में पड़े हुए अपनी आंखों से देखूं और उनके सामने अपने सुख-भोग और ऐश्वर्य का प्रदर्शन भी करूं, जिससे उनको अपनी दयनीय हालत का ज़रा भान तो हो। जबतक शत्रु की तकलीफ को हम अपनी आंखों से देख न लेंगे, तबतक हमारा आनन्द अधूरा ही रह जायगा। कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिसमें अपना यह काम पूर्ण हो। पिताजी की भी इसमें सम्मति लेनी होगी न ?....

"पिताजी सोचते हैं कि पांडवों में हमसे ज्यादा तपोबल है। पिताजी पांडवों से इस कारण कुछ डरते रहते हैं। वे वन में जाकर पांडवों से मिलने की इजाजत देंगे, इसमें शंका है। वह डरते हैं कि कहीं हमपर इससे कोई आफत न आ जाय। लेकिन मैं चाहता हूं कि यदि हमने द्रौपदी

और भीमसेन को जंगल में पड़े तकलीफ उठाते न देखा तो हमारे इतने करने-धरने का लाभ ही क्या हुआ ? मैं केवल इतने से ही संतोष नहीं मान सकता कि हमें विशाल राज्य मिला है और उसका उपभोग करते हैं। मैं तो पांडवों का कष्ट अपनी आंखों देखना चाहता हूं। इसलिए कर्ण, तुम और शकुनि कुछ ऐसा उपाय करो जिससे वन में जाकर पांडवों को देखने की पिताजी की अनुमति मिल जाय।"

कर्ण ने इसका जिम्मा लिया।

अगले दिन पौ फटने से पहले ही कर्ण दुर्योधन के पास जा पहुंचा। उसके चेहरे पर आनन्द की झलक देखकर दुर्योधन ने उत्सुकता से पूछा कि बात क्या है ? कर्ण बोला—"मुझे उपाय सूझ गया। द्वैतवन में कुछ ग्वालों की बस्तियां हैं जो हमारे अधीन हैं। हर साल उन बस्तियों में जाकर चौपायों की गणना करना राजकुमारों का ही काम होता है। बहुत काल से यह प्रथा चली आ रही है। इसलिए उस बहाने हम पिताजी की अनुमति आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। क्यों, ठीक है न ?"

कर्ण अपनी बात पूरी तरह कह भी न पाया था कि दुर्योधन और शकुनि मारे खुशी के उछल पड़े। बोले—"बिलकुल ठीक सूझी है तुमको।" कहते-कहते दोनों ने कर्ण की पीठ थपथपाई।

ग्वालों की बस्ती के चौधरी को बुला भेजा गया और कुमारों ने उससे बतचीत भी कर ली।

चौधरी ने राजा धृतराष्ट्र से विनती करके कहा—"महाराज ! गायें तैयार हैं।। वन के एक रमणीक स्थान पर राजकुमारों के लिए हर तरह का प्रबंध किया जा चुका है। प्रथा के अनुसार राजकुमार उस स्थान पर पधारें और जैसा कि सदा से होता आया है, चौपायों की गणना, उम्र, रंग, नस्ल, नाम इत्यादि की जांच करके खाते में दर्ज कर लें। बछड़ोंपर चिह्न लगाने के बाद वन में कुछ देर आखेट खेलकर थोड़ा मन बहला लें। चौपायों की गणना की रस्म भी अदा हो जायगी और राजकुमारों का मन भी बहल जायेगा।"

राजकुमारों ने भी धृतराष्ट्र से आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि वह इसकी अनुमति दे दें।

किन्तु धृतराष्ट्र ने न माना। बोले, "मैं मानता हूं कि राजकुमारों के लिए आखेट का खेल बड़ा अच्छा होता है । चौपायों का गणना करना और जांच करना भी प्रथा के अनुसार आवश्यक ही है; परन्तु फिर भी सुनता हूं कि आजकल द्वैतवन में पांडव ठहरे हुए हैं, इसलिए वहां तुम्हारा जाना ठीक नहीं । उनके और तुम्हारे बीच मनमुटाव हो चुका है । ऐसी स्थिति में तुम लोगों को ऐसी जगह, जहां भीम और अर्जुन हों, भेजने को मैं कभी सहमत नहीं हो सकता ।"

दुर्योधन ने विश्वास दिलाया कि पांडव जहां होंगे वहां वे सब नहीं जायंगे और बड़ी सावधानी से काम लेंगे ।

"तुम्हारे हजार सावधान रहने पर भी मुझे भय है कि कोई आफत जरूर आ जायगी । तुम्हारे लिए यह उचित नहीं कि वनवास के दुःख से क्षुब्ध पांडवों के नजदीक जाओ । हो सकता है, तुम्हारे अनुचरों में से ही कोई पांडवों से अशिष्टता का व्यवहार कर बैठे, जिससे भारी अनर्थ हो सकता है । केवल गायों की गिनती का ही काम हो तो उसके लिए तुम्हारे बजाय किसी और को भी भेजा जा सकता है ।" राजा ने कुमारों को समझाते हुए कहा ।

यह सुनकर शकुनि बोला—"राजन् ! युधिष्ठिर धर्म के ज्ञाता हैं । भरी सभा में वह जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं उससे विमुख नहीं होंगे । पांडव उनका कहा अवश्य मानेंगे । हमपर अपना क्रोध प्रगट नहीं करेंगे । आखिर दुर्योधन आखेट ही तो खेलना चाहते हैं ! वह कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे जिससे कोई बिगाड़ पैदा हो । आप उन्हें न रोकिए । चौपायों की गणना का भी काम हो जायगा और दुर्योधन की इच्छा भी पूरी हो जायगी । मैं भी उनके साथ जाऊंगा और कोई अनहोनी बात न होने दूंगा । आप विश्वास रक्खें, पांडवों के पास तक हम नहीं फटकेंगे । मैं इस बात का वचन देता हूं । आप निश्चिंत होकर अनुमति दीजिए ।"

विवश होकर धृतराष्ट्र ने अनुमति दी । बोले—"तो फिर जैसी तुम्हारी इच्छा !"

जिसने मन में वैर-भाव को एक बार जगह दी, वह संतोष से सदा के लिए हाथ धो बैठता है । द्वेष वह आग है जो बुझाए नहीं बुझती । जलती

आग को कहीं ईंधन डालकर बुझाया जा सकता है ? ईंधन पाकर तो वह और भी भड़क उठती है तथा और भी ज्यादा ईंधन पाने के लिए लालायित हो उठती है । द्वेष करनेवाले का जी कभी नहीं भरता ।

: ३९ :

दुर्योधन अपमानित होता है

एक बड़ी सेना और असंख्य नौकर-चाकरों को साथ लेकर कौरव द्वैतवन के लिए रवाना हुए । दुर्योधन और कर्ण फूले नहीं समाते थे । वे सोच रहे थे कि पांडवों को कष्ट में पड़े देखकर खूब आनन्द आयेगा । उन्होंने पहुंचने पर अपने डेरे ऐसे स्थान पर लगाये जहां से पांडवों का आश्रम चार कोस की दूरी पर ही था ।

कुछ देर विश्राम करने के बाद वे ग्वालों की बस्तियों में गए, चौपायों की गिनती की, मुहर लगाकर विधिवत् रस्म अदा की । इसके बाद ग्वालों के खेल और नाच देखकर कुछ मनोरंजन किया । फिर जंगली जानवरों के शिकार की बारी आई ।

शिकार खेलते-खेलते दुर्योधन उस जलाशय के पास जा पहुंचा जो पांडवों के आश्रम के पास ही था । तालाब का स्वच्छ जल, चारों ओर के रमणीक दृश्य आदि देखकर दुर्योधन खुश हुआ । सबसे बढ़कर आनंद तो उसे इस बात से हुआ कि जलाशय के पास ठहरे हुए पांडवों के हाल-चाल भी देखे जा सकेंगे । दुर्योधन ने अपने लोगों को आज्ञा दी कि डेरे तालाब के किनारे लगा दिए जायं ।

दैवयोग से गन्धर्वराज चित्रसेन भी अपने परिवार के साथ उसी जलाशय के तट पर डेरा डाले हुए था । दुर्योधन के कर्मचारी डेरा लगाने वहां गए तो गन्धर्वराज के अनुचरों ने उन्हें डेरा लगाने से मना किया ।

अनुचरों ने लौटकर दुर्योधन को इसकी खबर दी कि कोई विदेशी नरेश अपने परिवार के साथ सरोवर के तट पर ठहरे हुए हैं और उनके नौकर हमें वहां ठहरने नहीं दे रहे हैं । यह सुनते ही दुर्योधन गुस्से से आग-बबूला हो उठा । वह बोला—"किस राजा की मजाल है जो मेरी

आज्ञा को पूरा न होने दे ? जाओ, अपना काम पूरा करके आओ और कोई रोके तो उसकी और उसके साथियों की पूरी तरह खबर लो।"

आज्ञा पाकर दुर्योधन के अनुचर फिर जलाशय के पास गए और किनारे पर तम्बू गाड़ने लगे। इसपर गन्धर्वराज के नौकर बहुत बिगड़े और दुर्योधन के अनुचरों की खूब खबर ली। वे कुछ न कर सके और अपने प्राण लेकर भाग खड़े हुए।

दुर्योधन को जब इस बात का पता चला तो उसके क्रोध की सीमा न रही। वह अपनी सेना लेकर तालाब की ओर बढ़ा।

वहां पहुंचना था कि गन्धर्वों और कौरवों की सेनाएं आपस में भिड़ गईं। घोर संग्राम छिड़ गया। पहले गन्धर्वों ने खुले तौर से आमने-सामने का युद्ध किया जिसमें उनको हार खानी पड़ी। यह देखकर गन्धर्वराज क्रुद्ध हो उठा और माया-युद्ध शुरू कर दिया। ऐसे-ऐसे मायास्त्र उसने कौरव-सेना पर बरसाए कि वह उनके आगे ठहर न सकी। यहां तक कि कर्ण-जैसे महारथियों के भी रथ और अस्त्र चूर-चूर हो गए और वे उलटे पांव भाग खड़े हुए। अकेला दुर्योधन लड़ाई के मैदान में अंत तक डटा रहा। गन्धर्वराज चित्रसेन ने उसे पकड़ लिया और रस्सी से बांधकर अपने रथ पर बिठा लिया और शंख बजाकर विजय-घोष किया। इस तरह कौरवों के पक्ष के सब प्रधान वीरों को गन्धर्वों ने कैद कर लिया। कौरवों की सेना तितर-बितर हो गई। कितने ही सैनिक खेत रहे; बचे-खुचे सैनिकों में से कुछ ने पांडवों के आश्रम में जाकर दुहाई मचाई और रक्षा की प्रार्थना की।

दुर्योधन और उनके साथियों का इस प्रकार अपमानित होना सुनकर भीम बड़ा खुश हुआ। युधिष्ठिर से बोला—"भाईसाहब, गन्धर्वों ने तो वही कर दिया जो हमें करना चाहिए था। दुर्योधन हमारा मजाक उड़ाने के लिए ही यहां आया था। सो उसे ठीक सजा मिली। गन्धर्वराज का हमें आभार मानना चाहिए जो उन्होंने सारा काम खुद कर डाला।"

युधिष्ठिर ने गम्भीर स्वर में कहा—"भाई भीमसेन! तुम्हारा इस तरह खुश होना ठीक नहीं। ये हमारे ही कुटुम्बी हैं। इनको गन्धर्वराज ने कैद कर रखा है, यह देखते हुए भी हम हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहें, यह हमारे लिए उचित नहीं। अच्छा यही है कि तुम अभी जाओ और किसी तरह अपने बन्धुओं को गन्धर्वों के बन्धन से छुड़ा लाओ।"

युधिष्ठिर की बातें सुनकर भीमसेन झल्ला उठा। बोला—"आप भी कैसे अजीब हैं जो ऐसी आज्ञा दे रहे हैं! जिस पापी ने हमें लाख के घर में ठहराकर आग की भेंट चढ़ाने का कुचक्र रचा, भला बताइए तो, उसे मैं क्यों छुड़ा लाऊं? क्या आप यह भूल गए कि इसी दुरात्मा दुर्योधन ने मुझे विष-मिला भोजन खिलाया था और गंगा में डुबोकर मार डालने का प्रयत्न किया था? ऐसे पापात्मा पर आप कैसे दया करते हैं? जिन्होंने प्यारी द्रौपदी को भरी सभा में खींच लाकर अपमानित किया, आप कैसे कहते हैं कि उन्हीं नीचों को हम अपना भाई मानें?"

भीमसेन ये बातें कर ही रहा था कि इतने में बन्दी दुर्योधन और उसके साथियों का आर्त्तनाद सुनाई दिया। सुनकर युधिष्ठिर बहुत विचलित होकर दूसरे भाइयों से बोले—"भीमसेन की बात ठीक नहीं है। भाइयो! हमें अभी जाकर कौरवों को छुड़ा लाना चाहिए।"

युधिष्ठिर के आग्रह करने पर भीम और अर्जुन ने कौरवों की बिखरी सेना को फिर से इकट्ठा किया और जाकर गन्धर्व-सेना पर टूट पड़े।

पांडवों को देखते ही गन्धर्वराज चित्रसेन का क्रोध शांत हो गया। उसने कहा—"मैंने तो दुरात्मा कौरवों को शिक्षा देने के लिए यह सब किया था। यदि आप चाहते हैं तो मैं इनको अभी मुक्त किये देता हूं।" यह कहकर चित्रसेन ने कौरवों को बन्धन-मुक्त कर दिया और साथ ही उन्हें यह भी आदेश दिया कि वे इसी घड़ी हस्तिनापुर लौट जायं। अपमानित कौरव फौरन हस्तिनापुर की ओर भाग खड़े हुए। कर्ण, जो पहले ही लड़ाई से भाग खड़ा हुआ था, रास्ते में दुर्योधन से मिला।

दुर्योधन ने क्षुब्ध होकर कहा—"कर्ण! अच्छा होता यदि मैं गन्धर्वों के हाथों ही वहां मारा गया होता! यह अपमान तो नहीं सहना पड़ता।"

कर्ण ने बहुत समझाया, पर दुर्योधन का क्षुब्ध हृदय ज़रा भी शांत न हो सका। बोला—"दुःशासन! अब मेरा जीना तो बेकार है। मैं यहीं अनशन करके प्राण-त्याग कर दूंगा। तुम्हीं जाकर राज-काज

संभालो। शत्रुओं के सामने मेरा जो घोर अपमान हो चुका है, इसके बाद मैं बिलकुल जीना नहीं चाहता।"

दुर्योधन को बहुत ग्लानि अनुभव होने लगी। यह देख दुःशासन की आंखें भर आईं। रोते-रोते दुर्योधन के पांव पकड़कर रुद्ध कण्ठ से आग्रह करने लगा कि आप ऐसा न करें। भाइयों का यह करुण विलाप कर्ण से न देखा गया।

वह बोला—"कुरुवंश के राजकुमारो! यह तुम्हें शोभा नहीं देता कि इस प्रकार दीनों की भांति विलाप करो। शोक करने से तुम्हारा क्या भला होगा? रोने-कलपने से भी कहीं कुछ काम बना है? धीरज धरो। तुम्हारे शोक करने से तुम्हारे शत्रु पांडवों को ही आनन्द होगा; और तुम्हें तो कोई फायदा होगा नहीं। पांडवों को देखो, कितने भारी अपमान उन्हें सहने पड़े थे। फिर भी उन्होंने कभी अनशन का नाम तक न लिया।"

कर्ण की बातों का समर्थन करते हुए शकुनि बोला—

"दुर्योधन! कर्ण की बात मानो। तुम्हें भी हमेशा उलटा ही सूझा करता है। प्राण छोड़ने की क्या बात करने लगे! जब राज्य के उपभोग करने का समय है तो तुमको उपवास करने की सूझी है। तुम्हारे सिवा और कौन इस विशाल राज्य का शासक हो सकता है तथा इसका उपभोग कर सकता है? चलो, उठो! अभी तो हस्तिनापुर चलो। अगर तुम्हें अपने किये पर पछतावा हो रहा है तो फिर चलकर पांडवों से मित्रता कर लेते हैं और उनका राज्य उन्हें वापस देकर फिर सुखपूर्वक दिन बितायेंगे।"

शकुनि की बात सुनते ही दुर्योधन मानो स्वप्न से जाग पड़ा। वह चौंक उठा। उसकी बुद्धि पर जो थोड़ा-सा प्रकाश पड़ा था, वह फिर लुप्त हो गया और फिर से अंधेरा छा गया। एकदम चिल्ला उठा—"पांडवों से संधि ऐसे कैसे की जा सकती है? उनपर तो विजय ही पाना पड़ेगा। और मैं वह पाकर ही रहूंगा।"

दुर्योधन के ये आशाजनक वचन सुनकर कर्ण बोला—"धन्य हो दुर्योधन! अब आपने सही बात कही है। आखिर मरने से फायदा क्या

होगा? जीवित रहने से तो बहुत-कुछ प्राप्त किया जा सकता है।" इस प्रकार विचार करते हुए वे सब हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। रास्ते में कर्ण ने दुर्योधन को विश्वास दिलाने की खातिर कहा—"मैं अपने खड्ग की सौगन्ध खाकर कहता हूं कि तेरह बरस बाद लड़ाई में अर्जुन का जरूर वध करूंगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है।" इससे दुर्योधन को बड़ी सान्त्वना मिली और उसकी ग्लानि कम होने लगी।

: ४० :

कृष्ण की भूख

पांडवों के वनवास के समय दुर्योधन ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया था। दुर्योधन की तो इच्छा राजसूय यज्ञ करने की थी; किन्तु पण्डितों ने कहा कि धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर के रहते उसे राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। तब ब्राह्मणों की सलाह मानकर दुर्योधन ने वैष्णव नामक यज्ञ करके ही संतोष माना।

यज्ञ के समाप्त होने पर उसके बारे में नगर के लोगों की यह राय हुई कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की तुलना में दुर्योधन का वैष्णव यज्ञ रुपये में सोलहवां हिस्सा भी नहीं था; किन्तु दुर्योधन के मित्रों ने तो उसकी प्रशंसा के पुल बांध दिए। वे कहने लगे कि मांधाता, ययाति, भरत-जैसे यशस्वी महाराजाओं ने जो भारी यज्ञ किये थे, दुर्योधन का वैष्णव यज्ञ उनकी बराबरी करने योग्य है। इस प्रशंसा को सुनकर दुर्योधन गर्व और आनन्द से फूल उठा। राजभवन का आश्रय लेकर जीविका चलाने वाले चापलूस लोगों ने दुर्योधन के यज्ञ की महिमा खूब बढ़ा-चढ़ाकर इधर-उधर कही; उसपर खील बरसाईं और चन्दन छिड़का। इस अवसर पर महाबली कर्ण उठा और भरी सभा में दुर्योधन को सम्बोधन करके बोला—

"राजन्! आप इस बात का सोच न कीजिए कि रायसूय यज्ञ न कर सके। शीघ्र ही पांडव युद्ध में हारकर हमारे हाथों मारे जायंगे और तब आप राजसूय यज्ञ भी कर सकेंगे। मैं शपथ खाकर कहता हूं कि

जब तक युद्ध में अर्जुन का वध न कर दूंगा, तबतक न तो पानी से अपने पांव धोऊंगा, न मांस खाऊंगा, न मदिरा-पान करूंगा और न किसी मांगने वाले को 'नाहीं' कहूंगा। यह मेरा प्रण है।"

कर्ण की इस प्रतिज्ञा पर धृतराष्ट्र के पुत्रों ने बड़ा शोर मचाकर अपने आनन्द का प्रदर्शन किया। कर्ण की शपथमात्र से उनको यह विश्वास हो गया कि बस, पांडवों का काम तमाम हो चुका है।

यज्ञशाला में कर्ण ने अर्जुन को मारने की जो प्रतिज्ञा की, उसकी खबर जासूसों द्वारा युधिष्ठिर को मिली। इससे युधिष्ठिर बड़े व्याकुल हो गए। बड़ी देर तक पृथ्वी पर टकटकी बांधे देखते रह गए। कर्ण दैवी कवच-कुण्डलों के साथ पैदा हुआ है। उसका पराक्रम भी अद्भुत है, और फिर वह ऐसी प्रतिज्ञा कर चुका है; यह सब समय का फेर ही तो है। इससे मालूम होता है कि समय हमारे अनुकूल नहीं है। यह सोचते-सोचते युधिष्ठिर बड़े चिन्तित हो गए।

एक दिन बड़े सवेरे युधिष्ठिर ने नींद खुलने के ज़रा देर पहले एक सपना देखा। अक्सर सपने या तो नींद के शुरू में आते हैं या नींद खुलने से थोड़ी देर पहले। युधिष्ठिर ने सपने में देखा कि द्वैतवन के हिंस्र जन्तुओं का एक झुण्ड आकर उनके आगे पुकार मचा रहा है और आर्त्त स्वर में कह रहा है, "महाराज! आप लोगों ने शिकार खेल-खेलकर हम सबों का करीब-करीब नाश ही कर डाला है। इससे पहले कि हमारा सर्वनाश ही हो जाय, आपसे हमारी प्रार्थना है कि आप और किसी जंगल में चले जाइए। हमारी संख्या बहुत घट चुकी है। थोड़े-से जो जीवित बचे हैं, उन्हींके द्वारा वंश की वृद्धि होनी है। हमारी नस्ल का बढ़ना-न-बढ़ना आपकी ही कृपा पर निर्भर है। आपका कल्याण हो! आप हम पर दया करें!" कहते-कहते जानवरों की आंखों में आंसू उमड़ आए। यह देखकर युधिष्ठिर का जी भर आया। चौंककर उठ बैठे तो पता चला कि यह तो सपना था; परन्तु फिर भी युधिष्ठिर बड़े बेचैन हो उठे। इस सपने से उन्हें बड़ी व्यथा पहुंची। भाइयों से सपने का हाल कहा और सबसे सलाह करके वे दूसरे वन में चले गए।

इसी समय की बात है कि महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों को

साथ लेकर दुर्योधन के राजभवन में पधारे। वैसे दुर्योधन को महर्षियों के प्रति अधिक श्रद्धा न थी, किन्तु दुर्वासा कहीं शाप न दे बैठें, इस डर से खुद उनका बड़ी नम्रता और बड़े यत्न के साथ स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधन के सत्कार से ऋषि बहुत प्रसन्न हुए और कहा—"वत्स, कोई वर चाहो तो मांग लो।"

दुर्वासा अपने क्रोध के लिए बड़े विख्यात थे। ऐसे क्रोधी ऋषि को संतुष्ट करने से दुर्योधन को ऐसा आनन्द हुआ मानो मृत्यु के मुंह से निकल आया हो। सोचा, कौन-सा वर मांगूं? बहुत दिमाग लड़ाने पर भी उसकी बुद्धि में औरों की बुराई के सिवा और कुछ न सूझा। बोला—"मुनिवर! प्रार्थना यही है कि जैसे आपने शिष्यों-समेत अतिथि बनकर मुझे अनुगृहीत किया, वैसे ही वन में मेरे भाई पांडवों के यहां भी जाकर उनका सत्कार स्वीकार करें। राजाधिराज युधिष्ठिर हमारे कुल के प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। आप उनके पास जाइए और उनके अतिथि बनने की कृपा कीजिए। और फिर एक छोटी-सी बात मेरे लिए और करने की कृपा करें। वह यह कि आप अपने शिष्यों-समेत ठीक ऐसे समय युधिष्ठिर के आश्रम में जायं जब राजकुमारी द्रौपदी पांडवों एवं उनके परिवार को भोजन करा चुकी हों और जब सभी लोग आराम से बैठे विश्राम कर रहे हों। बस, यही मेरी प्रार्थना है। इससे मुझ पर बड़ा अनुग्रह होगा।"

लोगों को कठिनाइयों की कसौटी में कसकर परख लेने का महर्षि दुर्वासा को बड़ा चाव था। इसलिए उन्होंने दुर्योधन की प्रार्थना तुरन्त मान ली।

दुर्वासा से ऐसी अजीब प्रार्थना करने का दुर्योधन का उद्देश्य यह था कि क्रोधी ऋषि पांडवों के पास ऐसे समय पर जायं जबकि ऋषि का समुचित स्वागत-सत्कार करना पाण्डवों से न बन सके और ऋषि क्रोध में आकर उन्हें शाप दे दें। दुर्योधन चाहता तो ऋषि से कोई ऐसा वर मांग सकता था जिससे उसकी भलाई होती। पर उसने तो अपने भाइयों को हानि पहुंचाना ही श्रेयस्कर समझा। दुरात्माओं का स्वभाव ऐसा ही होता है।

दुर्योधन की प्रार्थना मानकर दुर्वासा ऋषि अपने शिष्यों के साथ

युधिष्ठिर के आश्रम में जा पहुंचे। युधिष्ठिर ने भाइयों-समेत ऋषि की बड़ी आव-भगत की और दण्डवत् करके विधिवत् उनका सत्कार किया। कुछ देर बाद मुनि ने कहा—"अच्छा ! हम सब अभी स्नान करके आते हैं। तबतक भोजन तैयार करके रखना।" कहकर दुर्वासा शिष्यों-समेत नदी पर स्नान करने चले गए।

वनवास के प्रारम्भ में युधिष्ठिर की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य ने उन्हें एक अक्षय पात्र प्रदान किया था और कहा था कि बारह बरस तक इसके द्वारा मैं तुम्हें भोजन दिया करूंगा। इसकी विशेषता यह है कि द्रौपदी हर रोज चाहे जितने लोगों को इस पात्र में से भोजन खिला सकेगी; परन्तु सबके भोजन कर लेने पर जब द्रौपदी स्वयं भी भोजन कर चुकेगी, तब फिर इस बरतन की यह शक्ति अगले दिन तक के लिए लुप्त हो जायगी।

इस कारण पांडवों के आश्रम में सबसे पहले ब्राह्मणों और अतिथियों को भोजन दिया जाता था। फिर सब भाइयों के भोजन कर लेने के बाद युधिष्ठिर भोजन करते। जब सभी लोग भोजन कर चुकते तब अन्त में द्रौपदी भोजन करती और पात्र को मांज-धोकर रख देती। जिस समय दुर्वासा ऋषि आये, उस समय सभी को खिला-पिलाकर द्रौपदी भी भोजन कर चुकी थी। इसलिए सूर्यदेव का अक्षय पात्र उस दिन के लिए खाली हो चुका था।

द्रौपदी बड़ी चिन्तित हो उठी कि जब मुनि अपने दस हजार शिष्यों के साथ स्नान-पूजा करके भोजन के लिए आ जायंगे तब वह उनको क्या खिलायेगी ? उसे कुछ न सूझा। और कोई सहारा न पाकर उसने परमात्मा की शरण ली। दीन-भाव से वह भगवान् की प्रार्थना करने लगी—

"हे प्रभो, शरणागतों की रक्षा करनेवाले ईश्वर, जिनका कोई सहारा न हो उनके तुम ही तो सहारे हो। दुर्वासा ऋषि के क्रोध-रूपी मंझधार से तुम्हीं हमारा बेड़ा पार लगा सकते हो। मेरी लाज रक्खो भगवन् !"

द्रौपदी इस प्रकार प्रार्थना कर रही थी कि इतने में भक्तों को संकट से छुड़ानेवाले भगवान् वासुदेव कहीं से आ गए और सीधे आश्रम के रसोईघर में जाकर द्रौपदी के सामने खड़े हो गए। बोले—"बहिन

कृष्णा, बड़ी भूख लगी है। कुछ खाने को दो। और कुछ बाद में सोचना। पहले तो खाने को लाओ।"

द्रौपदी और भी दुविधा में पड़ गई। बोली—"हे भगवन् ! यह कैसी परीक्षा है ? मैं खाना खा चुकी हूं। सूर्य के दिये हुए अक्षय पात्र की शक्ति आज के लिए समाप्त हो चुकी है। ऐसे समय पर उधर दुर्वासा ऋषि अतिथि बनकर आये हुए हैं। मैं घबरा रही थी कि क्या करूं। वह थोड़ी देर में अपने शिष्यों-समेत स्नान करके वापस आ ही रहे होंगे। और आप भी भोजन मांगते हुए आये। इस विपदा से कैसे बचूं ?"

कृष्ण बोले—"मैं यहां भूख से तड़प रहा हूं और तुम्हें दिल्लगी सूझ रही है। ज़रा लाओ तो अपना अक्षय पात्र। देखें कि उसमें कुछ है भी या नहीं।"

द्रौपदी हड़बड़ाकर बरतन ले आई। उसके एक छोर पर अन्न का एक कण और साग की पत्ती लगी थी। श्रीकृष्ण ने उसे लेकर मुंह में डालते हुए मन में कहा—"जो सारे विश्व में व्याप्त है, सारा विश्व ही जिसका रूप है, यह उस हरि का भोजन हो; इससे उसकी भूख मिट जाय और वह प्रसन्न हो जाय।"

द्रौपदी तो यह देख लज्जा से सिकुड़-सी गई। सोचने लगी—"कैसी हूं कि मैंने ठीक से बरतन भी न धोया। इसीलिए उसमें लगा अन्न-कण और साग वासुदेव को खाना पड़ा। धिक्कार है मुझे !" इस तरह द्रौपदी अपने आपको ही धिक्कार रही थी कि इतने में श्रीकृष्ण ने बाहर जाकर भीमसेन को कहा—"भीम, जल्दी जाकर ऋषि दुर्वासा को शिष्यों समेत भोजन के लिए बुला लाओ।"

भीमसेन बड़े वेग से नदी की ओर उस स्थान पर गये जहां दुर्वासा अपने सहस्रों शिष्यों-समेत स्नान कर रहे थे। नजदीक जाकर भीमसेन देखता क्या है कि दुर्वासा ऋषि का सारा शिष्य-समुदाय स्नान-पूजा करके भोजन तक से निवृत्त हो चुका है।

शिष्य दुर्वासा से कह रहे थे—"गुरुदेव ! युधिष्ठिर से हम व्यर्थ में कह आये कि भोजन तैयार करके रखें। हमारा पेट ऐसा भरा हुआ है कि हमसे उठा भी नहीं जाता। इस समय तो ज़रा भी खाने की इच्छा

नहीं है।"

यह सुन दुर्वासा ने भीमसेन से कहा—"हम सब तो भोजन से निवृत्त हो चुके हैं। युधिष्ठिर से जाकर कहना कि असुविधा के लिए हमें क्षमा करें।" यह कहकर ऋषि अपने शिष्यों-सहित वहीं से रवाना हो गए।

सारा विश्व भगवान् श्रीकृष्ण में ही समाया हुआ है। इसलिए उनके चावल का एक कण खाने-भर से सारे ब्राह्मणों की भूख मिट गई और वे तृप्त होकर चले गए।

: ४१ :
मायावी सरोवर

पांडवों के वनवास की अवधि पूरी होने को ही थी। बारह बरस समाप्त होने में कुछ ही दिन रह गये थे।

पांडवों के आश्रम के पास ही एक गरीब ब्राह्मण की झोंपड़ी थी। एक दिन एक हिरन उधर से आ निकला। झोंपड़ी के बाहर अरणी की लकड़ी टंगी थी। हिरन ने उसपर शरीर रगड़कर खुजली मिटा ली और चल पड़ा। जाते समय अरणी की लकड़ी उसके सींग ही में अटक गई।

काठ के चौकोर टुकड़े पर मथनी-जैसी दूसरी लकड़ी से रगड़कर उन दिनों आग सुलगा लेते थे। इसको अरणी कहते थे।

सींग में अरणी के अटक जाने से हिरन घबरा उठा और बड़ी तेजी से भागने लगा। यह देख ब्राह्मण चिल्लाने लगा और दौड़कर पांडवों के आश्रम में जाकर पुकार मचाई कि हमारी अरणी हिरन उठा ले गया है। अब मैं अग्निहोत्र के लिए अग्नि कैसे उत्पन्न करूंगा ?

ब्राह्मण पर तरस खाकर पांचों भाई हिरन का पीछा करने लगे। पांडव दौड़े तो बड़े वेग से, पर हिरन के पास न पहुंच सके। हिरन कूदता, छलांगें मारता हुआ भागा और पांडवों को लुभाकर जंगल में बड़ी दूर तक भटका ले गया और उनके देखते-देखते अचानक ग्रांखों से ओझल हो गया।

पांचों भाई थककर एक बरगद की छांह में बैठ गए। प्यास के

मारे सबके मुंह सूख रहे थे।

लेकिन सबको एक ही चिन्ता थी। नकुल ने बड़े उद्विग्न भाव से युधिष्ठिर से कहा—"हमारे लिए यह कैसी लज्जा की बात है कि इस ब्राह्मण का इतना-सा भी काम हमसे न हो सका !"

नकुल को व्यथित देखकर भीमसेन बोला—"हमें तो उसी घड़ी उन पापियों का काम तमाम कर देना चाहिए था जबकि वे द्रौपदी को सभा के बीच घसीट लाये थे ! लेकिन तब हम चुपचाप रहे, इसी का नतीजा है कि आज हमें ऐसे कष्ट झेलने पड़ रहे हैं।" यह कहकर भीमसेन ने अर्जुन की ओर दुःखभरी निगाह से देखा।

अर्जुन बोल उठा—"ठीक कहते हो भैया, भीम ! उस समय तो उस सूत्रपुत्र की कठोर बातें सुनकर भी मैं कठपुतला-सा खड़ा रह गया था। उसी के फलस्वरूप अब हमारी यह गति हो रही है।"

युधिष्ठिर ने देखा कि थकावट और प्यास के कारण सबकी सहन-शीलता जवाब दे रही है। उनसे कुछ कहते न बना। उनको भी असह्य प्यास सताये जा रही थी। पर उसे वह सहन करके शान्ति से नकुल से बोले—"भैया ! ज़रा उस पेड़ पर चढ़कर देखो तो सही कि कहीं कोई जलाशय या नदी दिखाई दे रही है ?"

नकुल ने पेड़ पर चढ़कर देखा और उतरकर कहा कि दूरी पर कुछ ऐसे पौधे दिखाई दे रहे हैं जो पानी के ही नजदीक उगते हैं। आसपास कुछ बगुले भी बैठे हैं। वहीं कहीं आसपास पानी अवश्य होना चाहिए।

युधिष्ठिर ने कहा कि जाकर देखो और पानी मिले तो ले आओ। यह सुनकर नकुल तुरन्त पानी लाने चल पड़ा।

कुछ दूर चलने पर अनुमान के ग्रनुसार नकुल को एक जलाशय मिला। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। सोचा, पहले तो ग्रपनी प्यास बुझा लूं ग्रौर फिर तरकस में पानी भरकर भाइयों के लिए ले जाऊंगा। यह सोचकर वह पानी में उतरा। पानी स्वच्छ था। उसने दोनों हाथों की अंजुलि में पानी लिया और उसे पीना ही चाहता था कि इतने में यह आवाज आई—"माद्री के पुत्र ! दुःसाहस न करो ! यह जलाशय मेरे

आधीन है। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। फिर पानी पियो।"

नकुल चौंक पड़ा। पर उसे प्यास इतनी तेज लगी थी कि उस वाणी की परवाह न करके अंजलि में ले पानी पी लिया। पानी पीकर किनारे पर चढ़ते ही उसे कुछ चक्कर-सा आया और वह गिर पड़ा।

बड़ी देर तक नकुल के न लौटने पर युधिष्ठिर चिन्तित हुए और सहदेव को भेजा। सहदेव जलाशय के नजदीक पहुंचा तो नकुल को जमीन पर पड़ा देखा। उसने सोचा कि हो-न-हो, किसी ने भाई को मार डाला है। पर उसे भी प्यास इतनी तेज लगी थी कि वह ज्यादा कुछ सोच न सका। पानी पीने के लिए वह जलाशय में उतरा। वह पानी पीने को ही था कि पहले-जैसी वाणी सुनाई दी—"सहदेव! यह मेरा जलाशय है। मेरे प्रश्नों का जवाब देने के बाद ही तुम पानी पी सकते हो।"

सहदेव भी प्यास के मारे इतना व्याकुल हो रहा था कि उसने वाणी की चेतवनी पर ध्यान न देते हुए पानी पी लिया और किनारे पर चढ़ते-चढ़ते अचेत होकर नकुल के पास गिर पड़ा।

जब सहदेव भी बहुत देर तक न लौटा तो युधिष्ठिर घबराकर अर्जुन से बोले—"अर्जुन! दोनों भाई पानी लेने गए हैं। अब तक क्यों नहीं लौटे? जाकर देखो तो उनके साथ कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई? और लौटते समय तरकस में पानी भी लेते आना।"

अर्जुन बड़ी तेजी से चला। तालाब के किनारे पर दोनों भाइयों को मृत पड़े देखा तो चौंक पड़ा। उसे अचरज हो रहा था और दुःख भी। वह नहीं समझ पाया कि इनकी मृत्यु का कारण क्या है। यही सोचते हुए अर्जुन भी पानी पीने के लिए जलाशय में उतरा कि इतने में वही वाणी सुनाई दी—"अर्जुन! मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के बाद ही प्यास बुझा सकते हो। यह तालाब मेरा है। बात न मानोगे तो तुम्हारी भी वही गति होगी जो तुम्हारे इन दोनों भाइयों की हुई है।"

अभिमानी अर्जुन यह सुनकर गुस्से से भर गया। धनुष तानकर ललकारा—"कौन हो तुम? सामने आकर कहो, नहीं तो यह लो। इन्हीं बाणों से तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ा देता हूं।" बात खत्म भी न होने पाई

थी कि अर्जुन ने शब्द-भेदी बाण छोड़ने शुरू कर दिये। जिधर से आवाज सुनाई दी थी, उसी ओर निशाना लगाकर वह तीर चलाता रहा, किन्तु उन बाणों का कोई भी असर नहीं हुआ। जरा देर में फिर आवाज आई—"तुम्हारे बाण मुझे छू तक नहीं सकते। मैं फिर कहे देता हूं, मेरे प्रश्नों का पहले उत्तर दो, फिर पानी पियो, नहीं तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।"

अपने बाणों को बेकार होते होते देखकर अर्जुन के क्रोध की सीमा न रही। उसने सोचा कि यहां तो बड़ी जबरदस्त लड़ाई लड़नी होगी। इससे पहले अपनी प्यास तो बुझा ही लूं। फिर लड़ लिया जायगा। यह सोचकर अर्जुन ने जलाशय में उतरकर पानी पी लिया और किनारे आते-आते चारों खाने चित्त होकर गिर पड़ा।

उधर तीनों भाइयों की बाट जोहते-जोहते युधिष्ठिर बड़े व्याकुल उठे। भीमसेन से चिन्तित स्वर में बोले—"भैया भीमसेन! देखो तो, अर्जुन भी नहीं लौटा। जरा तुम्हीं जाकर तलाश करो कि तीनों भाइयों को क्या हो गया है। लौटती बार पानी भर कर लाना। प्यास सही नहीं जा रही है। समय हमारे विपरीत ही मालूम होता है। जरा होशियारी से जाना भाई। तुम्हारा कल्याण हो!"

युधिष्ठिर की आज्ञा मानकर भीमसेन तेजी से जलाशय की ओर बढ़ा। तालाब के किनारे पर देखा कि तीनों भाई मरे पड़े हैं। देखकर भीमसेन का कलेजा टूक-टूक होने लगा। सोचा, यह किसी यक्ष की करतूत मालूम होती है। जरा पानी पी लूं, फिर देखता हूं कि कौन ऐसा बली है जो मेरे रास्ते में आए।

यह सोचकर भीमसेन तालाब में उतरना ही चाहता था कि आवाज आई—"भीमसेन! प्रश्नों का उत्तर दिये बिना पानी पीने का साहस न करो। यदि मेरी बात न मानोगे तो तुम्हारी भी अपने भाइयों-जैसी गति होगी।"

"मुझे रोकनेवाला तू कौन होता है?" कहता हुआ भीमसेन बेधड़क तालाब में उतर गया और पानी पी लिया। पानी पीते ही और भाइयों की तरह वह भी वहीं ढेर हो गया।

उधर युधिष्ठिर अकेले बैठे-बैठे घबराने लगे। बड़े आश्चर्य की बात

है कि कोई भी अबतक नहीं लौटा ! कभी ऐसी बात हुई नहीं; आखिर भाइयों को हो क्या गया ? क्या कारण है कि अभी तक ये लौटे नहीं ? कहीं किसी ने उन्हें शाप तो नहीं दे दिया ? या जल की खोज में जंगल में इधर-उधर भटक तो नहीं गये ? मैं ही चलकर देखूं कि बात क्या है । मन-ही-मन यह निश्चिय करके युधिष्ठिर भाइयों को खोजते हुए जलाशय की ओर चल पड़े ।

: ४२ :

यक्ष-प्रश्न

निर्जन वन था । आदमियों का कहीं नाम-निशान नहीं । हिरन, सूअर आदि जानवर इधर-उधर घूम रहे थे । ऐसे वन में होते हुए युधिष्ठिर उसी विषैले तालाब के पास जा पहुंचे, जिसका जल पीकर उनके चारों भाई मृत-से पड़े थे । चारों ओर हरी-हरी घास थी । उस मनोरम हरित शैया पर चारों भाई ऐसे पड़े थे जैसे उत्सव के समाप्त होने पर इन्द्र-ध्वजाएं । यह देखकर युधिष्ठिर चौंक पड़े । उनके आश्चर्य और शोक की सीमा न रही । असह्य शोक के कारण उनकी आंखों से आंसू बह निकले ।

राजाधिराज युधिष्ठिर भीम और अर्जुन के शरीरों से लिपट गये और बिलख उठे—"भैया भीम ! तुमने कैसी-कैसी प्रतिज्ञाएं की थीं ? क्या वे वे सब निष्फल हो जायंगी ? वनवास के समाप्त होते-होते क्या तुम्हारा जीवन भी समाप्त हो गया ? देवताओं की भी बातें आखिर झूठी ही निकलीं !"

सब भाइयों की ओर देख वह बच्चों की तरह रो पड़े । वह बार-बार यह सोच-सोचकर विलाप कर उठते कि ऐसा कौन-सा शत्रु हो सकता जिसमें इन चारों के प्राण लेने की सामर्थ्य थी ।

फिर अपने-आपको उलाहना देते हुए कहने लगे—"मेरा कलेजा भी जैसे पत्थर का है जो नकुल और सहदेव को इस भांति मरे पड़े देखकर भी टूक-टूक नहीं हो जाता ! अब इस संसार में मुझे क्या करना है जो मैं जीता रहूं ?"

कुछ देर विलाप करने के बाद युधिष्ठिर ने ज़रा ध्यान से भाइयों के शरीरों को देखा और अपने-आप से कहने लगे—"यह तो कोई माया-जाल-सा लगता है । इनके शरीरों पर कहीं कोई घाव नहीं दिखाई देता । चेहरों पर कोई परिवर्तन नहीं आया है । ऐसे दीखते हैं जैसे सोये पड़े हों । आसपास जमीन पर किसी शत्रु के पांव के निशान भी तो नहीं नजर आते । हो सकता है, यह भी दुर्योधन का ही कोई षड्यंत्र हो । संभव है, पानी में विष मिला हो ।

सोचते-सोचते युधिष्ठिर भी प्यास से प्रेरित होकर तालाब में उतरने लगे । इतने में वही वाणी पुनः सुनाई दी—"सावधान ! तुम्हारे भाइयों ने मेरी बात को न मान करके पानी पिया था । तुम भी वही भूल न करना । यह तालाब मेरे आधीन है । मेरे प्रश्नों के उत्तर दो और फिर तालाब में उतरकर प्यास बुझाओ ।"

युधिष्ठिर ने ताड़ लिया कि कोई यक्ष बोल रहा है । उन्होंने बात मान ली और बोले—आप प्रश्न कर सकते हैं ।

यक्ष ने प्रश्न किया—सूर्य किसकी प्रेरणा (आज्ञा) से प्रतिदिन उगता है ?

उत्तर—ब्रह्म (परमात्मा) की ।

प्र०—कौन सदा मनुष्य का साथ देता है ?

उ०—धर्म ही मनुष्य का साथी होता है ।

प्र०—कौन-सा ऐसा शास्त्र (विद्या) है जिसका अध्ययन करके मनुष्य बुद्धिमान् बनता है ?

उ०—कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं । महान् लोगों की संगति से ही मनुष्य बुद्धिमान् बनता है ।

प्र०—भूमि से भारी चीज़ क्या है ?

उ०—सन्तान को कोख में धरने वाली माता भूमि से भी भारी होती है ।

प्र०—आकाश से ऊंचा कौन है ?

उ०—पिता ।

प्र०—हवा से भी तेज चलने वाला कौन है ?

उ०—मन।

प्र०—घास से भी तुच्छ कौन-सी चीज होती है?

उ०—चिन्ता।

प्र०—विदेश जानेवाले का कौन मित्र होता है?

उ०—विद्या।

प्र०—घर ही में रहनेवाले का कौन साथी है?

उ०—पत्नी।

प्र०—मरणासन्न वृद्ध का मित्र कौन होता है?

उ०—दान; क्योंकि वही मृत्यु के बाद अकेले चलने वाले जीव के साथ-साथ चलता है।

प्र०—बरतनों में सबसे बड़ा कौन-सा है?

उ०—भूमि ही सबसे बड़ा बरतन है जिसमें सब-कुछ समा सकता है।

प्र०—सुख क्या है?

उ०—सुख वह चीज है जो शील और सच्चरित्रता पर स्थित है।

प्र०—किसके छूट जाने पर मनुष्य सर्व-प्रिय बनता है?

उ०—अहंभाव से उत्पन्न गर्व के छूट जाने पर।

प्र०—किस चीज के खो जाने से दुःख नहीं होता?

उ०—क्रोध के खो जाने से।

प्र०—किस चीज को गंवाकर मनुष्य धनी बनता है?

उ०—लालच को।

प्र०—युधिष्ठिर! निश्चित रूप से बताओ कि किसी का ब्राह्मण होना किस बात पर निर्भर करता है?—उसके जन्म पर, विद्या पर या शील-स्वभाव पर?

उ०—कुल या विद्या के कारण ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हो जाता। ब्राह्मणत्व तो शील-स्वभाव पर ही निर्भर होता है। जिसमें शील न हो, वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। जिसमें बुरे व्यसन हों, वह चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा क्यों न हो, ब्राह्मण नहीं कहला सकता। चारों वेदों को जान करके भी कोई चरित्र-भ्रष्ट हो तो उसे नीच ही समझना चाहिए।

प्र०—संसार में सबसे बड़े आश्चर्य की बात क्या है?

उ०—हर रोज आंखों के सामने कितने ही प्राणियों को मृत्यु के मुंह में जाते देखकर भी बचे हुए प्राणी, जो यह चाहते हैं कि हम अमर रहें, यही महान् आश्चर्य की बात है।

इसी प्रकार यक्ष ने कई प्रश्न किये और युधिष्ठिर ने उन सबके ठीक-ठीक उत्तर दे दिये।

अन्त में यक्ष बोला—"राजन्! मैं तुम्हारे मृत भाइयों में से एक को जिला सकता हूं। तुम जिस किसी को भी जिलाना चाहो, वह जीवित हो जायगा।"

युधिष्ठिर ने पल भर सोचा कि किसे जिलाऊं? और जरा देर रुककर बोले—"जिसका रंग सांवला, आंखें कमल-सी, छाती विशाल और बांहें लम्बी-लम्बी हैं और जो तमाल के पेड़-सा गिरा पड़ा है, वह मेरा सबसे छोटा भाई नकुल जी उठे।"

युधिष्ठिर के इस प्रकार बोलते ही यक्ष ने उनके सामने प्रकट होकर पूछा—"युधिष्ठिर! दस हजार हाथियों के बलवाले भीमसेन को छोड़-कर नकुल को तुमने क्यों जिलाना ठीक समझा? मैंने तो सुना था कि तुम भीम को ही ज्यादा स्नेह करते हो। और नहीं तो कम-से-कम अर्जुन को तो जिला ही लेते, जिसकी रणकुशलता ही तुम्हारी रक्षा करती रही है। तब क्या कारण है कि इन दोनों भाइयों को छोड़कर नकुल को तुम जिलाना चाहते हो?"

युधिष्ठिर ने कहा—"यक्षराज! मनुष्य की रक्षा तो न भीम से होती है, न अर्जुन से। धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है और विमुख होने पर धर्म ही से मनुष्य का नाश भी होता है। मैंने जो नकुल को जिलाना चाहा वह सिर्फ इसी कारण कि मेरे पिता की दो पत्नियों में से, कुन्ती का एक पुत्र मैं तो बचा हूं, मैं चाहता हूं कि माद्री का भी एक पुत्र जी उठे जिससे हिसाब बराबर हो जाय। अतः आप कृपा करके नकुल को जिला दें।"

"पक्षपात से रहित मेरे प्यारे पुत्र! तुम्हारे चारों ही भाई जी उठें।" यक्ष ने वर दिया।

यह यक्ष और कोई नहीं, स्वयं धर्मदेव थे। उन्होंने ही हिरन का रूप

धरकर पाण्डवों को भुलाया था। उनकी इच्छा हुई कि अपने प्रिय पुत्र युधिष्ठिर को देखकर अपनी आंखें तृप्त कर लें और उसके गुणों और योग्यता की परीक्षा भी ले लें।

उन्होंने युधिष्ठिर के सद्‌गुणों से मुग्ध होकर उन्हें छाती से लगा लिया और आशीर्वाद देते हुए कहा—

"बारह बरस के वनवास की अवधि पूरी होने में अब थोड़े ही दिन बाकी रह गए हैं। बारह मास जो तुम्हें अज्ञातवास करना है, वह भी सफलता से पूरा हो जायगा। तुम्हें और तुम्हारे भाइयों को कोई भी नहीं पहचान सकेगा। तुम अपनी प्रतिज्ञा सफलता के साथ पूरी करोगे।" इतना कहकर धर्मदेव अन्तर्धान हो गए।

•

वनवास की भारी मुसीबतें पाण्डवों ने धीरज के साथ झेल लीं। अर्जुन अपने पिता इन्द्रदेव से दिव्यास्त्र प्राप्त करके वापस आ गया। भीमसेन ने भी सुगंधित फूलों वाले सरोवर के पास अपने बड़े भाई हनुमान से भेंट कर ली थी और उनका आलिंगन करके दस गुना अधिक शक्तिशाली हो गया था।

मायावी सरोवर के पास युधिष्ठिर ने स्वयं अपने पिता धर्मदेव के दर्शन किए और उसने गले मिलने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया था। पिता के समान ही पुत्र भी धर्मात्मा हुए।

महाराज युधिष्ठिर और उनके पिता धर्मदेव का यह संवाद और यह पवित्र कथा जो सुनेगा उसका मन कभी अधर्म की ओर नहीं झुकेगा, न मित्रों में फूट डालने या दूसरों का धन हरने पर ही उद्यत होगा। इस कथा को सुननेवाले पराई स्त्री या पुरुष की चाह नहीं करेंगे, न तुच्छ वस्तुओं की रक्षा ही करेंगे।" महाभारत-कथा में से यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद की कथा सुनाते हुए जनमेजय को महामुनि वैशंपायन ने उपर्युक्त वाक्य कहे।

: ४३ :

अनुचर का काम

वनवास की अवधि पूरी होने पर युधिष्ठिर अपने आश्रम के साथी

ब्राह्मणों से दुःख के साथ बोले—

"ब्राह्मण देवताओ! धृतराष्ट्र के पुत्रों के जाल में फंसकर यद्यपि हम राज्य से वंचित हो चुके थे और हमारी हालत दीन-दरिद्रों की-सी हो चुकी थी, फिर भी आप लोगों के सत्संग से इतने दिन वन में आनन्द-पूर्वक बीते। अब तेरहवां बरस शुरू होने को है। प्रतिज्ञा के अनुसार हमें एक बरस तक कहीं छिप कर रहना होगा कि जिससे दुर्योधन के गुप्तचर हमारा पता न लगा सकें। इस कारण आपसे बिछुड़ना पड़ रहा है। भगवान् जानें, कब हम अपना राज्य फिर प्राप्त करेंगे और शत्रुओं के भय से मुक्त होकर आप लोगों के सत्संग में दिन बितायेंगे। आपसे प्रार्थना है कि हमें आशीष देकर विदा करें। हमें ऐसे लोगों से बचकर रहना होगा जो धृतराष्ट्र के पुत्रों के भय से या उनके प्रलोभन में आकर हमारा पता बता दें।"

इतने दिनों वन में साथ रहने वाले ब्राह्मणों से ये बातें कहते हुए युधिष्ठिर का दिल भर आया। पुरोहित धौम्य युधिष्ठिर को सांत्वना देते हुए बोले—"वत्स, इतने बड़े शास्त्रज्ञ होकर इस तरह दिल छोटा करना तुम्हें शोभा नहीं देता। धीरज धरो और आगे जो कुछ करना है उस पर ध्यान दो। विपत्ति तो सब पर पड़ती है। तुम जानते ही हो कि पुराने जमाने में स्वयं देवराज इन्द्र को दैत्यों के धोखे में आने के कारण राज्य-च्युत होना पड़ा था और निषध देश में ब्राह्मणों का वेश बनाकर वह रहे थे। किन्तु देवराज छिपे-ही-छिपे ऐसे उपाय भी करते रहे जिससे वह आगे जाकर शत्रुओं की शक्ति तोड़ने में सफल हुए। तुम्हें भी ऐसा ही कुछ करना होगा। संसार की रक्षा के लिए स्वयं भगवान् विष्णु को साधारण मनुष्यों की ही भांति अदिति के गर्भ में रहना और जन्म लेना पड़ा था। अपना उद्देश्य साधने के लिए उन्होंने वे सब कष्ट झेले और अंत में सम्राट् बलि से राज्य छीनकर मनुष्य-मात्र की रक्षा की। भगवान् नारायण को भी वृत्रासुर के वध के लिए इन्द्र के वज्र में प्रवेश करके छिपना पड़ा था। इसी प्रकार देवताओं का काम बनाने के लिए अग्नि को जल में छिपकर रहना पड़ा था। रोज हम देखते हैं कि भगवान् सूर्य भी तो प्रतिदिन पृथ्वी के उदर में विलीन हो जाते हैं और फिर निकलते हैं। भगवान् विष्णु ने महाबली रावण

का वध करने की खातिर महाराज दशरथ के यहां मनुष्य-योनि में जन्म लेकर बरसों तक कितने ही भारी कष्ट उठाये थे। इसी तरह कितने ही महान् लोगों को छिपकर रहना पड़ा है और उन्होंने अंत में अपना उद्देश्य प्राप्त किया है। उन्हीं की भांति कार्य करने पर तुम विजय प्राप्त करोगे और भाग्यवान् बनोगे। किसी तरह की चिन्ता न करो।"

युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों की अनुमति लेकर उन्हें और अपने परिवार के और लोगों से कहा कि वे नगर को लौट जायं। युधिष्ठिर की बात मानकर सब लोग नगर लौट आये और यह खबर फैला दी कि पाण्डव हम लोगों को आधी रात में सोता छोड़कर न जाने कहां चले गये। यह सुनकर लोगों को बड़ा दुःख हुआ।

इधर पाण्डव वन के एकान्त स्थान में बैठकर आगे के कार्यक्रम पर सोच-विचार करने लगे। युधिष्ठिर ने अर्जुन से पूछा—"अर्जुन! तुम लौकिक व्यवहार अच्छी तरह जानते हो। बताओ कि यह तेरहवां बरस किस देश में और किस तरह बिताया जाय?"

अर्जुन ने जवाब दिया—"महाराज! स्वयं धर्मदेव ने इसके लिए आपको वरदान दिया है। सो इसमें सन्देह नहीं कि हम बारह महीने बड़ी सुगमता के साथ इस प्रकार बिता सकेंगे कि जिसमें किसी को भी हमारा असली परिचय प्राप्त न हो सके। अच्छा यही होगा कि हम सब एक साथ ही रहें। कौरवों के देश के आस-पास पांचाल, मत्स्य, शाल्व, वैदेह, बाल्हिक, दशार्ण, शूरसेन, मगध आदि कितने ही देश हैं। इनमें आप जिसे पसन्द करें, वहीं जाकर रह जायंगे। यदि मुझसे पूछा जाय तो मैं कहूंगा कि मत्स्य देश में जाकर रहना ठीक होगा। इस देश के अधीश राजा विराट हैं। विराट का नगर बहुत ही सुन्दर और समृद्ध है। मेरी तो ऐसी ही राय होती है। आगे आप जो उचित समझें।"

युधिष्ठिर ने कहा—"मत्स्याधिपति राजा विराट को तो मैं भी जानता हूं। वह बड़े शक्ति-संपन्न हैं। हमें चाहते भी बहुत हैं। धर्म पर चलने वाले और वयोवृद्ध हैं। दुर्योधन की बातों में भी वह आने वाले नहीं हैं। अतः मैं भी यही उचित समझता हूं कि राजा विराट के यहां छिपकर रहा जाय।"

"यह तो तय हुआ—लेकिन यह भी तो निश्चय करना है कि हम विराट के यहां रहकर काम कौन-सा करेंगे?"—अर्जुन ने पूछा और यह पूछते हुए वह शोक से आतुर हो उठा। यह सोचकर उसका जी भर आया कि जिन महात्मा युधिष्ठिर को कपट छू तक नहीं गया था, जिन्होंने राजसूय महायज्ञ करके सुयश एवं राजाधिराज की पदवी पाई थी, उन्हींको छद्म वेश में रहकर एक दूसरे राजा के यहां नौकरी करनी पड़ेगी!

अर्जुन का प्रश्न सुनकर युधिष्ठिर कहने लगे—"मैंने सोचा है कि राजा विराट से प्रार्थना करूं कि मुझे अपने दरबारी काम-काज के लिए रख लें। राजा के साथ मैं चौपड़ खेला करूंगा और उनका मन बहलाया करूंगा। संन्यासी का-सा वेश बनाकर कंक के नाम से मैं राजा के यहां रहूंगा। चौपड़ खेलने के अलावा राजपण्डित का भी काम मैं कर लूंगा। ज्योतिष, शकुन, नीति आदि शास्त्रों तथा वेद-वेदांगों का मुझे जो ज्ञान है, उससे राजा को हर तरह से प्रसन्न रखूंगा। साथ ही सभा में राजा की सेवा-टहल भी कर लूंगा। कह दूंगा कि राजा युधिष्ठिर का मैं मित्र रह चुका हूं और सारे शास्त्र उन्हींसे सीखे हैं। मैं यह सब बड़ी सावधानी से कर लूंगा जिससे राजा विराट को मुझ पर ज़रा भी सन्देह न हो। तुम लोग मेरी चिन्ता न करना।"

अपने बारे में यह कहने के बाद युधिष्ठिर ने भीम से पूछा—"भीमसेन! राजा विराट के यहां तुम कौन-सा काम करोगे?" यह पूछते-पूछते युधिष्ठिर की आंखें भर आईं। गद्गद-स्वर में कहने लगे—"यक्षों और राक्षसों को कुचलने वाले भीम! तुम्हीं ने उस ब्राह्मण की खातिर बकासुर का वध करके एकचक्रा नगरी को बचाया था; हिडिंबासुर का तुम्हीं ने वध किया था; जटासुर का वध करके हमें जिलाया था। यह अनुपम बल, यह अदम्य क्रोध और यह विख्यात वीरता लेकर तुम कैसे मत्स्यराज के यहां दबकर रह सकोगे और कौन-सी नौकरी करोगे?"

भीमसेन बोला—"भाईसाहब! आप अच्छी तरह जानते हैं कि मैं रसोई बनाने के काम में बड़ा ही कुशल हूं। इसलिए मेरा खयाल है कि राजा विराट के यहां मैं रसोइया बनकर रह सकता हूं। ऐसे स्वादिष्ट

पदार्थ बनाकर राजा विराट को खिलाऊंगा जो उन्होंने कभी न खाये होंगे। मेरे काम से निश्चय ही वह बड़े खुश होंगे। जलाने के लिए जंगल से लकड़ी चीरकर मैं ले आया करूंगा। इसके अलावा राजा के यहां जो पहलवान आया करेंगे उनके साथ कुश्ती लड़ा करूंगा और उन्हें पछाड़कर राजा का मन बहलाया करूंगा।"

भीमसेन के कुश्ती का नाम लेने से युधिष्ठिर का मन ज़रा विचलित हो गया। उन्हें इस बात का भय था कि भीमसेन कुश्ती लड़ने में कहीं कोई अनर्थ न कर बैठे। भीम ने यह बात तुरन्त ताड़ ली और समझाकर बोला—"भाईसाहब, आप बेफिक्र रहिये। मैं किसी को जान से नहीं मारूंगा। हां, ज़रा उनकी हड्डियां चटखाकर उन्हें सताऊंगा जरूर, लेकिन किसी को खत्म नहीं करूंगा। कभी-कभी हठीले बैलों, भैंसों और जंगली जानवरों को काबू में करके भी विराट का मन बहलाया करूंगा।"

इसके बाद युधिष्ठिर ने अर्जुन से पूछा—"भैया अर्जुन, तुम्हें कौन-सा काम करना पसन्द है? तुम्हारी वीरता और कान्ति छिपाये नहीं छिप सकती। कैसे उसे छिपा सकोगे?"

अर्जुन बोला—"भाई साहब, मैं विराट के रनवास में रानियों व राजकुमारियों की सेवा-टहल किया करूंगा। उर्वशी से मुझे नपुंसकत्व का शाप भी मिला है। जब मैं देवराज के यहां गया हुआ था, उर्वशी ने मुझसे प्रेम-याचना की थी। मैंने यह कहकर इन्कार कर दिया कि आप मेरे लिए माता के समान हैं। इससे नाराज होकर उसने मुझे शाप दे दिया कि तुम्हारा पुरुषत्व नष्ट हो जाय। इसके बाद देवराज इन्द्र ने अनुग्रह करके मुझे बताया कि, तुम जब चाहो तभी, केवल एक ही बरस के लिए उर्वशी के शाप का यह प्रभाव तुम पर रहेगा। वही शाप इस समय हमारा काम देगा। मैं सफेद शंख की चूड़ियाँ पहन लूंगा। स्त्रियों की भांति चोटी गूंथ लूंगा और कंचुकी भी पहन लूंगा। इस विराट के अन्तःपुर में रहकर स्त्रियों को नाचना और गाना भी सिखलाऊंगा। कह दूंगा कि युधिष्ठिर के रनवास में द्रौपदी की सेवा में रहकर मैंने यह हुनर सीख लिया है।" यह कहकर अर्जुन द्रौपदी की ओर देखकर मुस्करा दिया।

अर्जुन की यह बात सुनकर युधिष्ठिर फिर उद्विग्न हो उठे। वह बोले—"दैव की गति कैसी है! जो कीर्ति और पराक्रम में वासुदेव के समान है, जो भरत-वंश का रत्न है और जो सुमेरु पर्वत के समान गर्वोन्नत है, उसी अर्जुन को राजा विराट के पास नपुंसक बनकर जाना पड़े और रनवास में नौकरी करने की प्रार्थना करनी पड़े! क्या हमारे प्रारब्ध में यह भी लिखा था!"

इसके बाद युधिष्ठिर की दृष्टि नकुल और सहदेव पर पड़ी। सन्तप्त होकर पूछा—"भैया नकुल! तुम्हारा कोमल शरीर यह दुःख कैसे उठा सकेगा? बताओ, तुम कौन-सा काम करना चाहोगे?"

नकुल ने कहा—"मैं विराट-राज के अस्तबल में काम करूंगा। घोड़ों को सधाने में और उनकी देख-रेख करने मेरा मन लग जायेगा। घोड़ों के इलज के बारे में मैंने काफी ज्ञान प्राप्त किया है। किसी भी घोड़े को मैं काबू में ला सकता हूं। घोड़ों को, चाहे वे सवारी के हों, चाहे रथ-जैसे वाहनों में जोतने के लिए हों, उन्हें सधाने में मुझे निपुणता प्राप्त है। विराट से कह दूंगा कि पाण्डवों के यहां मैं अश्वपाल के काम पर लगा हुआ था। निश्चय ही मुझे अपनी पसन्द का काम मिल जायगा।"

अब सहदेव की बारी आई। "बुद्धि में बृहस्पति तथा नीतिशास्त्र में शुक्राचार्य ही जिसकी समता कर सकते हैं, और मंत्रणा देने में जिसका कोई सानी नहीं, ऐसा मेरा छोटा भाई सहदेव क्या करेगा?"—युधिष्ठिर ने रुद्ध कंठ से पूछा।

सहदेव ने कहा—"मेरी इच्छा है कि मैं तन्तिपाल का नाम रखकर विराट के चौपयों की देखभाल करने के काम में लग जाऊं। मैं विराट के गाय-बैलों को किसी तरह की बीमारी न होने दूंगा और जंगली जानवरों से उनकी रक्षा किया करूंगा। ऐसी कुशलता के साथ उनकी देखभाल किया करूंगा कि जिससे मत्स्यराज की गायें संख्या में बढ़ती जायं, हृष्ट-पुष्ट हों और अधिक दूध भी देने लगें। बैलों और सांड़ों के लक्षणों से भी मैं भली-भांति परिचित हूं।"

इसके बाद युधिष्ठिर द्रौपदी से पूछना चाहते थे कि तुम कौन-सा

काम कर सकोगी ? किन्तु उनसे पूछते न बना। मुंह से शब्द निकलते ही न थे। वह मूक-से बने रहे। जो प्राणों से भी प्यारी है, माता के समान जिसकी पूजा और रक्षा होनी चाहिए, वह सुकुमार राजकुमारी किस की, कैसे और कौन-सी नौकरी कर सकेगी ? युधिष्ठिर को कुछ न सूझा ! मन-ही-मन व्यथित होकर रह गए।

युधिष्ठिर के मन की व्यथा द्रौपदी ताड़ गई और स्वयं ही बोल उठी—"महाराज, आप मेरे कारण शोकातुर कदापि न हों ! मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। सैरन्ध्री बनकर मैं राजा विराट के रनवास में काम कर लूंगी। रानियों और राजकुमारियों की सहेली बनकर उनकी सेवा-टहल भी करती रहूंगी। अपनी स्वतन्त्रता व सतीत्व पर ज़रा भी आंच न आने दूंगी। राजकुमारियों की चोटी गूंधते और उनके मनोरंजन के लिए हंसी-खुशी की बातें करने के काम में लग जाऊंगी। मैं कहूंगी कि सम्राट युधिष्ठिर के राजमहल में महारानी द्रौपदी की सेवा-शुश्रूषा करती रही हूं। इस प्रकार राजा विराट के रनवास में सेवा करती हुई छिपी रहूंगी।"

यह सुनकर युधिष्ठिर मुग्ध हो गए। द्रौपदी की सहनशीलता की प्रशंसा करते हुए बोले—"धन्य हो कल्याणी ! वीर-वंश की बेटी हो न तुम ! तुम्हारी ये मंगलकारिणी बातें तुम्हारे कुल के ही अनुरूप हैं।"

●

पाण्डवों के इस प्रकार निश्चय कर चुकने पर धौम्य मुनि उनको आशीर्वाद व उपदेश देते हुए बोले—"किसी राजा के यहां नौकरी करते हुए बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। राजा की सेवा में तत्पर रहना चाहिए, किन्तु अधिक बातें न करनी चाहिए। राजा के पूछने पर ही कुछ सलाह देनी चाहिए। उसके बिना पूछे आप ही मंत्रणा देने लगना राजसेवक के लिए उचित नहीं। समय पाकर राजा की स्तुति भी करनी चाहिए। मामूली-से-मामूली काम के लिए भी राजा की अनुमति ले लेनी चाहिए। राजा मानो मनुष्य के रूप में आग है। उसके न तो नज़दीक जाना चाहिए, न बहुत ही दूर हट जाना चाहिए। मतलब यह कि राजा से न तो अधिक हेल-मेल रखना चाहिए न उसकी लापरवाही ही

करनी चाहिए। राजसेवक चाहे कितना ही विश्वस्त क्यों न हो, कितने ही अधिकार उसे क्यों न प्राप्त हों, उसको चाहिए कि सदा पदच्युत होने के लिए तैयार रहे और दरवाजे की ओर देखता रहे। राजाओं पर भरोसा रखना नासमझी है। यह समझकर कि अब तो राज-स्नेह प्राप्त हो गया है, उसके आसन पर बैठना या उसके वाहनों पर चढ़ना अनुचित है। राज-सेवक को चाहिए कि वह कभी सुस्ती न करे और अपने मन पर काबू रक्खे। राजा चाहे गौरवान्वित करे चाहे अपमानित, सेवक को चाहिए कि अपना हर्ष या विषाद प्रगट न होने दे।....

"भेद की जो बातें कही या की जायं, उन्हें बाहर किसी से न कहे, उन्हें स्वयं ही पचा ले। प्रजाजनों से रिश्वत न ले। किसी दूसरे सेवक से ईर्ष्या न करे। हो सकता है, राजा सुयोग्य व्यक्तियों को छोड़कर निरे मूर्खों को ऊंचे पदों पर नियुक्त करे। इससे जी छोटा न करना चाहिए। उनसे खूब चौकन्ना रहना चाहिए।"

इस प्रकार राजसेवकों के ध्यान देने योग्य, कितनी ही बातें पाण्डवों को समझाने के बाद पुरोहित धौम्य ने उन्हें आशीर्वाद दिया और बोले—"पाण्डु-पुत्रो ! एक बरस इस भांति विराट के यहां सेवक बनकर रहना और धीरज से काम लेना। इसके बाद तुम्हारा राज्य तुम्हारे हाथ में आ जायगा और तुम सुखपूर्वक राज्य करते हुए जीवन व्यतीत करोगे।"

: ४४ :

अज्ञातवास

युधिष्ठिर ने गेरुए वस्त्र पहने और संन्यासी का वेष धर लिया। अर्जुन के तो शरीर में ही नपुंसक-जैसे परिवर्तन हो गए। और सबने भी अपना-अपना वेश इस प्रकार बदल लिया कि कोई उन्हें पहचान न सके, किंतु शकल-सूरत के बदल जाने पर भी क्षत्रियों की-सी स्वाभाविक कांति और तेज भला कहां छिप सकता था ? राजा विराट के यहां चाकरी करने गए तो विराट ने उन्हें अपना नौकर बनाकर रखना उचित न समझा। हरएक के बारे में उनका वही विचार हुआ कि ये तो राज

करने योग्य प्रतीत होते हैं। मन में शंका तो हुई, पर पांडवों के बहुत आग्रह करने और विश्वास दिलाने पर राजा ने उन्हें अपनी सेवा में ले लिया। पांडव अपनी-अपनी पसंद के कामों पर नियुक्त कर लिए गए।

युधिष्ठिर कंक के नाम विराट के दरबारी बन गए और राजा के साथ चौपड़ खेलकर दिन बिताने लगे। भीमसेन रसोइयों का मुखिया बनकर रह गया। वह कभी-कभी मशहूर पहलवानों से कुश्ती लड़कर या हिंस्र जन्तुओं को वश में करके राजा का दिल बहलाया करता था।

अर्जुन बृहन्नला के नाम से रनिवास की स्त्रियों को—खासकर विराट की कन्या उत्तरा और उसकी सहेलियों एवं दास-दासियों को नाच और गाना-बजाना सिखलाने लगा।

नकुल घोड़ों को सधाने, उनकी बीमारियों का इलाज करने और उनकी देखभाल करने में अपनी चतुरता का परिचय देते हुए राजा को खुश करता रहा।

सहदेव गाय-बैलों को देखभाल करता रहा।

पांचालराज की पुत्री द्रौपदी, जिसकी सेवा-टहल के लिए कितनी ही दासियां रहती थीं, अब अपने पतियों की प्रतिज्ञा पूरी करने के हित दूसरी रानी की आज्ञाकारिणी दासी बन गई। विराट की पत्नी सुदेष्णा की सेवा-शुश्रूषा करती हुई रनिवास में सैरन्ध्री का काम करने लगी।

•

रानी सुदेष्णा का भाई कीचक बड़ा ही बलिष्ठ और प्रतापी वीर था। मत्स्य देश की सेना का वही नायक बना हुआ था और अपने कुल के लोगों को साथ लेकर कीचक ने बूढ़े विराटराजा की शक्ति और सत्ता में खूब वृद्धि कर दी थी। कीचक की धाक लोगों पर जमी हुई थी। लोग कहा करते थे कि मत्स्य देश का राजा तो कीचक है, विराट नहीं। यहां तक कि स्वयं विराट भी कीचक से डरा करते थे और उसका कहा मानते थे।

कीचक को अपने बल और प्रभाव का बड़ा घमंड था। ऊपर से राजा विराट ने भी उसे सिर चढ़ा रखा था। इस कारण उसकी बुद्धि फिर गई थी। इधर जब से द्रौपदी पर उसकी नजर पड़ी, उसके मन की वासना और प्रबल हो उठी। उसने सोचा—आखिर दासी ही तो है।

इसे सहज ही में राजी कर लिया जा सकता है। इस विचार से कीचक ने कई बार सती द्रौपदी के साथ छेड़-छाड़ करने की चेष्टा की।

कीचक की इन हरकतों से द्रौपदी बड़ी कुंठित हो उठी। किन्तु किसी से कुछ कहते भी न बन पड़ा। संकोच के मारे रानी सुदेष्णा से भी कुछ न कह सकी। हां, उसने इतनी बात अवश्य फैला रखी थी कि मेरे पति गन्धर्व हैं। जो भी मुझे बुरी नजर से देखने या छेड़ने की कोशिश करेगा, उसकी मेरे पति अच्छी तरह खबर लेंगे—गुप्त रूप से हत्या तक कर देंगे। द्रौपदी के सतीत्व, शील-स्वभाव और तेज को देखकर सबने उसकी बातों पर विश्वास कर लिया था; किन्तु धूर्त कीचक को तो गंधर्वों का भी डर न था। वह अपनी हरकतों से बाज़ नहीं आया। कितनी ही बार उसने द्रौपदी से छेड़-छाड़ की। जब किसी तरह काम बनता न दीखा तो उसने अपनी बहन रानी सुदेष्णा का सहारा लिया। वह गिड़गिड़ाकर बोला—"बहिन, जबसे मेरी नजर तुम्हारी सैरंध्री पर पड़ी है, मुझे न दिन को चैन है, न रात को नींद। मुझपर दया करके किसी-न-किसी उपाय से तुम उसे मेरी इच्छा अनुकूल बना दो तो बड़ा उपकार हो।" सुदेष्णा ने उसे बहुतेरा समझाया; पर कीचक अपने हठ से न टला। अंत में विवश होकर सुदेष्णा ने अनमनेपन से कीचक की सहायता करना स्वीकार कर लिया। भाई और बहन दोनों ने मिलकर द्रौपदी को फंसाने का कुचक्र रच लिया।

इस कुमंत्रणा के अनुसार एक रात कीचक के भवन में बड़े भोज का आयोजन किया गया और मदिरा तैयार की गई। रानी सुदेष्णा ने द्रौपदी को सोने का एक सुन्दर कलश देते हुए कहा—"भैया के यहां बड़ी अच्छी किस्म की मदिरा तैयार की गई है। वहां जाओ और यह कलश भरकर ले आओ।"

सुनकर द्रौपदी का कलेजा धड़क उठा। वह बोली—"इस अंधेरी रात में कीचक के यहां अकेली कैसे जाऊं? महारानी, मुझे डर लगता है। आपकी कितनी ही और दासियां हैं। उनमें से किसीको भेज दीजिए।"

इस तरह द्रौपदी ने बड़ी मिन्नतें कीं; किन्तु सुदेष्णा न मानी। क्रोध करती हुई बोली—"तुम्हीं को जाना पड़ेगा। यही मेरी आज्ञा है। और

किसीको नहीं भेजा जा सकता। जाओ !' 'विवश होकर द्रौपदी को जाना पड़ा।

कीचक ने वैसा ही व्यवहार किया, जिसका द्रौपदी को डर था। कामांध कीचक ने द्रौपदी को छेड़ा, उससे आग्रह किया, मिन्नते कीं और बहुत तंग भी किया।

पर द्रौपदी ने कीचक की प्रार्थना को ठकुरा दिया और बोली—सेनापति, आप राजकुल के हैं और मैं एक नीच नौकरानी। फिर आप मुझे कैसे चाहने लगे ? यह अधर्म करने पर क्यों तुले हुए हैं? मैं पराई ब्याहता स्त्री हूं। इसी कारण आपसे प्रार्थना है कि सावधान ही रहें। यदि आपने मेरा स्पर्श भी किया तो आपका सर्वनाश हो जायगा। ध्यान रहे, मेरे रक्षक गंधर्व लोग हैं। वे क्रोध में आ गए तो आपका प्राण ही लेकर छोड़ेंगे।"

अनुनय-विनय और आग्रह से काम न बनते देखकर दुष्ट कीचक ने बलपूर्वक अपनी इच्छा पूरी करनी चाही और द्रौपदी का हाथ पकड़-कर खींचा। द्रौपदी ने मधु-कलश वहीं पटक दिया और झटका मारकर कीचक से हाथ छुड़ा लिया और राजसभा की ओर भागने लगी। गुस्से से भरा कीचक भी उसके पीछे भागा। द्रौपदी हरिणी की भांति भय-विह्वल होकर राजा की दुहाई मचाती राजसभा में पहुंची। इतने में कीचक भी उसका पीछा करता हुआ वहां जा पहुंचा। अपनी शक्ति और पद के मद में अन्धा होकर भरी सभा में उसने द्रौपदी को ठोकर मारकर गिरा दिया और अपशब्द भी कहे। सारे सभासद् देखते रह गए। किसी की हिम्मत न पड़ी कि इस अन्याय का विरोध करे। मत्स्य देश के राजा तक को जिसने अपनी मुट्ठी में कर लिया था, ऐसे प्रभावशाली सेना-पति के खिलाफ कुछ भी बोलने की किसी की हिम्मत न पड़ी। सबके सब मारे डर के चुप्पी साधे बैठे रहे।

अपमानित द्रौपदी लज्जा और क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गई। अपनी हीन और निस्सहाय अवस्था पर उसे बड़ा क्षोभ हुआ। उसका धीरज टूट गया। अपना परिचय संसार को मिल जाने से जो अनर्थ हो सकता था, उसकी भी परवाह न करके रातों-रात वह भीमसेन के पास

चली गई और भीमसेन को सोते से जगाया। भीम चौंककर उठ बैठा।

आंसू बहाती और सिसकती हुई द्रौपदी उससे बोली—"भीम, मुझसे यह अपमान नहीं सहा जाता। नीच दुरात्मा कीचक का इसी घड़ी वध करना होगा। महारानी होकर भी मैं अगर विराट की रानियों के लिए चन्दन घिसनेवाली दासी बानी तो यह तुम्हीं लोगों की प्रतिज्ञा बनाए रखने के लिए। तुम लोगों की खातिर ऐसे लोगों की सेवा-चाकरी कर रही हूं जो किसी भी प्रकार आदर के योग्य नहीं हैं। मैं हमेशा निर्भय रही हूं, यहां तक कि स्वयं कुन्तीदेवी और तुमसे भी मैं कभी नहीं डरी; किन्तु आज यहां तक नौबत पहुंच गई कि रनिवास में हर घड़ी कांपती हुई सबकी सेवा-टहल करनी पड़ रही है। मेरे इन हाथों को तो देखो।" कहकर द्रौपदी ने भीमसेन को अपने हाथ दिखलाये। भीमसेन ने देखा कि चन्दन घिसने के कारण द्रौपदी के कोमल हाथों में छाले पड़े हुए हैं। आतुर होकर उसने द्रौपदी के हाथों को अपने मुख पर रखकर प्रेम से दबा लिया।

भीमसेन ने द्रौपदी के आंसू पोंछे और जोश में आकर बोला—"कल्याणी, अब मैं न तो युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन करूंगा, न अर्जुन की सलाह पर ही ध्यान दूंगा। जो तुम कहोगी, वही करूंगा। इसी घड़ी जाकर कीचक और उसके भाई-बन्धुओं का काम तमाम किये देता हूं।"—कहकर भीम फुर्ती से उठ खड़ा हुआ।

भीम को इस प्रकार एकदम उठते देख द्रौपदी संभल गई। उसने भीमसेन को सचेत करते हुए कहा कि उतावली में कोई काम कर डालना ठीक नहीं। तब कुछ देर तक दोनों सोचते रहे और अन्त में यह निश्चय किया की कीचक को धोखे से राजा की नृत्यशाला के किसी एकान्त स्थान में रात को अकेले बुला लिया जाय और वहीं उसका काम तमाम किया जाय।

अगले दिन सुबह जब कीचक ने द्रौपदी को देखा तो बोला—"सैरंध्री! तुम्हें कल मैंने सभा में ठोकर मारकर गिराया था। सभा के सब लोग देख रहे थे; किन्तु किसी का साहस न हुआ कि तुम्हें बचाने के लिए आगे बढ़े। सुनो, विराट मत्स्य देश का राजा है सही, पर है नाममात्र का।

असल में तो मैं ही यहां का सबकुछ हूं। यदि मेरी इच्छा पूरी करोगी तो महारानी-का-सा पद व सुख भोगोगी और मैं तुम्हारा दास बनकर रहूंगा। मेरी बात मान लो।"

द्रौपदी ने कुछ ऐसा भाव जताया मानो कीचक की बात उसे स्वीकार है। वह बोली—

"सेनापति ! मैं आपकी बात मानने को राजी हूं। मेरी बात पर विश्वास करें। मैं सच कहती हूं। यदि आप मुझे वचन दें कि मेरे आपके सम्बंध की बात किसी को मालूम न होने देंगे तो मैं आपके अधीन होने को तैयार हूं। मैं लोक-निन्दा से डरती हूं और यह नहीं चाहती कि यह बात आपके साथी-सम्बंधियों को मालूम हो।"

यह सुनकर कीचक मारे आनन्द के नाच उठा और द्रौपदी जो भी कुछ कहे, उसे मानने के लिए तैयार हो गया।

द्रौपदी बोली—"नृत्यशाला में स्त्रियां दिन के समय नाच सीखती रहती हैं और रात को सब अपने-अपने घर चली जाती हैं। रात में वहां कोई नहीं रहता। इसलिए आज रात को आप वहीं आकर मुझसे मिलें। मैं वहीं किवाड़ खुले रखकर खड़ी रहूंगी और वहीं मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूंगी।"

कीचक के आनन्द का ठिकाना न रहा।

रात हुई। कीचक स्नान करके व खूब बन-ठनकर निकला और दबे-पांव नृत्यशाला की ओर बढ़ा। किवाड़ खुले थे। कीचक जल्दी से अन्दर घुस गया ताकि कोई देख न ले।

नृत्यशाला में अंधेरा था। कीचक ने गौर से देखा तो पलंग पर कोई लेटा हुआ दिखाई दिया। अंधेरे में टटोलता हुआ पलंग के पास पहुंचा। पलंग पर भीमसेन सफेद रेशम की साड़ी पहने लेटा हुआ था। कीचक ने उसे सैरंध्री समझा और धीरे-से उसपर हाथ फेरा। कीचक का हाथ फेरना था कि भीमसेन उसपर ऐसे झपटा कि जैसे हिरन पर शेर झपटता है। एक धक्के में भीम ने कीचक को गिरा दिया और अंधेरे में ही दोनों में मल्ल-युद्ध शुरू होगया। कीचक ने यही समझा कि सैरंध्री के गन्धर्वों में से किसी के साथ वह लड़ रहा है। वैसे कीचक भी कुछ

कम ताकतवर नहीं था। उन दिनों कुश्ती लड़ने में भीम, बलराम और कीचक तीनों को एक समान ही निपुणता और यश प्राप्त था। इसलिए दोनों में ऐसा मल्ल-युद्ध होने लगा, जैसा प्राचीन काल में बाली और सुग्रीव का हुआ बतलाते हैं।

कीचक बली था अवश्य, पर कहां भीम और कहां कीचक ! वह भीम के आगे ज्यादा देर ठहर न सका। ज़रा देर में ही भीम ने कीचक की ऐसी गति बना दी कि उसका गोलाकार मांस-पिंड सा बन गया। फिर द्रौपदी से विदा लेकर भीम रसोईघर में चला गया और नहा-धोकर आराम से सो रहा।

इधर द्रौपदी ने नृत्यशाला के रखवालों को जगाया और बोली—"कीचक हमेशा मुझे तंग किया करता था, आज भी वह तंग करने आया था। तुम लोगों को मालूम ही है कि मेरे पति गन्धर्व हैं। उन्होंने क्रोध में आकर कीचक का वध कर दिया है। अधर्म के रास्ते चलने के कारण गन्धर्वों के हाथों वह तुम्हारे सेनापति मरे पड़े हैं।"

रखवालों ने देखा कि वहां पर सेनापति कीचक नहीं, बल्कि खून से लथपथ एक मांस-पिंड पड़ा था।

: ४४ :
विराट की रक्षा

कीचक के वध की बात विराट के नगर में फैली तो लोगों में बड़ा आतंक छा गया। द्रौपदी के प्रति सब सशंक हो गए। लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। कहने लगे कि सैरन्ध्री है भी तो बड़ी सुन्दर ! जो उसकी ओर आकर्षित न हो वही गनीमत। और फिर इसके पति गन्धर्व ! किसीने आंख उठाकर देखा कि यमराज के घर पहुंचा ? इस कारण यह तो एक प्रकार से नगर के प्रजाजन और राजघराने के लोगों पर मानो आफत के समान है। सबको यह डर बना रहेगा कि गंधर्व नाराज होकर कहीं नगर पर कुछ आफत न ढा दें। इससे कुशल तो इसीमें है कि इस सैरंध्री को ही नगर से बाहर निकाल दिया जाय।

यह सोचकर कीचक के सम्बन्धी व हितचिंतक सब रानी सुदेष्णा के पास गए और उससे प्रार्थना की कि सैरंध्री को किसी तरह नगर से निकाल दिया जाय।

सुदेष्णा ने द्रौपदी से कहा—"बहिन ! तुम बड़ी पुण्यवती हो। अब तक तुमने हमारे यहां जो सेवा की, उसीसे हम सन्तुष्ट हो गईं। बस, अब इतनी दया करो कि हमारा नगर छोड़कर चली जाओ। तुम्हारे गंधर्व हमारे नगर पर न जाने कब और क्या आफत ढा दें।"

यह उस समय की बात है जब पांडवों के अज्ञातवास की अवधि होने में केवल एक महीना शेष रह गया था। सुदेष्णा की बात सुनकर द्रौपदी चिन्तित हो गई। बोली—"रानीजी ! मुझसे नाराज न होइए, मैंने कोई अपराध नहीं किया। मुझे एक महीने की मोहलत और दीजिए तबतक मेरे गन्धर्व पति कृत-कार्य हो जायंगे। ज्योंही उनका उद्देश्य पूरा हो जायगा, मैं भी उनसे मिल जाऊंगी। इसलिए अभी मुझे काम पर से न निकालिए। मेरे पति गन्धर्वगण इसके लिए आपका और राजा विराट का बड़ा आभार मानेंगे।"

सुदेष्णा को भी डर था कि कहीं सैरंध्री नाराज हो जाय और उसके गन्धर्व पति और कोई आफत खड़ी न कर दें, इसलिए उसने यह बात मान ली।

•

जबसे पांडवों के बारह बरस के वनवास की अवधि पूरी हुई, तभी से दुर्योधन के गुप्तचरों ने पाण्डवों की खोज लगानी शुरू कर दी थी। कितने ही देशों, नगरों और गांवों को छान डाला गया। कोई ऐसी जगह नहीं छोड़ी, जहां छिपकर रहा जा सकता था। महीनों इसी काम में लगे रहने पर जब पाण्डवों का कहीं पता नहीं लगा, तो हारकर दुर्योधन के पास लौट आये और बोले—

"राजकुमार ! हमने पांडवों को खोजने में ऐसे स्थानों तक को भी नहीं छोड़ा, जहां मनुष्य रह नहीं सकते। ऐसे-ऐसे जंगल भी छान डाले जो झाड़-झंखाड़ से भरे हैं। कोई आश्रय ऐसा नहीं रहा जिसमें हमने न खोजा हो। यहां तक कि पहाड़ की चोटियों तक ढूंढे बिना नहीं

छोड़ा। ऐसे नगरों में, जहां कि लोग भरे रहते हैं, हमने एक-एक से पूछ-कर पता लगाया, परन्तु फिर भी पाण्डवों का कहीं पता नहीं लगा। आप निश्चय मानें कि पाण्डव अब खत्म हो चुके हैं।"

इन्हीं दिनों हस्तिनापुर में कीचक के मारे जाने की खबर फैल गई। यह भी सुनने में आया कि किसी स्त्री के कारण यह वध हुआ। यह खबर पाते ही दुर्योधन का माथा ठनका कि हो-न-हो, कीचक का वध भीम ने ही किया होगा और वह भी द्रौपदी के कारण; महाबली कीचक को मारना सिर्फ दो ही व्यक्तियों के बूते का काम है, भीम और बलराम। बलराम का कीचक से कोई वैर नहीं। इसलिए निश्चय ही भीम ने कीचक को मारा होगा। दुर्योधन ने इस प्रकार अन्दाज लगाया। उसने अपना यह विचार राजसभा में भी प्रकट करते हुए कहा—"मेरा खयाल है कि पाण्डव विराट के नगर में कहीं छिपे हुए हैं। वैसे भी राजा विराट मेरी मित्रता अस्वीकार करते आये हैं। इस कारण हमें ऐसे उपाय करने चाहिए जिनसे इस बात का ठीक-ठीक पता लग जाय कि पाण्डव विराट के यहां शरण लिये हुए हैं या नहीं। मुझे तो यही ठीक लगता है कि मत्स्य देश पर हमला कर देना चाहिए और विराट की गायों को चुरा लाना चाहिए। यदि पाण्डव वहां होंगे तो निश्चय ही विराट की तरफ से हमसे लड़ने आयेंगे। यदि हम अज्ञातवास की अवधि पूरी होने से पहले ही उनका पता लगा लेंगे तो शर्त के अनुसार उन्हें बारह बरस के लिए फिर वन-वास करना होगा। यदि पाण्डव विराट के यहां न भी हों तो भी हमारा कुछ बिगड़ेगा नहीं। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं।"

दुर्योधन की यह बात सुनकर त्रिगर्त देश का राजा सुशर्मा उठा और बोला—"राजन् ! मत्स्य देश के राजा विराट मेरे शत्रु हैं। कीचक ने भी मुझे बहुत तंग किया था। अब जबकि कीचक की मृत्यु हो चुकी है, मत्स्यराज की शक्ति नहीं के बराबर समझनी चाहिए। इस अवसर का लाभ उठाकर मैं उससे अपना पुराना वैर भी चुका लेना चाहता हूं। अतः मुझे इस बात की अनुमति दी जाय कि मैं मत्स्य देश पर आक्रमण कर दूं।"

कर्ण ने सुशर्मा की बात का अनुमोदन किया और फिर सबकी राय

से यह निश्चय किया गया कि विराट के राज्य पर दोनों ओर से आक्रमण किया जाय। राजा सुशर्मा अपनी सेना लेकर मत्स्य देश पर दक्षिण की ओर से हमला करें और जब विराट अपनी सेना लेकर उसका मुकाबला करने जाय तब ठीक इसी मौके पर उत्तर की ओर से दुर्योधन अपनी सेना लेकर अचानक विराट नगर पर छापा मार दे।

इस योजना के अनुसार राजा सुशर्मा ने दक्षिण की ओर से मत्स्य देश पर आक्रमण कर दिया। मत्स्य देश के दक्षिणी हिस्से में त्रिगर्तराज की सेना छा गई और गायों के झुण्ड-के-झुण्ड सुशर्मा की फौज के कब्जे में आ गये। फौज ने लहलहाते खेत उजाड़ डाले, बाग-बगीचों को तबाह कर दिया। ग्वाले और किसान जहां-तहां भाग खड़े हुए और राजा विराट के दरबार में जाकर पुकार करने लगे। विराट को बड़ा खेद हुआ कि महाबली कीचक ऐसे अवसर पर नहीं रहा।

उन्हें चिन्तातुर होते देखकर कंक (युधिष्ठिर) ने उनको सांत्वना देते हुए कहा—"राजन्! चिन्ता न करें। यद्यपि मैं संन्यासी ब्राह्मण हूं फिर भी अस्त्र-विद्या सीखा हुआ हूं। मैंने सुना है कि आपके रसोइये वल्लभ, अश्वपाल ग्रंथिक और ग्वाला तंतिपाल भी बड़े कुशल योद्धा हैं। मैं कवच पहनकर रथारूढ़ होकर युद्ध-क्षेत्र में जाऊंगा। आप भी उनको आज्ञा दे दें कि रथारूढ़ होकर मेरे साथ चलें। सबके लिए रथ और शस्त्रास्त्र देने की आज्ञा दीजिए।"

यह सुन विराट बड़े प्रसन्न हो गए। उनके आज्ञानुसार चारों वीरों के लिए रथ तैयार होकर आ खड़े हुए। अर्जुन को छोड़ बाकी चारों पाण्डव उनपर चढ़कर विराट और उसकी सेना-समेत सुशर्मा से लड़ने चले गए।

राजा सुशर्मा और राजा विराट की सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। दोनों ओर के असंख्य सैनिक खेत रहे। सुशर्मा ने अपने साथियों-समेत विराट को घेर लिया और उसको रथ से उतरने पर विवश कर दिया। अन्त में सुशर्मा ने विराट को कैद करके अपने रथ पर बिठा लिया और विजय का शंख बजाता हुआ अपनी छावनी में चला गया। जब राजा विराट बन्दी कर लिये गए तो उनकी सारी सेना तितर-बितर हो गई।

सैनिक जान लेकर भागने लगे।

यह हाल देखकर युधिष्ठिर भीमसेन से बोले—भीम! तुम्हें जी लगाकर लड़ना होगा। लापरवाही से काम नहीं चलेगा। विराट को अभी छुड़ा लाना होगा, तितर-बितर हो रही सेना इकट्ठी करनी होगी और सुशर्मा का दर्प चूर करना होगा।"

युधिष्ठिर की बात पूरी भी न होने पाई थी कि इतने में भीमसेन एक भारी वृक्ष उखाड़ने लग गया। युधिष्ठिर ने उसे रोककर कहा—"यदि तुम सदा की भांति पेड़ उखाड़ने और सिंह-की-सी गर्जना करने लग जाओगे तो शत्रु तुम्हें तुरन्त पहचान लेंगे। इसलिए सामान्य लोगों की ही भांति रथ पर बैठकर और धनुष-बाण के सहारे लड़ना ठीक होगा।"

आज्ञा मानकर भीमसेन रथ पर से ही सुशर्मा की सेना पर बाणों की बौछार करने लगा। थोड़ी ही देर की लड़ाई के बाद भीम ने विराट को छुड़ा लिया और सुशर्मा को कैद कर लिया। मत्स्य देश की सेना जो डर के मारे भाग गई थी, समर-भूमि में फिर से आ डटी और उसने सुशर्मा की सेना पर विजय प्राप्त कर ली।

सुशर्मा की पराजय की खबर जब विराटनगर पहुंची तो लोगों के उत्साह और आनन्द की सीमा न रही। नगरवालों ने नगर को खूब सजाकर आनन्द मनाया और विजयी राजा विराट के स्वागत के लिए शहर के बाहर चले। इधर नगर के लोग विजय की खुशियां मना रहे थे और राजा की बाट जोह रहे थे कि उधर उत्तर की ओर से दुर्योधन की एक बड़ी सेना ने विराटनगर पर अचानक धावा बोल दिया और ग्वालों की बस्तियों में तबाही मचा दी। कौरव-सेना ऊधम मचाती हुई असंख्य गायों और पशुओं को भगाकर ले जाने लगी। बस्तियों में हाहाकार मच गया। ग्वालों का मुखिया राजभवन की ओर भागा और राजकुमार उत्तर के आगे दुहाई मचाई। बोला—"दुहाई है राजकुमार की! हमपर भारी विपदा आ गई है। कौरव-सेना हमारी गायें भगा ले जा रही है। सुशर्मा से लड़ने राजा दक्षिण की ओर गए हुए हैं। हमारा बचाव करने वाला और कोई नहीं रहा। आप ही हमें इस आफत से बचावें। आप राजकुमार हैं। आपका यह कर्त्तव्य है कि हमारी गायें शत्रु के हाथ से

छुड़ा लायें और राजवंश की लाज रखें।"

रनिवास की स्त्रियों और नगर के प्रमुख लोगों के सामने ग्वालों के मुखिया ने जब उत्तर को अपना दुखड़ा सुनाया तो राजकुमार जोश में आगया। बोला—"घबराने की कोई बात नहीं। यदि मेरा रथ हांकने योग्य कोई सारथी मिल जाय तो मैं अकेला ही जाकर शत्रु-सेना के दांत खट्टे कर दूंगा और एक-एक गाय छुड़ा लाऊंगा। ऐसा कमाल का युद्ध करूंगा कि लोग विस्मित होकर देखते ही रह जायंगे। कहेंगे—'कहीं यह अर्जुन तो नहीं है।"

इस समय द्रौपदी अन्तःपुर में ही थी। उत्तर की बात सुनकर राजकुमारी उत्तरा के पास दौड़ी गई और बोली—"राजकन्ये ! देश पर विपदा आई है। ग्वाले लोग घबराये हुए राजकुमार के आगे दुहाई मचा रहे हैं। कौरवों की सेना उत्तर की ओर से नगर पर हमला कर रही है और उसने मत्स्य देश की सैकड़ों-हजारों गायें लूट ली हैं। राजकुमार देश के बचाव के लिए युद्ध में जाने को तैयार हैं, किन्तु कोई सुयोग्य सारथी नहीं मिलता। इसी से उनका जाना अटका हुआ है। आपकी यह बृहन्नला रथ चलाना जानती है। जब मैं पांडवों के रनवास में काम किया करती थी तो उस समय सुना था कि बृहन्नला कभी-कभी अर्जुन का रथ हांक लेती थी। यह भी सुना था कि अर्जुन ने उसे धनुर्विद्या भी सिखलाई है। इसलिए आप अभी बृहन्नला को आज्ञा दें कि राजकुमार उत्तर की सारथी बन जाय और मैदान में जाकर कौरव-सेना को रोके।"

राजकुमारी उत्तरा अपने भाई के पास जाकर बोली—"भैया, यह बृहन्नला रथ हांकने में बड़ी चतुर मालूम होती है। हमारी सैरंध्री कहती है—बृहन्नला पांडव-वीर अर्जुन की सारथी रह चुकी है। तो फिर क्यों नहीं उसी को ले जाकर नगर की रक्षा करने का प्रयत्न करते ?"

उत्तर ने बात मान ली। उत्तरा तुरन्त नृत्यशाला में दौड़ी गई और बृहन्नला (अर्जुन) से अनुरोध करके कहा—"बृहन्नला ! मेरे पिता की संपत्ति और गायों को कौरव-सेना लूटकर ले जा रही है। दुष्टों ने ऐसे समय पर आक्रमण किया है कि जब राजा नगर में नहीं हैं। सैरंध्री कहती है कि तुम्हें अस्त्र-शस्त्र चलाना खूब आता है और तुम अर्जुन का रथ भी हांक चुकी हो; अतः तुम्हीं राजकुमार उत्तर का रथ हांककर ले लाओ न ?"

अर्जुन थोड़ी देर तक तो हां-ना करता रहा; पर बाद में उसने मान लिया। कवच हाथ में लेकर उल्टी तरफ से पहनने लगा, मानो कुछ जानता ही न हो। यह देखकर अन्तःपुर की स्त्रियां खिलखिला उठीं। कुछ देर अर्जुन योंही विनोद करता रहा और स्त्रियों को हँसाता रहा; लेकिन जब वह घोड़ों को रथ में जोतने लगा तो एक मंजे हुए सारथी के समान दिखाई दिया। राजकुमार उत्तर के रथ पर बैठ जाने के बाद वह भी बैठ गया और घोड़ों की रास बड़ी कुशलता से थाम ली और जैसे ही घोड़ों को चलने का इशारा किया और रथ चल पड़ा तो उसकी कुशलता देखकर रनवास की स्त्रियां आश्चर्यचकित रह गईं। सिंह की ध्वजा फहराता हुआ रथ बड़ी शान से कौरव-सेना का सामना करने को चल पड़ा।

जाते-जाते बृहन्नला ने कहा—"राजकुमार अवश्य विजय प्राप्त करेंगे। शत्रुओं के वस्त्र-हरण करके तुम सबको विजय-पुरस्कार के रूप में लाकर दूंगी।"

यह सुनकर अन्तःपुर की स्त्रियां जयजयकार कर उठीं।

: ४६ :

राजकुमार उत्तर

बृहन्नला को सारथी बनाकर राजकुमार उत्तर जब नगर से चला, तो उसका मन उत्साह से भरा था। वह बार-बार कहता था, "तेज़ी से चलाओ। जिधर कौरव-सेना गायें भगाकर ले जा रही है, उसी ओर चलाओ रथ को।"

घोड़े भी बड़े वेग से चले। कौरवों की सेना दूर दिखाई देने लगी। धूल उड़कर आकाश तक छाई हुई थी। उस धूल के परदे के पीछे विशाल सागर की भांति चारों दिशाओं में व्याप्त कौरवों की विशाल सेना खड़ी थी। राजकुमार ने उस विशाल सेना को देखा, जिसका संचा-

लन भीष्म, द्रोण कृप, कर्ण और दुर्योधन जैसे महारथी कर रहे थे।

देखकर उत्तर के रोंगटे खड़े हो गए। कंपकंपी होने लगी। वह सँभल न सका। भय-विह्वल होकर दोनों हाथों से अपनी आंखें मूंद लीं। उससे यह देखा भी नहीं गया।

बोला—"इतनी बड़ी सेना से अकेले कैसे लड़ूंगा ? मुझमें इतनी सामर्थ्य कहां जो कौरवों से पा पार सकूं ? राजा तो मेरे पिता हैं और वह सुशर्मा से युद्ध करने के लिए अपनी सारी सेना लेकर दक्षिण की तरफ चले गए हैं। इधर नगर का बचाव करने वाला कोई न रहा। मैं अकेला हूं। न तो सेना है, न कोई नायक ही। तुम्हीं बताओ, इन बड़े बड़े प्रसिद्ध योद्धाओं से मैं छोटा-सा असहाय बालक लड़ूं भी तो कैसे ? बृहन्नला, रथ लौटा लो और वापस चलो !"

अर्जुन (बृहन्नला) हँस पड़ा। बोला—"राजकुमार, उत्तर ! वहां स्त्रियों के सामने तो बड़ी शेखी बघार रहे थे। बिना कुछ आगा-पीछा सोचे मुझे साथ लेकर युद्ध के लिए चल पड़े थे और प्रतिज्ञा करके रथ पर बैठे थे। नगर के लोग तुम्हारे ही भरोसे हैं। सैरंध्री ने मेरी तारीफ कर दी और तुम राजी हो गए। मैं तुम्हारी बहादुरी की बातें सुन साथ चलने को तैयार हो गई। अब अगर हम गायें छुड़ाये बगैर वापस लौट जायंगे तो लोग हमारी हँसी उड़ाएंगे। इससे मैं तो नहीं लौटूंगी। तुम घबराओ मत। डटकर लड़ो !"

रथ वायु-वेग से जा रहा था। बृहन्नला ने उसे रोकने की कोशिश नहीं की और रथ शत्रु-सेना के नजदीक पहुंच गया। यह देख उत्तर का जी घबरा उठा।

"तुम रथ रोकती क्यों नहीं ? यह मेरे बस का काम नहीं है। मैं लड़ूंगा नहीं। कौरव जितनी चाहें गायें भगा ले जायं। स्त्रियां मेरी हँसी उड़ायें तो भले ही उड़ायें। लड़ने से आखिर लाभ ही क्या है ? मैं लौट जाऊंगा। रथ मोड़ लो, वरना मैं अकेला पैदल ही चल पड़ूंगा।" कहते-कहते उत्तर ने धनुष-बाण फेंक दिये और चलते रथ से कूद पड़ा। घबराहट के मारे वह आपे में न रहा और पागलों की भांति नगर की ओर भागने लगा।

"राजकुमार ! ठहरो, भागो मत। क्षत्रिय होकर तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।" कहता हुआ बृहन्नला के रूप में अर्जुन भागते हुए राजकुमार का पीछा करते लगा। उसकी लम्बी चोटी नाग-सी फहराने लगी। साड़ी अस्त-व्यस्त होकर हवा में उड़ने लगी। आगे-आगे उत्तर और पीछे-पीछे बृहन्नला। उत्तर बृहन्नला की पकड़ में नहीं आ रहा था और रोता हुआ इधर-उधर भाग रहा था। सामने कौरवों की सेना के वीर आश्चर्य-चकित होकर यह दृश्य देख रहे थे। उन्हें हँसी भी आ रही थी।

आचार्य द्रोण के मन में कुछ शंका हुई बोले—"कौन हो सकता है यह ? वेश-भूषा तो स्त्रियों की-सी है, पर चाल-ढाल तो पुरुष की-सी दिखाई देती है; कहीं अर्जुन तो नहीं है !"

कर्ण ने जवाब दिया—अर्जुन नहीं हो सकता और अगर हुआ भी तो क्या ? अकेला ही तो है। दूसरे भाइयों के बिना अकेला अर्जुन हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। पर इतनी दूर की क्यों सोचें ? बात यह है कि राजा विराट राजकुमार को नगर में अकेले छोड़कर अपनी सारी सेना लेकर सुशर्मा के विरुद्ध लड़ने गया मालूम होता है। राजकुमार अभी बालक ही है। रनवास में सेवा-टहल करने वाले हीजड़े को सारथी बनाकर हमसे लड़ने चला आया है !"

बृहन्नला ने थोड़ी देर की भाग-दौड़ के बाद उत्तर को घेरकर पकड़ लिया और रथ पर बिठा लिया। लेकिन उत्तर तो बिल्कुल डर गया था और कांप रहा था। उसने बृहन्नला से कहा—"मुझे छोड़ दो। मैं तुम्हें बहुत सा धन दूंगा, वस्त्र दूंगा। मुंह मांगी वस्तु दूंगा। तुम बहुत अच्छी हो। मुझे नगर चला जाने दो। मैं अपनी मां का इकलौता बेटा हूं। लड़ाई में मुझे कुछ हो गया तो वह मर जायगी। उसने मुझे बड़े प्रेम से पाला है। मैं बालक ही तो हूं। बचपना करके वहां बड़ी-बड़ी बातें कर गया; मैंने कोई लड़नेवाली सेना देखी थोड़े थी। अब यह देखकर तो मेरे प्राण ही निकले जा रहे हैं। बृहन्नला, मुझे बचाओ, इस संकट से ! मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूंगा।"

इस प्रकार राजकुमार उत्तर को बहुत भयभीत और घबराया हुआ

जानकर बृहन्नला ने उसे समझाते हुए और उसका हौसला बढ़ाते हुए कहा—

"राजकुमार, घबराओ नहीं। तुम तो सिर्फ घोड़ों की रास संभाल लो। इन कौरवों से मैं अकेली युद्ध कर लूंगी। तुम केवल रथ हांकते जाओ। इनसे जरा भी मत डरो। विजय तुम्हारी ही होगी। भाग जाने से तुमको कोई लाभ न होगा। निर्भय होकर डटे रहोगे तो मैं अपने प्रयत्न से सारी सेना को तितर-बितर कर दूंगी और तुम्हारी गायें भी छुड़ा लाऊंगी। तुम यशस्वी विजेता प्रसिद्ध होगे।" कहकर अर्जुन ने उत्तर को सारथी के स्थान पर बैठाकर रास उसके हाथ में पकड़ा दी। राजकुमार ने रास पकड़ ली। तब अर्जुन ने उससे कहा—"रथ को नगर के बाहर श्मशान के पास जो शमी का वृक्ष है, उधर ले चलो।" और रथ उधर तेज़ी के साथ चल पड़ा।

आचार्य द्रोण यह सब दूर से देख रहे थे। उनको विश्वास हो रहा था कि नपुंसक के वेष में यह अर्जुन ही है। उन्होंने यह बात इशारे से भीष्म को जता दी।

यह चर्चा सुन दुर्योधन कर्ण से बोला—"हमें इस बात से क्या मतलब कि यह औरत वेश में कौन है? मान लें कि यह अर्जुन ही है—फिर भी हमारा तो उससे काम ही बनता है। शर्त के अनुसार और बारह बरस का वनवास भुगतना पड़ेगा।"

उधर शमी वृक्ष के पास पहुंचकर बृहन्नला ने उत्तर से कहा—"राजकुमार! तुम्हारी जय हो! अब तुम एक काम करो। रास छोड़ दो और रथ से उतर कर इस शमी वृक्ष पर चढ़ जाओ। ऊपर एक गठरी में कुछ हथियार टंगे हैं, उन्हें उतार लाओ।"

उत्तर को यह बात एक पहेली-सी लगी। वह कुछ समझ ही न पाया। बृहन्नला ने फिर उसे समझाकर कहा—"रथ में जो तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र हैं वह मेरे काम के नहीं हैं। इस पेड़ पर पांडवों के दिव्यास्त्र बंधे रखे हैं। वही गठरी उतार लाओ।"

उत्तर नाक-भौं सिकोड़कर बोला—"लोग कहते हैं कि इस शमी के पेड़ पर किसी बूढ़ी भीलनी की लाश टंगी है। लाश को भला मैं कैसे

छू सकता हूं। ऐसा घृणित काम मुझसे कैसे करा रही हो? तुम भूल गईं कि मैं कौन हूं!"

बृहन्नला ने कहा—"राजकुमार, मैं बिल्कुल ठीक कहती हूं। वहां जो टंगा है वह किसी की लाश नहीं है। मुझे मालूम है कि यहां पांडवों के हथियारों की गठरी है। तुम निःशंक होकर पेड़ पर चढ़ जाओ और उसे ले आओ। अब देर न करो।"

लाचार होकर उत्तर पेड़ पर चढ़ा। उसपर जो गठरी बंधी थी उसे लेकर मुंह बनाते हुए नीचे उतर आया। गठरी चमड़े में लपेटकर बंधी हुई थी। बृहन्नला ने जैसे ही बंधन खोला, तो उसमें से सूर्य की कांति वाले जगमग दिव्यास्त्र निकले।

उन शस्त्रों की जगमगाहट देखकर उत्तर चकाचौंध में रह गया। बाद में संभलकर उन दिव्यास्त्रों को बड़े कौतूहल के साथ एक-एक करके स्पर्श किया। स्पर्श करने मात्र से उत्तर का भय जाता रहा। उसमें वीरता की बिजली-सी दौड़ गई। उत्तर ने उत्साहित होकर पूछा—"बृहन्नला! सचमुच बताओ, ये धनुष-बाण और खड्ग क्या पांडवों के हैं? मैंने तो सुना था कि वे राज्य से वंचित होकर जंगल में चले गए थे और फिर आगे उनका कोई पता नहीं चला। क्या तुम पांडवों को जानती हो? कहां हैं वे?"

तब अर्जुन ने राजकुमार उत्तर को अपना, अपने भाइयों तथा द्रौपदी का असली परिचय दिया और बोला—"राजा विराट की सेवा करनेवाले कंक ही महाराज युधिष्ठिर हैं। रसोइया वल्लभ, जो तुम्हारे पिता की भोजनशाला का आचार्य है, भीमसेन है। जिसका अपमान करने के कारण कीचक को मृत्यु के मुंह में जाना पड़ा था, वही सैरंध्री पांचाल-नरेश की यशस्विनी पुत्री द्रौपदी है। अश्वपाल ग्रंथिक और ग्वाले का काम करने वाले तंतिपाल और कोई नहीं, नकुल और सहदेव ही हैं। और मैं हूं अर्जुन! इसलिए राजकुमार! घबराओ नहीं। अभी मेरी वीरता का परिचय पा लोगे। भीष्म, द्रोण और अश्वत्थामा के देखते-देखते कौरव-सेना को हरा दूंगा और सारी गायें छुड़ा लाऊंगा और तुम यशस्वी बनोगे।"

यह सुनते ही उत्तर हाथ जोड़कर अर्जुन को प्रणाम करके बोला—"पार्थ ! आप के दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हुआ । क्या सचमुच ही मैं अब यशस्वी धनंजय को अपनी आंखों देख रहा हूं ? जिन्होंने मुझ कायर में वीरता का संचार किया, क्या वह विजयी अर्जुन ही हैं ? नासमझी के कारण मुझसे जो भूल हुई, उसे क्षमा करें ।"

कौरव-सेना को देखकर उत्तर फिर घबरा न जाय, इसलिए उसका हौसला बढ़ाते हुए अर्जुन पहले के अनेक विजयी युद्धों की कथा सुनाता जाता था । इस प्रकार उत्तर को धीरज बंधा और उसका हौसला बढ़ाकर अर्जुन ने कौरव-सेना के सामने रथ ला खड़ा किया । दोनों हाथों से भगवान् को प्रणाम किया । उसने हाथों की चूड़ियां उतार फेंकीं और चमड़े के अंगुलित्राण पहन लिये ; खुले लंबे केश संवारकर कपड़े से कसकर बांध लिये । पूर्व की ओर मुंह करके अस्त्रों का अध्ययन किया और रथ पर आरूढ़ होकर गांडीव धनुष संभाल लिया । डोरी चढ़ाकर तीन बार जोर से टंकार दिया । गांडीव की टंकार से दसों दिशाएं गूंज उठीं । कौरव-सेना के वीर वह टंकार सुनते ही पुकार उठे—"अरे, यह तो अर्जुन के गांडीव की टंकार है !" कौरव-सेना टंकार-ध्वनि से स्वस्थ होने भी न पाई थी कि अर्जुन ने खड़े होकर अपने देवदत्त नामक शंख की ध्वनि की जिससे कौरव-सेना थर्रा उठी । उसमें खलबली मच गई कि पांडव आ गए।

: ४७ :

प्रतिज्ञा-पूर्ति

अर्जुन का रथ जब धीर-गंभीर घोष करता हुआ आगे बढ़ा तो धरती हिलने लगी । गांडीव धनुष की टंकार सुनकर कौरव-सेना के वीरों के कलेजे कांप उठे ।

यह देखकर द्रोण ने कहा—"सेना की व्यूह-रचना सुव्यवस्थित रूप से कर लेनी होगी । इकट्ठे रहकर सावधानी के साथ युद्ध करना होगा । मालूम होता है, यह तो अर्जुन ही आया है ।"

आचार्य की शंका और घबराहट दुर्योधन को ठीक न लगी । वह

कर्ण से बोला—"पांडव जुए के खेल में जब हार गए थे तो शर्त के अनुसार उन्हें बारह बरस वनवास और एक बरस अज्ञातवास में बिताना था । अभी तेरहवां बरस पूरा नहीं हुआ है, और अर्जुन हमारे सामने प्रकट हो गया है । तो फिर भय किस बात का है ? शर्त के अनुसार पांडवों को फिर बारह बरस वनवास और एक बरस अज्ञातवास में बिताना होगा । आचार्य को तो चाहिए कि वह आनन्द मनावें । पर वह तो भय-विह्वल हो रहे हैं । बात यह है कि पण्डितों का स्वभाव ऐसा ही होता है, दूसरों के दोष निकालने में ही वे चतुरता का परिचय देते हैं । अच्छा यही होगा कि उन्हें पीछे ही रखकर हम आगे बढ़ें और सेना का संचालन करें ।"

कर्ण ने दुर्योधन की हां-में-हां मिलाते हुए कहा—"अजीब बात है कि सेना के योद्धा भय के मारे कांप रहे हैं जबकि उन्हें दिल खोलकर लड़ना चाहिए । आप लोग यही रट लगा रहे हैं कि सामने जो रथ आ रहा है उसपर अर्जुन धनुष ताने बैठा है । पर वहां अर्जुन के बजाय परशुराम हों तो भी हम डरें क्यों ? मैं तो अकेला ही जाकर उसका मुकाबला करूंगा और दुर्योधन को उस दिन जो वचन दिया था, उसे आज पूरा करके दिखाऊंगा । सारी कौरव-सेना और उसके सभी सेनानायक भले ही खड़े देखते रहें, चाहे गायों को भगा ले जायं; मैं अन्त तक डटा रहूंगा और अगर यह अर्जुन हुआ तो अकेला ही इससे निबट लूंगा ।"

कर्ण को यों दम भरते देख कृपाचार्य झल्लाकर बोले—"कर्ण ! मूर्खता की बातें न करो । हम सबको एक साथ मिलकर अर्जुन का मुकाबला करना होगा, उसे चारों से घेर लेना होगा । नहीं तो हमारे प्राणों की खैर नहीं । तुम अकेले ही अर्जुन के सामने जाने का साहस न करो ।"

यह सुनकर कर्ण को गुस्सा आ गया । वह बोला—"आचार्य तो अर्जुन की प्रशंसा करते कभी थकते नहीं । अर्जुन की शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर बताने की इन्हें एक आदत-सी पड़ गई है । न मालूम यह भय के कारण है या यह कि अर्जुन को यह अधिक प्यार करते हैं इस कारण है । जो भी हो, जो डरपोक हैं या जो केवल पेट पालने के लिए राजा के आश्रित हैं, वे भले ही हाथ-पर-हाथ धरे खड़े रहें—न करें युद्ध या वापस लौट जायं ।

मैं अकेला ही डटा रहूंगा। जो वेदों की तो दुहाई देते हैं और शत्रु की प्रशंसा करते रहते हैं उनका यहां काम ही क्या है?"

जब कर्ण ने आचार्य की यों चुटकी ली तो कृपाचार्य के भानजे अश्वत्थामा से न रहा गया। वह बोला—"कर्ण! हम गायें लेकर हस्तिनापुर तो जा नहीं पहुंचे हैं। किया तुमने कुछ नहीं और कोरी डींगें मारने में समय गंवा रहे हो। हम हले ही क्षत्रिय न हों, वेद और शास्त्र रटनेवाले ही हों; पर राजाओं को जुए में हराकर उनका राज्य जीतने की बात किसी भी शास्त्र में हमने न देखी है, न पढ़ी है। फिर, जो लोग युद्ध जीतकर भी राज्य प्राप्त करते हैं, वे भी तो अपने मुंह अपनी तारीफ नहीं करते। तुम लोगों ने कौन-सा भारी पहाड़ उठा लिया जो ऐसी शेखी बघार रहे हो? अग्नि चुपचाप सब चीजों को पकाता है, सूर्य चुपचाप प्रकाश फैलाता है और पृथ्वी अखिल चराचर का भार वहन करती है। फिर भी ये सब अपनी प्रशंसा आप नहीं करते। तब जिन क्षत्रिय वीरों ने जुआ खेलकर राज्य जीत लिया है, उन्होंने कौन-सा पराक्रम किया है जो अपने मुंह अपनी प्रशंसा करते हुए फूले नहीं समाते? शिकारी जैसे जाल कर चिड़ियों को फंसाता है, उसी प्रकार जिन लोगों ने कुचक्र का जाल फैलाकर पांडवों का राज्य छीन लिया है, वे कम से कम अपने मुंह अपनी प्रशंसा तो न करें! अरे कर्ण! दुर्योधन! तुम लोगों ने अभी तक किस लड़ाई में पांडवों को हराया है? एक वस्त्र पहनी हुई द्रौपदी को सभा में खींच डालनेवाले वीरो! तुम लोगों ने उसे किस युद्ध में जीता था? लेकिन सावधान हो जाओ। आज यहां कोई चौपड़ का खेल नहीं होने वाला कि फांसा फेंका और राज्य हथिया लिया। आज तो अर्जुन के साथ लड़ाई में दो-दो हाथ करने हैं। अर्जुन का गाण्डीव चौपड़ की गोटें नहीं फेंकेगा, बल्कि पैने बाणों की बौछार करेगा। यहां शकुनि की कुचालें काम न देंगी। यह खेल नहीं—युद्ध है।"

इस प्रकार कौरव-सेना के वीर आपस में ही वाद-विवाद तथा झगड़ा करने लगे। यह देख भीष्म बड़े खिन्न हुए। वह बोले—"बुद्धिमान व्यक्ति कभी अपने आचार्य का अपमान नहीं करते। योद्धा को चाहिए कि देश और काल को भली-भांति देखते हुए उसके अनुसार युद्ध करे। कभी-

कभी बुद्धिमान लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं। समझदार दुर्योधन भी क्रोध के कारण भ्रम में पड़ा हुआ है और पहचान न पाया कि सामने जो खड़ा है वह अर्जुन है। अश्वत्थामा! कर्ण ने जो-कुछ कहा, मालूम होता है, वह आचार्य को उत्तेजित करने ही के लिए कहा था। तुम उसकी बातों पर ध्यान न दो। द्रोण, कृप एवं अश्वत्थामा इसको क्षमा कर दें। चारों वेदों का ज्ञान और क्षत्रियोचित तेज आचार्य द्रोण तथा उनके पुत्र अश्वत्थामा को छोड़कर और किसमें एक साथ पाया जा सकता है? परशुराम को छोड़कर द्रोणाचार्य की बराबरी करनेवाला और कौन-सा ब्राह्मण है? यह आपस में वैर-विरोध या झगड़े का समय नहीं है। अभी तो सबको एक साथ मिलकर शत्रु का मुकाबला करना है।"

पितामह के इस प्रकार समझाने पर कर्ण, अश्वत्थामा आदि वीर, जो उत्तेजित हो रहे थे, शांत हो गए।

सबको शांत देखकर भीष्म दुर्योधन से फिर बोले—"बेटा दुर्योधन, अर्जुन प्रकट हो गया, वह ठीक है। पर प्रतिज्ञा का समय कल ही पूरा हो चुका। चन्द्र और सूर्य की गति, वर्ष, महीने और पक्ष-विभाग के पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह जाननेवाले ज्योतिषी मेरे कथन की पुष्टि करेंगे। तुम लोगों से हिसाब में कुछ भूल हुई है। प्रत्येक वर्ष के एक-जैसे महीने नहीं होते। मालूम होता है कि तुम लोगों की गणना में कुछ भूल है, इसीलिए तुम्हें भ्रम हुआ है। ज्योंही अर्जुन ने गाण्डीव धनुष की टंकार की, मैं समझ गया कि प्रतिज्ञा की अवधि पूरी हो गई। दुर्योधन! युद्ध शुरू करने से पहले इस बात का निश्चय कर लेना होगा कि पाण्डवों के साथ संधि कर लें या नहीं। यदि संधि करने की इच्छा है तो उसके लिए अभी समय है। बेटा, खूब सोच-विचारकर बताओ कि तुम न्यायोचित संधि चाहते हो या युद्ध?"

दुर्योधन ने कहा—"पूज्य पितामह! मैं संधि नहीं चाहता। राज्य तो रहा दूर, मैं एक गांव तक पाण्डवों को देने के लिए तैयार नहीं हूं। इसलिए लड़ने की ही तैयारियां की जायं।"

यह सुन द्रोणाचार्य ने कहा—"सेना के चौथे हिस्से को अपनी रक्षा के लिए साथ लेकर राजा दुर्योधन हस्तिनापुर की ओर वेग से कूच कर

दें। एक हिस्सा गायों को घेरकर भगा ले जाय। बाकी जो सेना रह जायगी, उसे साथ लेकर हम पांचों महारथी अर्जुन का मुकाबला करें। ऐसा करने से ही राजा की रक्षा हो सकती है।"

आचार्य की आज्ञानुसार कौरव वीरों ने व्यूह-रचना कर ली।

उधर अर्जुन उत्तर से कह रहा था—"उत्तर! सामने की शत्रु-सेना में दुर्योधन का रथ नहीं दिखाई दे रहा है। कवच पहने जो खड़े हैं वे पितामह भीष्म हैं; लेकिन दुर्योधन कहां चला गया? इन महारथियों की ओर से हटकर अपना रथ उधर ले चलो जिधर दुर्योधन हो। मुझे भय है कि दुर्योधन कहीं गायें लेकर आगे हस्तिनापुर की ओर न जा रहा हो।"

उत्तर ने रथ उसी ओर हांक दिया जिधर से दुर्योधन वापस जा रहा था। जाते-जाते अर्जुन ने गाण्डीव पर चढ़ाकर दो-दो बाण आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म की ओर इस तरह मारे जो उनके चरणों में जाकर गिरे। इस प्रकार अपने बड़ों की वन्दना करके अर्जुन ने दुर्योधन का पीछा किया।

पहले तो अर्जुन ने गायें भगाकर ले जाती हुई कौरव सेना की टुकड़ी को, पास जाकर ज़रा-सी देर में, तितर-बितर कर दिया और गायें छुड़ा लीं। ग्वालों को गायें विराट नगर की ओर लौटा ले जाने की आज्ञा देकर अर्जुन दुर्योधन का पीछा करने लगा।

अर्जुन को दुर्योधन का पीछा करते देखकर भीष्म आदि सेना लेकर अर्जुन का पीछा करने लगे और शीघ्र ही उसे घेरकर बाणों की बौछार करने लगे। अर्जुन ने उस समय अद्भुत रण-कौशल का परिचय दिया। पहले तो उसने कर्ण पर हमला करके उसे बुरी तरह घायल करके मैदान से भगा दिया। इसके बाद द्रोणाचार्य की बुरी गत होते देख अश्वत्थामा आगे बढ़ा और अर्जुन पर बाण बरसाने लगा। अर्जुन ने ज़रा हटकर द्रोणाचार्य को खिसक जाने के लिए मौका दे दिया। मौका पाकर आचार्य जल्दी से खिसक गये। उनके चले जाने के बाद अर्जुन अब अश्वत्थामा पर टूट पड़ा। दोनों में भयानक युद्ध होता रहा। अंत में अश्वत्थामा को हार माननी पड़ी। इसके बाद कृपाचार्य की बारी आई और वह भी हार खा गए। पांचों महारथी जब इस भांति परास्त हो गए तो फिर सेना

किसके बल पर टिकती! सारी कौरव-सेना को अर्जुन ने जल्दी ही तितर-बितर कर दिया। सैनिक अपनी जान लेकर भाग खड़े हुए।

मानी भीष्म से यह न देखा गया। डरकर भागती हुई सेना को फिर से इकट्ठी करके वह द्रोणाचार्य आदि के साथ अर्जुन पर टूट पड़े। भीष्म और अर्जुन में ऐसा भीषण संग्राम हुआ कि देवता भी उसे देखने के लिए आकाश में इकट्ठे हो गए। चारों ओर से कौरव महारथी अर्जुन पर वार करने लगे। अर्जुन ने भी उस समय अपने चारों ओर बाणों की ऐसी वर्षा की कि जिससे वह बरफ से ढके पर्वत के समान प्रतीत होने लगा।

इस भांति भीषण युद्ध करते हुए भी अर्जुन ने दुर्योधन का पीछा करना न छोड़ा। पांचों महारथियों के अर्जुन को एक साथ रोकने का प्रयत्न करने पर भी रोका न जा सका और आखिर वह दुर्योधन के निकट पहुंच ही गया। उसने दुर्योधन पर भीषण हमला कर दिया। दुर्योधन घायल होकर मैदान छोड़ भाग खड़ा हुआ। अर्जुन गरजकर बोला—"दुर्योधन! तुम्हें अपनी वीरता और यश का बड़ा घमण्ड था, अब जब वीरता दिखाने का समय आया तो भागते क्यों हो?" यह सुनकर दुर्योधन सांप की तरह फुफकारता हुआ फिर आ डटा। भीष्म, द्रोण आदि कौरव-वीरों ने दुर्योधन को चारों तरफ से घेर लिया और अर्जुन की बाण-वर्षा से उसकी रक्षा करने लगे। इस प्रकार बहुत देर तक घोर संग्राम होता रहा और हार-जीत का निर्णय होना कठिन हो गया। तब अर्जुन ने मोहनास्त्र का प्रयोग किया। इसके सारे कौरव वीर पृथ्वी पर बेहोश होकर गिर पड़े। अर्जुन ने उन सबके वस्त्र उतार लिये। उन दिनों की प्रथा के अनुसार शत्रु-पक्ष के सैनिकों के वस्त्र हरण कर लेना जीत का चिह्न समझा जाता था।

जब दुर्योधन को होश आया तो भीष्म ने उससे कहा कि अब वापस हस्तिनापुर लौट चलना चाहिए। भीष्म की सलाह मानकर सारी सेना हार मानकर हस्तिनापुर की ओर लौट चली।

इधर युद्ध से लौटते हुए अर्जुन ने कहा—"उत्तर! अपना रथ नगर की ओर ले चलो। तुम्हारी गायें छुड़ा लीं गईं। शत्रु भी भाग

खड़े हुए। इस विजय का यश तुम्हींको मिलना चाहिए। इसलिए चन्दन लगाकर और फूलों का हार पहनकर नगर में प्रवेश करना।"

रास्ते में शमी के वृक्ष पर अपने अस्त्रों को ज्यों-का-त्यों रखकर अर्जुन ने फिर से बृहन्नला का वेश धारण कर लिया और राजकुमार उत्तर को रथ पर बैठाकर सारथी के स्थान पर खुद बैठ गया। विराट-नगर की ओर कुछ दूतों को यह आज्ञा देकर भेज दिया कि जाकर घोषणा करें कि राजकुमार उत्तर की जय हुई।

: ४८ :

विराट का भ्रम

त्रिगर्त-राज सुशर्मा पर विजय प्राप्त करके राजा विराट नगर में वापस आये तो पुरवासियों ने उनका धूम-धाम से स्वागत किया। अन्तः-पुर में राजकुमार उत्तर को न पाकर राजा ने पूछताछ की तो स्त्रियों ने बड़े उत्साह के साथ बताया कि कुमार कौरवों से लड़ने गए हैं। उन स्त्रियों की आंखों में तो राजकुमार उत्तर, कौरव सेना की कौन कहे, सारे विश्व पर विजय पाने के योग्य था। इस कारण उनको इसकी चिन्ता या आश्चर्य कुछ नहीं था। उन्होंने बड़ी बेफिक्री से राजकुमार के युद्ध में जाने की बात राजा से कही।

पर राजा तो यह सुनकर एकदम चौंक पड़े। उनके विशेष पूछने पर स्त्रियों ने कौरवों के आक्रमण आदि का सारा हाल सुनाया। यह सब सुनकर राजा का मन चिंतित हो उठा। दुःखी होकर बोले—"राजकुमार उत्तर ने एक हीजड़े को साथ लेकर यह बड़े दुःसाहस का काम किया है। इतनी बड़ी सेना के सामने आंखें मूंदकर कूद पड़ा। कहां कौरवों की विशाल सेना और उसके सेनापति और कहां मेरा सुकोमल प्यारा पुत्र! अबतक तो वह कभी का मृत्यु के मुंह में पहुंच चुका होगा। इसमें कोई संदेह ही नहीं है।" कहते-कहते वृद्ध राजा का कण्ठ रुंध गया।

फिर अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि सेना इकट्ठी करके ले जायं और राजकुमार यदि जीवित हो तो उसे किसी भी तरह सुरक्षित ले आयें।

राजकुमार उत्तर के समाचार जानने के लिए सैनिकों का एक दल तत्काल रवाना कर दिया गया।

राजा को इस प्रकार शोकातुर होते देखकर संन्यासी कंक ने उन्हें दिलासा देते हुए कहा—"आप राजकुमार की चिन्ता न करें। बृहन्नला सारथी बनकर उनके साथ गई हुई है। बृहन्नला को आप नहीं जानते, लेकिन मैं जानता हूं। जिस रथ की सारथी बृहन्नला होगी, उसपर चढ़-कर कोई भी युद्ध में जाय, उसकी अवश्य ही जीत होगी। इसलिए आपके पुत्र विजेता बनकर लौटेंगे। इसी बीच सुशर्मा पर आपकी विजय की भी खबर वहां पहुंच चुकी होगी। कौरव-सेना में भगदड़ मच जायगी। आप चिन्ता न करें।"

कंक इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि इतने में उत्तर के भेजे हुए दूतों ने आकर कहा—"राजन्! आपका कल्याण हो! राजकुमार जीत गए। कौरव-सेना तितर-बितर कर दी गई। गायें लौटा ली गईं!"

सुनकर विराट आंखें फाड़कर देखते रह गए। उन्हें विश्वास ही न होता था कि अकेला उत्तर कौरवों को जीत सकेगा!

कंक ने उन्हें विश्वास दिलाकर कहा—"राजन्, संदेह न करें। दूतों का कहना सच ही होना चाहिए। जब बृहन्नला सारथी बनी, उसी क्षण आपके पुत्र की जीत निश्चय हो चुकी थी। मैं जानता हूं कि देवराज इन्द्र और कृष्ण के सारथी भी बृहन्नला की बराबरी नहीं कर सकते। सो आपके पुत्र का जीत जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।"

पुत्र की विजय हुई, यह जानकर विराट आनन्द और अभिमान के मारे फूल न समाये। उन्होंने दूतों को असंख्य रत्न एवं धन पुरस्कार के रूप में देकर खूब आनन्द मनाया।

मंत्रियों तथा अनुचरों को आज्ञा देकर कहा—"तुम लोग खूब आनन्द मनाओ। राजकुमार जीत गए हैं। नगर को खूब सजाओ। राजा सुशर्मा को मैंने जो जीता, सो कोई बड़ी बात न थी। राजकुमार की महान् विजय के आगे मेरी जीत कुछ भी नहीं है। राजवीथियों में ध्वजा फहराएँ दो। मंगल-वाद्य बजाने की आज्ञा दो। सिंहशिशु-से निडर और पराक्रमी मेरे प्रिय पुत्र का धूमधाम से स्वागत हो, इसका प्रबन्ध करो। घर-घर

में विजय का उत्सव मनाया जाय।"

इसके बाद राजा ने प्रसन्नता से अंतःपुर में जाकर कहा—"सैरंध्री, चौपड़ की गोटें तो ज़रा ले आओ। चलो, कंक महाराज से दो-दो हाथ चौपड़ खेल लें। आज खुशी के मारे मैं पागल-सा हुआ जा रहा हूं। मेरी समझ में नहीं आता कि अपना आनन्द कैसे व्यक्त करूं!"

दोनों खेलने बैठे। खेलते समय भी बातें होने लगीं।

"देखा राजकुमार का शौर्य! विख्यात कौरव-वीरों को मेरे बेटे ने अकेले ही लड़कर जीत लिया!" विराट ने कहा।

"निःसंदेह आपके पुत्र भाग्यवान् हैं, नहीं तो बृहन्नला उनकी सारथी बनती ही कैसे?" कंक ने कहा।

विराट झुंझलाकर बोले—"संन्यासी! आपने भी क्या बृहन्नला-बृहन्नला की रट लगा रखी है? मैं अपने कुमार की विजय की बात कर रहा हूं और आप उस हीजड़े के सारथी होने की बड़ाई करने लगे।"

यह सुन कंक ने धीरज से कहा—"आपको ऐसा नहीं समझना चाहिए। बृहन्नला को आप साधारण सारथी न समझें। जिस रथ पर वह बैठी, वह कभी विजय पाये बगैर लौटा ही नहीं। उसके चलाये हुए रथ पर चढ़कर साधारण-से साधारण व्यक्ति भी बड़े-से-बड़े योद्धाओं को सहज ही में हरा सकता है।"

अब राजा से न रहा गया। अपने हाथ का पांसा युधिष्ठिर (कंक) के मुंह पर दे मारा और बोला—"ब्राह्मण संन्यासी! खबरदार, जो फिर ऐसी बातें कीं। जानते हो, तुम किससे बातें कर रहे हो?" पांसे की मार से युधिष्ठिर के मुख पर चोट आई और खून बहने लगा।

सैरंध्री जल्दी से अपने उत्तरीय से उनका घाव पोंछने लगी। जब उत्तरीय खून से लथपथ हो गया तो पास रखे एक सोने के प्याले में उसे निचोड़ने लगी।

"यह क्या कर रही हो? खून को सोने के प्याले में क्यों निचोड़ रही हो?" विराट ने क्रोध से पूछा। अभी वह शांत न हुए थे।

सैरंध्री ने कहा—"राजन्! संन्यासी के रक्त की जितनी बूंदें नीचे जमीन पर गिर जायंगी उतने बरस आपके राज्य में पानी नहीं बरसेगा।

इसी कारण मैंने यह खून प्याले में निचोड़ लिया है। कंक की महानता आप नहीं जानते।"

इतने में द्वारपाल ने आकर खबर दी कि राजकुमार उत्तर बृहन्नला के साथ द्वार पर खड़े हैं। राजा से भेंट करना चाहते हैं।

सुनते ही विराट जल्दी से उठकर बोले—"आने दो! आने दो!" कंक ने इशारे से द्वारपाल को कहा कि सिर्फ राजकुमार को लाओ, बृहन्नला को नहीं।

युधिष्ठिर को भय था कि कहीं राजा के हाथों उनको जो चोट लगी है, उसे देखकर अर्जुन गुस्से में कोई गड़बड़ी न कर दे। यही सोच उन्होंने द्वारपाल को ऐसा आदेश दिया।

राजकुमार उत्तर ने प्रवेश करके पहले अपने पिता को नमस्कार किया और फिर कंक को प्रणाम करना ही चाहता था कि उनके मुख पर से खून बहता देखकर चकित रह गया। उसे अर्जुन से मालूम हो चुका था कि कंक तो असल में महाराज युधिष्ठिर ही हैं।

उसने पूछा—"पिताजी, इन धर्मात्मा को किसने यह पीड़ा पहुंचाई?"

विराट ने कहा—"बेटा! जब मैं तुम्हारी विजय की खबर से खुश होकर तुम्हारी प्रशंसा करने लगा तो इन्होंने ईर्ष्या के मारे बृहन्नला की प्रशंसा करते हुए तुम्हारी वीरता और विजय की अवज्ञा की। यह मुझसे न सहा गया। इसलिए क्रोध में मैंने चौपड़ के पांसे फेंक मारे। क्यों, तुम उदास क्यों हो गए, बेटा?"

पिता की बात सुनकर उत्तर कांप गया। उसके भय और चिन्ता की सीमा न रही। बोला—"पिताजी, आपने यह बड़ा अनर्थ कर डाला। अभी इनके पांव पकड़कर क्षमा-याचना कीजिए। अपने किये पर पश्चात्ताप कीजिए, नहीं तो हमारे वंश का सर्वनाश हो जायगा।"

विराट कुछ समझ ही न सके कि बात क्या है। परन्तु उत्तर ने फिर आग्रह किया तो उन्होंने कंक के पांव पकड़कर क्षमा-याचना की। इसके बाद उत्तर को गले लगा लिया और बोले—"बेटा, बड़े वीर हो तुम। बताओ तो, तुमने कौरवों की सेना को जीता कैसे? लाखों गायों को सेना

से छुड़ाया कैसे ? विस्तार से सब हाल सुनाओ। जो कुछ हुआ, शुरू से लेकर सब हाल बताओ।"

उत्तर ने कहा—"पिताजी, मैंने कोई सेना नहीं हराई। मैं तो लड़ा भी नहीं। एक भी गाय मैंने नहीं लौटाई। यह सब किसी देवकुमार का कार्य था। उन्होंने कौरवों की सेना को तहस-नहस करके गायें लौटा दीं। मैं तो सिर्फ देखता रहा।"

बड़ी उत्कंठा के साथ राजा ने पूछा—"कौन था वह वीर ? कहां है वह ? बुला लाओ उसे। उस वीर के दर्शन करके अपनी आंखें धन्य कर लूं जिसने मेरे पुत्र को मृत्यु के मुंह से बचाया। उस वीर को मैं अपनी पुत्री उत्तरा भेंट करूंगा। उसकी पूजा करूंगा। बुला लाओ उसे।"

"पिताजी, वह देवकुमार अन्तर्धान हो गए; लेकिन फिर भी मेरा विश्वास है कि आज या कल वह अवश्य प्रकट होंगे," राजकुमार ने कहा।

राजा विराट और राजकुमार उत्तर की विजय का उत्सव मनाने के लिए राजसभा हुई। नगर के सभी प्रमुख लोग आकर अपने-अपने आसनों पर बैठने लगे। कंक, वल्लभ, बृहन्नला, तंतिपाल, ग्रंथिक आदि राजा के पांचों सेवक सभा में आये तो सबकी दृष्टि उनपर पड़ी। जब ये पांचों राजकुमारों के लिए नियुक्त स्थानों पर जा बैठे तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, फिर भी उन्होंने यह सोचकर अपना समाधान कर लिया कि राजा की सेवा-टहल करनेवाले नौकर होने पर भी समय-समय पर उन्होंने वीरता से राजा की जो सहायता की, उसके लिए राजा ने इनको यह गौरव प्रदान किया होगा। यदि यह बात न होती तो इन सेवकों की हिम्मत कैसे पड़ती कि राजोचित आसनों पर जा बैठें !

लोग यह सोच ही रहे थे कि इतने में राजा विराट सभा में प्रविष्ट हुए। यह देखकर कि पांचों सेवक राजकुमारों के लिए नियत आसनों पर शान से बैठे हुए हैं, विराट के भी आश्चर्य और क्रोध का ठिकाना न रहा।

उन्होंने कोध को रोका और पांचों भाइयों के पास उनके आसनों पर जाकर पूछा कि आज भरी सभा में यह अविनय आप लोग क्यों कर रहे हैं ? थोड़ी देर तक तो विराट और पाण्डवों के बीच में कुछ विवाद होता रहा; पर आखिर में पाण्डवों ने सोचा कि अब ज्यादा विवाद करना

और अपने को छिपाये रखना ठीक नहीं। यह सोचकर अर्जुन ने पहले राजा विराट को और बाद में सारी सभा को अपना असली परिचय दे दिया। लोगों के आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। सभा में कोलाहल मच गया।

राजा विराट का हृदय कृतज्ञता, आनन्द और आश्चर्य से तरंगित हो उठा। पांचों पांडव और राजा द्रुपद की पुत्री मेरे यहां सेवा-टहल करते हुए अज्ञात होकर रहे; मेरे और मेरे पुत्र के प्राणों की रक्षा की; मैं कैसे इसका बदला चुकाऊं ? कैसे इनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करूं ? यह सोचकर राजा विराट का जी भर आया। युधिष्ठिर से बार-बार गले मिले और गद्गद होकर कहा—"मैं आपका ऋण कैसे चुकाऊं ? मेरा यह सारा राज्य आपका है। मैं आपका अनुचर बनकर रहूंगा।"

युधिष्ठिर ने प्रेम से कहा—"राजन् ! मैं आपका बहुत आभारी हूं। राज्य तो आप ही रखिये। आपने आड़े समय पर हमें जो आश्रय दिया, वहीं लाखों राज्यों के बराबर है।"

विराट ने कुछ सोचने के बाद अर्जुन से आग्रह किया कि आप राज-कन्या उत्तरा से ब्याह कर लें।

अर्जुन ने कहा—"राजन् ! आपका बड़ा अनुग्रह है। पर आपकी कन्या को मैं नाच और गाना सिखाता रहा हूं। मेरे लिए वह बेटी के समान है। इस कारण यह उचित नहीं कि मैं उसके साथ ब्याह करूं। हां, यदि आपकी इच्छा ही हो तो मेरे पुत्र अभिमन्यु के साथ उसका ब्याह हो जाय। उत्तरा को मैं अपनी पुत्र-वधू स्वीकार करने के लिए तैयार हूं।"

राजा विराट ने यह बात मान ली।

इसके कुछ समय बाद दुरात्मा दुर्योधन के दूतों ने आकर युधिष्ठिर से कहा—"कुन्ती-पुत्र ! महाराज दुर्योधन ने हमें आपके पास भेजा है। उनका कहना है कि उतावली के कारण प्रतिज्ञा पूरी होने से पहले अर्जुन पहचाने गए हैं। इसलिए शर्त के अनुसार आपको बारह बरस के लिए और वनवास करना होगा।"

इसपर धर्मराज युधिष्ठिर हंस पड़े और बोले—"दूतजन, शीघ्र ही

वापस जाकर दुर्योधन को कहो कि पितामह भीष्म और ज्योतिष-शास्त्र के जानकारों से पूछकर इस बात का निश्चय वह करे कि अर्जुन जब प्रकट हुआ था तब प्रतिज्ञा की अवधि पूरी हो चुकी थी या नहीं। मेरा यह दावा है कि तेरहवाँ बरस पूरा होने के बाद ही अर्जुन ने धनुष की टंकार की थी।"

: ४९ :

मंत्रणा

तेरहवां बरस पूरा होने पर पांडव विराट की राजधानी छोड़कर उपप्लव्य नामक नगर में, जो विराटराज ही के राज्य में था, जाकर रहने लगे। अज्ञातवास की अवधि पूरी हो चुकी थी, इसलिए पांचों भाई प्रकट रूप में रहने लगे। आगे का कार्यक्रम तय करने के लिए तथा सलाह आदि करने के लिए उन्होंने अपने भाई-बंधुओं एवं मित्रों को बुलाने को दूत भेजे।

भाई बलराम, अर्जुन की पत्नी सुभद्रा तथा पुत्र अभिमन्यु और यदु-वंश के कई वीरों को लेकर श्रीकृष्ण उपप्लव्य जा पहुंचे। उनके आगमन की खबर पाकर विराटराज और पांडवों ने शंख बजाकर उनका स्वागत किया।

इन्द्रसेन आदि राजा अपने-अपने रथों पर चढ़कर उपप्लव्य आ पहुंचे। काशिराज और वीर शैव्य भी अपनी दो अक्षौहिणी सेना के साथ आकर युधिष्ठिर के नगर में पहुंच गए।

पांचालराज द्रुपद तीन अक्षौहिणी सेना लाये। उनके साथ शिखंडी, द्रौपदी का भाई धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पुत्र भी आ पहुंचे। और भी कितने ही राजा अपनी-अपनी सेनाओं को साथ लेकर पाण्डवों की सहायता के लिए आ गए।

सबसे पहले शास्त्रोक्त विधि से अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह किया गया। इसके बाद विराटराज के सभाभवन में सभी आगंतुक राजा मंत्रणा के लिए इकट्ठे हुए।

विराटराज के पास श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर बैठे। द्रुपद के पास बलराम

और सात्यकि। और भी कितने ही प्रतापी राजा सभा में विराजमान थे। सभा में सबके अपने-अपने आसन पर बैठ जाने पर श्रीकृष्ण उठे और बोले—

"सम्मान्य बंधुओ और मित्रो! आप सब जानते ही हैं कि किस प्रकार युधिष्ठिर को कुचक्र में फंसाकर उनका राज्य छीन लिया गया, किस प्रकार पांडु-पुत्रों को अपना प्रण निभाने के लिए तेरह बरस तक दारुण दुःख भोगना पड़ा और किस प्रकार इन दुःसह कठिनाइयों को झेलकर पांडवों ने अपनी प्रतिज्ञा सफलता के साथ पूरी की। अब हम सब यहां इसलिए इकट्ठे हुए हैं कि कुछ ऐसे उपाय सोचें, जो युधिष्ठिर और राजा दुर्योधन के लिए लाभप्रद हों, न्यायोचित हों और जिनसे पांडवों तथा कौरवों का सुयश बढ़े! युधिष्ठिर कोई भी ऐसी सलाह नहीं मानेंगे जिससे धर्म की हानि हो और जो न्यायोचित न हो। यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने उन्हें धोखा दिया और तरह-तरह की यातनाएं उन्हें पहुंचाईं, फिर भी युधिष्ठिर तो उनका भला ही चाहते हैं। आपको कौरवों के अन्यायों और युधिष्ठिर की न्यायप्रियता, दोनों पर ही ध्यान देना है। दोनों के भिन्न-भिन्न गुणों पर खूब सोच-विचार कर जो उचित लगे वही सलाह आपको देनी है। अभी तक इस बात का पता नहीं लग सका कि इस बारे में दुर्योधन का क्या इरादा है। पर मुझे तो सब मिलाकर संधि करना ही उचित प्रतीत होता है। जो राज्य युधिष्ठिर से छीना गया है, वह उनको वापस मिल जाय तो पांडव शांत हो जायंगे और दोनों में संधि हो सकती है। मेरी राय में इस बारे में दुर्योधन के साथ उचित रीति से बातचीत करके उसे समझाने के लिए एक ऐसे व्यक्ति को दूत बनाकर भेजना होगा जो सर्वथा योग्य हो और शीलवान भी"

यह कहकर श्रीकृष्ण ने बलराम की ओर देखा।

तब बलराम उठे और बोले—"कृष्ण ने जो सलाह दी, वह मुझे न्यायोचित लगती है और राजनीति के अनुकूल भी। आप लोगों ने कृष्ण की राय सुनी। कृष्ण ने जो उपाय बताया उससे युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों की ही भलाई हो सकती है। इसके लिए मैं कृष्ण को साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकता। आप लोग जानते ही हैं कि कुंती के पुत्रों

को आधा राज्य मिला था। वे उसे जुए में हार गये। अब वे फिर उसे प्राप्त करना चाहते हैं। यदि शांतिपूर्ण ढंग से—बिना युद्ध किये ही—वे अपना राज्य प्राप्त कर सके तो उससे न केवल पांडवों की, बल्कि दुर्योधन की तथा सारी प्रजा की भलाई ही होगी। सब सुख-चैन से रह सकेंगे। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। इसके लिए युधिष्ठिर की ओर से दुर्योधन के पास एक ऐसा दूत भेजा जाना चाहिए जो दोनों के बीच संधि कराने की योग्यता और सामर्थ्य रखता हो। युधिष्ठिर की प्रार्थना दुर्योधन को सुनाकर उसका उत्तर युधिष्ठिर को बताने से पहले उसे भीष्म, द्रोण, विदुर, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण और शकुनि आदि सभी संभ्रांत व्यक्तियों से सलाह-मशविरा करना होगा। उसे बड़ी नम्रता के साथ युधिष्ठिर की बात सबको सुनानी होगी। चाहे कैसा भी उत्तेजना का अवसर आवे, पर वह क्रोध में न आए। ज़रा झुकने ही से काम बनेगा, तनने से नहीं। युधिष्ठिर ने स्वेच्छा से जुआ खेला और राज्य गंवाया। बहुत-से मित्रों ने उन्हें मना किया था, पर युधिष्ठिर ने किसी की न सुनी। अपनी ज़िद पर अड़े रहे और सबकी सुनी-अनसुनी करके जुआ खेलने गए। यह भी युधिष्ठिर से छिपा नहीं था कि शकुनि जुए का मंजा हुआ खिलाड़ी है और वह इस खेल में उसके आगे ठहर नहीं सकते थे। शकुनि की निपुणता और अपने नौसिखियेपन को भली-भांति जानते हुए भी युधिष्ठिर ने बुलावा माना, जुआ खेला और उसमें हारे। इसलिए अब युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र और उनके पुत्रों के आगे नम्रता के साथ ज़रा झुककर ही राज्य वापस लेने की प्रार्थना करनी होगी। इसके लिए मेरी राय में ऐसा व्यक्ति दूत बनकर जाय जो शांति-प्रिय एवं मृदुभाषी हो। युद्ध-प्रिय न हो। उसका उद्देश्य किसी-न-किसी प्रकार समझौता कराना ही हो। हे राजा-गण! दुर्योधन को मीठी बातों से समझाने का प्रयत्न कीजिए। शांतिपूर्ण ढंग से जो संपत्ति मिल जाय वही सुखप्रद होगी। युद्ध चाहे जिस उद्देश्य के लिए किया जाय उसमें अन्याय तो होता ही है। युद्ध के फलस्वरूप न्याय की स्थापना होना असंभव है।"

बलराम के कहने का सार यह था कि युधिष्ठिर ने जान-बूझकर,

अपनी इच्छा से जुआ खेलकर राज्य गंवाया था। यह बात ठीक है कि शर्त के अनुसार बारह बरस का वनवास और एक बरस का अज्ञातवास पूरा करके उन्होंने प्रण निभा लिया। इससे वे गुलामी से मुक्त होकर स्वतंत्र रह सकते हैं अवश्य; परन्तु खोये हुए राज्य को वापस मांगने का उन्हें अधिकार नहीं हो सकता। प्रतिज्ञा करते समय युधिष्ठिर या और किसी ने ऐसी कोई शर्त नहीं की थी कि युधिष्ठिर को राज्य भी वापस दे दिया जायगा। हां, हाथ जोड़कर याचना करने पर भले ही कुछ प्राप्त हो जाय; किन्तु अपना स्वत्व जताकर मांगने का अधिकार युधिष्ठिर को नहीं रहा। जुए के खेल में सम्पत्ति को दांव पर रखना और हार जाना नासमझी ही है; लेकिन खेल में जान-बूझकर जो गंवाया गया है उसपर फिर से गंवानेवाले का अधिकार नहीं हो सकता।

इसके अलावा एक ही वंश के लोगों का आपस में लड़-मरना भी बलराम को अच्छा न लगा। उनकी राय थी कि युद्ध अनर्थ की जड़ होता है। उससे कभी भलाई नहीं हो सकती।

लेकिन बलराम की ही तरह सब नहीं सोचते थे। उनकी इन बातों से यदुकुल का वीर और पांडवों का हितैषी सात्यकि आग-बबूला हो उठा। उससे न रह गया। उठकर कहने लगा—

"बलरामजी की बातें मुझे ज़रा भी न्यायोचित नहीं मालूम होतीं। अपनी बात सिद्ध करने के लिए लोग वाक्-चातुरी से काम लेते हैं। हर किसी बात का सुन्दरता से समर्थन किया जा सकता है और अन्याय को आसानी से न्याय सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन जो स्पष्ट अन्याय है वह कदापि न्याय नहीं हो सकता, न अधर्म ही धर्म हो सकता है। बलरामजी की बातों का मैं जोरों से विरोध करता हूं। आप सब सज्जन जानते हैं कि श्रीकृष्ण और बलरामजी भाई-भाई हैं। फिर भी इन दोनों के विचारों में बहुत भारी अन्तर है। लेकिन इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। एक ही कोख से शूर भी जन्म लेता है और कायर भी। एक ही पेड़ की शाखाओं में से कोई तो फलों से लदी होती है और कोई बिलकुल निकम्मी होती है। अतः भाई-भाई होते हुए भी श्रीकृष्ण ने न्याय की ओर, बलराम ने अन्याय की बात कही तो इसमें आश्चर्य ही

क्या है ! मेरी राय में जो कोई भी युधिष्ठिर को दोषी बतायेगा, वह दुर्योधन से डरनेवाला ही होगा। मेरी इन कड़ी बातों के लिए आप सज्जनगण मुझे क्षमा करेंगे। बात यह है कि युधिष्ठिर तो पांसे का खेल जानते भी नहीं थे, और न इनकी खेलने की इच्छा ही थी। पर इनको आग्रह करके जुआ खेलने पर विवश किया गया और खेल में कपट से हराया गया था। फिर भी इनकी सज्जनता ही थी जो प्रण निभाकर खेल की शर्तें पूरी कीं। और अब इनको यह सलाह दी जा रही है कि यह दुर्योधन के आगे झुककर भीख मांगें ! युधिष्ठिर भिखमंगे नहीं हैं। उन्हें किसी के आगे झुकने की आवश्यकता ही क्या है ? शर्त के अनुसार पांडव बारह बरस का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातबास पूरा करके लौट आये हैं। दुर्योधन और उनके साथी जो ये चिल्ल-पुकार मचा रहे हैं कि बारह महीने पूरे होने से पहले ही पांडवों को उन्होंने पहचान लिया है, सरासर झूठ है और बिल्कुल अन्याय हैं। मैं इस अन्याय को नहीं सहूंगा और इसका बदला लेकर ही रहूंगा। युद्ध में इन अधमों की ऐसी खबर लूंगा कि या तो वे युधिष्ठिर के पांव पड़कर क्षमा-याचना करेंगे या मेरे हाथों मारे जाकर मृत्यु के मुंह पड़ेंगे। धर्य-युद्ध का फल अनीति कैसे हो सकता है ? हथियार लेकर लड़नेवाले शत्रु को मारना भी कहीं पाप होता है ? कभी नहीं। शत्रुओं के आगे हाथ पसारकर भीख मांगने से अधिक निंदनीय काम और कोई हो नहीं सकता। अधः-पतन के सिवाय उसका और कोई नतीजा नहीं होता। अगर दुर्योधन लड़ना ही चाहता है तो हम भी तैयार हो जायं। देरी करना ठीक नहीं। जो कुछ करना है, उसे जल्दी ही कर लेना ठीक होगा। मेरी राय में दुर्योधन बगैर युद्ध के मानेगा ही नहीं। इसलिए विलम्ब करना हमारे लिए बिल्कुल नासमझी की बात होगी।"

सात्यकि की इन दृढ़तापूर्ण और जोरदार बातों से राजा द्रुपद बड़े खुश हुए। वह उठे और बोले—

"सात्यकि ने जो कहा, वह बिल्कुल सही है। मैं उनका जोरों से समर्थन करता हूं। मेरा भी यही खयाल है कि दुर्योधन मीठी-मीठी बातों से माननेवाला नहीं है। हमें युद्ध की तैयारियां तो रखनी ही

चाहिए। अपने सभी मित्रों को दूतों के द्वारा यह संदेश भेजना होगा कि बिना विलम्ब किये सेना इकट्ठी करना शुरू कर दें। शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन, केकय आदि राजाओं के पास अभी से दूत भेज देने चाहिए। इससे मेरा मतलब यह नहीं कि सुलह का प्रयत्न ही न किया जाय; बल्कि मेरी राय में तो राजा धृतराष्ट्र के पास अभी से किसी सुयोग्य व्यक्ति को दूत बनाकर भेजना बहुत ही जरूरी है। मेरी सभा के विद्वान् पुरोहित बड़े नीतिज्ञ ब्राह्मण हैं। आप चाहें तो उन्हें हस्तिनापुर भेज सकते हैं। दुर्योधन से क्या कुछ कहना होगा; भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोण आदि व्यक्तियों को कैसे मनवाना होगा, ये सब बातें उन ब्राह्मणों को समझाकर उन्हें हस्तिनापुर भेजा जा सकता है। मेरी यही सलाह है।"

राजा द्रुपद के कह चुकने के बाद श्रीकृष्ण उठे और बोले—

"सज्जनो ! पांचालराज ने जो सलाह दी है, वह बिल्कुल ठीक है। वह राजनीति के भी अनुकूल है और उसी पर अमल करना चाहिए। भैया बलरामजी और मुझपर कौरवों का जितना हक है, उतना ही पांडवों का भी है। हम यहां किसी का पक्षपात करने नहीं, बल्कि उत्तरा के विवाह में शामिल होने के लिए आये हैं। हम अब अपने-अपने स्थान पर वापस चले जायंगे। (द्रुपद की ओर देखकर) द्रुपदराज ! आप सभी राजाओं में श्रेष्ठ हैं, बुद्धि एवं आयु में भी बड़े हैं। हमारे लिए तो आप आचार्य के समान हैं। धृतराष्ट्र भी आपकी बड़ी इज्जत करते हैं। द्रोण और कृपाचार्य तो आपके लड़कपन के साथी हैं। इसलिए उचित तो यही होगा कि जो कुछ दूत को समझाना-बुझाना हो, वह आप ही समझा दें और उन्हें हस्तिनापुर भेज दें। यदि इसके बाद भी दुर्योधन न्यायोचित रूप से संधि के लिए तैयार न हो तो सब लोग सब तरह से तैयार हो जायं और हमें भी कहला भेजें।"

यह निश्चय हो जाने के बाद श्रीकृष्ण अपने साथियों-सहित द्वारका लौट गए। विराट, द्रुपद, युधिष्ठिर आदि युद्ध की तैयारियां करने में लग गए। चारों ओर दूत भेज दिये गए। सब मित्र राजाओं को सेना इकट्ठी करने का संदेशा भेज दिया गया। पांडवों के पक्ष के राजा लोग अपनी-अपनी सेना सज्जित करने लगे।

इधर तैयारियां होने लगीं, उधर दुर्योधन आदि भी चुपचाप बैठे नहीं रहे। वे भी युद्ध की तैयारियों में जी-जान से लग गए। उन्होंने अपने मित्रों के यहां दूतों द्वारा संदेश भेजे कि सेनाएं इकट्ठी की जायं। इस तरह सारा भारतवर्ष युद्ध के कोलाहल से गूंजने लगा। राजा लोग इधर से उधर और उधर से इधर दौरे करने लगे। सैनिकों के दल-के-दल जगह-जगह आने-जाने लगे। उनकी धमक से पृथ्वी कांपने लगी। उन दिनों भी युद्ध की तैयारियां आजकल की-सी हुआ करती थीं।

द्रुपदराज ने अपने पुरोहित को बुलाकर कहा—"विद्वानों में श्रेष्ठ! आप पांडवों की ओर से दूत बनकर दुर्योधन के पास जायं। पांडवों के गुणों से तो आप भली-भांति परिचित हैं। इसी प्रकार दुर्योधन के गुण भी आपसे छिपे नहीं हैं। यह भी आप जानते हैं कि धृतराष्ट्र की सम्मति से ही पांडवों को धोखा दिया गया। विदुर ने न्याय की बात कही तो जरूर, लेकिन धृतराष्ट्र ने उनकी सुनी नहीं। राजा धृतराष्ट्र पर दुर्योधन का असर ज्यादा है। आप धृतराष्ट्र को धर्म और नीति की बातें समझायें। विदुर तो हमारे ही पक्ष में रहेंगे। इस कारण संभव है, भीष्म, द्रोण, कृप आदि मंत्रियों और योद्धाओं (सेना-नायकों) में मतभेद हो जाने पर उनमें एकता होनी कठिन हो जाय। एकता अगर हुई भी तो इसमें काफी समय लग जायगा। इस अर्से में पांडव युद्ध की काफी तैयारी कर लेंगे। उधर जब तक आप हस्तिनापुर में संधि-चर्चा करते रहेंगे, तब तक उन लोगों की तैयारियां धीमी पड़ जायंगी। संधि की बातें करने का एक यह भी फायदा होगा। यदि शांति स्थापित हो गई तो भी वह हमारे लिए अच्छा ही होगा। यद्यपि मुझे ऐसी आशा नहीं है कि दुर्योधन समझौता करने पर राजी होगा। फिर भी समझौते की बात करने के लिए हमारे राजदूत का हस्तिनापुर जाना हमारे लिए लाभप्रद होगा।"

शांति की वास्तविक इच्छा रखते हुए समझौते का प्रयत्न करना, पर साथ ही युद्ध की भी तैयारियां करते रहना, उधर शत्रु के पक्ष के लोगों में शांति की बातचीत के ही द्वारा फूट डालने की कोशिश करना आदि, आजकल के कूटनीतिक तौर-तरीके उन दिनों भी प्रचलित थे।

: ५० :

पार्थ-सारथी

शांति-चर्चा के लिए हस्तिनापुर को दूत भेज देने के बाद पांडव और उनके मित्र राजागण जोरों से युद्ध की तैयारी में जुट गए। श्रीकृष्ण के पास स्वयं अर्जुन पहुंचा।

इधर दुर्योधन को भी इस बात की खबर मिल गई कि उत्तरा के विवाह से निवृत्त होकर श्रीकृष्ण द्वारका लौट गये हैं। सो वह भी द्वारका को रवाना हो गया। संयोग की बात है कि जिस दिन अर्जुन द्वारका पहुंचा, ठीक उसी दिन दुर्योधन भी वहां पहुंचा। कृष्ण के भवन में भी दोनों एक साथ ही प्रविष्ट हुए। श्रीकृष्ण उस समय आराम कर रहे थे। अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही उनके निकट के संबंधी थे, इसलिए दोनों ही उनके शयनगार में बेखटके चले गए। दुर्योधन आगे, अर्जुन जरा पीछे। कमरे में प्रवेश करके दुर्योधन श्रीकृष्ण के सिरहाने एक ऊंचे आसन पर जा बैठा। अर्जुन पीछे था, वह श्रीकृष्ण के पैताने ही हाथ जोड़े खड़ा रहा।

श्रीकृष्ण की नींद खुली तो सामने अर्जुन को खड़े देखा। उठकर उसका स्वागत किया और कुशल पूछी। बाद में घूमकर आसन पर बैठे दुर्योधन को देखा तो उसका भी स्वागत किया और कुशल-समाचार पूछे। उसके बाद दोनों से आने का कारण पूछा।

दुर्योधन जल्दी से पहले बोला—"श्रीकृष्ण, ऐसा मालूम होता है, कि हमारे और पांडवों के बीच जल्दी ही युद्ध छिड़ जाड़ेगा। यदि ऐसा हुआ तो मैं आपसे प्रार्थना करने आया हूं कि आप मेरी सहायता करें। इसमें शक नहीं कि पांडव और कौरव दोनों पर आप को एक-जैसा प्रेम है। यह भी ठीक है कि हम दोनों का आपसे सम्बन्ध है; पर मैं आप की सेवा में पहले पहुंचा हूं। महाजनों ने यह नियम बना दिया है कि जो पहले आये, उसका काम पहले हो। आप महाजनों में श्रेष्ठ हैं। आप सबके पथ-प्रदर्शक

हैं। अतः बड़ों की चलाई हुई प्रथा पर चलें और पहले मेरी सहायता करें।"

यह सुन श्रीकृष्ण बोले—"राजन्! यह हो सकता है कि आप पहले आये हों। पर मेरी निगाह तो कुन्ती-पुत्र अर्जुन पर ही पहले पड़ी। आप पहले पहुंचे जाकर, लेकिन मैंने तो अर्जुन को ही पहले देखा। मेरी निगाह में तो दोनों ही बराबर हैं। इसलिए कर्तव्य-भाव से मैं दोनों की ही समान रूप से सहायता करूंगा। पूर्वजों की चलाई हुई प्रथा यह है कि जो आयु में छोटा हो, उसीको पहले पुरस्कार देना चाहिए। अर्जुन आप से आयु में छोटा है, इसलिए पहले उससे ही पूछता हूं कि वह क्या चाहता है ?"

और अर्जुन की तरफ मुड़कर वह बोले—"पार्थ! सुनो! मेरे वंश के लोग नारायण कहलाते हैं। रण-कौशल में वे मुझसे कम नहीं हैं। वे बड़े साहसी और वीर भी हैं। उनकी एक भारी सेना इकट्ठी की जा सकती है। युद्ध के मैदान में तो उनके नजदीक कोई जा नहीं सकता। मेरी यह सेना एक तरफ होगी। दूसरी तरफ अकेला मैं रहूंगा। मेरी प्रतिज्ञा यह भी है कि युद्ध में मैं न हथियार उठाऊंगा, न लड़ूंगा। तुम भली-भांति सोच लो, तब निर्णय करो। इन दो में से जो पसन्द हो वह ले लो। बताओ, क्या चाहते हो तुम? मुझ अकेले निःशस्त्र को या मेरे वंशवालों की वीर नारायणी सेना को?"

बिना किसी हिचकिचाट के अर्जुन बोला—"भगवन्, आप शस्त्र उठावें या न उठावें, आप चाहें लड़ें या न लड़ें, मैं तो आप को ही चाहता हूं।"

दुर्योधन के आनन्द की सीमा न रही। वह सोचने लगा कि अर्जुन ने खूब धोखा खाया और श्रीकृष्ण की वह लाखों वीरोंवाली भारी-भरकम सेना सहज में ही उसके हाथ आ गई। यह सोचता और हर्ष से फूला न समाता दुर्योधन बलरामजी के यहां पहुंचा और उनको सारा हाल कह सुनाया। बलरामजी ने दुर्योधन की बातें ध्यान से सुनीं और बोले—दुर्योधन! मालूम होता है कि उत्तरा के विवाह के अवसर पर मैंने जो कुछ कहा था, उसकी खबर तुम्हें मिल गई। कृष्ण से भी मैंने कई बार

तुम्हारी बात छेड़ी और उसको समझाता रहा कि कौरव और पांडव दोनों ही हमारे बराबर के सम्बन्धी हैं। किन्तु कृष्ण मेरी सुने, तब न! मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं युद्ध में तटस्थ रहूंगा; क्योंकि जिधर कृष्ण न हो, उस तरफ मेरा रहना ठीक नहीं। अर्जुन की सहायता मैं करूंगा नहीं, इस कारण मैं अब तुम्हारी भी सहायता करने योग्य नहीं रहा। मेरा तटस्थ रहना ही ठीक होगा।

"दुर्योधन, तुम्हें किस बत की कमी है? तुम उस वंश के हो जिस की राजा लोग पूजा करते हैं। निराश कदापि न हो और जाकर क्षत्रियोचित ढंग से युद्ध करो।"

हस्तिनापुर को लौटते हुए दुर्योधन का दिल बल्लियों उछल रहा था। वह सोच रहा था कि अर्जुन बड़ा बुद्धू बना। द्वारका की इतनी बड़ी सेना अब मेरी हो गई और बलरामजी का स्नेह तो मुझपर है ही। श्रीकृष्ण भी निःशस्त्र और सेना-विहीन हो गए। यही सोचते-विचारते दुर्योधन खुशी-खुशी अपनी राजधानी में आ पहुंचा।

•

"सखा अर्जुन! एक बात बताओ। तुमने सेना-बल के बजाय मुझ निःशस्त्र को क्यों पसन्द किया?" कृष्ण ने पूछा।

अर्जुन बोला—भगवन्! बात यह है कि मैं भी वही यश प्राप्त करना चाहता हूं, जो आपको मिला है। आपमें वही शक्ति है कि जिससे आप अकेले ही इन तमाम राजाओं से लड़कर इन्हें कुचल सकते हैं। मुझमें भी इतनी ताकत है कि अकेले ही इन सबको हरा दूं। चिर-काल से मेरी यह इच्छा थी कि आपको सारथी बनाकर मैं अपने शौर्य से विजय प्राप्त करूं। मेरी वही इच्छा आज आपने पूरी कर दी।"

अर्जुन की बात सुनकर कृष्ण मुस्कराये और बोले—"अच्छा, यह बात है! मुझसे ही होड़ करने लगे! यह तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल ही है।" और श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बड़े प्रेम से विदा किया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने और पार्थ-सारथी की पदवी प्राप्त की।

: ५१ :

मामा विपक्ष में

मद्र-देश के राजा शल्य नकुल-सहदेव की मां माद्री के भाई थे। जब उन्हें यह खबर मिली कि पांडव उपप्लव्य के नगर में युद्ध की तैयारियां कर रहे हैं तो उन्होंने एक भारी सेना इकट्ठी की और उसे लेकर पांडवों की सहायता के लिए उपप्लव्य की ओर रवाना हो गए।

राजा शल्य की यह सेना बहुत बड़ी थी। उपप्लव्य की ओर जाते हुए रास्ते में जहां कहीं भी शल्य विश्राम करने के लिए डेरा डालते, तो उन की सेना का पड़ाव कोई डेढ़ योजन[1] तक लम्बा फैल जाता था।

जब दुर्योधन ने सुना कि राजा शल्य विशाल सेना लेकर पांडवों की सहायता के लिए जा रहे हैं तो उसने किसी प्रकार इस सेना को अपनी ओर कर लेने का तय कर लिया। अपने कुशल कर्मचारियों को उसने आज्ञा दी कि रास्ते में जहां कहीं भी राजा शल्य और उनकी सेना डेरा डाले, उसे हर तरह की सुविधा पहुंचाई जाय। इसके अनुसार रास्ते में जहां-तहां विशाल मंडप बनवाये गए। उन्हें खूब सजाया गया। जहां भी शल्य की सेना ठहरती, वहां मद्रराज और उनकी सेना का शानदार सत्कार किया जाता। मद्रराज तथा उनकी सेना के लिए तरह-तरह की खाने-पीने की चीजें एकत्र की गईं। साथ ही उनके जी बहलाने का प्रबंध किया गया। रास्ते भर इस प्रकार का सुन्दर सत्कार-प्रबन्ध देखकर शल्य बड़े प्रसन्न हुए। वह बड़ी भारी सेना लेकर जगह-जगह ठहरते और विश्राम करते हुए उपप्लव्य की ओर बढ़ते चले। मद्रराज की सेना इतना विशाल थी कि उसके इधर-उधर चलने से धरती डोलती थी। रास्ते भर शल्य यही सोचते रहे कि सत्कार के ये सब आयोजन मेरे भानजे युधिष्ठिर के किए हुए हैं। इससे युधिष्ठिर के प्रति उनके मन में बड़ा स्नेह हो गया। एक रोज शल्य ने सेना का स्वागत-सत्कार तथा उसकी देख-रेख करनेवाले कर्मचारियों से कहा कि हमारी सेना की और हमारी इतनी

[1] एक योजन करीब नौ मील का होता है।

अच्छी तरह खातिरदारी करने वाले लोगों को मैं उचित पुरस्कार देना चाहता हूं। कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर को मेरी तरफ से कहना कि वह इसके लिए बुरा न मानें और अपनी सम्मति दे दें।"

कर्मचारियों ने जाकर दुर्योधन को इस बात की खबर दी। वह तो इसी ताक में शल्य की सेना के साथ-साथ गुप्त रूप से चल ही रहा था। खबर पाकर बड़ा खुश हुआ और तुरन्त मद्रराज के पास जाकर प्रणाम किया और स्वागत-सत्कार का हाल सुनाया।

शल्य आश्चर्य-चकित रह गए। हमारे स्वागत-सत्कार का यह प्रबन्ध दुर्योधन ने करवाया है, जानकर वह बड़े असमंजस में पड़े। यह जानते हुए भी कि हम उसके विपक्ष में हैं, दुर्योधन में इतनी उदरता का होना सचमुच बड़ी बात है!

प्रसन्न होकर बोले—"राजन्! तुम्हारा यह ऋण मैं कैसे चुकाऊं?"

दुर्योधन ने कहा—"अपनी सेना-समेत आप मेरी सहायता करें और युद्ध शुरू होने पर मेरे पक्ष में रहकर आप पांडवों के विरुद्ध लड़ें। आपसे यही प्रत्युपकार चाहता हूं।"

यह सुनकर मद्रराज सन्न रह गए।

शल्य को असमंजस में पड़े देखकर दुर्योधन बोला—"आपके लिए जैसे पाण्डव, वैसे ही हम। हम दोनों का आपसे बराबर का नाता है। सो आप अपनी सेना लेकर मेरी तरफ से ही क्यों नहीं लड़ते?"

दुर्योधन के उपकार से शल्य कुछ दबे-से महसूस कर रहे थे। उन्होंने विवश होकर कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।"

शल्य पर दुर्योधन के आदर-सत्कार का कुछ ऐसा असर हुआ कि उन्होंने पुत्रों के समान प्यार करने योग्य अपने भानजों—पाण्डवों—को छोड़ दिया और दुर्योधन के पक्ष में रहकर युद्ध करने का वचन दे दिया।

मद्रराज ने दुर्योधन को वचन तो दे दिया; पर युधिष्ठिर से बिना मिले लौट जाना उन्हें उचित नहीं लगा। वह दुर्योधन से बोले—"राजन्, एक बात है। मैं तुम्हें वचन तो दे ही चुका हूं, पर जाने से पहले युधिष्ठिर से भी मिल लेना जरूरी समझता हूं। अतः अभी तो मुझे विदा दो।"

"जरूर मिलिये, पर वहां से शीघ्र ही लौट आइये। ऐसा न हो कि

वहां भानजों को देखकर जो वचन यहां दे चुके हैं, उसे आप भूल जायं !" दुर्योधन ने कहा।

"नहीं भाई, जो कह चुका हूं वह व्यर्थ न होगा। तुम निश्चित होकर अपने नगर लौट जाओ।" यह कहकर मद्रराज उपप्लव्य की ओर रवाना हुए।

उपप्लव्य में राजा शल्य का खूब स्वागत किया गया। मामा को आया देखकर नकुल और सहदेव के आनन्द की तो सीमा न रही। पांडवों ने अपने सब कष्टों का हाल मामा को कह सुनाया। जब भावी युद्ध की चर्चा छिड़ी तो शल्य ने युधिष्ठिर को बताया कि किस प्रकार दुर्योधन ने धोखा देकर उनको अपने पक्ष में कर लिया है।

युधिष्ठिर ने मन में सोचा कि अपने निकट के रिश्तेदार समझकर इनकी ओर से हम लापरवाह रहे और इनकी कोई खबर नहीं ली, इसीका यह परिणाम है। पर उन्होंने अपना दुःख प्रकट नहीं किया। बोले—"मामाजी ! दुर्योधन के स्वागत-सत्कार से प्रसन्न होकर आपने जो वचन दिया उसे तो पूरा करना ही उचित होगा। पर मैं एक बात आपसे अवश्य पूछना चाहता हूं। आप युद्ध-कुशलता में वासुदेव के समान हैं। मौका आने पर निश्चय ही महाबली कर्ण आपको अपना सारथी बनाकर अर्जुन का वध करने का प्रयत्न करेगा। मैं यह जानना चाहता हूं कि उस समय आप अर्जुन की मृत्यु का कारण बनेंगे या अर्जुन की रक्षा का प्रयत्न करेंगे ? मैं यह पूछकर आपको असमंजस में नहीं डालना चाहता था, पर फिर भी पूछने को मन हो गया।"

मद्रराज ने कहा—"बेटा युधिष्ठिर, मैं धोखे में आकर दुर्योधन को वचन दे बैठा। इसलिए युद्ध तो मुझे उसकी ओर से ही करना होगा। पर एक बात बताये देता हूं। वह यह कि यदि कर्ण मुझे सारथी बनायेगा तो मेरे कारण उसका तेज नष्ट होगा और अर्जुन के प्राणों की रक्षा होगी। किसी प्रकार का भय न करो। जुए के खेल में फंसकर द्रौपदी और तुम लोगों को जो कष्ट झेलने पड़े, उनका अब अन्त आया समझो। तुम्हारा अब कल्याण ही है। विधि की गति को कोई नहीं टाल सकता। इस समय की मेरी भूल को क्षमा कर देना !"

: ५२ :

देवराज की भूल

एक बार देवराज इन्द्र अपनी राज-सत्ता के गर्व में आकर मदांध हो गए। उन्हें देवोचित मर्यादा का भी ध्यान न रहा। कहीं से सुन लिया कि सिंहासन पर बैठे हुए राजा के लिए यह आवश्यक नहीं कि किसी का आदर करने के लिए आसन से उठा जाय। इसी को देवराज इन्द्र ने शास्त्र मान लिया। एक बार आचार्य बृहस्पति सभा में पधारे, पर देवराज अपनी उक्त धारणा के फलस्वरूप न तो आसान से उठे, न अर्घ्य-पाद्य-आसन आदि ही देकर देवगुरु का समुचित सत्कार किया। देवराज बृहस्पति, जो सभी विद्याओं में पारंगत थे और और जिनकी न केवल देवता बल्कि असुर भी पूजा किया करते थे, देवराज की यह अशिष्टता देखकर बड़े खिन्न हुए। फिर भी यह सोचकर कि ऐश्वर्य के मद के कारण ही इन्द्र से यह भूल हुई है, वह चुपचाप इन्द्रसभा छोड़कर अपने घर चले गए। देवगुरु के बिना इन्द्र की सभा श्री-विहीन हो गई।

इन्द्र को जब अपनी भूल मालूम हुई तो उनका कलेजा धड़कने लगा उन्हें भय हुआ कि कहीं कोई अनर्थ न हो जाय। उन्होंने आचार्य के पैरों में गिरकर क्षमा मांगने का निश्चय किया।

लेकिन आचार्य का तो कहीं पता नहीं था। उन्होंने अदृश्य रूप ले लिया और इन्द्र के बहुत खोजने पर भी उनका कहीं पता न चला। इससे देवराज बड़े उदास हो गए और अनर्थ की भावी आशंका मानो उन्हें खाने लगी।

इधर बृहस्पति के चले जाने के बाद ही देवताओं की शक्ति घटने लग गई। ज्यों-ज्यों देवताओं की शक्ति घटती गई, त्यों-त्यों असुरों की शक्ति बढ़ती गई और मौका देख असुरों ने देवताओं पर धावा बोल दिया। देवताओं की असुरों के हाथ दुर्गति हुई। यह देखकर ब्रह्मा दुःखी हुए। उनके हृदय में चोट लगी।

बोले—"देवगण ! इन्द्र की नासमझी के कारण तुम लोग आचार्य

बृहस्पति को गंवा बैठे। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप बड़े तपस्वी हैं। अब तुम उनके पास जाओ और उनसे आचार्य बनने की प्रार्थना करो। तब तुम्हारा काम ठीक होगा।

यह सुन देवता बड़े खुश हुए और और ब्रह्मदेव के कहे अनुसार त्वष्टा के यहां गए। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप यद्यपि उम्र में छोटे थे, फिर भी महान् तपस्वी थे। देवताओं ने जाकर उनसे निवेदन किया—"आप अल्पवयस्क होने पर भी सभी वेदादि शास्त्रों में पारंगत हैं। कृपा करके हमारे आचार्य बन जायं।" विश्वरूप ने देवताओं की बात मान ली।

तपस्वी और विरुद्ध आचरण वाले विश्वरूप से शिक्षा पाकर देवताओं की शक्ति बढ़ गई और वे असुरों के त्रास से बच गए।

विश्वरूप थे तो त्वष्टा के पुत्र; परन्तु उनकी माता असुर-कुल की थीं—देव-कुल की नहीं। इस कारण इन्द्र के मन में विश्वरूप के प्रति शंका पैदा हो गई। वह सोचने लगे कि जब इनकी माता असुर-कुल की है तो कहीं ये असुरों के पक्ष में न हो जायं। देवराज की यह शंका दिन-पर-दिन बढ़ती गई और वह यहां तक सोचने लगे कि उनके कारण मुझपर कोई विपद न आ जाय, इस विचार से देवराज ने तपस्वी विश्वरूप को धोखा देकर उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए अप्सराएं भेजनी शुरू कीं। इन्द्र की आज्ञा पाकर अप्सराएं विश्वरूप के सामने जाकर नाचने लगीं और वासना को उकसाने वाले हाव-भाव दिखाकर उनको मोह-जाल में फंसाने की चेष्टा करने लगीं; किन्तु विश्वरूप इन बातों से ज़रा भी प्रभावित न हुए। वह अपने ब्रह्मचर्यव्रत पर अटल रहे।

जब देवराज ने ऐसी चालों से काम न बनते देखा तो घोर पाप करने पर उतारू हो गए। उन्होंने तपस्वी विश्वरूप पर वज्र-प्रहार करके उन्हें मार डाला; पर इससे उनको ब्रह्म-हत्या का महान् पातक लगा। यह पाप-पंक किसी प्रकार धोये न धुला। तब इन्द्र ने अपने पाप का प्रायश्चित किया और अपना वह पाप सारे संसार को बांट दिया। कहा जाता है कि इन्द्र के इसी पाप के कारण धरती के कुछ हिस्से खारे हो गए हैं और स्त्रियों को कुछ ऐसे शारीरिक कष्ट सहने पड़ते हैं, जो पुरुषों

को नहीं सहने पड़ते। जल के फेन और बुलबुले भी इसी पाप के परिणाम कहे जाते हैं।

जब त्वष्टा को मालूम हुआ कि इन्द्र ने उनके पुत्र की हत्या कर दी तो उन्हें इन्द्र पर असीम क्रोध हुआ। उन्होंने इन्द्र से बदला लेने की ठानी और इस कामना से होमाग्नि में मंत्र पढ़कर आहुति दी। इस होमाग्नि से वृत्रासुर नाम का एक दैत्य निकला, जो आगे चलकर इन्द्र का शत्रु बना। आग से उत्पन्न होते हुए वृत्रासुर को पुकारकर त्वष्टा ने कहा—"हे इन्द्ररिपु! तुम आगे बढ़ो और मेरी कामना है कि तुम्हारे हाथों पापी इन्द्र का वध हो।"

त्वष्टा के आदेशानुसार वृत्रासुर इन्द्र को मारने निकल पड़ा। वृत्रासुर और इन्द्र में भारी युद्ध हुआ। वृत्रासुर का पलड़ा भारी हो रहा था। ऋषि-मुनियों को भारी भय हुआ कि कहीं इन्द्र की पराजय न हो जाय। उन्होंने भगवान् विष्णु की शरण ली। उनको अभय देकर भगवान् बोले—"डरो मत। इन्द्र के वज्र में मैं प्रवेश करूंगा जिससे अन्त में देवराज की जीत होगी।"

ऋषि-मुनि तथा देवता भगवान् विष्णु से अभय प्राप्त करके वृत्रासुर के पास गए और बोले—"वृत्र! तुम इन्द्र से मित्रता कर लो। तुम दोनों समान बलशाली हो। तुम दोनों के इस युद्ध के कारण संसार को बहुत पीड़ा पहुंच रही है। लोग बहुत तंग आ गए हैं।"

"निर्दोष तपस्वियो! आप क्षमा कीजिए। इन्द्र में और मुझमें एकता कैसे हो सकती है? समान तेजवालों में कभी मित्रता होते आपने देखी है?" वृत्र ने नम्रता से कहा।

"तुम इस बात में सन्देह न करो। सज्जनों की मित्रता सदा स्थिर ही हुआ करती है—चंचल नहीं।" ऋषियों ने वृत्र को समझाया।

वृत्र ने मान लिया। वह बोला—"आप लोगों की इच्छा पूर्ण हो। मैं युद्ध बन्द किये देता हूं। किन्तु एक बात है। इन्द्र का मुझे कोई भरोसा नहीं है। धोखा देकर कहीं वह मुझ पर घात कर बैठे तो? अतः आप मुझे यह वरदान दें कि इन्द्र द्वारा मैं पत्थर, काठ या धातु के बने किन्हीं शुष्क या गीले हथियारों से या बाण से न मारा जाऊं। मैं न दिन में और

न रात में ही मारा जाऊं। इतना आप करेंगे तो कृपा होगी।"

ऋषियों ने 'तथास्तु' कहकर वरदान दिया और विदा हुए। वृत्रासुर का भय ठीक ही निकला। इन्द्र की मित्रता झूठी और दिखावटी साबित हुई। मित्रता करना दूर, देवराज तो वृत्र को मारने की ही ताक में थे। एक दिन संध्या के समय समुद्र के किनारे इन्द्र की वृत्र के साथ भेंट हो गई। देवराज ने सोचा कि असुर को मारने का यही ठीक समय है। इस समय न तो दिन है, न रात। इस सुअवसर से लाभ उठा लूं। यह सोचकर इन्द्र ने वृत्रासुर पर आक्रमण किया। दोनों में काफी देर तक युद्ध होता रहा, पर हार-जीत का निर्णय न हो सका। अन्त में वृत्र ने कहा—"अरे अधम! अपने उस वज्र का मुझपर प्रहार क्यों नहीं करता जिसका वार कभी खाली नहीं जाता? सुना है, तेरे उस शस्त्र में स्वयं हरि ने प्रवेश किया है। उसी का वार कर न, जिससे मैं सद्गति को तो प्राप्त करूं।" यह कहकर वृत्र ने हरि का ध्यान किया और स्तुति करने लगा।

हरि का ध्यान करते हुए वृत्र पर देवराज ने अपने वज्र से प्रहार किया और उसका दाहिना हाथ काट दिया। किन्तु वृत्रासुर इससे विचलित न हुआ। अधिक उत्साह के साथ बायें हाथ में एक मूसल लेकर उसने इन्द्र पर आघात किया। तब इन्द्र ने उसका बायां हाथ भी काट डाला। दोनों हाथों के कट जाने पर वृत्र ने मुंह खोलकर इन्द्र को एकदम निगल लिया। यह देख देवता लोग चौंक पड़े और शोर मचाने लगे।

परन्तु इन्द्र मरे नहीं। वृत्र का पेट चीरकर बाहर निकल आये। उन्होंने मंत्र पढ़कर समुद्र के फेन में ही वज्र का आह्वान किया और वही फेन वृत्रासुर पर चला दिया। ठीक उसी समय भगवान् विष्णु ने उस फेन में प्रवेश किया और वृत्रासुर मृत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सारा संसार, जो इस लगातार होनेवाले युद्ध से पीड़ित था, वृत्रासुर के मारे जाने से बड़ा खुश हुआ। पर इन्द्र के मन में शान्ति नहीं थी। एक तो ब्रह्म-हत्या का पाप उनपर पहले से ही था, दूसरे प्रतिज्ञा-भंग करके वृत्र को जो मारा, उससे भी वह तेज-विहीन हो गए थे। अपमान

एवं पाप का बोझ उनके लिए असह्य हो उठा। वह बहुत लज्जा अनुभव करने लगे और किसी को मुंह दिखाने योग्य न रहे। इस कारण अदृश्य होकर छिपे-छिपे रहने लगे।

राजा के बिना प्रजा नहीं रह सकती। राजा से मतलब किसी एक व्यक्ति-विशेष से नहीं होता, बल्कि किसी भी राजवंश या राज-काज करनेवाली संस्था से भी हो सकता है। देवराज के अदृश्य हो जाने से देवता और ऋषि-मुनि बहुत उदास हो गए।

मर्त्यलोक के राजा नहुष बड़े प्रतापी, रण-कुशल और शीलवान् थे। देवताओं और ऋषियों ने उन्हीं के पास जाकर प्रार्थना की कि इस समय आप इन्द्र का पद स्वीकार करें और हमारे अधीश बन जायं।

नहुष स्वभाव के बड़े नम्र थे। ऋषियों और देवताओं की प्रार्थना सुनकर बोले—"मुझमें इतनी सामर्थ्य कहां कि मैं आप लोगों की रक्षा कर सकूं। मेरी और इन्द्र की तुलना ही क्या!"

पर देवताओं ने आग्रह करके कहा—"हमारी तपस्या का सारा फल आपको प्राप्त हो जायगा। इसके साथ ही, जिस पर भी आपकी दृष्टि पड़ेगी, उसी का तेज आपको मिल जायगा। इससे आप बड़े शक्ति-संपन्न हो जायंगे। आप स्वर्ग में पधारिये और देवराज के पद को सुशोभित कीजिए।"

इस पर राजा नहुष ने ऋषियों और देवताओं की आज्ञा स्वीकार कर ली।

तात्पर्य यह कि क्रान्ति कोई नई बात नहीं है। इस पौराणिक आख्यान में यह बताया गया है कि देवलोक में भी क्रान्ति हुई और देवताओं ने इन्द्र को सिंहासन-च्युत करके नहुष को देवराज बना दिया।

: ५३ :

नहुष

ब्रह्महत्या के दोष से पीड़ित होकर पदच्युत होने के बाद इन्द्र कहीं जाकर छिपे रहे और देवराज के पद पर महाराज नहुष सुशोभित हुए।

शुरू-शुरू में देवताओं में नहुष का बड़ा मान था। मर्त्यलोक में राजा रहते समय उन्होंने जो यश और पुण्य कमाया था, उससे उनकी बुद्धि स्थिर रहा करती थी और वह पाप-कर्मों से बचे रहे। इसके बाद उनके बुरे दिन प्रारम्भ हो गए। उनकी नम्रता और सच्चरित्रता जाती रही। इन्द्र के पद को प्राप्त करने से वह मदान्ध हो गए।

स्वर्गलोक में सुख-भोग ही प्रधान होता है। अतः देवेन्द्र नहुष भोग-विलास में लगे रहे। उनके मन में काम-वासना का निवास हो गया। बुद्धि ठिकाने न रही।

एक दिन दुष्ट-बुद्धि नहुष ने सभासदों को आज्ञा देकर कहा—"क्या कारण है कि देवराज की रानी शची मेरे पास अभी तक नहीं आई? जब इन्द्र मैं हूं तो शची को मेरे भवन में आना चाहिए।"

इन्द्र-पत्नी ने जब यह बात सुनी, तो उन्हें असीम दुःख और क्रोध हुआ। तत्काल ही वह देवगुरु बृहस्पति के पास गईं और विलाप करने लगीं—"आचार्य देव, इस पापी से मेरी रक्षा करें!"

गुरु बृहस्पति ने इन्द्राणी को अभय देकर कहा—"पुत्री! भय न करो। शीघ्र ही इन्द्र वापस आयंगे। उन्हें तुम फिर से प्राप्त करोगी। चिन्ता न करो।"

नहुष को जब यह बात मालूम हुई कि इन्द्राणी मेरी इच्छा पूरी करने को राजी नहीं है, बल्कि जाकर उसने देवगुरु की शरण ली है, तो नहुष के क्रोध का ठिकाना न रहा।

नहुष को क्रोध के मारे आपे से बाहर होते देख देवता बहुत डरे। वे बोले—"देवराज, आप क्रोध न करें। आप नाराज हो जायंगे तो सारे विश्व को पीड़ा पहुंचेगी। आखिर शचीदेवी पराई स्त्री हैं। उन्हें पाने की आप अभिलाषा न करें। आप धर्म की रक्षा करें।"

पर कामांध नहुष ने देवों की बात पर ध्यान नहीं दिया। देवता बोल ही रहे थे कि नहुष बात काटकर बोला—"अच्छा! आपको अब धर्म की बातें सूझने लगी हैं। उन दिनों जब इन्द्र ने गौतम-पत्नी अहल्या का सतीत्व नष्ट किया था तब आपका धर्म कहां गया था? उस समय आपने इन्द्र को कुमार्ग से क्यों नहीं रोका? तपस्या करते समय आचार्य

विश्वरूप की जब इन्द्र ने हत्या की थी तब आप लोग क्या करते थे? वृत्र को जब इन्द्र ने धोखे से मारा था, तब आप लोगों ने उसे क्यों क्षमा कर दिया? मैं कहता हूं कि शचीदेवी के लिए यही श्रेयस्कर होगा कि अब वह मेरे पास आजाय। और आप लोगों की भी भलाई इसीमें है कि उसको किसी प्रकार समझाकर मेरे हवाले करें।"

नहुष के क्रोध से देवता डर गये। उन्हें भय हुआ कि वह कहीं कोई अनर्थ न कर बैठें। उन्होंने आपस में सलाह करके तय किया कि इन्द्र-पत्नी को समझा-बुझाकर किसी तरह नहुष की इच्छानुकूल करने को कहें। यह विचारकर सभी देवता इकट्ठे होकर इन्द्राणी के पास पहुंचे। उन्होंने इन्द्र-पत्नी को नहुष की कीर्ति और तेज आदि के बारे में समझाकर आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि वह देवराज की इच्छा पूरी करने में आनाकानी न करें। सती शचीदेवी यह सुनकर भय व क्रोध से कांप उठीं। वह फिर बृहस्पति के पास दौड़ी गईं और हाहाकार करके बोली—"मुझसे यह हो नहीं सकता। हे ब्राह्मणोत्तम! मैं इस समय आप ही की शरण में हूं। इस विपत्ति से मेरी रक्षा करें।"

बृहस्पति ने शची को धीरज देते हुए कहा—"दीन-शरणागत को शत्रु के हाथों सौंपनेवाले—दगा करनेवाले—का निश्चय ही नाश हो जायगा। उसके बोये हुए बीज भी उग नहीं सकेंगे। सड़कर मिट जायंगे। निश्चय रखो कि मैं तुम्हारा साथ कभी नहीं छोड़ूंगा। डरो नहीं। नहुष का सर्व-नाश निकट ही है। समय के फेर से जो संकट पहुंचता है, वह समय के बीत जाने से दूर भी हो जाता है।"

बृहस्पति ने संकट से बचने का जो मार्ग शची को बताया वह प्रखर-बुद्धि इन्द्राणी की समझ में तुरन्त आ गया। उसे धीरज बंधा और वह बेधड़क नहुष के पास चली गई।

इन्द्र-पद के घमंड और काम-वासना के कारण नहुष की बुद्धि ठिकाने नहीं थी। इन्द्राणी को देखते ही वह हर्ष से फूला न समाया। उसने सोचा कि इन्द्राणी अब मेरी इच्छा पूरी करने के लिए ही आई है। वह मेरी ही बन गई है। अतः प्रेमभरे शब्दों में वह शची से बोला—

"हे सुन्दरी! आज तो तीनों लोकों का मैं ही स्वामी हूं, मैं ही

न्यायकर्त्ता हूं। अतः तुम्हें पाप का भय नहीं होना चाहिए। तुम मेरा पत्नी बन जाओ।"

दुष्ट नहुष की बातें सुनकर सती इन्द्राणी कांप उठी। फिर भी उसने अपने-आपको संभाल लिया और बोली—"देवराज! धीरज धरिये! आखिर मुझे आपकी ही तो होना है। पर फिर भी इस बात का पता और लगा लेना चाहिए कि इन्द्र अभी जीवित हैं या नहीं। और अगर जीवित हैं तो कहां हैं? इधर-उधर उनकी जांच-पड़ताल कर लेनी चाहिए। इसके बाद अगर वह न मिलें तो फिर मैं निःशंक होकर आपके पास चली आऊंगी। तब मुझे कोई पाप नहीं लग सकता। आशा है; मेरी इस प्रार्थना को मानने में आपको कोई आपत्ति न होगी।"

यह सुनकर नहुष बहुत खुश हुआ। बोला—

"तुम्हारा कहना ठीक है। इन्द्र की खोज करा लेना उचित होगा। उसका पता लगाकर जरूर मेरे पास आ जाना। देखो, मुझे जो वचन दे चुकी हो, उसे तोड़ना मत।"

इस प्रकार नहुष को राजी करके शची बृहस्पति के पास लौट आई।

उधर देवताओं ने भगवान् विष्णु के पास जाकर विनती की—"जगन्नाथ! आपके ही तेज से वृत्रासुर का संहार हुआ था; किन्तु इन्द्र को ब्रह्म-हत्या का जो पाप लगा है उससे पीड़ित होकर तथा लोक-निन्दा के डर से वह कहीं छिपे हुए हैं। आप ही कोई ऐसा रास्ता बतावें कि जिससे इन्द्र पाप से विमुक्त हो सकें और दुष्ट नहुष से इन्द्र-पत्नी की रक्षा हो।"

भगवान् विष्णु बोले—"इन्द्र को चाहिए कि वह मेरी आराधना करे। मेरी भक्ति करने से उसके हृदय का कलंक धुल जायगा और कामांध नहुष का भी नाश होगा।"

उधर इन्द्राणी ने सती की पूजा करके उनके अनुग्रह से इन्द्र के निवास-स्थान का पता लगा लिया और वहां जा पहुंची। इन्द्र ने अपना परमाणु जितना छोटा रूप बना लिया था और मानसरोवर के एक कमल की नाल के रेशे से चिपके हुए तपस्या व भगवान की प्रार्थना

करते हुए प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब मेरे पाप धुलकर भाग्य जागेंगे। पति की यह दशा देखकर सती शची से न रहा गया। वह शोक-विह्वल होकर रो पड़ी। रोते-रोते इन्द्र को अपनी कष्ट-कथा भी कह सुनाई।

इन्द्र ने शची को ढाढ़स देते हुए कहा—"प्रिये! धीरज रखो। नहुष घोर पाप करने पर उतारू हो गया है। नहुष के अधःपतन का समय अब दूर नहीं है। तुम एक काम करो। उसके पास अकेली ही चली जाओ और यह दिखाओ कि उसकी इच्छा पूरी करने को तुम राजी हो। लेकिन नहुष से यह कहना कि वह पालकी में बैठकर तुम्हारे महल में आवे और सातों ऋषि (सप्तर्षि) उसकी पालकी उठाकर चलें। इससे नहुष का सर्वनाश हो जायगा।"

पति की बात मानकर शची सीधी नहुष के पास गई। उसे देखकर नहुष बड़ा खुश हुआ। सोचा कि इन्द्राणी बात की पक्की है। बोला—"हे मंगलकारिणी शची, मैं तुमसे बहुत खुश हूं। तुम्हारी जो भी अभिलाषा हो, मैं उसे पूरा करने को तैयार हूं। तुमने अपने वचन का पालन किया और समय पाकर आगईं, इससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं।"

"आपकी प्रसन्नता को मैं अपना अहोभाग्य समझती हूं। आप तो सारे जगत् के अधीश्वर हैं—आप ही मेरे भावी पति हैं। इस कारण मैं आपकी इच्छा पूरी करूं, उससे पहले आप मेरी एक इच्छा पूरी करने की कृपा करें। आप मेरे यहां एक भव्य वाहन पर सवार होकर पधारें। वह वाहन ऐसा हो जो भगवान विष्णु, रुद्र या और किसी देव या असुर को भी दुर्लभ हो। मेरी इच्छा है कि उस यान को सप्तर्षि उठाकर चलें। तब मैं आगे बढ़कर आपका स्वागत करूंगी और आपकी हो जाऊंगी।"

"सुन्दरी! बलिहारी है तुम्हारी कामना की। जिस वाहन की तुम्हारी इच्छा है, वही मुझे भी पसंद है। फिर मुझे यह भी वर प्राप्त है कि जिसे देखूं, उसी का तेज मुझमें आ जाय। तो यह भी बहुत सूझ की बात है कि सातों ऋषि मेरी पालकी वहन करें। जाओ! तुम्हारी इच्छा जरूर पूरी होगी।" कामोन्मत्त नहुष बोला।

शची के अपने भवन में चले जाने के बाद नहुष ने सातों ऋषियों

को बुला भेजा और आज्ञा दी कि उसकी पालकी उठाकर उसे शची के महल को ले चलें। ऋषियों ने लाचार होकर आज्ञा मान ली। ऋषियों का यह घोर अपमान देखकर तीनों लोक अज्ञात भय से कांप उठे।

नहुष की पालकी को उठाये हुए ऋषि ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों नहुष के पाप का बोझ भी बढ़ता जाता था। नहुष के मन में तो शची की सुन्दर मूर्ति अंकित थी और उसके मिलने की कल्पना से ही वह उतावला हो उठा था। जितनी जल्दी हो सके, उस सुन्दरी को प्राप्त करने की उसकी उत्कंठा बलवती हो गई। वह बार-बार ऋषियों को डांटकर कहने लगा कि चल्दी चलो, और जल्दी चलो! अगस्त्य मुनि को, जो पालकी उठानेवालों में से थे, उसने लात मारकर डांटते हुए कहा—"सर्प! सर्प!!"[1]

आजकल 'रिक्शा' चलानेवालों को रिक्शा पर बैठे लोग 'चलो! ज़रा जल्दी चलो!!' कहकर तेजी से चलने को कहते हैं। कुछ इसी प्रकार का दृश्य उस समय भी हुआ होगा।

महर्षि अगस्त्य को जब नहुष ने लात मारकर डांटा तो उसके पाप का घड़ा लबालब भर चुका था। इस व्यवहार से अगस्त्य मुनि क्रुद्ध हुए और बोले—

"अधम! अभी स्वर्ग से तेरा पतन हो। तूने ऋषियों को 'सर्प! सर्प!' कहकर पुकारा है, इसलिए तू सर्प (अजगर) का ही जन्म लेकर मर्त्यलोक में पड़ा रह।"

अगस्त्य का इस प्रकार शाप देना था कि नहुष पालकी से नीचे औंधे मुंह गिर पड़ा और अजगर का शरीर लेकर पृथ्वी में बहुत काल तक जीता रहा और शाप से छुटकारा पाने की राह देखता रहा।

इंद्र फिर से देवराज के पद पर सुशोभित हुआ और शचीदेवी का मन शान्त हो गया।

•

उपप्लव्य में महाराज युधिष्ठिर और द्रौपदी को यह कथा सुनाकर

[1] "सर्प! सर्प!!" का अर्थ होता है—"चलो, चलो!!"

मद्रराज शल्य ने उनको दिलासा दिया और कहा—

"जीत उन्हींकी होती है, जो धीरज से काम लेते हैं। ऐश्वर्य के घमंड में मदांध होनेवालों का नाश भी निश्चय ही हुआ करता है। युधिष्ठिर! तुमने अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ ठीक उसी प्रकार कष्ट उठाये जैसे इन्द्र और शची ने उठाये थे। शीघ्र ही तुम इन सभी कष्टों से छूट जाओगे और राज्य-सुख भी भोगोगे। कर्ण और दुर्योधन की बुद्धि फिर गई है। अपनी दुष्टता के फलस्वरूप निश्चय ही उनका सर्वनाश होकर रहेगा, जैसे नहुष का हुआ।"

: ५४ :

राजदूत संजय

उपप्लव्य नगर में रहते हुए पांडवों ने अपने मित्र-राजाओं को दूतों द्वारा संदेश भेजकर कोई सात अक्षौहिणी सेना एकत्र की। उधर कौरवों ने भी अपने मित्रों द्वारा काफी बड़ी सेना इकट्ठी करली, जो ग्यारह अक्षौहिणी तक हो गई थी।

आजकल के सेना-विभाग में जैसे विभिन्न दलों को मिलाकर एक डिवीजन बनता है, वैसे ही उन दिनों कई विभाग मिलाकर एक अक्षौहिणी बनती थी। उन दिनों की फौजी रीति यह थी कि एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े और पांच पैदल सिपाहियों के हिसाब से सेना इकट्ठी की जाय। एक अक्षौहिणी में २१,९८० रथ होते थे और हाथी, घोड़े, पैदल, आदि की संख्या उसी हिसाब से होती थी। साथ ही हर तरह के युद्ध के सामान और हथियार भी इकट्ठे हुआ करते थे। आजकल आर्मर्ड कार (बख्तरबन्द गाड़ियां) जो काम देती हैं वही काम उन दिनों रथों से लिया जाता था। आजकल की लड़ाइयों में 'टैंकों' का जो स्थान है, वही उन दिनों हाथियों को प्राप्त था।

पांचाल नरेश के पुरोहित, जो युधिष्ठिर की ओर से राजदूत बनकर हस्तिनापुर गए थे, नियत समय पर धृतराष्ट्र की राज-सभा में पहुंचे। यथाविधि कुशल-समाचार पूछने के बाद पांडवों की ओर से संधि का

प्रस्ताव करते हुए वह बोले—

"अनादि-काल से जो धर्म-तत्त्व प्रचलित रहा है, वह आपको विदित ही है। राजकुल का यह धर्म रहा है कि पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों का अधिकार होता है। जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्र महाराज विचित्रवीर्य के पुत्र हैं, उसी प्रकार महाराज पांडु भी थे। अतः उनकी पैतृक सम्पत्ति पर भी दोनों का समान अधिकार होना चाहिए। लेकिन यह कहां का न्याय है कि धृतराष्ट्र के पुत्र संपूर्ण राज्य के स्वामी हो जायं और पांडु-पुत्र राज्य से वंचित रहें? कुरुवंश के वीर पांडवों को जो कुछ कष्ट उठाना पड़ा, उस सबको वह भूल गए हैं और अब शांति की इच्छा रखते हुए संधि की प्रार्थना करते हैं। उनका विचार है कि युद्ध से संसार का नाश ही होगा और इसी कारण वे युद्ध से घृणा करते हैं—वे लड़ना नहीं चाहते। इसलिए न्याय तथा पहले समझौते के अनुसार यही उचित होगा कि आप उनका हिस्सा उन्हें दे देने की कृपा करें। इसमें विलंब न कीजिए।"

यह सुन विवेकशील और महारथी भीष्म बोले—

"ईश्वर की कृपा से पांडव कुशल से हैं। कितने ही राजा उनकी सहायता करने को तैयार हैं। इतने शक्ति-सम्पन्न होने पर भी वे युद्ध की चाह नहीं रखते, संधि ही चाहते हैं; इसलिए यही न्यायोचित है कि उन्हें उनका राज्य वापस दे दिया जाय।"

भीष्म की बात कर्ण को अप्रिय लगी। वह बड़े क्रोध के साथ भीष्म की बात काटकर दूत की ओर देखता हुआ बोल उठा—"ब्राह्मण-श्रेष्ठ, आपकी बातों में कोई नई दलील तो है नहीं। आप तो वही पुरानी राम-कहानी सुना रहे हैं। इससे क्या लाभ? युधिष्ठिर अपने राज्य को जुए में हार चुके। अब उसे वापस मांगने का उन्हें अधिकार ही क्या रहा? लेकिन शायद युधिष्ठिर इस धौंस से राज्य वापस कर देने की मांग कर रहे होंगे कि मत्स्यराज एवं पांचालराज की सेनाएं उनकी तरफ हैं। परन्तु युधिष्ठिर की यह भारी भूल है। यह बात आप साफ समझ लें कि धमकी देकर दुर्योधन से कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता और फिर तेरहवां बरस पूरा होने से पहले ही उन्होंने प्रतिज्ञा-

भंग करके अपने आपको प्रकट कर दिया है। इसलिए शर्त के अनुसार उनको फिर बारह बरस के लिए वनवास भोगना पड़ेगा।"

कर्ण के इस प्रकार बीच में उनकी बात काटकर बोलने से भीष्म को बड़ा क्रोध आया। वह बोले—"राधा-पुत्र! तुम बेकार की बातें कर रहे हो। यदि हम युधिष्ठिर के दूत के कहे अनुसार संधि न करेंगे तो निश्चय ही युद्ध छिड़ जायगा और उसमें दुर्योधन आदि सबको पराजित होकर मृत्यु के मुंह में जाना पड़ेगा।"

भीष्म की बातों से सभा में खलबली मचते देखकर धृतराष्ट्र बोले—"पांडवों की ही नहीं, बल्कि सारे संसार की भलाई को ध्यान में रखकर मैंने यह निश्चय किया कि अपनी तरफ से संजय को दूत बनाकर पांडवों के पास भेजा जाय। हे द्विजश्रेष्ठ, आप जाकर युधिष्ठिर को इस बात की सूचना देने की कृपा करें।"

फिर धृतराष्ट्र ने संजय को बुलाकर यहा—"संजय, तुम पाण्डु-पुत्रों के पास जाओ और मेरी तरफ से उनकी कुशल पूछो। फिर वहां श्रीकृष्ण, सात्यकि, विराट आदि राजाओं से भी कहना कि मैंने सप्रेम उन सबकी कुशल पूछी है। वहां जितने राजा उपस्थित हैं, उन सबको शांति से समझाकर कहना कि धृतराष्ट्र ने उन सबको सविनय नमस्कार कहा है। ऐसी बातें करना जो किसीको बुरी न लगें या कोई नाराज हो जाय। इस तरह तुम वहां जाकर मेरी ओर से युद्ध न होने की, शांति की, चेष्टा करो।"

संजय उपप्लव्य को रवाना हो गए। वहां पहुंचकर युधिष्ठिर की सभा में सबको विधिवत् प्रणाम करके बोले—

"धर्मराज! मेरे अहोभाग्य कि मुझे फिर आपके दर्शन हुए। राजा लोगों से घिरे हुए आप ऐसे ही प्रतीत हो रहे हैं जैसे देवराज इंद्र। यह देखकर मेरा मन बड़ा प्रसन्न हो रहा है; मुझे असीम आनन्द का अनुभव हो रहा है। महाराज धृतराष्ट्र ने आपकी कुशल पूछी है और कहा है कि वह युद्ध की बात नहीं करना चाहते। वह तो आपकी मित्रता चाहते हैं और शांति की इच्छा रखते हैं।"

संजय की ये बातें सुनकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए और

बोले—"यदि यही बात है तो धृतराष्ट्र के पुत्रों की रक्षा हो गई। हम सब भी दारुण दुःख से बच गए। मैं संधि ही चाहता हूं। युद्ध का विचार करते ही मेरा मन घृणा से भरा जाता है। यदि हमें अपना राज्य मिल जाय तो हम अपने सारे कष्ट भूल जायेंगे।"

संजय ने कहा—"युधिष्ठिर! धृतराष्ट्र के पुत्र निरे मूर्ख हैं। वे न पिता की बात पर ध्यान देते हैं, न भीष्मकी कुछ सुनते हैं। वे तो अपनी ही मूर्खता की धुन में मस्त रहते हैं। फिर आपको उत्तेजित न होना चाहिए; आप सदा से ही न्याय एवं धर्म पर स्थिर रहे हैं। आप युद्ध की चाह न करें। युद्ध करके जो संपत्ति प्राप्त की जाती है, उससे सुख कभी नहीं मिल सकता। बंधु-बांधवों का वध करके जो राज्य प्राप्त किया जाय उससे किसीकी कुछ भी भलाई नहीं हो सकती। अतः राजन्, आप युद्ध का विचार तक न करें। समुद्र तक फैले हुए विशाल राज्य को प्राप्त कर लेने के बाद भी यह किसीके बस की बात नहीं है कि वह बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय पा ले। यद्यपि दुर्योधन और उसके साथी मूर्खता करने पर ही तुले हुए हैं, तथापि आप तो अपना धर्म एवं अपनी क्षमाशीलता कदापि न छोड़ें। चाहे दुर्योधन आपका राज्य वापस देने से इन्कार भी क्यों न कर दे तो भी आपको चाहिए कि आप न्याय के मार्ग से विमुख न हों।"

संजय की ये बातें सुनकर युधिष्ठिर बोले—"संजय! संभव है तुम्हारी बातें सच हों, और इसमें तो संदेह ही क्या है कि धर्म ही सबसे बड़ी चीज है। लेकिन हम अपनी ओर से तो अधर्म पर उतारू हो नहीं रहे हैं। श्रीकृष्ण धर्म का मर्म जानते हैं। वह दोनों पक्ष के लोगों के हितचिंतक हैं। वह जो सलाह देंगे, वैसा ही मैं करूंगा।"

श्रीकृष्ण बोले—"जहां एक तरफ पांडवों की भलाई चाहता हूं, वहाँ यह भी चाहता हूं कि धृतराष्ट्र के पुत्र भी सुखपूर्वक रहें। यह बड़ी जटिल समस्या है, जिसको हल करने के लिए मैं स्वयं हस्तिनापुर जाना उचित समझता हूं। मेरी यही इच्छा है कि पांडवों के हित को किसी तरह की चोट पहुंचाये बिना कौरवों से संधि की जा सकती हो तो की जाय। यदि मैं इसमें कृत-कार्य हो जाऊं तो कौरवों के भी प्राण

बच जायंगे और मुझे भी पवित्र कार्य करने का यश प्राप्त होगा। यदि शांति स्थापित हो गई तो फिर पांचों पांडव, महाराज धृतराष्ट्र की सेवा-टहल तक करने को प्रस्तुत होंगे। शांति की ही वे भी इच्छा रखते हैं; परन्तु साथ ही वे युद्ध के लिए भी तैयार हैं। अब यह महाराज धृतराष्ट्र का ही काम है कि दोनों बातों में से जिसे चाहें, पसन्द कर लें।"

श्रीकृष्ण के बाद युधिष्ठिर फिर बोले—"संजय! कौरवों की राज-सभा में जाकर महाराज धृतराष्ट्र को मेरी तरफ से प्रार्थनापूर्वक यह संदेशा सुनाना—'महाराज! यह आप ही की उदारता का फल था कि हमें प्रारम्भ में ही राज्याभिषेक का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों आप ने ही तो मुझे राजा बनाया था। अब आप ही हमें राज्य-संपत्ति से वंचित करके अनाथों की भांति दूसरों का मुहताज न बनायें। दोनों पक्षवालों के लिए, क्या इस विशाल संसार में सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए, पर्याप्त स्थान नहीं है जो हम एक-दूसरे के साथ शत्रुता करें?' इस प्रकार धृतराष्ट्र को आप मेरी यह प्रार्थना सुनाइयेगा।....

"पितामह भीष्म को भी मेरा प्रणाम कहें और मेरी तरफ से उनसे यह अनुरोध करें कि वह ऐसा कोई उपाय करें जिससे उनके सभी पौत्र प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें। यही संदेश चाचा विदुर को भी सुनाइयेगा। विदुर ही हमारे हित का उपाय बता सकेंगे और दुर्योधन को समझाकर मेरा यह संदेश सुना दें, 'प्रिय भाई, राजकुमार होकर यदि हमें मृग-छाला पहनकर वनवास करना पड़ा तो वह तुम्हारे ही कारण। तुम्हीं ने हमारी पत्नी का राज-सभा में घोर अपमान किया, जिससे माता कुंती रो पड़ी थीं। हमने यह सब सह लिया, अब तुम हमें हमारा न्यायोचित अधिकार दे दो। अभी भी समय है। पराई सम्पत्ति की चाह न करो। कम-से-कम हमें पांच गांव ही दे दो। हम पांचों भाई इसी से संतोष कर लेंगे और संधि करने को तैयार होंगे। हे भाई, हम सभी हिल-मिलकर रहें और संतोष के साथ दिन बितायें, ऐसी मेरी इच्छा है।' संजय! दुर्योधन को मेरा यही संदेश सुना देना। मैं तो शांति के लिए भी तैयार हूं और युद्ध के लिए भी।"

युधिष्ठिर का यह संदेश लेकर संजय, पांडवों तथा श्रीकृष्ण से विदा

होकर, हस्तिनापुर को रवाना हो गये।

: ५५ :

सुई की नोक जितनी भूमि भी नहीं

संजय को पांडवों के पास भेजने के बाद महाराज धृतराष्ट्र चिंता के मारे बड़े व्याकुल रहे। रातभर उन्हें नींद नहीं आई। उन्होंने विदुर को बुला भेजा और उनके आने पर उनके साथ ही बात करते हुए सारी रात बिताई।

विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाकर कहा—"राजन्! पांडवों को राज्य वापस दे देना ही उचित होगा। दोनों पक्षों के लोगों की भलाई इसी में है। आपको चाहिए कि पांडवों के साथ आप वही व्यवहार करें जो अपने पुत्रों से करते आ रहे हैं। न्याय न केवल धर्म के बल्कि युक्ति के भी अनुकूल होता है।" विदुर इस प्रकार कई तरह से धृतराष्ट्र को उपदेश देते रहे।

दूसरे दिन सवेरे संजय पांडवों के पास से हस्तिनापुर लौट आये। राजसभा में आकर उन्होंने युधिष्ठिर की सभा में जो चर्चा हुई थी, उसका सारा हाल कह सुनाया और बोले—

"खासकर दुर्योधन को चाहिए कि अर्जुन की बात ध्यान से सुनें। अर्जुन ने कहा है कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्रीकृष्ण और मैं दोनों मिलकर दुर्योधन और उनके साथियों का नाश करके ही रहेंगे। मेरा गांडीव युद्ध के लिए लालायित हो रहा है। धनुष की डोरी आप-ही-आप टंकार कर उठती है। तरकश से बाण ऊपर झांककर पूछ रहे हैं—'कब? कब?' मूर्ख दुर्योधन का विनाश-काल निकट पहुंच चुका है। यही कारण है कि वह हमें युद्ध के लिए छेड़ रहा है। उसे पता नहीं है कि जो अर्जुन सारे देवताओं को पराजित करने की सामर्थ्य रखता है, वह दुर्योधन को क्या गत बनायेगा', यही धनंजय का कहना था।"

संजय के इस प्रकार कहने पर भीष्म ने दुर्योधन को दुबारा समझाकर कहा—"दुर्योधन! अर्जुन और श्रीकृष्ण को नर-नारायण का अवतार समझो। जब ये दोनों इकट्ठे होकर तुम्हारे विरुद्ध लड़ने लगेंगे, तब तुम्हें इस बात की सचाई मालूम हो जायगी।"

दुर्योधन को समझाने के बाद भीष्म धृतराष्ट्र से बोले—"राजन्! सूत-पुत्र कर्ण बार-बार यही दम भर रहा है कि मैं पांडवों को खत्म कर डालूंगा। किन्तु मैं कहता हूं कि पांडवों की शक्ति का सोलहवां हिस्सा भी उसमें नहीं है। तुम्हारा पुत्र उसीके कहे में चलता है और अपने नाश का आप ही आयोजन कर रहा है। विराटनगर पर आक्रमण करते समय जब अर्जुन ने हमारा दर्प चूर किया था, कर्ण वहीं तो था! वह वहां कुछ भी कर सका? गंधर्व जब दुर्योधन को कैद करके ले गये तब यह डपोरशंख कर्ण कहां छिप गया था? गंधर्वों को अर्जुन ने ही तो भगाया था और दुर्योधन को कैद से मुक्त कराया था।"

धृतराष्ट्र ने बड़े संतप्त होकर दुर्योधन को समझाया—"बेटा, भीष्म जो कहते हैं वही करने योग्य है। युद्ध न होने दो। संधि ही करना उचित है। यह सब मैं अनुभव करता हूं, परन्तु क्या करूं! मैं कितनी ही बार क्यों न समझाऊं, फिर भी ये मूर्ख अपने ही रास्ते जा रहे हैं। जिनमें विवेक और अनुभव है, वे सब एक स्वर से कहते हैं कि संधि ही कर लेनी चाहिए। मेरी भी यही राय है कि पांडवों से संधि कर लें। पर पता नहीं क्यों, तुम इनकी बातों पर क्यों ध्यान नहीं देते?"

दुर्योधन, जो ये बातें सुन रहा था, उठा और अपने पिता को साहस बंधाता हुआ बोला—"पिताजी, आप तो ऐसे भय-विह्वल हो रहे हैं, मानो हम सब बिलकुल कमजोर हैं। जितना सेना-बल चाहिए था उतना हमने इकट्ठा कर लिया। अब इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि हम विजय अवश्य प्राप्त करेंगे। आप भी कैसे भोले हैं, जो यह भी नहीं समझते हैं कि स्वयं युधिष्ठिर हमारा सैन्य-बल देखकर घबरा उठे हैं और इसी कारण आधे राज्य की बात छोड़कर अब केवल पांच गांवों की याचना कर रहे हैं। क्या उनकी इस पांच गांवोंवाली मांग से यह नहीं सिद्ध होता है कि हमारी ग्यारह अक्षौहिणी सेना देखकर युधिष्ठिर के मन में भय उत्पन्न हो गया है? आप मुझे बताइये कि ग्यारह अक्षौहिणी सेना का पांडव अपनी सात अक्षौहिणी सेना से कैसे मुकाबला कर सकेंगे? इतने

पर भी आपको हमारी विजय के बारे में संदेह हो रहा है। यह बड़े आश्चर्य की बात है !"

धृतराष्ट्र ने समझाते हुए कहा—"बेटा, जब पांच गांव देने से ही युद्ध टलता है तो बाज़ आओ युद्ध से। इसमें तुमको क्या आपत्ति है ? तुम्हारे पास तो फिर भी पूरा-का-पूरा रज्य रह जाता है। अब हठ न करो।"

लेकिन इस उपदेश से दुर्योधन चिढ़ गया और तेज होकर बोला—"मैं तो सुई की नोक बराबर भूमि भी पांडवों को नहीं देना चाहता। आपकी जो इच्छा हो, करें। अब इसका फैसला युद्ध-भूमि में ही होगा।" यह कहता-कहता दुर्योधन उठ खड़ा हुआ और बाहर चला गया। सभा में खलबली मच गई और इस गड़बड़ी में सभा भंग हो गई।

•

इधर संजय के उपप्लव्य से रवाना हो जाने के बाद युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से बोले—"वासुदेव ! संजय धृतराष्ट्र के मानो दूसरे प्राण हैं। इनकी बातों से मुझे धृतराष्ट्र के मन की बात स्पष्ट रूप से मालूम हो गई। धृतराष्ट्र हमें कुछ दिये बिना ही संधि कर लेना चाहते है। पहले संजय ने जो मीठी बातें कीं उनसे तो मैं बड़ा प्रसन्न हो गया था। किंतु बाद में उन्होंने जो कुछ कहा, उससे मेरी प्रसन्नता चली गई। उनका वह कहना मुझे घोर अन्याय प्रतीत हुआ। धृतराष्ट्र ने हमसे सचाई नहीं बरती। परीक्षा का समय अब आ ही गया मालूम होता है। इस संकट की घड़ी में आपको छोड़कर और कोई हमारी रक्षा नहीं कर सकता। मैंने तो कहला भेजा है कि मैं तो केवल पांच ही गांवों से संतोष मान लूंगा; किंतु ऐसा लगता है कि वे दुष्ट इतना भी देने को तैयार न होंगे। आप ही बताइये कि यह अन्याय सहा भी जाय तो कैसे ? इस बारे में आप ही हमें सलाह दे सकते हैं। धर्म, नीति एवं युक्ति का जानकार आपके सिवाय हमारे लिए और कोई नहीं है।"

युधिष्ठिर की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—"युधिष्ठिर ! दोनों पक्ष के लोगों की भलाई के लिए मैंने भी एक बार स्वयं हस्तिनापुर जाने का इरादा कर लिया है। मैं धृतराष्ट्र की सभा में जाऊंगा और तुम लोगों

के स्वत्वों को बिना युद्ध के बचाने की चेष्टा करूंगा। यदि मैं सफल हुआ इससे सारे संसार का कल्याण होगा।"

"युधिष्ठिर ने कहा—श्रीकृष्ण ! मुझे लगता है कि आप वहां न जायं; इस अवसर पर शत्रुओं के बीच आपका जाना ठीक नहीं मालूम देता। और वहां जाने से कुछ हो सकता है, ऐसा भी मुझे नहीं लगता। दुर्योधन ऐसा व्यक्ति नहीं जो अपना हठ छोड़ दे। फिर उसका कोई ठिकाना नहीं कि वह कब क्या कर बैठे। इस कारण आपको ऐसी जगह भेजने की मेरी ज़रा भी इच्छा नहीं है। मुझे भय है कि वह आप से ही छेड़छाड़ न कर बैठे।"

श्रीकृष्ण बोले—"धर्मपुत्र ! मैं दुर्योधन से भली-भांति परिचित हूं। फिर भी हमें तो प्रयत्न करना चाहिए, जिससे मुझे या तुम लोगों को संसार के लोग कोई दोष न दे सकें। किसीको यह कहने की गुंजाइश ही मैं नहीं रखना चाहता कि मैंने शांति स्थापित करने का जो प्रयास करना चाहिए था, वह नहीं किया। मैं शान्ति की ही बातचीत करने के लिए दूत बनकर जा रहा हूं। मेरा वे बिगाड़ ही क्या सकते हैं ? और अगर उन्होंने कुछ छेड़छाड़ की तो मैं उन्हें वहीं खत्म कर दूंगा। भले ही मेरे शान्तिदूत बनकर जाने से शान्ति स्थापित न हो सके, पर फिर भी कम-से-कम इतना तो होगा ही कि कोई हमें इस बात का दोषी नहीं ठहरा सकेगा कि हमने सन्धि के लिए कोई कसर छोड़ी। इसलिए मेरा तो जाना ही ठीक होगा। तुम इसमें आपत्ति न करो।"

इसपर युधिष्ठिर बोले—"श्रीकृष्ण ! आप तो सर्वज्ञ हैं। हमारे गुणों व अवगुणों का पूर्ण ज्ञान आपको है और उनके गुणों व अवगुणों का भी; किसी बात को समझाने या किसी बात का समर्थन करने में आपसे चतुर कौन हो सकता है ? अतः हम अपनी स्थिति आपको और क्या बतायें ?"

यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—"अजातशत्रु ! मैं तुम्हारे मन की बात जानता हूं। तुम्हारा मन सदा धर्म पर ही स्थित रहता है, धर्म का ही विचार करता रहता है। किन्तु दुर्योधनादि के हृदयों में द्वेष ही भरा है। जो कुछ कहना होगा, मैं सब वहां उनसे अवश्य कहूंगा और हर ढंग से उन्हें समझाने का प्रयत्न करूंगा। मैं भली भांति जानता हूं कि

शांतिपूर्ण ढंग से बिना युद्ध के जो भी प्राप्त हो, बहुत थोड़ा होने पर भी तुम उसीको अधिक समझोगे। इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं उनसे समझौते की बातचीत करूंगा। जो उत्पात हो रहे हैं उनसे तो युद्ध होने की सूचना मिलती है। फिर भी कर्त्तव्य की प्रेरणा है कि हम शांति की यह अन्तिम चेष्टा करें।"

इतना कहकर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर के लिए विदा हुए।

: ५६ :
शांतिदूत श्रीकृष्ण

शांति की बातचीत करने का उद्देश्य से श्रीकृष्ण हस्तिनापुर को गये। उनके साथ सात्यकि भी गये।

प्रस्थान करने से पहले श्रीकृष्ण काफी देर तक पांडवों से चर्चा करते रहे। पांचों भाइयों ने शान्ति को ही पसन्द किया, यहां तक कि वीर भीमसेन ने भी यही कहा कि युद्ध से सारे वंश का नाश हो जायगा। हम सबों के लिए सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर होगा।

इससे यही सिद्ध होता है कि पराक्रमी और वीर लोग शांतिप्रिय ही हुआ करते हैं। शांतिप्रियता कायरता नहीं हुआ करती।

लेकिन द्रौपदी की राय कुछ और ही थी। दुर्योधन और उनके भाइयों के हाथों हुए अपमान को वह भूल न सकी। अपने बिखरे बालों को हाथ में लिये और शोक-विह्वल होकर वह श्रीकृष्ण के सामने खड़ी हो गई और बोली—

"मधुसूदन! मेरे इन बिखरे केशों को तो ज़रा देखो। फिर जो कुछ उचित हो करना। अर्जुन और भीम भले ही युद्ध न करें, पर मेरे पिता, जो यद्यपि बूढ़े ही हैं, फिर भी वे मेरे पांचों छोटे-छोटे पुत्रों को साथ लेकर युद्ध के मैदान में कूद पड़ेंगे। अगर किसी कारणवश पिताजी युद्ध करने न आये तो न सही, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु तो है। उसीको अगुआ बनाकर मेरे पांचों बेटे कौरवों से लड़ेंगे। हृदय में प्रतिहिंसा की जो आग धुआं दे रही है, उसे युधिष्ठिर की खातिर तेरह

साल तक मैंने दबाये रक्खा, भड़कने न दिया। लेकिन अब मुझसे नहीं सहा जायगा।" यह कहते-कहते द्रौपदी की आंखें डबडबा आईं। उसका गला रुंध गया।

द्रौपदी को इस प्रकार दुःखी देख श्रीकृष्ण बोले—"रोओ मत बहिन कृष्णा! रोने का कोई कारण नहीं है। शांति-स्थापन की जो शर्तें मैं रक्खूंगा, उन्हें धृतराष्ट्र के बेटे मानेंगे नहीं; फलतः युद्ध होकर ही रहेगा। युद्ध-क्षेत्र में पड़ी कौरवों की लाशें कुत्तों और सियारों का आहार बनेंगी। यह बात निश्चित है। अब थोड़े ही दिन और रह गये हैं और तुम देखोगी कि तुम्हारे अपमान का बदला लिया जायगा और तुम्हारी ही विजय होगी। तुम दुःखी न होओ।"

इस प्रकार द्रौपदी को सांत्वना देकर श्रीकृष्ण विदा हुए। रास्ते में कुशस्थल नामक स्थान में वह एक रात विश्राम करने को ठहरे।

हस्तिनापुर में जब यह खबर पहुंची कि श्रीकृष्ण पांडवों की ओर से दूत बनकर संधि-चर्चा के लिए आ रहे हैं, तो सारे नगर में उत्कंठा की बड़ी लहर दौड़ गई। धृतराष्ट्र ने आज्ञा दी कि नगर को खूब सजाया जाय। पुरवासियों ने द्वारकाधीश के स्वागत की धूमधाम से तैयारियां कीं।

दुःशासन का भवन दुर्योधन के भवन से अधिक ऊँचा और सुन्दर था, इसलिए धृतराष्ट्र ने आज्ञा दी कि उसी भवन में सपरिवार श्रीकृष्ण को ठहराने का प्रबन्ध किया जाय। नगर के बाहर जिस रास्ते से श्रीकृष्ण का रथ आ रहा था, उधर स्थान-स्थान पर उनके विश्राम आदि के लिए सत्कार-मंडप बनाये गये।

इसी बीच धृतराष्ट्र ने विदुर से भी सलाह की। कहा—"विदुर! वासुदेव के लिए हाथी, घोड़े, रथ आदि उपहार-आदि भेंट करने का प्रबंध करो। और भी कई तरह के उपहार उन्हें भेंट किये जायं—ऐसी मेरी कामना है।"

विदुर ने कहा—"राजन्! आपका विचार ठीक नहीं। गोविन्द ऐसे व्यक्ति नहीं, जो इन प्रलोभनों से वश में आ जायं। वे हमारे यहां जिस उद्देश्य से आ रहे हैं, उसे सफल बनाने से ही उन्हें संतुष्ट किया

जा सकता है श्रीकृष्ण शांति-दूत बनकर आ रहे हैं । आपस में सन्धि करा देने से ही उनको प्रसन्न किया जा सकेगा, पार्थिव उपहारों से नहीं ।''

श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुंच गये । नगर का हर मार्ग, गली और कूचा खूब सजाया गया था । सड़कों पर लोगों की बड़ी भीड़ थी । सब श्रीकृष्ण को देखने की इच्छा से इकट्ठे थे। इस कारण कृष्ण को रथ की गति धीमी करनी पड़ी । रथ धीरे-धीरे धृतराष्ट्र के भवन के पास जा पहुंचा ।

पहले श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के भवन में गये। वहां उनका राजोचित सत्कार किया गया । फिर धृतराष्ट्र आदि से विदा लेकर वह विदुर के भवन में गये । माता कुंती वहीं श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में बैठी थीं । श्रीकृष्ण को देखते ही उन्हें अपने पुत्रों का स्मरण हो आया । उनसे न रहा गया, जी भर आया । आंखों से आंसू उमड़ पड़े ।

श्रीकृष्ण ने उन्हें मीठे वचनों से सांत्वना दी और उनसे विदा लेकर दुर्योधन के भवन में गए । दुर्योधन श्रीकृष्ण का शानदार स्वागत किया और उचित आदर-सत्कार करके भोजन का न्यौता दिया । श्रीकृष्ण ने कहा—''राजन् ! मैं अब राजदूत बनकर आया हूं । राजदूतों का यह नियम होता है कि जब तक उनका कार्य सफल न हो जाय तबतक भोजन न करें । जिस उद्देश्य को लेकर मैं यहां आया हूं वह पूरा हो जाय तब मुझे भोजन का न्यौता देना उचित होगा ।'' यह कहकर वे विदुर के यहां लौट गए ओर वहां भोजन करके विश्राम किया ।

इसके बाद श्रीकृष्ण और विदुर में आगे के कार्यक्रम के बारे में सलाह हुई । विदुर ने कहा—''भीष्म, द्रोण आदि महारथी दुर्योधन की सहायता करने को विवश हैं, इसलिए दुर्योधन मदांध हो गया है । वह सोचता है कि कौरवों को कोई हरा नहीं सकेगा । ऐसे मूर्ख के साथ शांति की बातें करना निष्फल ही साबित होगा । जो लोग दुष्ट हैं और निकृष्ट काम करते नहीं सकुचाते, उनकी सभा में आपका जाना उचित नहीं ।''

दुर्योधनादि के गुणों से जो भी परिचित थे, उनका भी यही कहना था कि कोई-कोई कुचक्र रचकर श्रीकृष्ण के प्राणों तक को हानि

पहुंचाने की वे लोग चेष्टा करेंगे ।

विदुर की बातें ध्यान से सुनने के बाद श्रीकृष्ण बोले—

''आपने जो कुछ कहा, बिलकुल ठीक कहा । मुझे भी यह आशा नहीं है कि शांति स्थापित करना संभव होगा । फिर भी लोग हमें दोष न दे सकें, इसी उद्देश्य से संधि का प्रस्ताव लेकर मैं आया हूं । मेरे प्राणों की चिंता आप न करें ।''

दूसरे दिन सवेरे दुर्योधन और शकुनि ने आकर श्रीकृष्ण से कहा—''महाराज धृतराष्ट्र आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।'' इसपर विदुर को साथ लेकर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के भवन में गये ।

वासुदेव के सभा में प्रविष्ट होते ही सभी सभासद् उठ खड़े हुए । श्रीकृष्ण ने बड़ों को विधिवत् नमस्कार किया और आसन पर जा बैठे । राजदूत एवं संभ्रांत अतिथि का-सा उनका सत्कार किया गया । इसके बाद श्रीकृष्ण उठे और पांडवों की मांग सभा के सामने रक्खी और फिर धृतराष्ट्र की ओर देखकर बोले—

''राजन् ! प्रजा का नाश करनेवाला रास्ता न पकड़िये । जो आपका हित है, उसे आप अहित समझे बैठे हैं और बुराई को भलाई समझते हैं । पिता के नाते आप का यह कर्त्तव्य है कि पुत्रों पर काबु रक्खें और उनको सही रास्ते पर लायें । पांडव शांति-प्रिय हैं; परन्तु साथ ही यह भी समझ लीजिए कि वे युद्ध के लिए भी तैयार हैं । पांडव आप को पिता-रूप मानते हैं और आपकी अधीनता में सुखपूर्वक रहना चाहते हैं । आप भी उनको अपना पुत्र समझें और ऐसा उपाय करें जिससे आप भाग्यशाली बनें ।''

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—''सभासदो ! मुझे दोषी न समझा जाय । मैं भी वही चाहता हूं जो श्रीकृष्ण को प्रिय हो । किन्तु करूं क्या ? मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि पुत्रों से अपनी आज्ञा मनवाऊं । मैं निर्दोष हूं, लेकिन विवश भी । श्रीकृष्ण ! तुम्हीं मेरे पुत्र दुर्योधन को समझाओ।''

इसपर श्रीकृष्ण बोले—''दुर्योधन ! महान् पुरुषों के वंशज होकर तुम्हारे लिए यही उचित था कि धर्म के पथ पर चलते; परंतु अभी तुम जो विचार कर रहे हो, वह तो नीच कुल का-सा ही है । लोगों

को भय है कि कहीं तुम्हारे कारण इस यशस्वी कुल का नाश न हो जाय। मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि पांडवों का आधा राज्य लौटा दो और उनके साथ सन्धि कर लो। यदि यह बात हो गई तो स्वयं पांडव तुम्हें युवराज और धृतराष्ट्र को महाराज के रूप में सहर्ष स्वीकार कर लेंगे।"

भीष्म और द्रोण ने भी दुर्योधन को बहुत समझाया। फिर भी दुर्योधन ने अपना हठ नहीं छोड़ा। वह श्रीकृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार करने को राजी न हुआ।

"दुर्योधन की करतूत से गांधारी एवं धृतराष्ट्र को जो पीड़ा पहुंच रही है, उसकी कल्पना-मात्र से मुझे दुःख होता है।"—विदुर ने कहा।

धृतराष्ट्र ने दुबारा पुत्र से आग्रह करके कहा कि वह श्रीकृष्ण का प्रस्ताव मान ले, नहीं तो कुल का सर्वनाश हो जायगा।

भीष्म और द्रोण ने भी बार-बार दुर्योधन को समझाया और सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न किया। कहा—"संधि कर लेने में ही तुम्हारी भलाई है। युद्ध का विचार छोड़ दो।"

जब सबने इस प्रकार बार-बार आग्रह किया तो दुर्योधन उठकर अपने पक्ष का समर्थन करने लगा। वह बोला—"मधुसूदन, आप पांडवों के हितैषी हैं। यही कारण है कि हर तरह से आप मेरी निंदा करते हैं और मुझे दोष देते हैं। सभी सभासद् मेरे ही सिर पर दोष मढ़ रहे हैं, किंतु मेरा इसमें कसूर क्या है? मुझे तो अपना कोई दोष नहीं दीखता। चौपड़ का खेल युधिष्ठिर ने अपनी इच्छा से खेला और उसमें राज्य गंवा बैठे। अब आप ही बतावें कि इसमें मेरा क्या दोष है? मुझ पर नाहक ही दोष मढ़ा जा रहा है। खेल में वह हारे और शर्त के अनुसार वन में गये। मैंने कौन-सा ऐसा अपराध किया कि जिसके लिए अब वह युद्ध छेड़कर हम सबको नष्ट कर देना चाहते हैं? लेकिन यह आप जान लें कि सेना-बल और युद्ध की धमकी से माननेवाले हम नहीं हैं। जब मैं निरा बालक था; आप ही लोगों ने पांडवों को राज्य का आधा हिस्सा दिलाया था। वैसे उसपर उनका कोई अधिकार न था। वंश की देख-भाल करनेवाले वृद्ध लोगों ने यह जो किया वह भय के कारण किया

अथवा नासमझी के कारण, मैं नहीं जानता। पर उस समय तो मैंने उनकी बात मान ली थी। उसके बाद जब पांडव खुद ही फिर उसे गंवा बैठे तो अब उसे वापस देने की बात कैसे हो सकती है? मैं तो सुई की नोक भर भी जमीन उन्हें बिना युद्ध के देने को तैयार नहीं हूं।"

दुर्योधन ने अपने आप को निर्दोष सिद्ध करने की जो चेष्टा की, उससे श्रीकृष्ण को हँसी आ गई। वह बोले—"नासमझ दुर्योधन! शकुनि के साथ कुमंत्रणा करके तुम्हीं ने तो चौसर का कुचक्र रचा था। द्रौपदी को भरी सभा के सामने घसीट लाकर अपमानित करना तुम्हारा ही तो काम था। इतना सब कुछ करने पर भी अब यह सिद्ध करने का तुम प्रयत्न कर रहे हो कि तुमने कोई अपराध नहीं किया?"

यह कहकर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को उन सब अत्याचारों का विस्तृत रूप से स्मरण दिलाया जो उसने पांडवों पर किये थे।

भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख वृद्धों ने भी श्रीकृष्ण के इस वक्तव्य का समर्थन किया।

यह देखकर दुःशासन क्रुद्ध हो उठा और दुर्योधन से बोला—"भाई, मालूम होता है, ये लोग आपको कैद करके कहीं पांडवों के हवाले न कर दें। इसलिए चलिए, यहां से निकल चलें। हमें यहां अधिक समय नहीं रहना चाहिए।"

इसपर दुर्योधन उठा और अपने भाइयों के साथ सभा से बाहर चला गया।

श्रीकृष्ण ने सभासदों से कहा—"महाजनो! सारे वंश की रक्षा के लिए कभी-कभी एक व्यक्ति का बलिदान देना पड़ता है। शिशुपाल और कंस के मारे जाने पर यादव एवं वृष्णिकुल के लोग सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर पाये हैं। आप तो जानते ही हैं कि सारे देश की भलाई के हित एक गांव को त्याग देना पड़ता है। इसी रीति के अनुसार आप लोग भी अपने वंश की रक्षा के हित दुर्योधन का त्याग कर दें।"

इसी बीच धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा, "तुम ज़रा गांधारी को सभा में ले आओ। उसकी सूझ बहुत स्पष्ट है और वह दूर की सोच सकती है। हो सकता है, उसकी बातें दुर्योधन को स्वीकार हो जायं।" यह सुन

विदुर ने सेवकों को आज्ञा देकर देवी गांधारी को बुला लाने को भेजा।

गांधारी सभा में आई और धृतराष्ट्र से कहकर दुर्योधन को सभा में फिर बुलाया गया।

दुर्योधन सभा में लौट आया। क्रोध के कारण उसकी आंखें लाल हो रही थीं। गांधारी ने भी उसे कई तरह से समझाया; परन्तु दुर्योधन ये बातें माननेवाला कब था? अपनी मां को भी उसने नहीं कर दिया और दुबारा सभा से निकलकर चला गया।

बाहर जाकर दुर्योधन ने अपने साथियों के साथ मिलकर एक षड्यंत्र रचा और राजदूत श्रीकृष्ण को पकड़ने का प्रयत्न किया। श्रीकृष्ण ने तो पहले ही से इन सब बातों की कल्पना कर ली थी। दुर्योधन की यह चेष्टा देखकर वह हँस पड़े और अपना विश्वरूप धारण कर लिया। व्यासजी कहते हैं कि उस समय जन्म के अंधे धृतराष्ट्र को भी दिव्य चक्षु प्राप्त हो गये और उन्होंने भी भगवान् कृष्ण के दर्शन किये।

यह देखकर धृतराष्ट्र विस्मय में आ गये और प्रार्थना की—"हे कमल-नयन! अहोभाग्य मेरा कि आपके विश्वरूप के दर्शन प्राप्त हुए। अब इन नेत्रों से और किसीको देखना नहीं चाहता। मेरी दृष्टि फिर से नष्ट हो जाय।"

यह प्रार्थना करते ही धृतराष्ट्र की दृष्टि चली गई। वे फिर से अंधे हो गये। तब वे श्रीकृष्ण से बोले—"जनार्दन, हमारी सारी चेष्टाएं व्यर्थ ही गईं। दुर्योधन सही रास्ते पर आता दिखाई नहीं देता।"

यह सुन श्रीकृष्ण उठे। सात्यकि और विदुर उनके दोनों ओर हो गये। श्रीकृष्ण ने तब सब सभासदों से विधिवत् आज्ञा ली और सभा से चलकर सीधे देवी कुंती के पास पहुंचे और उनको सभा का सारा हाल कह सुनाया।

कुन्ती बोली—"मेरे पांचों पुत्रों को मेरे शुभाशीर्वाद देकर कहना कि जिस उद्देश्य के लिए क्षत्रिय-माताएं पुत्र जनती हैं उसकी पूर्ति का समय आ पहुंचा है। और हे कृष्ण, अब तुम्हीं मेरे पुत्रों के रक्षक हो।"

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण रथ पर आरूढ़ होकर उपप्लव्य की ओर तेजी से रवाना हो गये।

युद्ध अब अनिवार्य हो गया था।

: ५७ :
ममता एवं कर्त्तव्य

श्रीकृष्ण के हस्तिनापुर से लौटते ही शांति-स्थापना की जो थोड़ी-बहुत आशा रही थी, वह भी लोप हो गई। कुंतीदेवी को जब पता चला कि कुलनाशी युद्ध छिड़ेगा ही तो वह बड़ी व्याकुल हो उठीं।

एक ओर तो यह भय था कि सम्भव है कहीं वंश का सर्वनाश ही न हो जाय, तो दूसरी ओर क्षत्रियोचित संस्कार की प्रेरणा थी कि समर-भूमि में खेत रहना ही पुत्रों के लिए श्रेयस्कर होगा। वह पुत्रों से कैसे कहती कि अपमान की कड़वी घूंट पीकर रह जायं और युद्ध न होने दें? यदि यह कहती भी तो क्षत्रवीर पांडव उसकी मानते भी क्यों? वे तो लड़ेंगे ही। तो फिर? नतीजा यही न होगा कि सारे वंश का आमूल उच्छेदन हो जाय! जब वंश का ही नाश हो जायगा तो फिर उससे किसी को क्या फायदा पहुंचेगा? तबाही के परिणामस्वरूप कहीं सुख प्राप्त होता है? हा दैव! यह भी कैसी दुनिया है! कैसे इससे अपने को बचाऊं?

माता कुंती के मन में इसी प्रकार ममता एवं वीरता में घोर खींचा-तानी हो रही थी। मन में एक हूक सी-उठती—

"भीम, द्रोण, कर्ण-जैसे अजेय महारथियों को मेरे पुत्र कैसे परास्त कर पायेंगे? इन तीनों महावीरों का विचार करते ही मन सिहर उठता है। औरों को कोई बात ही नहीं। कौरवों की सेना में ये तीनों ही ऐसे हैं जो मेरे पुत्रों के प्राणहारी बन सकते हैं। उनमें से आचार्य द्रोण शायद मेरे पुत्रों का वध न करें। शिष्यों पर अपने प्यार के कारण, या शिष्यों से लड़ना उचित न समझकर, वे मेरे पुत्रों को जीवित छोड़ दें तो आश्चर्य नहीं। पितामह भीष्म की भी यही बात हो सकती है। अपने पोतों के प्राणों के प्यासे वे शायद न बनें। पर कर्ण! उसी का मुझे डर है। दुर्योधन की मनचाही करने की खातिर मेरे पुत्रों को मारने की कर्ण

ने ठान रक्खी है। पांडवों के नाम से ही उसे घृणा है। वीर भी तो वह बड़ा है। जब भी उसका विचार मन में उठता है, एक भयंकर आग-सी मन में धधक उठती है। मेरा जेठा लड़का ही अपने भाइयों के प्राणों का प्यासा बने, यह मेरे ही पाप का तो फल है! क्यों न उसके पास जाऊं और उसके जन्म का सच्चा हाल उसे बता दूँ। अपने जन्म का हाल मालूम होने पर शायद उसके विचारों में परिवर्तन हो जाय और वह पांडवों को मारने का विचार छोड़ दे।"

चिंता के कारण आकुल हो रही कुन्ती अपने पुत्रों की सुरक्षा का विचार करती हुई गंगा के किनारे पहुंची, जहां कर्ण रोज संध्या-वंदन किया करता था।

कर्ण वहां संध्या करता दिखाई दिया। पूर्व की ओर मुंह किये, हाथ जोड़े, ध्यानमग्न हो कर्ण खड़ा था। कुंती उसकी पीठ से लगकर उसका उत्तरीय अपने सिर पर रखे खड़ी हो गई। सूर्य के मध्याह्न होने तक कर्ण इसी प्रकार खड़ा-खड़ा जप करता रहा। सूर्य के ताप की उसे जरा भी परवाह न थी।

मध्याह्न के बाद कर्ण का जप पूरा हुआ। उसने मुड़कर देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि कोई राजकुल की स्त्री धूप से बचने के लिए उसके उत्तरीय को अपने सिर पर रखकर खड़ी है। वह समझ न पाया कि बात क्या है। विस्मय में पड़ गया। और जब उसने गौर से देखा तो उसे यह जानकर असीम आश्चर्य हुआ कि महाराज पाण्डु की पत्नी और पांडवों की माता देवी कुंती ही उसका उत्तरीय अपने सिर पर लिये खड़ी हैं।

"राधा और सारथी अधिरथ का पुत्र कर्ण आपको नमस्कार करता है। आज्ञा कीजिए, मैं आपकी क्या सेवा करूं?"—कर्ण ने शिष्टतापूर्वक अभिवादन करके पूछा।

"कर्ण! यह न समझो कि तुम केवल सूत-पुत्र ही हो। न तो राधा तुम्हारी मां है, न अधिरथ तुम्हारा पिता। तुमको जानना चाहिए कि राजकुमारी पृथा की कोख में सूर्य के अंश से तुम उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा कल्याण हो!"—कुंती ने गद्गद स्वर में कहा। थोड़ा सुस्ताने

के बाद फिर बोली—

"बेटा! ये कवच-कुंडल तुम्हारे जन्म के हैं। तुम देव-कुमार हो। फिर भी अपने ही भाइयों को न पहचान पाये और दुर्योधन के पक्ष में होकर अपने भाइयों से ही शत्रुता कर रहे हो! धृतराष्ट्र के लड़कों के आश्रित रहना तुम्हारे लिए अपमान की बात है। तुम अर्जुन के साथ मिल जाओ; वीरता से लड़ो और राज्य प्राप्त करो। दोनों भाई मिल जाओ और शत्रु का दर्प चूर करो। सारा संसार तुम्हारे आगे सिर झुकायेगा। बलराम और श्रीकृष्ण की जोड़ी की भाँति तुम भी दोनों वीर प्रतापी होगे। पांचों छोटे भाई तुम्हारे अधीन रहेंगे और तुम उनसे घिरे हुए ऐसे प्रकाशमान होओगे जैसे देवताओं से घिरा इंद्र। जहां कर्त्तव्य धुंधला-सा दिखाई पड़े, या जब मनुष्य असमंजस में पड़ जाय तब शास्त्रोचित ढंग से माता-पिता को संतुष्ट करना ही धर्म माना गया है।"

कर्ण अभी-अभी सूर्य-नमस्कार पूरा कर चुका था कि इतने में माता कुंती का यह अनुरोध सुनकर उसके मन में विचार आया कि क्या सूर्य भगवान् भी माता की बात का अनुमोदन कर रहे हैं? परन्तु फिर भी यह सोचकर कि सूर्यदेव शायद मेरी परीक्षा ही ले रहे हों, अपने दिल पर पत्थर-सा रखकर वह बोला—

"मां! तुम्हारी ये सारी बातें धर्म के विरुद्ध हैं। यदि तुम्हारी खातिर मैं अधर्म करने पर उतारू हो जाऊं और क्षत्रियोचित कर्त्तव्य पर कुठाराघात कर दूं तो उसमें बड़ी हानि मेरा कौन-सा दूसरा दुश्मन मुझे पहुंचा सकेगा? बचपन में तुमने मुझे पानी में फेंक दिया और अब, जब वर्णसंकरों का समय बीत गया, मुझे क्षत्रिय कहकर पुकारने लगी हो! माता के नाते मेरे प्रति तुम्हारा जो कर्त्तव्य था, उसे तुमने उस समय तो पूरा किया नहीं; और अब अपने पुत्रों की भलाई के ख्याल से मुझे यह सब सुना रही हो। यदि इस समय मैं दुर्योधन का साथ छोड़कर पांडवों की तरफ चला गया तो क्षत्रिय लोग ही मुझे कायर कहेंगे। जिनका आज तक नमक खाया, जिन्होंने मुझे धन-सम्पति और गौरव प्रदान किया, उन धृतराष्ट्र-पुत्रों का साथ ऐसे संकट-भरे क्षण में छोड़ देने की सलाह तुम मुझे दे रही हो! कैसे मैं उनकी मित्रता का बंधन तोड़ दूं, जबकि

मुझीको वे युद्ध के सागर को पार करानेवाली नैया-समान समझते हैं मैंने ही तो उन्हें युद्ध के लिए उभाड़ा है। अब, जब युद्ध सामने आ गया है, तो उनको मंझधार में कैसे छोड़ जाऊं? सहायता देने का तो दम भरूं, किन्तु सहायता का समय आने पर उनसे दगा करूं? यह कैसी तुम्हारी सलाह है? मैंने दुर्योधन का नमक खाया है। चाहे प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े, उसका यह ऋण तो चुकाना ही होगा। वरना भोज्य-पदार्थ की चोरी करनेवाले नीच की अपेक्षा भी अधिक नीच समझा जाऊंगा। आज मेरा कर्तव्य यही है कि मैं पांडवों के विरुद्ध सारी शक्ति लगा कर लड़ूं। मैं तुमसे असत्य क्यों बोलूं? मुझे क्षमा कर दो। मैंने पांडवों के विरुद्ध लड़ने का व्रत लिया है। लेकिन हां, तुम्हारी भी बात एकदम व्यर्थ न होगी। अब मैं यह करूंगा कि अर्जुन को छोड़कर और किसी पांडव के प्राण नहीं लूंगा। या तो अर्जुन इस युद्ध में काम आयेगा, या मैं काम आ जाऊंगा। दोनों में से एक को तो मरना ही पड़ेगा। दूसरे चारों मुझे चाहे कितना भी तंग करें, मैं उनको नहीं मारूंगा। माँ, तुम्हारे तो पांच पुत्र हर हालत में रहेंगे—चाहे मैं मर जाऊं, चाहे अर्जुन। हम दोनों में से एक बचेगा और बाकी चार तो रहेंगे ही। तुम चिन्ता न करो।"

अपने बड़े पुत्र की ये बातें सुनकर माता कुंती ने उसे अपने गले से लगा लिया। उससे कुछ न बोला गया, गला रुंध गया और आँखों से आंसुओं की धारा बह चली। कुछ देर बाद संभलकर बोली—"विधि की बात को कोई नहीं टाल सकता। तुमने अपने चार छोटे भाइयों की प्राण-रक्षा का जो वचन दिया है, वही मेरे लिए बड़ी बात है। तुम्हारा कल्याण हो!"

कर्ण को इस प्रकार आशीर्वाद देकर कुंती अपने महल में चली आई।

: ५८ :

पांडवों और कौरवों के सेनापति

श्रीकृष्ण उपप्लव्य लौट आए और हस्तिनापुर की चर्चा का हाल

पांडवों को सुनाया।

"जो सत्य एवं हित के अनुकूल था, वह मैंने सब बताया; किन्तु सब व्यर्थ ही हुआ। अब दंड से ही काम लेना पड़ेगा। सभा के सभी वृद्धजनों के कहने पर भी मूर्ख दुर्योधन न माना। अब तो युद्ध की ही जल्दी तैयारी होनी चाहिए।"

युधिष्ठिर अपने भाइयों से बोले—"भैया! अब शांति की आशा नहीं रही। सेना सुसज्जित करो और व्यूह-रचना सुचारु रूप से कर लो।"

पांडवों की विशाल सेना को सात हिस्सों में बांट दिया गया। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखंडी, सात्यकि, चेकितान, भीमसेन आदि सात महारथी इन सात दलों के नायक बने। अब प्रश्न उठा कि सेनापति किसे बनाया जाय? सबकी राय ली गई।

युधिष्ठिर ने सबसे पहले सहदेव की राय मांगी—"सहदेव! इन सातों महारथियों में से किसी एक सुयोग्य वीर को सेनापति बनाना होगा। हमारा सेनापति रण-कुशल हो। अग्नि के समान शत्रु-सैन्य को दग्ध करने वाले भीष्म की शक्ति सहने का सामर्थ्य उसमें हो। इन सातों में से कौन ऐसा है, सहदेव! जो तुम्हारी राय में इन सभी गुणों से युक्त है?"

उन दिनों की प्रथा थी कि छोटों की राय पहले ली जाय। इससे छोटों का आत्म-विश्वास बढ़ता और उनमें जोश आ जाता। छोटों से पूछे बगैर ही अगर बड़ों की राय ले ली जाती तो अपनी ओर से कुछ कहने की उनकी हिम्मत ही न पड़ती। वे डरते कि कहीं उद्दण्ड की उपाधि प्राप्त न हो जाय।

"अज्ञातवास के समय हमने जिनके यहां आश्रय लिया था, जिनकी छत्रछाया में सुरक्षित रहते हुए हम अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की तैयारियां कर रहे हैं, वही विराटराज हमारे सेनापति बनने योग्य हैं।" सहदेव ने कहा।

फिर नकुल से राय ली गई।

"मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है कि पांचालराज द्रुपद, जो आयु में, बुद्धि में, वीरता में कुल में, एवं बल में सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे सेनापति बनाये जायं। उन्होंने भारद्वाज से अस्त्र-विद्या सीखी है। द्रोण

से युद्ध के अवसर की वह मुद्दत से प्रतीक्षा किये बैठे हैं। वह सभी राजाओं द्वारा सम्मानित हैं, द्रौपदी के पिता हैं, पिता की ही भाँति वह हमारा भी सहारा बने हुए हैं। अतः मेरी राय में वही हमारी सेना के नायक बनने और द्रोण एवं भीष्म का सामना करने योग्य हैं।" —नकुल ने कहा।

अर्जुन ने कहा—"जो जितेन्द्रिय हैं, द्रोण का वध ही जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है, वही वीर धृष्टद्युम्न हमारे सेनापति बनें। जिनके बाणों के प्रहार से स्वयं परशुराम भौचक्के-से रह गये, उन भीष्म के बाणों को सहने की शक्ति, साहस एवं बल यदि किसी में है तो धृष्टद्युम्न में ही है। उन्हीं को सेनापति बनाया जाय।"

भीम ने कहा—"राजन्! अर्जुन ने जो कहा, ठीक कहा। फिर भी महात्माओं और ऋषि-मुनियों का कहना है कि शिखंडी का जन्म ही भीष्म के प्राण लेने के लिए हुआ है। तेज और रोब में भी वह परशुराम के समान दिखाई देता है। मेरी राय में महारथी भीष्म को सिवाय शिखंडी के और कोई भी हरा नहीं सकेगा। अतः शिखंडी को ही सेनापति बनाया जाय।"

अन्त में युधिष्ठिर ने पूछा—"श्रीकृष्ण की राय क्या है?"

श्रीकृष्ण ने कहा—"इन सबने जिन-जिन वीरों के नाम लिये, वे सभी सेनापति-पद के योग्य हैं। किन्तु अर्जुन की राय मुझे सभी दृष्टि से ठीक प्रतीत होती है। मैं उसी का समर्थन करता हूँ। धृष्टद्युम्न को ही सारी सेना का नायक बनाया जाय।"

जिसने स्वयं द्रौपदी का अर्जुन से पाणिग्रहण करवाया था, जो राज-सभा में द्रौपदी के घोर अपमान और उसपर किये गए घोर अत्याचार की कल्पनामात्र से ही भड़क उठता था, अपनी बहिन के अपमान का कौरवों से बदला लेने की प्रतीक्षा में जिसने तेरह बरस बड़ी बेचैनी में काटे थे, वही द्रुपदराज-कुमार वीर धृष्टद्युम्न पांडवों की सेना का नायक बनाया गया और उसका विधिवत् अभिषेक किया गया। वीरों की सिंह-गर्जना, भेरियों के भैरव-नाद, शंखों की तुमुल ध्वनि, दुन्दुभि के गर्जन आदि से आकाश मानो फटने लगा। अपने कोलाहल से दिशाओं को गुंजाती

हुई पांडवों की सेना कुरुक्षेत्र के मैदान में जा पहुंची।

उधर कौरवों की सेना के नायक थे भीष्म पितामह। दुर्योधन उनके पास गया और अंजलिबद्ध होकर बोला—"देवताओं की सेना का भगवान् कार्तिकेय ने जिस शान से संचालन किया था, उसी तरह पितामह हमारे सेनानायक बनकर विजय एवं यश प्राप्त करें। जैसे वृषभ (बैल) के पीछे बछड़े जाते हैं, वैसे ही हम भीष्म का अनुकरण करेंगे।"

भीष्म ने तथास्तु कहा। पर साथ में एक शर्त भी लगा दी। बोले—"मेरे लिए जैसे धृतराष्ट्र के लड़के, वैसे ही पांडु के। दोनों ही मेरे लिए बराबर हैं। इसमें संदेह नहीं कि जो प्रतिज्ञा मैं कर चुका हूं, उसे निभाऊंगा। युद्ध का संचालन करके अपना ऋण अवश्य ही चुका दूंगा। शत्रु-दल के लाखों वीरों को मेरे बाणों का शिकार होना ही पड़ेगा। परन्तु फिर भी पांडुपुत्रों का वध मुझसे न हो सकेगा। लड़ाई की घोषणा करते समय मेरी सम्मति किसी ने नहीं ली थी। इस कारण मैंने निश्चय कर लिया था कि जान-बूझकर, स्वयं आगे होकर पांडु-पुत्रों का वध मैं नहीं करूंगा। दूसरे सूत-पुत्र कर्ण, जो तुम लोगों का बहुत ही प्यारा है, शुरू से ही मेरा तथा मेरी सम्मतियों का विरोध करता आया है। अतः अच्छा हो कि पहले उसी से सलाह ली जाय। अगर वह सेनापति बन जाय तो मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

कर्ण का उद्दण्ड व्यवहार भीष्म को सदा से ही बहुत खटकता था। कर्ण घमंडी भी बहुत था। उसने भी हठ कर लिया कि जबतक भीष्म जीवित रहेंगे, तबतक वह युद्ध-भूमि में प्रवेश नहीं करेगा। भीष्म के मारे जाने के बाद ही वह लड़ाई में भाग लेगा और केवल अर्जुन को ही मारेगा।

सद्‌गुणों से विभूषित सज्जनों में भी अक्सर बराबर के लोगों के प्रति स्पर्द्धा, और अपने से बढ़े हुए लोगों के प्रति ईर्ष्या हुआ करती है। तब भी यह कोई नई बात नहीं थी। आज भी हम किस क्षेत्र में इसे नहीं पाते हैं?

दुर्योधन ने सब आगा-पीछा सोचकर भीष्म की शर्त मान ली और उन्हीं को सेनापति नियुक्त किया। फलतः कर्ण तबतक के लिए युद्ध से

विरत रहा। पितामह के नायकत्व में कौरव-सेना समुद्र की भांति लहरें मारती हुई कुरुक्षेत्र की ओर प्रवाहित हुई।

: ५९ :

बलराम

इधर युद्ध की तैयारियां हो रही थीं और उधर एक रोज श्रीबलराम पांडवों की छावनी में एकाएक आ पहुंचे। नीले रंग का रेशमी वस्त्र पहने, सिंह की-सी चाल तथा उभरी हुई भुजाओंवाले हलधर को आया देखकर श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर आदि बड़े प्रसन्न हुए। सबने उठकर उनका समुचित आदर-सत्कार किया। बलरामजी ने अपने से बड़े-बूढ़े विराटराज और द्रुपदराज को विधिवत् प्रणाम किया और धर्मराज के पास बैठ गये।

"भरत-वंश में लालच, क्रोध और द्वेष का बोलबाला हो गया है। शांति की चेष्टाएं नाकाम रहीं। और सुन रहा हूं कि कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में अब युद्ध भी छिड़नेवाला है। यही सुनकर मैं यहां आया हूं कि अपना दिल आप लोगों के सामने कुछ हलका कर आऊं।"—कहते-कहते बलराम का गला भर आया। ठंडी आहें भरते वे कुछ देर चुप रहे। फिर बोले—

"धर्मपुत्र! अब संसार का सत्यानाश ही होने वाला है। भयानक, बीभत्स दृश्य देखने में आयेंगे। पृथ्वी का हरा-भरा शरीर, कटे हुए अंगों से और खूनी कीचड़ से सनने वाला है। विधि के प्रपंच में पड़कर संसार भर के राजा-महाराजा और सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति के लोग, पागलों की भांति मृत्यु की खोज में निकले हैं और यहां आकर इकट्ठे हुए हैं। कितनी ही बार मैंने कृष्ण को कहा कि हमारे लिए तो पांडव और कौरव दोनों ही एक समान हैं। दोनों को मूर्खता करने की सूझी है। इसमें हमें बीच में पड़ने की आवश्यकता नहीं; पर कृष्ण ने मेरी नहीं मानी। अर्जुन के प्रति उसका इतना स्नेह है कि उसने तुम्हारे पक्ष में रहकर युद्ध करना भी स्वीकार किया और जिस तरफ कृष्ण हों, उसके विपक्ष में मैं भला कैसे जाऊं? भीम और दुर्योधन, दोनों ने ही मुझसे गदा-युद्ध

सीखा है। दोनों ही मेरे शिष्य हैं। दोनों पर मेरा एक-जैसा प्यार है। इन दोनों कुरुवंशियों को यों आपस में लड़-मरते देखकर मुझसे नहीं रहा जाता। लड़ो तुम लोग। पर यह सब देखने मैं यहां नहीं रह सकता। मुझे अब संसार से विराग हो गया है। अतः मैं तो तीर्थ करने जा रहा हूं।"

भ्रातृ-कलह के इस भीषण दृश्य को देखकर बलराम को दुःसह क्षोभ हुआ। उन्होंने भगवान् का ध्यान किया और तीर्थ-यात्रा को निकल पड़े।

धर्म-संकट का अर्थ है दुविधा। कभी-कभी हरेक मनुष्य को दो ऐसे कर्त्तव्यों का सामना करना पड़ता है जो एक-दूसरे के विरुद्ध होते हैं। ऐसे ही अवसरों पर लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। जो सच्चरित्र हैं, उन्हें बार-बार ऐसी दुविधा का सामना करना पड़ता है। जो धूर्त्त हैं, वे तो अपनी ही इच्छाओं के इशारे पर चला करते हैं। उन्हें असमंजस का सामना करने की आवश्यकता ही क्या है? जिन्होंने इच्छा की कैंचुली मन से उतार दी हो, उन्हें तो अक्सर किंकर्त्तव्यविमूढ़ होना पड़ता है। महाभारत के इस आख्यान में भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर, कर्ण आदि शील-वान् लोगों को कितनी ही बार दुविधा में पड़ना पड़ा। पुराणों में हम पढ़ते हैं कि कैसे-कैसे अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार हरेक व्यक्ति ने धर्म-संकट से छुटकारा पाया था।

तात्पर्य यह है कि समस्या के होने पर भी उसके हल कई हुआ करते हैं।

आजकल के समालोचक इस मूल तथ्य को भूल जाते हैं और एक ही माप-दंड से सबको नापने का प्रयत्न करते हैं। यह ठीक नहीं है। रामायण में दशरथ, कुंभकरण, मारीच, भरत, लक्ष्मण आदि दुविधाओं के भंवर में पड़े और निकल भी आए। हरेक ने उसके लिए अलग-अलग रीति बरती और उससे हम लाभ उठा सकते हैं। महाभारत की यह आख्यायिका बताती है कि बलराम ने दुविधा से बचने के लिए किस प्रकार तटस्थ रहना उचित समझा।

महाभारत के युद्ध के समय सारे भारतवर्ष में, दो ही राजा युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए—तटस्थ रहे: एक बलराम और दूसरे भोजकट

के राजा रुक्मी। रुक्मी की छोटी बहिन रुक्मिणी श्रीकृष्ण की पत्नी थी।

: ६० :

रुक्मिणी

विदर्भ देश के राजा भीष्म के पांच पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री का नाम था रुक्मिणी। रुक्मिणी की सुन्दरता अनुपम थी और स्वभाव मृदुल। जब वह बालिका थी तभी श्रीकृष्ण की प्रशंसा लोगों के मुंह उसने सुनी थी और उनपर अनुरक्त हो गई थी। जैसे-जैसे दिन बीतते गये, मन-ही-मन उसकी यह इच्छा दृढ़ होती गई कि श्रीकृष्ण की वह पत्नी बने और जीवन सफल करे। उसके परिवार के लोगों की भी यही राय थी; पर भीष्मक का बड़ा पुत्र रुक्मी श्रीकृष्ण से वैर रखता था। जब उसे मालूम हुआ कि उसके पिता रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से करने का विचार कर रहे हैं, तो उसने पिता से आग्रह किया कि कृष्ण के बजाय चेदिराज शिशुपाल से रुक्मिणी का विवाह होना ज्यादा ठीक होगा। राजा भीष्मक वृद्ध थे और राजकुमार जिद्दी था। वह हठ पकड़ गया। और ऐसा मालूम होने लगा कि शिशुपाल के साथ ही रुक्मिणी का सम्बन्ध पक्का हो जायगा।

पर रुक्मिणी श्रीकृष्ण को जी-जान से चाहती थी। वह दैवी स्वभाव की थी। शिशुपाल-जैसे राक्षसी स्वभाव वाले से उसका मन कैसे मिलता? पर उसे भय भी था कि शायद पिताजी उसकी इच्छा पूरी न कर सकेंगे। हठी भाई का ही उद्देश्य कहीं पूरा न हो जाय, यह सोच कर रुक्मिणी व्याकुल हो उठी। सोच-विचार के बाद उसने निश्चय किया और नारी-सुलभ लज्जा को एक ओर रखकर एक ब्राह्मण पुरोहित के हाथ श्रीकृष्ण के पास प्रेम-सन्देश लिख भेजा। पुरोहित से यह प्रार्थना की कि किसी प्रकार श्रीकृष्ण को राजी करके उसकी रक्षा का प्रबन्ध करें।

ब्राह्मण पत्र लेकर द्वारका पहुंचा और श्रीकृष्ण से मिला। रुक्मिणी

की व्यथा और प्रार्थना द्वारकाधीश को सुनाने के बाद उसने वह पत्र श्रीकृष्ण को दिया। पत्र में लिखा था—

"मैं तो आपको ही अपना पति मान चुकी हूं। मेरा हृदय आप ही की संपत्ति हो गई है। जो वस्तु आपकी है, उसीकी चोरी करने के लिए राजा शिशुपाल घात लगाये बैठा है। इससे पहले कि आपकी वस्तु शिशुपाल के हाथ पड़ जाय, आप यहां आयें और आकर उसको बचा लें। लेकिन मुझे प्राप्त करना सरल नहीं है। शिशुपाल और जरासंध की सेनाओं को मार भगाने के बाद ही आप मुझे प्राप्त कर सकेंगे। शौर्य दिखलाकर, वीरोचित रीति से आप मुझे ले जायं। बड़े भैया ने निश्चय कर लिया है कि वह शिशुपाल के साथ ही मेरा ब्याह करेंगे। विवाह के दिन प्रथा के अनुसार मुझे पूजा के लिए गौरी-मंदिर जाना होगा। साथ में सहेलियां भी होंगी। वह अवसर मुझे बचाने का हो सकता है। तभी आप मुझे ले जा सकेंगे। यदि आप यह न करेंगे तो मैं अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दूंगी, जिससे कम-से-कम अगले जन्म में तो आपको पा सकूं......."

द्वारकाधीश ने पत्र पढ़ा। एक क्षण कुछ सोचा और रथ मंगाकर विदर्भ देश को रवाना हो गए।

विदर्भ देश की राजधानी कुंडिनपुर की शोभा अनूठी हो रही थी। राजकन्या का विवाह होनेवाला था, इसलिए नगर बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था। विवाह की तैयारियां बड़ी धूम-धाम से हो रही थीं। शिशुपाल अपने बन्धु-बांधवों के साथ आ पहुंचा था। ये सब-के-सब द्वारकाधीश के शत्रु थे।

उधर जब श्री बलराम ने सुना कि कृष्ण अकेले विदर्भ देश रवाना हो गये तो वह बड़े चिंतित हुए। सोचा, विदर्भ-नरेश की पुत्री के सिल-सिले में ही कृष्ण वहां गया होगा। संभव है, वहां कृष्ण अपने दुश्मनों से घिर जाय और उसके प्राणों पर संकट आ जाय। यह सोचकर उन्होंने तत्काल एक बड़ी सेना इकट्ठी की और कुंडिनपुर की ओर तेजी से प्रस्थान कर दिया।

उधर विवाह के दिन राजकन्या रुक्मिणी राजमहल से निकलकर

गौरी-मन्दिर की ओर चली। साथ में सहेलियों और सैनिकों की एक बड़ी पल्टन उसे घेरे हुए थी। मन्दिर में जाकर उसने विधिपूर्वक देवी की पूजा की। पूजा के बाद रुक्मिणी ने हाथ जोड़कर देवी से प्रार्थना की—

"देवी! तेरे चरणों में मैं सिर नवाती हूं। मेरी मनोव्यथा तुम बड़ी अच्छी तरह जानती हो। मैं तुमसे क्या कहूं? मुझे यही वरदान दो कि श्रीकृष्ण मेरे पति बनें।"

रुक्मिणी जब मन्दिर से निकली तो सामने श्रीकृष्ण का रथ देखा। देखते ही उसकी ओर कुछ ऐसी खिंची हुई-सी चली, जैसे चुंबक की ओर लोहे की सुई। रथ के पास पहुंचते ही श्रीकृष्ण ने सहारा देकर उसे रथ पर चढ़ा लिया और सैनिकों तथा सहेलियों के देखते-देखते श्रीकृष्ण का रथ हवा से बातें करने लगा।

सैनिक कुमार रुक्मी के पास दौड़े गये और इसकी सूचना दी। तुरन्त ही रुक्मी ने सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा किया; पर रास्ते में ही बलरामजी की सेना मिली। श्रीकृष्ण रुक्मिणी-समेत उस सेना में आ मिले। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। बलराम और श्रीकृष्ण ने रुक्मी की सेना को तितर-बितर कर दिया और विजय का डंका बजाते हुए द्वारका लौट आये। वहां पहुंचने पर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया।

अभिमानी रुक्मी श्रीकृष्ण के हाथों हार जाने के कारण बहुत ही दुःखी हुआ। नगर में वापस जाते हुए उसे बड़ी झेंप आई। विदर्भ न जाकर, जहां श्रीकृष्ण के साथ युद्ध हुआ था, वहीं भोजकट नाम का नया नगर बसाकर वह रह गया।

कुरुक्षेत्र में होनेवाले युद्ध के समाचार सुनकर रुक्मी एक अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध में सम्मिलित होने को गया। उसने सोचा कि यह अवसर वासुदेव की मित्रता प्राप्त कर लेने के लिए ठीक होगा। इसलिए वह पांडवों के पास पहुंचा और अर्जुन से बोला—"पांडुपुत्र! आपकी सेना से शत्रु-सेना कुछ अधिक मालूम होती है। इस कारण मैं आपकी सहायता करने आया हूं। शत्रु-सेना के जिस हिस्से पर आप कहें, मैं

आक्रमण करने को तैयार हूं। मैं इतना शक्तिशाली हूं कि द्रोण, भीष्म या कृपाचार्य, इनमें से किसी एक को युद्ध में जीत सकता हूं। मैं आपको विजय दिला दूंगा। अतः बताइये कि आपकी क्या इच्छा है?"

यह सुन अर्जुन ने हँसते हुए श्रीकृष्ण की ओर देखा और रुक्मी से बोले—"राजन्! हम शत्रु की भारी सेना देखकर भय नहीं खाते। न हम इस शर्त पर आपकी सहायता ही चाहते हैं। आप बिना किसी शर्त के सहायता करना चाहते हों तो आपका स्वागत है। नहीं तो आपकी जैसी इच्छा!"

यह सुन रुक्मी बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपनी सेना लेकर दुर्योधन के पास चला गया।

"पांडव हमें नहीं चाहते, इस कारण मैं आपकी सहायता को आया हूं।" रुक्मी ने दुर्योधन से कहा।

"यह बात है। पांडवों के अस्वीकार करने पर आपने हमारी तरफ आने की कृपा की! किन्तु पांडवों ने जिसकी सहायता स्वीकार नहीं की, हमें उसकी सहायता स्वीकार करने की जरूरत नहीं।" यह कहकर दुर्योधन ने भी रुक्मी की सहायता ठुकरा दी। बेचारा रुक्मी दोनों तरफ से अपमानित होकर भोजकट को वापस लौट गया।

•

रुक्मी कर्त्तव्य से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से कुरुक्षेत्र गया और अपमानित हुआ। युद्ध में तटस्थ रहने के भी कई कारण होते हैं। कोई शांतिप्रियता के कारण युद्ध में शरीक नहीं होते। कोई स्वार्थ, गर्व आदि राजसी गुणों के कारण; और कोई सुस्ती, भय आदि तामसी गुणों के कारण युद्ध से किनाराकशी करते हैं। मतलब यह है कि सबका कार्य एक-जैसा होने पर भी उद्देश्य में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार आकाश-पाताल का अंतर हो जाता है।

महाभारत में बलराम भी तटस्थ रहे और रुक्मी भी। किन्तु जहां बलराम सात्त्विक गुण से प्रेरित होकर युद्ध से हट गये, वहां रुक्मी को अपने राजसी गुण के कारण तटस्थ रहना पड़ा।

: ६१ :

असहयोग

युद्ध आरम्भ करने के एक दिन पहले पितामह भीष्म, दुर्योधन को धीरज बंधाने के लिए, उनके पक्ष के वीरों की युद्ध-कुशलता एवं दूसरी खूबियों का सुविस्तृत वर्णन करने लगे। अपनी ओर से लड़नेवाले वीरों की विशेषताएं सुनकर दुर्योधन का हौसला बढ़ता गया गया। इतने में कर्ण का जिक्र आया।

भीष्म ने कहा—"मैं कर्ण को कोई बड़ा भारी वीर नहीं मानता; यद्यपि वह तुम्हारे स्नेह का पात्र बना हुआ है। पांडवों के प्रति तुम्हारे मन में द्वेष-भाव बढ़ाना उसीका काम था। अपने मुंह अपनी प्रशंसा करते वह कभी थकता नहीं। उसके गर्व की कोई सीमा ही नहीं। मैं तो अतिरथियों में भी उसकी गणना नहीं करता। उसमें विवेक की बहुत कमी है। उसे दूसरों की निन्दा करने का व्यसन हो गया है। इसके अलावा, अपने जन्म-जात कवच-कुण्डलों से भी हाथ धो बैठा है। इसलिए वह युद्ध में हमारी अधिक सहायता कर सकेगा, इसमें मुझे शंका है। इसके अतिरिक्त परशुरामजी का शाप उसने और प्राप्त कर लिया है। इससे ऐन वक्त पर इसकी स्मरण-शक्ति और नष्ट हो जायगी। इस कारण इस बात की कोई आशा नहीं की जा सकती कि अर्जुन के साथ लड़ने पर कर्ण जीवित रह सकेगा।"

भीष्म की बातें सच्ची होने पर भी कर्ण एवं दुर्योधन को बहुत कड़वी लगीं।

इस पर आचार्य द्रोण ने भी जले पर नमक छिड़का। वह बोले—"पितामह बिल्कुल ठीक कहते हैं। कर्ण मदांध है, घमंडी है। जिन बातों पर ध्यान देना चाहिए उनकी ओर ध्यान न देने के कारण तथा अनावश्यक बातों को तूल देने के कारण मेरा भी खयाल है, अर्जुन के साथ युद्ध में इसकी हार ही होगी।"

दोनों वृद्ध योद्धाओं की कड़वी बातें सुनकर कर्ण को बड़ा गुस्सा

आया। उसकी आंखें लाल हो गईं। भीष्म की ओर देखकर बोला—"पितामह, मैंने आपका क्या बिगाड़ा है, जो आप मुझे हमेशा ही नीचा दिखाने के लिए कमर कसे बैठे रहते हैं। आप मुझसे इतनी घृणा क्यों करते हैं? इस प्रकार कड़वे वचनों से मुझे क्यों बेधते रहते हैं? इससे मेरे दिल पर उल्टा ही असर होता है। आपकी राय में मैं युद्ध के योग्य नहीं हूं। तो अपने बारे में भी मेरी राय सुन लीजिये। असल बात यह है कि आप मुझसे नफरत करते हैं और दुर्योधन का भला नहीं चाहते। यही कारण है, आप हर उचित-अनुचित उपाय से हम दोनों मित्रों में फूट पैदा करने की चेष्टा कर रहे हैं और मेरे प्रति दुर्योधन का स्नेह कम करने का प्रयत्न करते रहते हैं। आप इतने समझदार होकर यह अन्याय क्यों करते हैं? फिर बुढ़ापे के कारण अब आपमें कुछ दम भी तो नहीं रहा है जो इतना बढ़-चढ़कर बोल रहे हैं। आपको नहीं मालूम कि क्षत्रियों की इज्जत बुढ़ापे से नहीं, बल्कि वीरता से होती है। दुर्योधन और मेरे बीच जो मित्रता कायम है, उसे तोड़ने और हममें मन-मुटाव पैदा करने का आपका प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।"

भीष्म के प्रति इतना कह चुकने के बाद कर्ण दुर्योधन को संबोधित करते हुए बोला—"महाराज, आप भलीभांति सोच-विचार कर वही करें, जिसमें आपका हित हो। मेरी राय में तो इन बूढ़े भीष्म का भरोसा अधिक नहीं करना चाहिए। ये तो यही चाहते हैं कि हममें फूट पैदा हो जाय और सदा अनबन बनी रहे। मेरे बारे में इन्होंने जो-कुछ कहा है, उससे आपके मन में अड़चन ही पैदा होगी। यह मेरा तेज कम करने और मेरा हौसला पस्त करने को मानो कमर कसे बैठे हैं। यह तो नहीं सोचते कि बूढ़े शरीर का क्या ठिकाना! मौत तो इनके दरवाजे पहुंची हुई है। फिर भी गर्व इतना कि और किसी को कुछ समझते ही नहीं। माना कि बूढ़ों से सम्मति लेनी और उनकी सलाह माननी चाहिए। पर बुढ़ापे में कार्य-शक्ति की एक सीमा ही होती है; पर ये बातें ऐसी करते हैं मानो फिर से जवानी आ रही हो। किन्तु ऐसी ऊपर से थोपी गई जवानी भी क्या काम दे सकती है? आपने क्या सोचकर इन बूढ़ को सेनापति बनाया है? परिणाम यही होगा कि पराक्रम दूसरे लोग करेंगे

और यश इनको प्राप्त होगा। प्राणों पर तो खेलेंगे जवान लोग, और यश प्राप्त करेंगे बूढ़े। जबतक सेना का संचालन इन बूढ़े, कांपते हाथों में रहेगा, तब तक मेरा हौसला तो बढ़ेगा नहीं। मैं लड़ाई नहीं कर सकूंगा। मुझे तो आप भीष्म के बाद ही याद करना। मैं तभी हथियार उठाऊंगा।"

घमंड में भूले हुए व्यक्तियों को अपने दोष नहीं सूझते। वे अक्सर यही समझते रहते हैं कि दोष बतानेवाले में घमंड बहुत अधिक होता है। अपने दोष दूसरे के मुंह से सुनना भी नागवार गुजरता है।

भीष्म को कर्ण की अनर्गल बातों पर क्रोध तो बहुत आया, पर उन्होंने समय की विषमता का विचार करके क्रोध पी लिया और बोले—

"कर्ण! परिस्थिति बड़ी विकट है और मेरे कंधों पर इसे संभालने का भार है। इसी कारण तेरे इन वचनों को मैंने सुन लिया है और सह लिया है। यदि यह बात न होती तो अब तक तुम जीवित भी न रह पाते। कौरवों के संपर्क में न जाने किस बुरी घड़ी में तुम आये कि जिससे उन पर यह भारी संकट आ पड़ा है।" इतना कहकर भीष्म ने अपने को संभाल लिया।

दोनोंको इस प्रकार वाक्-युद्ध करते देख दुर्योधन बोला—"पितामह! आप शांत हो जायं। मैं तो आप दोनों ही की सहायता का अभिलाषी हूं और दोनों की ही मदद से विजय-प्राप्ति की आशा कर रहा हूं। दोनों ही महान् वीरता का परिचय देनेवाले हैं और कल सूर्योदय होते ही युद्ध शुरू होनेवाला है। ऐसे अवसर पर हम आपस में न झगड़ें।"

भीष्म तो शांत हो ही गये थे; किन्तु कर्ण अपनी जिद पर अड़ा रहा। उसने यही हठ पकड़ ली कि जब तक भीष्म सेनापति रहेंगे, तब तक वह हथियार नहीं उठायेगा। लाचार होकर दुर्योधन को यह मान लेना पड़ा और कर्ण का प्रण पूरा होकर रहा। महाभारत के युद्ध में पहले दस दिन कर्ण ने लड़ाई में बिल्कुल हिस्सा नहीं लिया। हां, उसने अपनी सेना को अवश्य लड़ाई में भेजा।

दस दिन पूरे हुए। महारथी भीष्म का शरीर बाणों से बिंधकर छलनी-सा बन चुका था। युद्ध के मैदान में वह आहत पड़े थे, तब जाकर

कर्ण को होश आया और उसे अपनी भूल महसूस हुई। उसने भीष्म के पैर पकड़कर क्षमा मांगी और भीष्म ने कर्ण को क्षमा ही नहीं किया, बल्कि आशीर्वाद भी दिया।

इसपर स्वयं कर्ण की प्रेरणा से आचार्य द्रोण सेनापति बनाये गए। द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में कर्ण ने युद्ध में हिस्सा लिया। द्रोणाचार्य भी खेत रहे। उसके बाद फिर कर्ण ने कौरव सेना का सेनापतित्व स्वीकार करके युद्ध का संचालन किया।

: ६२ :

गीता की उत्पत्ति

कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों तरफ की सेनाएं लड़ने को तैयार खड़ी थीं। उन दिनों की रीति के अनुसार दोनों पक्ष के वीरों ने युद्ध-नीति पर चलने की प्रतिज्ञाएं लीं।

युद्ध की प्रणाली एवं पद्धति समय-समय पर बदलती रहती थी। उन दिनों की युद्ध-प्रणाली को ध्यान में रखते हुए हमें यह कथा पढ़नी चाहिए। तभी हर घटना का सही चित्र हमारे सामने आयेगा, नहीं तो घटनाओं में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता का भ्रम हो सकता है।

महाभारत के युद्ध की शर्तें थीं—

रोज सूर्यास्त के बाद लड़ाई बन्द हो जाय। युद्ध बंद होने के बाद दोनो पक्षों के लोग आपस में मिलें। समान बलवालों में ही टक्कर हो। अनुचित या अन्यायपूर्ण ढंग से कोई लड़ नहीं सकता। सेना से दूर हट जानेवालों पर बाणों या हथियारों का प्रहार न हो। रथी रथी से, हाथी-सवार हाथीसवार से, घुड़सवार घुड़सवार से और पैदल पैदल से ही लड़े। शत्रु पर विश्वास करके जो लड़ना बंद कर दे उसपर, या डरकर हार मानने या सिर झुकानेवाले पर शस्त्र का प्रयोग न होना चाहिए। दो योद्धा आपस में युद्ध कर रहे तों हो उनको सूचना दिये बिना, या सावधान किये बिना, तीसरे को उनपर या किसी एक पर शस्त्र नहीं चलाना चाहिए। निहत्थे, असावधान, पीठ दिखाकर भागनेवाले या कवच

से रहित को हथियार चलाकर नहीं मारना चाहिए। हथियार पहुंचाने और ढोनेवालों, अनुचरों, भेरी बजानेवालोंऔर शंख फूंकनेवालों पर भी हथियार नहीं चलाना चाहिए। लड़ाई के इन नियमों को दोनों विरोधी पक्षों ने प्रतिज्ञापूर्वक मान लिया।

ज्यों-ज्यों समय बदलता जाता है, संसार की रीति-नीति भी बदलती जाती है। न्याय एवं अन्याय की विवेचना भी एक जैसी स्थिर नहीं रहती, न ही न्याय-अन्याय को निर्धारित करनेवाले नियम ही कायम रहते हैं। आजकल की लड़ाइयों में जो नीति बरती जाती है, उसके अनुसार, जो भी सामान या जानवर लड़ाई में काम दे सकें, उन सबको नष्ट किया जा सकता है। चाहे वे घोड़े-जैसे बेजान जानवर हों, या दवाओं-जैसी आवश्यक वस्तुएं हों। किन्तु उन दिनों की रीति कुछ और ही थी।

कहने का मतलब यह नहीं कि उन दिनों के प्रचलित विधि-निषेधों का कभी उल्लंघन होता ही नहीं था। उलटे महाभारत के कई प्रसंगों से साफ पता चलता है कि उन दिनों भी, विभिन्न कारणों से शर्तें कभी-कभी तोड़ी जाती थीं। कभी-कभी ऐसा हुआ करता है कि कुछ खास अवसरों पर, विशेष कारणों से, प्रचलित नियमों का उल्लंघन करना पड़ता है। कभी-कभी यहां तक नौबत पहुंच जाती है कि पुराने विधि-निषेधों के स्थान पर नये ही नियम बनाने पड़ जाते हैं।

महाभारत के युद्ध में भी कभी-कभी ये नियम तोड़े अवश्य गये हैं, किन्तु आमतौर पर सबने उपर्युक्त शर्तें मान ली थीं और उन्हीं के अनुसार वे लड़े भी थे। कभी किसी के शर्त तोड़ने की खबर पड़ी तो उस की सबने निंदा ही की, तोड़नेवाला भी लज्जित हुआ और अन्त में पछताया।

सेनापति भीष्म ने कौरव-सेना के वीरों को उत्साहित करते हुए कहा—

"वीरो! वह देखो, तुम्हारे सामने स्वर्ग का द्वार तुम्हारा स्वागत करने के लिए खुला पड़ा है। तुमको ऐसा अहोभाग्य प्राप्त हो सकता है कि तुम देवराज इन्द्र के साथ या ब्रह्मा के साथ इन्द्रलोक या ब्रह्मलोक में जाकर निवास करो। तुम सब उसी मार्ग का अनुसरण करो, जिस-पर तुम्हारे बाप-दादाओं एवं उनके पूर्वजों के पवित्र चरण-चिह्न अंकित

हैं। तुम्हारे विख्यात वंशों का यही सनातन धर्म रहा है कि या तो विजय का यश प्राप्त करें, या वीरोचित स्वर्ग। अतः वीरो! चिंता छोड़ दो और आनन्द एवं उत्साह के साथ जूझ पड़ो, यश और कीर्त्ति प्राप्त करो। घर में पलंग पर पड़े-पड़े बीमारी से मरना क्षत्रियोचित मृत्यु नहीं है। क्षत्रिय का यही धर्म है कि समर-भूमि में जौहर दिखलावे, विजय प्राप्त करे या शस्त्र-प्रहार से मृत्यु को प्राप्त हो।"

सेनापति भीष्म की ये उत्साह-भरी बातें सुनकर वीर योद्धाओं ने भेरियां बजाकर कौरवों का जयजयकार किया, मानों मरते दम तक युद्ध करने और वीरगति प्राप्त करने की घोषणा की।

कौरव-सेना के वीरों की ध्वजाएं बड़ी शान से रथों पर फहरा रही थीं। भीष्म की ध्वजा में ताड़ के पेड़ और तारिकाओं का चित्र अंकित था। सिंह की पूंछ से चित्रित अश्वत्थामा की ध्वजा हवा में लहरा रही थीं। द्रोणाचार्य की ध्वजा हरे रंग की थी और उसपर कमंडलु एवं धनुष के चित्र प्रकाश में चमक रहे थे। दुर्योधन की सुविख्यात ध्वजा में सांप फन फैलाये हुए दिखाई देता था। कृपाचार्य की ध्वजा पर वृषभ का और जयद्रथ की ध्वजा पर शूकर के चित्र सुशोभित हो रहे थे। इसी भांति हरेक वीर के रथ पर विभिन्न रंग-रूप की ध्वजाएं लहरा रही थीं।

कौरवों की सेना की व्यूह-रचना देखकर युधिष्ठिर ने अर्जुन को आज्ञा दी—

"शत्रुओं की सेना संख्या में बहुत बड़ी मालूम होती है। हमारी सेना कुछ कम है, इस कारण इसकी व्यूह-रचना ऐसे करो, जिसमें वह अधिक न फैल जाय। एक जगह सब वीरों को इकट्ठे रहकर लड़ना होगा। अतः सेना को सूची-मुख (सुई की नोक के समान) व्यूह में सज्जित करो।"

इस प्रकार दोनों पक्ष की सेनाओं की व्यूह-रचना हो गई। अर्जुन ने युद्ध के लिए तैयार हुए वीरों को देखा तो उसके मन में शंका हुई कि हम यह क्या करने जा रहे हैं। उसने अपनी शंका श्रीकृष्ण पर प्रकट की और तब अर्जुन के इस भ्रम को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने जिस कर्मयोग का उपदेश दिया, वह तो विश्वविख्यात है। श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में वह ग्रंथ आज भी सारे संसार के लोगों को—चाहे वे किसी

भी देश के हों—मुक्ति-मार्ग पर चलने का रास्ता बताता है।

: ६३ :
आशीर्वाद-प्राप्ति

सब लोग इसीकी राह देख रहे थे कि कब युद्ध शुरू हो, तभी एकाएक पांडव-सेना के बीच हलचल मच गई। देखते क्या हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर ने अचानक अपना कवच और धनुष-बाण उतारकर रथ पर रख दिया है और रथ से उतरकर हाथ जोड़े कौरव-सेना की हथियारबंद सैनिक पंक्तियों को चीरते हुए भीष्म की ओर पैदल जा रहे हैं। बिना कुछ सूचना दिये उनको इस प्रकार जाते देखकर दोनों ही पक्ष वाले अचंभे में आ गये।

अर्जुन तुरन्त रथ से कूद पड़ा और युधिष्ठिर के पीछे कौरव-सेना में घुस गया। दूसरे पांडव और श्रीकृष्ण भी उनके साथ हो लिये। उन्हें यह डर हो रहा था कि अपनी स्वाभाविक शांतिप्रियता के आवेश में युधिष्ठिर कहीं इस घड़ी युद्ध न करने की या युद्ध बंद करने की न ठान लें।

अर्जुन लपककर युधिष्ठिर के पास जा पहुंचा और उनसे बोला—"महाराज, आप इस हालत में हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? आपने कवच और शस्त्र क्यों उतार डाले? शत्रु तो कवच और अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित खड़े हैं। और बस, अब युद्ध शुरू ही होने वाला है। आखिर आपकी मंशा क्या है?"

पर युधिष्ठिर को तो कुछ सुनायी नहीं देता था। वह अपनी ही धुन में चले जा रहे थे। अर्जुन की बातें उन्होंने सुनी ही नहीं। वह आगे बढ़ते चले गये।

इतने में श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन, मैं समझ गया कि महाराज युधिष्ठिर की इच्छा क्या है। वह युद्ध शुरू होने से पहले पितामह भीष्म आदि बड़े-बूढ़ों की अनुमति एवं आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए इस इकार निःशस्त्र होकर जा रहे हैं, क्योंकि बिना बड़े-बूढ़ों की आज्ञा लिये युद्ध करना अनुचित माना जाता है। यही कारण है कि धर्मराज ने यह न्यायोचित और विजय प्राप्त करनेवाली नीति अख्तियार की। धर्मराज का उद्देश्य अच्छा ही है।"

उधर दुर्योधन की सेना के वीरों ने जब देखा कि युधिष्ठिर बाँहें ऊपर उठाये और हाथ जोड़े चले आ रहे हैं तो समझा कि वह संधि करने के उद्देश्य से ही आ रहे होंगे। यह सोचकर किसीने तो उन्हें धिक्कारा। कुछ ने आनन्द का अनुभव किया और कुछ आपस में कहने लगे—

"वह देखो! राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े निःशस्त्र होकर चले आ रहे हैं। हमारी भारी सेना देखकर वह डर गए हैं और अब हमसे सुलह करने आ रहे हैं। धिक्कार है ऐसे डरपोकों को, जो सारे क्षत्रिय-कुल के अपमान का कारण बन रहे हैं!"

शत्रु-सेना के हथियारबंद वीरों की कतार को चीरते हुए युधिष्ठिर सीधे पितामह भीष्म के पास जा पहुंचे और झुककर उनके चरण छुए। फिर बोले—"पितामह! हमने आपके साथ लड़ने का दुःसाहस कर ही लिया। कृपया हमें युद्ध करने की अनुमति दीजिये और आशीर्वाद भी कि हम युद्ध में विजय प्राप्त करें।"

भीष्म बोले—"बेटा युधिष्ठिर, मुझे तुमसे यही आशा थी। तुमने भरत-वंश की मर्यादा रख ली। तुमसे मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। मैं स्वतन्त्र नहीं हूं—विवश होकर मुझे तुम्हारे विपक्ष में रहना पड़ा है। फिर भी मेरी यही कामना है कि रण में विजय तुम्हारी हो। जाओ, हिम्मत से युद्ध करो—विजय तुम्हारी ही होगी। तुम कभी परास्त नहीं हो सकते।"

भीष्म की आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर लेने के बाद युधिष्ठिर आचार्य द्रोण के पास गये और परिक्रमा करके उनको दंडवत् किया। आचार्य ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"धन किसी के अधीन नहीं होता। किंतु मनुष्य तो धन ही का गुलाम बना रहता है। यही कारण है कि मैं भी कौरवों के अधीन हूं—उनका साथ देने को विवश हूं। फिर भी मेरी यही कामना है कि जीत तुम्हारी ही हो।" आचार्य द्रोण से आशीष ले धर्मराज ने आचार्य कृप एवं मद्रराज शल्य के पास जाकर उनके भी

आशीर्वाद प्राप्त किये और अपनी सेना में लौट आये।

युद्ध शुरू हुआ, तो पहले बड़े योद्धाओं में द्वंद्व होने लगा। बराबर की ताकतवाले, एक ही जैसे हथियार लेकर दो-दो की जोड़ी में लड़ने लगे। अर्जुन के साथ भीष्म, सात्यकि के साथ कृतवर्मा और अभिमन्यु बृहत्पाल के साथ भिड़ गये। भीमसेन दुर्योधन से जा भिड़ा। युधिष्ठिर शल्य के साथ लड़ने लगे। धृष्टद्युम्न ने आचार्य द्रोण पर सारी शक्ति लगाकर हमला बोल दिया और इसी प्रकार प्रत्येक वीर युद्ध-धर्म का पालन करता हुआ द्वंद्व-युद्ध करने लगा।

इन हजारों द्वंद्व-युद्धों के अलावा 'संकुल युद्ध' भी होने लगा। हजारों-लाखों सैनिकों के झुंड-के-झुंड जाकर विरोधी सैनिक-दलों पर टूट पड़ने लगे। इस प्रकार एक दल के दूसरे दल से लड़ने को 'संकुल युद्ध' कहा जाता था। दोनों पक्षों के असंख्य सैनिक पागलों की भांति अंधाधुंध लड़े और गाजर-मूली की भांति कट-मरे। रक्त और मांस के साथ रौंदी जाकर हरी-भरी भूमि कीचड़-भरे दलदल-सी बन गई। ऊपर से कितने ही घोड़े और हाथी भी इस दलदल में कट-कटकर गिरे। इस कारण रथों का चलना कठिन हो गया। उनके पहिये कीचड़ में धंस जाते थे। कभी-कभी लाशों में फंस जाने से भी रथों की गति रुक जाती थी।

आजकल की युद्ध-प्रणाली में द्वंद्व-युद्ध की प्रथा तो बंद हो गई है। अंधाधुंध 'संकुल युद्ध' ही हुआ करता है।

भीष्म के नेतृत्व में कौरव वीरों ने दस दिन तक युद्ध किया। दस दिन के बाद भीष्म आहत हुए और द्रोणाचार्य सेनापति नियुक्त किये गए। द्रोणाचार्य भी जब खेत रहे तो कर्ण को सेनापतित्व ग्रहण करना पड़ा। सत्रहवें दिन की लड़ाई में कर्ण का भी स्वर्गवास हो गया। उसके बाद शल्य ने कौरवों का सेनापति बनकर सेना का संचालन किया।

इस प्रकार महाभारत का युद्ध कुल अठारह दिन चला। युद्ध के अंतिम दिनों में घोर अन्याय और कुचक्रों से काम लिया गया। बुरी युक्तियों का बोलबाला हो गया।

प्रायः देखा जाता है कि धर्म अचानक नष्ट नहीं हो जाता। समय-समय पर उसे विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और

उसकी परीक्षा हुआ करती है। बड़े-बड़े धर्मात्मा भी ऐसी नाजुक घड़ियों में अपने औसान भूल जाते हैं और अधर्म की राह चल पड़ते हैं। बड़े जिस रास्ते जायं, साधारण लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं। फलतः अधर्म पर सबके-सब उतारू हो जाते हैं। धीरे-धीरे धर्म की आवाज नक्कारखाने में तूती की-सी हो जाती है। अंत में धर्म का नाम-निशान तक मिट जाता है और संसार पर अधर्म का ही राज हो जाता है।

: ६४ :
पहला दिन

अक्सर कौरवों की सेना के अग्रभाग पर दुःशासन ही रहा करता था और पांडवों की सेना के आगे भीमसेन। वीरों के गर्जन, शंखों के बजने की तुमुल ध्वनि, विविध बाजों का शब्द, भेरियों का भैरव-निनाद, घोड़ों का हिनहिनाना, हाथियों का चिंघाड़ना आदि सभी शब्दों ने मिल-कर आकाश को गुंजा दिया था। बाणों को 'सायं-सायं' करके जाते देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश से तारे टूट रहे हों। बाप ने बेटे को मारा। बेटे ने पिता के प्राण लिये। भानजे ने मामा का वध किया। मामा ने भानजे का काम तमाम किया। युद्ध का यह दृश्य था।

पहले दिन की लड़ाई में भीष्म ने पांडवों पर ऐसा हमला किया कि देखकर पांडव-सेना थर्रा उठी। पितामह का रथ जिधर चला, उधर ही कालदेव का भयंकर नृत्य-सा होने लगा। सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु यह देखकर क्रोध में आ गया और उसने वृद्ध पितामह का बढ़ना रोका। दोनों पक्ष के वीरों में से सबसे छोटे बालक अभिमन्यु को, सबसे वयोवृद्ध धनुर्धारी भीष्म से भिड़ते देखकर देवता लोग भी मुग्ध हो गये।

अभिमन्यु का रथ आगे बढ़ा। उसकी ध्वजा पर सोने का कर्णिकार वृक्ष चित्रित था। अभिमन्यु ने कृतवर्मा पर एक बाण चलाया, शल्य पर पांच और भीष्म पर नौ बाण मारे। एक और बाण से दुर्मुख के सारथी का सिर धड़ से अलग गिरा दिया। दूसरे बाण से कृपाचार्य के धनुष को नष्ट कर दिया। अभिमन्यु की यह युद्ध-कुशलता देखकर देवताओं

ने फूल बरसाये। भीष्म और उनके अनुगामी वीरों ने भी सुभद्रा-पुत्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि यह तो पिता के ही समान वीर है।

इसके बाद कौरव-वीरों ने अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया और एक साथ उसपर बाणों की बौछार कर दी। किंतु अभिमन्यु इससे तनिक भी विचलित नहीं हुआ। भीष्म ने जितने बाण मारे उन सबको अभिमन्यु ने अपने बाणों से काटकर उड़ा दिया। एक बाण उसने ऐसा निशाना ताककर मारा कि जिससे भीष्म के रथ की ध्वजा कट गई। भीष्म के रथ की ध्वजा कटी देखकर भीमसेन का दिल बांसों उछल पड़ा और वह सिंह की भांति दहाड़ उठा। काका की गरज सुनकर भतीजे का हौसला दस गुना बढ़ गया।

सुकुमार बालक की इस अद्भुत रण-कुशलता को देखकर पितामह का मन भी अभिमान एवं आनन्द से फूल उठा। उनको खेद हुआ कि मुझ बूढ़े को अपनी सारी शक्ति लगाकर अपने पोते से लड़ना पड़ रहा है! यह सोचकर वह बड़े व्यथित हुए। फिर भी अपना कर्त्तव्य समझकर बालक पर बाणों की बौछार करने लगे। यह देखकर विराट, उत्तर, धृष्टद्युम्न, भीमसेन आदि पांडव-पक्ष के वीरों ने आकर चारों ओर से अभिमन्यु को घेरकर अपने बीच में ले लिया और सबने भीष्म पर जोरों का हमला कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि भीष्म को अभिमन्यु की तरफ से ध्यान हटाकर इन लोगों से अपना बचाव करना पड़ गया।

विराटराज-पुत्र कुमार उत्तर हाथी पर सवार होकर शल्य से आ भिड़ा। शल्य के रथ के चारों घोड़े हाथी के पांव के नीचे आ गये और कुचल कर मर गये। यह देख मद्रराज बड़े जोश में आ गये और अपना शक्ति नामक हथियार उत्तर पर चला दिया। वह अस्त्र उत्तर का कवच भेदकर ठीक उसकी छाती के अंदर जा लगा। उसके हाथ से अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये और हाथी के मस्तक पर से राजकुमार उत्तर का मृत शरीर पृथ्वी पर लुढ़क पड़ा।

उत्तर के स्वर्ग सिधार जाने पर भी उसके हाथी ने शल्य पर धावा करना न छोड़ा। मद्रराज में और उत्तर के हाथी में ऐसी भीषण भिड़ंत

हुई कि देखते ही बनता था। शल्य ने खड्ग का प्रहार करके हाथी की सूंड काटकर गिरा दी। तिसपर भी हाथी का जोश ठंडा न हुआ। यह देखकर शल्य ने उसके मर्म-स्थानों को बाणों से बींध डाला और तब वह हाथी, भयानक चिंघाड़ के साथ गिर पड़ा।

विराटराज के जेठे पुत्र श्वेत ने दूर से देखा कि उसके छोटे भाई को शल्य ने मार डाला है; इससे उसे अपार क्रोध हो गया। क्रोध के मारे वह ऐसे लाल हो उठा जैसे घी डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। राजकुमार ने अग्नि-ज्वाला की भांति मद्रराज के रथ पर हमला कर दिया। कुमार श्वेत के हाथों शल्य की कहीं मृत्यु न हो जाय, इस भय से सात रथिकों ने मद्रराज को अपने घेरे में ले लिया। उन सातों ने रथ पर से श्वेत पर उजले बाणों की बौछार की तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे काले-काले बादलों पर असंख्य बिजलियां कौंध रही हों। श्वेत इससे तनिक भी विचलित न हुआ। उसने अपने बाणों के प्रहारों से कौरववीरों के तेज धनुष काट डाले। इसपर सातों वीरों ने सात शक्तियों का श्वेत पर प्रयोग किया। श्वेत ने सात भाले फेंककर उन शक्तियों के टुकड़े कर दिये। श्वेत ने ऐसी वीरता दिखाई कि स्वयं कौरव वीर भी विस्मित रह गये। इतने में शल्य को आफत में फंसा देखकर दुर्योधन एक भारी सेना लेकर उनकी रक्षा के लिए चला। इस सेना में और पांडव सेना में भयानक युद्ध छिड़ गया। हजारों वीर खेत रहे। असंख्य रथों के धुर्रे उड़ गये। हजारों की संख्या में हाथी और घोड़े ढेर होकर गिर पड़े। श्वेत ने दुर्योधन की सेना की धज्जियां उड़ा दीं और उसे तितर-बितर करके भीष्म पर ही वार कर दिया और दोनों में घमासान युद्ध होने लगा।

राजकुमार श्वेत ने भीष्म के रथ की ध्वजा फिर काटकर गिरादी। भीष्म ने श्वेत के रथ के घोड़े और सारथी को बाणों से मार गिराया और रथ की ध्वजा काट डाली। तब फिर श्वेत ने अपना शक्ति नामक अस्त्र भीष्म पर चला दिया। भीष्म ने तीर चलाकर उसे बीच ही में रोक लिया।

इस पर श्वेत ने भारी गदा उठाकर जोर से घुमाई और भीष्म के रथ पर दे मारी। भीष्म को रथ पर से कूदकर अपने प्राण बचाने पड़े। श्वेत की गदा के वार से भीष्म का रथ चूर-चूर होकर बिखर गया। भीष्म

क्रोध के मारे आपे से बाहर होगये और एक बाण खींचकर श्वेत पर जोर से मारा। बाण के लगते ही विराट-कुमार श्वेत के प्राण-पखेरू उड़ गये। यह देख दुःशासन बाजे बजाता हुआ नाच उठा। इसके बाद भीष्म ने पांडवों की सेना में भयंकर प्रलय मचा दी।

पहले दिन की लड़ाई में पांडवों की सेना बहुत ही तंग हुई। धर्मराज युधिष्ठिर के मन में भय छा गया। दुर्योधन आनंद के कारण झूमता हुआ दिखाई दिया। पांडव घबराहट के मारे श्रीकृष्ण के पास गये।

श्रीकृष्ण सबका साहस बंधाते हुए युधिष्ठिर से बोले—"भारतश्रेष्ठ! आप कोई चिन्ता न करें। आपके चारों भाई विख्यात शूर हैं, तो फिर आप व्यर्थ भय-विह्वल हो रहे हैं। आपका साथ देने के लिए जब विराट-राज, पांचालराज, उनके वीर पुत्र धृष्टद्युम्न एवं हम हैं तो फिर घबराने का कारण क्या है? क्या आपको यह भी स्मरण नहीं रहा कि भीष्म को मारना शिखंडी के जीवन का एकमात्र ध्येय है?" इस प्रकार श्रीकृष्ण युधिष्ठिर और पांडव-सेना का धीरज बंधाने लगे।

: ६५ :

दूसरा दिन

पहले दिन की लड़ाई में पांडव-सेना की जो दुर्गति हुई उससे सबक लेकर पांडव-सेना के नायक धृष्टद्युम्न ने दूसरे दिन बड़ी सर्तकता के साथ व्यूह-रचना की और सैनिकों का साहस बंधाया।

क्षुब्ध सागर-सी फैली अपनी सेना को देखकर दुर्योधन मारे दर्प के झूम उठा और गरजकर बोला—"वीरो! प्राण हथेली पर लेकर लड़ो। जीत हमारी होकर रहेगी।"

भीष्म के सेनापतित्व में कौरवसेना ने पांडवों की सेना पर फिर भीषण आक्रमण कर दिया। पांडवों की सेना तितर-बितर हो गई। बड़ा हाहाकार मच गया। असंख्य वीर मौत के घाट उतारे जाने लगे।

यह देख अर्जुन से न रहा गया। अपने सारथी वासुदेव से बोला—"यदि हम इसी प्रकार लापरवाह तो रहे भीष्म हमारी सेना को मटिया-

मेट करके छोड़ेंगे। इसलिए हमें मन लगाकर लड़ना होगा और भीष्म का वध करके ही दम लेना होगा, नहीं तो हमारी सेना की कुशल नहीं।"

"ठीक कहते हो, धनंजय! यह लो। मैं भीष्म की ओर ही अपना रथ लिये चलता हूँ। लो, ये भीष्म खड़े हैं।" कहते-कहते श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ भीष्म की ओर घुमा दिया।

अर्जुन के रथ को अपनी ओर तेजी से आते देखकर भीष्म ने उसका बाणों से वीरोचित स्वागत किया। सारा विश्व जिन्हें वीरों में श्रेष्ठ कहकर पूजता था, उन महारथी भीष्म ने बड़ी सतर्कता के साथ, चुने हुए बाण, निशाना साधकर अर्जुन पर चलाये। दुर्योधन ने पहले ही से आज्ञा दे रक्खी थी कि सभी वीर हर हालत में भीष्म की ही रक्षा में तत्पर रहें, अतः कौरव वीर भीष्म को चारों ओर से घेरकर अर्जुन का मुकाबला करने लगे।

किंतु अर्जुन भला इन आघातों की कब परवाह करने वाला था! वह निधड़क कौरव-सेना की पंक्ति तोड़ता हुआ आगे बढ़ा। सारी कौरव-सेना में तीन ही ऐसे वीर थे, जो अर्जुन का मुकाबला कर सकते थे। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण। इन तीन वीरों को छोड़कर और कोई भी अर्जुन के आगे क्षण-भर भी नहीं टिक सकता था। सारे कौरव-वीरों को अपना प्रतिरोध करते देखकर अर्जुन ने उनकी पंक्ति तोड़ दी और उनके ठीक बीचोंबीच जा डटा और फिर अपना गांडीव धनुष हाथ में लेकर इस कुशलता से उसने युद्ध किया कि कौरव-सेना के सभी महारथी देखकर दंग रह गये। शत्रुओं के रथों के बीच होता हुआ अर्जुन का रथ इस वेग से इधर-उधर चक्कर काटता रहा कि कोई उसे कहीं देख ही नहीं पाता था। इस अद्भुत युद्ध-कुशलता को देखकर दुर्योधन को देखकर का कलेजा कांप उठा। भीष्म पर से उसका विश्वास उठ-सा गया।

भय-विह्वल होकर वह बोला—"पितामह, प्रतीत होता है, आपके व आचार्य द्रोण के जीते-जी अर्जुन और श्रीकृष्ण सारी कौरव सेना को धूल में मिलाकर रहेंगे। महारथी कर्ण ने, जो मुझसे स्नेह करता है, आपके कारण हथियार न उठाने का प्रण कर रक्खा है। जान पड़ता है, मुझे निराशा का ही सामना करना होगा! आप मुझे किसी प्रकार उबार लें

ग्रौर कोई-न-कोई उपाय करके ग्रर्जुन को मौत के मुंह पहुंचा दें।"

इन कटु वचनों से भीष्म को बड़ा क्रोध हुग्रा और जोश में आकर भीष्म ने अर्जुन पर जोरों से हमला कर दिया। भीष्म और अर्जुन में ऐसा भयानक संग्राम हुआ कि आकाश में स्वयं देवता लोग उसे देखने के लिए आ इकट्ठे हुए। भीष्म ग्रौर अर्जुन दोनों के ही रथों में सफेद घोड़े जुते हुऐ थे। दोनों ही समान शक्ति-संपन्न थे और रण-कुशलता में भी एक-दूसरे से कम न थे। बड़े उत्साह के साथ दोनों वीरों ने अपनी-अपनी कुशलता दिखाई, मानों उन्हें असीम आनंद आ रहा हो। बड़ी देर तक यह युद्ध चलता रहा। दोनों तरफ से एक-दूसरे पर असंख्य बाण चलाये गये। बाणों ने बाणों को काटकर गिरा दिया। कभी-कभी भीष्म के चलाये कुछ बाण श्रीकृष्ण की छाती पर भी लग गये। घावों से लहू बहने लगा। श्रीकृष्ण के श्याम रंग के शरीर पर खून की बूंदें ऐसी सुशोभित हुईं जैसे तमाल-वृक्ष (वालश-वृक्ष) की हरी-हरी टहनियों पर लाल फूल शोभा दे रहे हों। श्रीकृष्ण को इस प्रकार घायल देखकर अर्जुन आप से बाहर हो गया। क्रोधित होकर वह भीष्म पर टूट पड़ा और एकबारगी जोर का धावा कर दिया।

इस प्रकार अर्जुन और भीष्म के बीच बड़ी देर तक तुमुल युद्ध होता रहा, फिर भी हार-जीत का कोई निर्णय न हो सका। दोनों ने अद्भुत चतुरता का परिचय दिया धा। जब दोनों के रथ वेग से आकर दूसरे से टकराते थे तब दूर से देखनेवाले केवल ध्वजा देखकर ही पहचानते थे कि कौन-सा रथ भीष्म का है और कौन-सा अर्जुन का। वरना दोनों रथों में कोई अंतर ही दिखाई नहीं पड़ता था। यह चमत्कार देखकर मनुष्य तो मनुष्य, स्वयं देवता लोग भी विस्मय में पड़ जाते थे। एक ओर यह अद्भुत युद्ध हो रहा था, दूसरी ओर द्रुपदराज के पुत्र धृष्टद्युम्न, जो द्रोणाचार्य के जन्म के वैरी थे, आचार्य के साथ भिड़े हुए थे।

आचार्य द्रोण ने धृष्टद्युम्न पर तीखे बाणों की बौछार करके उन्हें घायल कर दिया। पर धृष्टद्युम्न जरा भी न घबराया। वह घृणापूर्वक हँसता हुआ आचार्य पर बाण बरसाता रहा। आचार्य ने सहज ही में उन बाणो को काट गिराया। इसमें धृष्टद्युम्न का सारथी भी मारा गया।

इससे राजकुमार को बहुत क्रोध हो आया। उत्तेजित होकर भारी गदा हाथ में लेकर वह द्रोण पर टूट पड़ा। ग्राचार्य ने गदा को बाणों से चूर-चूर कर दिया। फिर धृष्टद्युम्न तलवार लेकर द्रोण पर ऐसे झपटा, जैसे हाथी पर सिंह। किंतु द्रोण ने शरों की वर्षा से राजकुमार का शरीर बुरी तरह से बींध डाला। यहां तक कि धृष्टद्युम्न से चला भी नहीं गया। इतने में पांचाल-राजकुमार की यह हालत देखकर भीमसेन उसके बचाव के लिए दौड़ा और द्रोणाचार्य पर बाणों की एक साथ वर्षा कर दी। इससे पल भर के लिए द्रोण रुक गये। यह समय पाकर भीमसेन ने धृष्टद्युम्न को अपने रथ पर बिठा लिया और युद्ध-क्षेत्र से बाहर निकाल लिया।

यह देखकर दुर्योधन ने कलिंगराज की सेना को आज्ञा दी कि वह भीम का पीछा करे और उसपर हमला करे।

कलिंग-सेना को भीमसेन ने तहस-नहस कर दिया। उस सेना के असंख्य सैनिक मृत्यु के घाट उतार दिये। भीम ने ऐसा प्रलय मचाया कि देखकर सेना हाहाकार कर उठी। वह कहने लगी कि कहीं यमराज तो भीम के रूप में नहीं उतर आये! एक बार निराशा का यह भाव मन में आना था कि कौरव सेना की हिम्मत टूट गई। सैनिकों के मन में भय छा गया। उनका हौसला पस्त हो गया। कौरव सेना का यह हाल देखकर भीष्म अर्जुन से लड़ना छोड़कर उनकी सहायता के लिए इधर आ पहुंचे। यह देखकर सात्यकि, अभिमन्यु आदि पांडव वीर भी भीमसेन की रक्षा के लिए आ गये और भीष्म पर सबने हमला कर दिया। सात्यकि के चलाये एक बाण ने भीष्म के सारथी को मार गिराया। सारथी के गिर जाने पर घोड़े हवा से बातें करते हुए अत्यन्त वेग से भाग खड़े हुए। यह देख पांडव सेना के वीर बांसों उछल पड़े और साथ ही कौरवों की सेना पर टूट पड़े। इससे कौरव सेना में बड़ी तबाही मची। सब कौरव वीर पश्चिम की ओर देख-देखकर यह मानने लगे कि कब सूर्यास्त हो और युद्ध बन्द हो, ताकि इस तबाही से मुक्ति मिले।

निदान सूर्य अस्त हुआ। संध्या हुई। भीष्म द्रोणाचार्य से बोले—"आचार्य! उचित यही होगा कि अब युद्ध बन्द कर दिया जाय। ग्राज हमारी सेना के वीर बहुत थक गये हैं।"

और आज का युद्ध बन्द हुआ। अर्जुन आदि पांडव वीर विजय के बाजे बजाते और आनन्द से झूमते हुए अपने शिविरों को लौटे।

पहले दिन की लड़ाई के बाद पांडवों में जो आतंक छाया हुआ था, वह आज के युद्ध के अन्त में कौरवों के मन में छा गया।

: ६६ :
तीसरा दिन

तीसरे दिन सवेरे भीष्म ने अपनी सेना की गरुड़ के आकार में व्यूह-रचना की और उसके अगले सिरे का बचाव दुर्योधन के जिम्मे किया। सब प्रकार की तैयारियां बड़ी सतर्कता के साथ की गई थीं। इसलिए कौरवों को दृढ़ विश्वास था कि शत्रु आज हमारा व्यूह तोड़ ही नहीं सकेंगे।

उधर पांडवों ने भी बड़ी सतर्कता के साथ व्यूह-रचना की। अर्जुन और धृष्टद्युम्न ने सलाह करके कौरवों का गरुड़-व्यूह तोड़ने के उद्देश्य से अपनी सेना का व्यूह अर्द्ध-चन्द्र की शक्ल में बनाया। एक सिरे पर भीमसेन और दूसरे पर अर्जुन रक्षा करने के लिए खड़े हो गये कि जिससे सेना का बचाव भलीभांति हो सके।

इस प्रकार दानों सेनाओं की व्यूह-रचना हो जाने के बाद दोनों पक्ष फिर युद्ध में लग गये और एक-दूसरे पर हमला करने लगे। दोनों सेनाओं की टुकड़ियां इस प्रकार आपस में एक-दूसरे से गुंथ गई और उनमें इतना भीषण संक्षोभ होने लगा कि रथों, हाथियों और घोड़ों के तेज चलने के कारण धूल उड़कर आकाश में छा गई, जिसके कारण सूरज भी छिप गया। अर्जुन ने कौरव सेना पर बड़ा भीषण हमला किया। फिर भी वह शत्रु-सैन्य का मोर्चा न तोड़ सका।

कौरव सेना के वीरों ने भी पांडवों की कतारें तोड़ने की चेष्टा की और वे अपनी सारी शक्ति लेकर अर्जुन पर टूट पड़े। कौरव वीरों ने अपने सब प्रकार के तेज हथियारों से अर्जुन के रथ पर भीषण हमला कर दिया। टिड्डी-दल की भाँति अपनी ओर आते हुए उन हथियारों को

अर्जुन ने अपनी रण-कुशलता से रोक लिया और बड़ी तेजी से अपने चारों ओर बाण चलाते हुए उसने बाणों का एक घेरा-सा खड़ा कर लिया और इस प्रकार शत्रु-दल के भयानक हथियारों को निकम्मा कर दिया।

उधर दूसरी ओर शकुनि को भारी सेना के साथ आता हुआ देखकर सात्यकि और अभिमन्यु ने उसका मुकाबला किया। शकुनि भी बड़ा कुशल योद्धा था। सात्यकि के रथ को उसने तहस-नहस कर दिया। इससे सात्यकि जोश में आ गया और अभिमन्यु के रथ पर चढ़कर शकुनि की सेना पर भीषण हमला करके उसे नष्ट कर दिया।

युधिष्ठिर जिस सेना का संचालन कर रहे थे, उस पर भीष्म और द्रोणाचार्य एक साथ टूट पड़े। यह देखकर नकुल और सहदेव युधिष्ठिर की सहायता करने दौड़ पड़े और द्रोणाचार्य की सेना पर बाणों से जोरों से हमला कर दिया। उधर भीम और घटोत्कच ने एक साथ दुर्योधन पर हमला बोल दिया। घटोत्कच ने ऐसी कुशलता का परिचय दिया कि उसके सामने स्वयं भीमसेन का पराक्रम भी फीका पड़ गया।

भीमसेन के चलाये एक बाण से दुर्योधन जोर का धक्का खाकर बेहोश हो गया और रथ पर गिर पड़ा। यह देख उसके सारथी ने सोचा कि दुर्योधन को लड़ाई के मैदान से हटा लिया जाय, जिससे कौरव सेना को दुर्योधन के मूर्च्छित होने का पता न चले। उसे भय हुआ कि अगर सेना को पता चल गया कि दुर्योधन मूर्च्छित हो गया है तो खलबली मच जायगी और व्यूह-रचना टूट जायगी। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर सारथी जल्दी से रथ को युद्ध-भूमि से हटाकर छावनी की ओर ले गया; किन्तु उसने जो सोचा था, हुआ उससे उल्टा ही। कौरव सेना का अनुशासन स्थिर रखने के उद्देश्य से उसने जो कार्य किया था, वही उसके अनुशासन के टूटने और सेना में खलबली मच जाने का कारण बन गया। कौरव सैनिकों ने समझा कि दुर्योधन युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़े हुए। इससे सारी कौरव-सेना भयभीत हो उठी। सैनिकों में भगदड़ मच गई। इस प्रकार सेना का अनुशासन भंग हो जाने पर व्यूह-रचना भी नष्ट हो गई। घबराये हुए और भय के मारे भागनेवाले सैनिकों का पीछा करके भीमसेन ने उन्हें बाण मार-मारकर बहुत परेशान किया।

तितर-बितर हो रही कौरव सेना को सेनापति भीष्म एवं आचार्य द्रोण ने किसी तरह इकट्ठा किया और फिर से व्यवस्थित रूप से व्यूह-रचना की। इसी बीच दुर्योधन की मूर्च्छा दूर हुई तो उसने भी मैदान में आकर परिस्थिति को सम्हालने में भीष्म और द्रोण का हाथ बंटाया। जब ज़रा शांति हुई और व्यवस्था बंधी तो वह भीष्म के पास गया और पितामह भीष्म को जली-कटी सुनाने लगा। बोला—

"आप और आचार्यजी क्या करते हैं, जो अपनी सेना को भी ठीक से सम्हालकर नहीं रख सकते और जब उस पर हमला होता है, तो उसे तितर-बितर होते देखकर भी कुछ करते-धरते नहीं। आपके सेनापतित्व में सेना का यह हाल हो, यह हमारे और आपके लिए बड़े अपमान की बात है! मालूम होता है कि आप पर इसका कोई असर नहीं हो रहा है। इसका तो यही अर्थ है कि आप पांडवों को चाहते हैं। यदि यह सही है तो पहले ही से आपने क्यों नहीं कह दिया कि मैं पांडवों, सात्यकि, धृष्टद्युम्न आदि के विरुद्ध नहीं लड़ सकता? मुझे स्पष्ट क्यों नहीं बता दिया कि तेरे शत्रु ही मेरे प्रिय हैं? यदि यह बात न हो और आप और द्रोणाचार्य मन लगाकर पांडवों से लड़ें तो उस सेना को हराना आप दोनों के बायें हाथ का खेल है। अब भी समय है कि आप दोनों स्पष्ट रूप से मुझे बता दें। अगर मेरा साथ छोड़ देना है तो बिना किसी झिझक के कह दें और पांडवों के पक्ष में चले जायं। मैं अकेला ही उनसे लड़ लूंगा।"

युद्ध में बुरी तरह से हार जाने से दुर्योधन घबरा गया था। फिर उसे पहले ही से मालूम था कि भीष्म मेरी चालों को पसंद नहीं करते। यहीं नहीं, घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी कारण खिसियाकर उसने भीष्म को खूब जली-कटी सुनाई।

दुर्योधन की इन मूर्खता-भरी बातों पर भीष्म को ज़रा हँसी-सी आई। वह बोले—"बेटा! मैंने अपनी बात छिपाई कहां है? स्पष्ट रूप से तुमको जो सलाह मैंने दी उसकी ओर तुमने जरा भी ध्यान नहीं दिया। कितनी बार तुम्हें समझाकर कहा कि पांडवों पर विजय तुम कभी नहीं पा सकोगे। पर तुमने मेरी चेतावनी पर ध्यान ही कब दिया और कर्ण के बहकावे में आकर युद्ध छेड़ दिया। यह मेरी तो भूल नहीं थी।

फिर यदि मैं तुम्हारा साथ दे रहा हूं तो केवल कर्त्तव्य से प्रेरित होकर। यद्यपि मैं बूढ़ा हो गया हूं, पर लड़ाई में मैं पीछे हटनेवाला नहीं हूं। तुम अपने मन से यह खयाल हटा दो कि मैं पांडवों के प्रेम के कारण उन्हें हराने में कोई कसर उठा रखूंगा।"

इतना कहकर भीष्म ने फिर से युद्ध शुरू कर दिया।

इधर पांडवों की सेना में आनन्द छाया हुआ था। दिन के पहले भाग में उन्होंने कौरव सेना पर जिस प्रकार हमला करके उसे तितर-बितर कर दिया था, उससे इस बात की आशा न थी कि भीष्म इस बिखरी सेना को फिर से इकट्ठा करके हम पर टूट पड़ेंगे। पर उनका यह विचार गलत साबित हुआ। भीष्म ने ऐसा भयानक हमला किया कि पांडव सेना के पांव उखड़ गये। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो भीष्म ने माया से अपने को एक से अनेक बना लिया हो। जिधर देखो, उधर भीष्म-ही-भीष्म दिखाई देते थे। दुर्योधन की जली-कटी बातों ने उनके क्रोध को इतना भड़का दिया कि वह ऐसे दिखाई दिये, जैसे कोई जलता हुआ अंगार इधर-से-उधर घूमकर प्रलय मचा रहा हो। जो भी भीष्म के सामने आया, भस्म हो गया, जैसे पतंगा आग में गिरकर भस्म हो जाता है। भीष्म ने ऐसा प्रलयंकारी युद्ध किया कि पांडव सेना भय-विह्वल हो उठी और तितर-बितर होकर भागने लगी। श्रीकृष्ण, अर्जुन और शिखण्डी के प्रयत्नों के बावजूद सेना अनुशासन न रख सकी।

यह सब देख श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन! अब तैयार हो जाओ। आज तुम्हारी परीक्षा का समय आ गया। तुमने शपथ खायी थी न, कि भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों एवं मित्रों तथा संबंधियों का संहार करूंगा? अब समय आ गया कि अपनी शपथ को पूरा कर दिखाओ। हमारी सेना इस समय भय-विचलित हो रही है। उसके पांव उखड़ रहे हैं। यही समय है कि भीष्म पर जोर का आक्रमण करके अपनी सेना का उत्साह बंधाओ और उसे नष्ट हो जाने से बचाओ।"

अर्जुन ने यह सब देखा और श्रीकृष्ण के कथन पर विचार करके निश्चयपूर्वक बोला—"माधव, आप रथ को भीष्म की ओर कर लीजिये।"

अर्जुन का रथ तेजी से भीष्म की लोर चला। भीष्म ने अर्जुन को

अपनी ओर आते देख बाणों की बौछार से उसे रोकने की चेष्टा की। अर्जुन ने गांडीव पर चढ़ाकर तीन बाण ऐसे खींचकर मारे कि भीष्म का धनुष टूट गया। भीष्म ने दूसरा धनुष हाथ में लिया और प्रत्यंचा चढ़ाना ही चाहते थे कि अर्जुन के बाण ने उसके भी टुकड़े कर दिये। अर्जुन की यह निपुणता देखकर पितामह भीष्म मुग्ध हो गये। पर भीष्म ने भी बड़ी निपुणता के साथ बहुत-से अचूक बाण अर्जुन को लक्ष्य करके मारे। अर्जुन ने उन बाणों का काट तो दिया; परन्तु श्रीकृष्ण को उससे तसल्ली न हुई। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि भीष्म के प्रति अर्जुन के मन में जो श्रद्धा है, उसके कारण अर्जुन ठीक से युद्ध नहीं कर रहा है। उधर भीष्म का आक्रमण तो हर घड़ी बल पकड़ता जा रहा था। पांडव सेना घबरायी हुई भाग रही थी। ऐसी विषम परिस्थिति में ज़रा भी हिचकिचाने से बना-बनाया काम बिगड़ने का भय था।

यह सोचकर श्रीकृष्ण ने, भीष्म के बाणों से बचने के लिए, अर्जुन के रथ को घुमा-फिराकर बड़ी निपुणता से चलाया; परन्तु फिर भी भीष्म के चलाये हुए कई बाण अर्जुन एवं श्रीकृष्ण के शरीर पर लग ही गये। इस पर श्रीकृष्ण को असीम क्रोध हो आया। उनसे न रहा गया। उन्होंने खुद भीष्म को मारने की ठानी। घोड़ों की रास छोड़ रथ पर से कूद पड़े और एक टूटे रथ का चक्र ही हाथ में लेकर भीष्म की ओर दौड़े।

किन्तु भीष्म इससे ज़रा भी विचलित न हुए। उनके मुख पर प्रसन्नता झलक रही थी। आह्लाद के साथ बोल उठे—"आओ, माधव, आओ! आओ! नमस्कार है तुम्हें। मेरे अहोभाग्य कि मेरी खातिर तुम्हें रथ पर से उतरना पड़ा! करो मेरा वध कि जिससे मेरा यश तीनों लोकों में व्याप्त हो जाय। तुम्हारे हाथों मरकर तो मैं वह पद प्राप्त करूंगा, जहां से इस पार लौटना ही नहीं पड़ता।"

अर्जुन यह देखकर सन्न रह गया। उसने सोचा कि यह तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। वह रथ से उतरा और श्रीकृष्ण के पीछे भागा। बड़े परिश्रम से श्रीकृष्ण के पास पहुंचकर उन्हें पकड़ पाया और बोला—"रुष्ट न हों, माधव! मैं स्वयं युद्ध करूंगा। मेरी सुस्ती को क्षमा करें।"

अर्जुन के आग्रह पर श्रीकृष्ण वापस लौटे और फिर से अर्जुन का रथ हांकने लगे।

श्रीकृष्ण के इस कार्य से अर्जुन उत्तेजित हो उठा और कौरव सेना पर वह मानो वज्र के समान गिरा। हजारों की संख्या में कौरव वीरों को उसने मौत के घाट उतार दिया और शाम होते-होते कौरव सेना बड़ी बुरी तरह से हार गई। थकी-हारी सेना मशालों की रोशनी में अपने शिविर को लौट चली।

कौरव सैनिक आपस में बातें करते थे कि भीष्म को हराना अर्जुन की ही सामर्थ्य की बात थी। अर्जुन के सिवा और किसकी हिम्मत थी जो हारी लड़ाई को जीत में बदल देता।

: ६७ :
चौथा दिन

लड़ाई में हर दिन एक ही जैसी घटनाएं हुआ करती हैं। मार-काट व हार-जीत के सिवाय उसमें होता भी क्या है कि जिससे कथा मनोरंजक बने? परन्तु महाभारत के आख्यान की सर्व-प्रधान घटना ही युद्ध है। उसे अगर ध्यान से न पढ़ा जाय तो कथा के भावों और भावोद्वेगों का सही परिचय प्राप्त नहीं हो सकता।

पौ फटी। भीष्म ने कौरवों की सेना का फिर से व्यूह रचा। द्रोण, दुर्योधन आदि वीर उन्हें घेरकर खड़े हो गये। वह उस समय ऐसे मालूम होते थे मानों देवताओं से घिरे देवराज इन्द्र ही हाथ में वज्र लिये खड़े हों। अपनी व्यूह-रचना से संतुष्ट हो भीष्म ने सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी। उधर हनुमान की ध्वजावाले रथ पर से अर्जुन ने भीष्म की हलचलों का निरीक्षण कर लिया और वह भी युद्ध के लिए तैयार हो गया। लड़ाई शुरू हो गई।

अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन, शल-पुत्र आदि पांचों वीरों ने बालक अभिमन्यु को एक साथ घेर लिया और भीषण वार करने लगे। अर्जुन का वीर बालक ज़रा भी विचलित न हुआ और पांचों आक्रमण-

कारियों का दृढ़ता के साथ मुकाबला करने लगा मानो एक सिंह-शावक हाथियों के समूह का मुकाबला करता हो। अर्जुन ने जब यह देखा तो उसे बड़ा क्रोध आया और तुरन्त अभिमन्यु के पास पहुंच गया। अर्जुन के आ जाने से युद्ध में और गरमी आ गई। इतने में धृष्टद्युम्न भी बड़ी सेना लेकर उधर आ पहुंचा।

शल का पुत्र मारा गया। यह खबर पाकर शल और शल्य दोनों उस जगह आ पहुंचे और धृष्टद्युम्न पर बाणों की वर्षा करने लगे। शल्य ने एक तीखा बाण चलाकर धृष्टद्युम्न का धनुष काट डाला। यह देख अभिमन्यु से न रहा गया। उसने शल्य पर तेज बाणों की बौछार कर दी। अभिमन्यु का क्रोध देखकर कौरव वीर कांप उठे। शल्य पर भारी संकट आया जानकर दुर्योधन और उसके भाई उनकी मदद पर आ गये और शल्य को चारों ओर से घेर लिया। इसी बीच भीमसेन भी उधर आ पहुंचा और जमकर युद्ध करने लगा। दुःशासन आदि ने जब यह देखा तो एकबारगी कांप उठे। यह देख दुर्योधन को बड़ा क्रोध हो आया। उसने क्रोध में भर कर हाथियों की भारी सेना ले भीमसेन पर हमला कर दिया। चिंघाड़ते हुए हमला करनेवाले हाथियों का मुकाबला करने के लिए भीमसेन रथ पर से कूद पड़ा और लोहे की एक भारी गदा लेकर उन पर पिल पड़ा। भीम की मार खाकर हाथी भयभीत हो उठे और आपस में ही लड़ने लगे। वह दृश्य बड़ा भीषण व साथ-साथ दयनीय भी था। कौरवों की हाथी-सेना का यह हाल देखकर पांडव सेना के वीर उन हाथियों पर बाणों की सतत बौछार करने लगे जिससे वे और भी भयभीत हो गये।

भीमसेन उन मस्त हाथियों के बीच में घुस गया और उनको बुरी तरह से मार गिराने लगा। उस समय ऐसा मालूम होता था, मानो देवराज इन्द्र पर्वतों के पंख काट रहे हों। असंख्य हाथी मारे गये और पहाड़ों की भांति रण-भूमि में गिर पड़े। बचे-खुचे हाथी घबराहट के मारे इधर-उधर भागते हुए कौरवों की सेना का नाश करने लगे।

यह सब देखकर दुर्योधन से न रहा गया। उसने आज्ञा दे दी कि सारी कौरव-सेना एकत्र होकर अकेले भीम पर आक्रमण कर दे; पर

कौरव सेना के इस आक्रमण से भीमसेन ज़रा भी विचलित न हुआ और सुमेरु पर्वत के समान अचल डटा रहा।

इसी बीच पांडव सेना के और वीर भीम की सहायता को आ पहुंचे।

दुर्योधन ने भीम पर जो बाण चलाये थे, उनमें से कई भीमसेन की छाती पर लग गये थे। इससे भीम चिढ़ गया था। वह फिर से रथारूढ़ हो गया और सारथी से बोला—"विशोक! देखो तो, धृतराष्ट्र के लड़के मेरे सामने युद्ध-क्षेत्र में आ खड़े हुए हैं। मैं बड़ा ही खुश हूं। मेरे इच्छा-रूपी पेड़ पर मानो आज ही फल निकल रहे हैं और मेरे हाथ आगये हैं। तुम घोड़ों की रास को ज़रा संभालकर पकड़लो और रथ को सतर्कता से हांको। मैं आज ही इन सबको यमराज के दरबार में भेजे देता हूं।"

यह कहते-कहते भीमसेन ने धनुष तानकर दुर्योधन पर कई बाण एक साथ चला दिये। बाणों का प्रहार ऐसा भीषण था कि दुर्योधन के अगर कवच न होता तो उसके प्राण ही निकल गए होते। कवच के कारण वह बच गया। इस हमले में भीमसेन ने दुर्योधन के आठ भाई मार डाले।

दुर्योधन ने भी क्रोध में आकर कई तीखे बाण भीमसेन पर चलाये। एक बाण से भीमसेन के धनुष के टुकड़े कर दिये। इसपर भीमसेन ने दूसरा धनुष ले लिया और तलवार की-सी तेज धारवाला बाण चलाकर दुर्योधन का धनुष काट डाला। दुर्योधन ने भी दूसरा धनुष ले लिया और निशाना साधकर भीमसेन की छाती पर एक भीषण अस्त्र चलाया। चोट खाकर भीम मूर्छित-सा होकर रथ पर बैठ गया। यह देख अभिमन्यु आदि वीरों ने दुर्योधन पर प्रखर अस्त्रों की वर्षा कर दी। अपने पिता का यह हाल देखकर घटोत्कच के क्रोध का ठिकाना न रहा। वह आपे से बाहर हो गया और उसने भयानक युद्ध कर दिया। घटोत्कच के भीषण आक्रमण के आगे कौरव सेना टिक न सकी।

सेना को विह्वल होती देखकर भीष्म पितामह द्रोण से बले—"द्विजवर! इस राक्षस के आते आज हम नहीं ठहर सकेंगे। एक तो हमारे सैनिक थके हुए हैं, दूसरे शाम भी हो चली है। अंधेरा हो जाने पर तो राक्षस की शक्ति और भी बढ़ेगी। इस कारण आज का युद्ध अभी बंद कर दें। कल फिर देखा जायगा।" यह कहकर भीष्म ने युद्ध बंद कर

दिया और सेना लौटा ली ।

उस दिन की लड़ाई में दुर्योधन के कितने ही भाई मारे गये । चिंता-ग्रस्त दुर्योधन अपने शिविर में जाकर व्यथित-हृदय बैठ गया । उसकी आंखें भर आईं ।

हस्तिनापुर में संजय महाभारत-युद्ध की घटनाओं का वर्णन धृत-राष्ट्र को सुना रहा था । अपने पुत्रों की मृत्यु का हाल सुनकर धृतराष्ट्र आर्त्त स्वर में बोले—

"संजय ! तुम तो मेरे ही बंधु-मित्रों एवं पुत्रों के मारे जाने और दुःख उठाने की बात सुनाते जा रहे हो ! क्या इसका मतलब यह है कि मेरे पुत्र और उनके साथी ही हार रहे हैं ? संजय ! सचमुच मुझे बहुत शोक होता है । कौन-सी ऐसी बात है, जिससे मेरे पुत्र जीतने की आशा करते हैं ? यह मेरे लिए असह्य हो रहा है । ऐसा मलूम होता है, मानो प्रारब्ध का लिखा कोई मेट नहीं सकता ।"

संजय ने उत्तर दिया—"राजन् ! यह जो कुछ अन्याय हो रहा है, वह सब आपके ही कर्म का परिणाम है । अब घबराने से क्या हो सकता है ? अस्थिर न होइए ! दृढ़ता के साथ सारी घटनाओं का हाल सुनते जाइए ।"

"विदुर की सब बातें अब सच साबित हो रही है ।"—कहकर धृत-राष्ट्र ने गहरी सांस ली और अपने बिस्तर पर पड़ गये ।

"संजय ! जैसे कोई तैरकर समुद्र को पार नहीं कर सकता वैसे ही इस असीम दुःख को मैं कभी पार नहीं कर सकूंगा ।"—धृतराष्ट्र ने रुद्ध कंठ से कहा ।

कुरुक्षेत्र के मैदान का आंखों-देखा हाल संजय धृतराष्ट्र को सुनाता जाता था । वहां का बयान सुनते-सुते धृतराष्ट्र व्यथित हो जाते और वह दुःख उनकी सहन-शक्ति से भारी हो जाता तो वह कुछ कह-सुनकर अपना शोक-भार हल्का कर लेते ।

"मेरे सारे पुत्र भीमसेन के ही हाथों मार डाले जाने वाले हैं ! हमारे पक्ष में कौन-सा ऐसा शूर-वीर है, जो मेरे पुत्रों की रक्षा कर सके ? मेरे

ध्यान में तो ऐसा कोई वीर हमारी तरफ दीखता नहीं । युद्ध में हारकर हमारी सेना मैदान छोड़कर भागती है तो भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदि वीर खड़े-खड़े क्या देखा ही करते हैं ? सेना को बचाने का वे कोई प्रयत्न नहीं करते ? कौन-सी अशुभ घड़ी मेरे लड़कों की रक्षा करने का उन्होंने निश्चय किया था ? अगर यही हालत रही तो मेरा एक भी पुत्र जीता नहीं बचता दीखता । हा दैव ! तूने मेरे भाग्य में क्या लिख रखा है ?" यह कहकर वृद्ध धृतराष्ट्र रोने लगे ।

संजय बोले—"राजन् ! शान्त होइए । पांडव धर्म पर स्थिर हैं । इसलिए युद्ध में भी विजय उन्हीं की होनी है । माना कि आपके भी पुत्र बड़े वीर हैं । किंतु उनके मन में कुविचार ही उठते हैं । यही कारण है कि उनकी अवनति ही होती जा रही है । अबतक पांडवों की उन्होंने बुराई की । अब वे अपने ही किये का फल पा रहे हैं । पांडव और कुछ नहीं करते, केवल क्षत्रियोचित ढंग से न्यायपूर्वक युद्ध कर रहे हैं । न्याय के मार्ग से विचलित न होने के कारण उनका बल नष्ट नहीं हुआ, उल्टे वह बढ़ रहा है । आपको विदुर ने, द्रोण ने, भीष्म ने और मैंने कितना समझाया ! फिर भी आपने किसीकी न सुनी । अपने हितैषियों की बात न मानी । अपनी ही राह चले । जैसे कोई रोगी मूर्खतावश दवा न खाने की हठ करे, वैसे ही आप अपने मूर्ख पुत्र की राय मानते रहे और वह बात नहीं मानी जिससे कुल का हित हो सकता था । अब आप पछता रहे हैं; लेकिन इससे क्या फायदा हो सकता है ! और सुनिए, आपके पुत्र दुर्योधन ने भी चौथी रात को भीष्म से यही प्रश्न किया जो आपने अभी मुझसे किया । भीष्म ने उसका क्या उत्तर दिया, यह भी आपको अभी सुनाता हूं ।"

इस भूमिका के साथ संजय ने आगे कहना शुरू किया—

चौथे दिन का युद्ध बन्द हुआ । रात हो चली । दुर्योधन अकेला पिता-मह भीष्म के शिविर में गया और बड़ी नम्रता के साथ पूछा—"पिता-मह, यह तो सारा संसार जानता है कि आप, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, भूरिश्रवा, विकर्ण, भगदत्त आदि साहसी वीर मृत्यु से जरा भी नहीं डरते । इसमें कोई संदेह नहीं कि आप लोगों की शक्ति और पराक्रम

के सामने पांडवों की सेना कुछ नहीं है। आप में से एक-एक के विरुद्ध पांचों पांडव इकट्ठे भी जुट जाएँ, फिर भी उनकी जीत नहीं हो सकेगी। इतना सब कुछ होते हुए भी, क्या कारण है कि कुंती के पुत्र हमें रोज युद्ध में हराते जाते हैं? अवश्य इसमें कोई रहस्य मालूम होता है। मुझे यह समझाइये।"

भीष्म ने शांत-भाव से उत्तर दिया—"बेटा दुर्योधन! मेरी बात सुनो। मैंने कितनी ही प्रकार से तुम्हें समझाया। ऐसी युक्तियाँ बताईं जिनसे तुम्हारा हित हो सकता था, परन्तु तुमने एक न सुनी। बड़े-बूढ़ों का कहा न माना। पर अब भी चेत जाओ। पांडवों से संधि कर लो, जिसमें तुम्हारी भी कुशल हो और संसार की भी। आखिर दोनों एक ही कुल के हो—भाई-भाई हो, राज्य को आपस में बांटकर दोनों बंधु-गण सुखपूर्वक भोग सकते हो। इससे पहले भी मैंने तुम्हें यही सलाह दी; पर तुमने नहीं मानी। उल्टे पांडवों का अपमान किया। अब तुम यह अपने ही किए का फल पा रहे हो। भगवान् कृष्ण जिनके रक्षक हैं, उन पांडवों की विजय अवश्य होगी, इसमें संदेह नहीं। अब भी मैं तुमको सावधान किये देता हूं कि पांडवों से संधि कर लेना ठीक होगा। इससे एक तो तुम्हें शक्तिमान भाई प्राप्त होंगे। दूसरे, तुम राज्य का भी सुख भोग सकते हो। स्मरण रहे कि श्रीकृष्ण और अर्जुन नर-नारायण के अवतार हैं। उनकी अवहेलना करोगे तो तुम्हारा सर्वनाश निश्चित है।"

दुर्योधन अपने शिविर में चला गया। पलंग पर लेटा हुआ बड़ी देर तक विचारों में डूबा रहा। इसी प्रकार सोचते-सोचते उसे नींद नहीं आई।

: ६८ :

पांचवां दिन

सुबह होने पर दोनों सेनाएं फिर युद्ध के लिए सज्जित हो गईं। भीष्म ने आज और भी अधिक अच्छी तरह अपनी सेना की व्यूह-रचना की। उधर पांडव-सेना की भी व्यूह-रचना युधिष्ठिर ने बड़ी सतर्कता से की। सदा की भांति भीमसेन सेना के आगे खड़ा हो गया। शिखंडी,

धृष्टद्युम्न और सात्यकि, उनके पीछे सेना की रक्षा करते हुए खड़े रहे और सब पांडव-वीर श्रेणी-बद्ध होकर उनके पीछे। सबसे पिछली कतार में युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव खड़े थे।

शंख-ध्वनि के साथ लड़ाई शुरू हो गई। भीष्म ने धनुष तानकर बाणों की झड़ी लगा दी और शीघ्र ही पांडव सेना का नाक में दम कर दिया। सेना में हाहकार मच गया। यह देख धनंजय ने भीष्म पर कई बाणों से हमला किया।

आज भी अपनी सेना को भयभीत होते देखकर दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को बुरा-भला कहा। द्रोण इससे क्रोध में आ गये और बोले—"तुम पांडवों के पराक्रम से परिचित तो हो नहीं, और व्यर्थ में यह बकझक किया करते हो। मैं अपनी ओर से युद्ध करने में कोई कसर नहीं रखता, इतना तुम निश्चय जानो।" और यह कहकर द्रोणाचार्य पांडवों की सेना पर टूट पड़े। यह देख सात्यकि ने उसका पूरी ताकत से जवाब दिया। दोनों में भयानक युद्ध छिड़ गया। परन्तु आचार्य द्रोण के आगे भला सात्यकि कब तक टिकता? सात्यकि की बुरी गत होते देखकर भीमसेन उसकी सहायता को दौड़ा और आचार्य पर बाणों की बौछार करने लगा।

इस पर युद्ध और भी जोर पकड़ गया। द्रोण, भीष्म और शल्य, तीनों कौरव वीर भीमसेन के मुकाबले में आ डटे। यह देखकर शिखंडी ने भीष्म और द्रोण दोनों पर तीखे बाणों की झड़ी लगा दी। शिखंडी के मैदान में आते ही भीष्म रण-भूमि छोड़कर चले गये। भीष्म का कहना था कि शिखंडी चूंकि जन्म से पुरुष नहीं, स्त्री है, इसलिए उसके साथ लड़ना क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है।

जब भीष्म मैदान छोड़कर हट गये तो द्रोणाचार्य ने शिखंडी पर हमला कर दिया। महारथी होते हुए भी द्रोण के आगे शिखंडी ज्यादा देर न टिक सका। विवश होकर द्रोण के आगे से उसे हट जाना पड़ा।

दोपहर तक भीषण संकुल-युद्ध होता रहा। दोनों तरफ से सैनिक आपस में गुत्थम-गुत्था होकर लड़ने लगे। दोनों ओर के अगणित वीर इस युद्ध में बलि चढ़ गये।

तीसरे पहर दुर्योधन ने सात्यकि के विरुद्ध एक भारी सेना भेज दी।

सात्यकि ने उस सेना का सर्वनाश कर दिया और भूरिश्रवा को खोजते हुए जाकर उनसे भिड़ गया। किन्तु भूरिश्रवा भी साधारण वीर न था, बड़ा पराक्रमी था। सात्यकि की सेना पर जोरों से हमला करके सबको खदेड़ दिया। अकेला सात्यकि अन्त तक डटा रहा। यह हाल देखकर सात्यकि के दसों पुत्र भूरिश्रवा पर टूट पड़े।

दसों वीर युवकों के हमले का अकेले भूरिश्रवा ने वीरता से मुकाबला किया। यद्यपि सात्यकि के दसों लड़कों ने उसे घेरकर बाणों की बौछार कर दी तो भी भूरिश्रवा ने अद्भुत चतुरता का परिचय दिया। उन सबके धनुष उसने काट डाले और दसों को एक साथ ही यमपुरी पहुंचा दिया। दसों पराक्रमी वीर जमीन पर ऐसे गिरे जैसे वज्र गिरने पर पेड़। अपने सारे पुत्रों को यों युद्ध-भूमि में मृत पड़े देखकर सात्यकि मारे शोक और क्रोध के आपे से बाहर हो गया और भूरिश्रवा पर झपटा। दोनों के रथ आपस में टकराकर चूर-चूर हो गये। तब दोनों ढाल-तलवार लेकर भूमि पर लड़ने लगे। इतने में भीम अपना रथ दौड़ाता हुआ आया और सात्यकि के आगे आ खड़ा हुआ और उसे जबरदस्ती अपने रथ में बिठाकर युद्ध-भूमि से बाहर ले आया। भूरिश्रवा तलवार का धनी था। उस के आगे किसी का भी टिकना मुश्किल था। भीमसेन यह बात भली-भांति जानता था और इसी कारण उसने सात्यकि को भूरिश्रवा से लड़ने से रोक लिया।

उस दिन संध्या होते-होते अर्जुन ने हजारों कौरव सैनिकों का जीवन समाप्त कर दिया। जितने वीर अर्जुन के विरुद्ध लड़ने के लिए दुर्योधन ने भेजे, वे सब ऐसे बेबस होकर मरे, जैसे आग में कीड़े। यह देखकर पांडव सेना के वीरों ने अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया और जोर का जयजयकार कर उठे। उधर सूरज डूबा और भीष्म ने युद्ध बन्द करने की आज्ञा दी। दोनों ओर के थके-थकाये सैनिक अपनी-अपनी छावनी की ओर चले गए।

: ६९ :
छठा दिन

प्रातःकाल से ही युधिष्ठिर की आज्ञा के अनुसार सेनापति धृष्टद्युम्न ने पांडव सेना की मकर-व्यूह में रचना कर दी। उधर क्रौंच-व्यूह में रची हुई कौरव सेना सामने तैयार खड़ी थी।

उन दिनों सैन्य-व्यूहों के नाम किसी पशु या पक्षी के-से होते थे। यह तो सब जानते हैं कि व्यायाम के जो आसन प्रचलित हैं, उनके भी नाम पशु-पक्षियों के नाम पर होते हैं—जैसे मत्स्यासन, गरुडासन, इत्यादि। यह भी उसी समय से प्रचलित हुआ है, ऐसा मालूम होता है। सेना-व्यूहों के नाम भी इसी भांति रखे जाते थे।

किसी व्यूह-विशेष की रचना करते समय इन बातों का ध्यान रखना पड़ता था कि सेना का फैलाव कैसा हो। विभिन्न सेना-विभागों का बंटवारा कैसा हो? अर्थात् प्रत्येक स्थान पर कौन-सा विभाग किस संख्या में स्थित हो, कौन-कौन से सेनानायक किन-किन मुख्य स्थानों पर खड़े रहकर सैन्य-संचालन करें, आदि, इन सब बातों को खूब सोच-विचारकर आक्रमण एवं बचाव दोनों प्रकार की कार्रवाइयों की कुशल व्यवस्था रखना ही व्यूह-रचना का उद्देश्य होता था। जिस व्यूह का आकार मगरमच्छ का-सा होता उसका नाम मकर-व्यूह रखा जाता था। क्रौंच, गरुड़ आदि व्यूहों के भी नाम इसी तरह पड़े। उन दिनों के समर-शास्त्र में कई प्रकार के व्यूहों का वर्णन पाया जाता है।

महाभारत-युद्ध के संचालक योद्धा-गण, जिस दिन जो उद्देश्य साधना हो, उसके अनुसार घटनाओं के रुख पर पहले ही सोच-विचार कर लेते थे और तदनुरूप व्यूह-रचना का निश्चय करते थे।

छठे दिन सवेरे युद्ध छिड़ते ही दोनों तरफ की जन-हानि बड़ी तादाद में होने लगी।

आचार्य द्रोण का सारथी मारा गया। इसपर द्रोण ने स्वयं रास पकड़कर रथ चला लिया और पांडव सेना में घुसकर ऐसा प्रलय मचाया मानो

आग का अंगारा रुई के ढेर में घुस पड़ा हो।

शीघ्र ही दोनों सेनाओं के व्यूह टूट-फूट गये। इसपर दोनों पक्ष के सेना-समूह बांध तोड़ कर निकल पड़े और एक-दूसरे से भिड़ गये। ऐसी मार-काट मची कि रक्त की नदी-सी बह निकली। सारे युद्ध-क्षेत्र में मरे हुए हाथी, घोड़े और मृत सैनिकों की लाशों तथा टूटे रथों के बड़े-बड़े ढेर लग गये।

इतने में भीमसेन शत्रु-सैन्य में अकेले घुस गया और दुर्योधन के भाइयों का वध करने की इच्छा से उन्हें खोजने लगा। शीघ्र ही दुर्योधन के भाइयों ने भीम को आ घेरा। दुःशासन, दुर्विषह आदि ने एक साथ भीमसेन पर चारों ओर से बाणों का वार कर दिया। वायुपुत्र भीम, जिसे भय छू तक न गया था, ऐसे आक्रमण से भला कब विचलित होने वाला था! वह अकेला ही उन सभी के मुकाबले में डटा रहा। दुर्योधन के भाइयों की इच्छा तो भीमसेन को कैद कर लेने की थी। किन्तु भीमसेन की इच्छा उन सब का काम ही तमाम कर डालने की थी। लड़ाई की भयानकता का क्या कहें! ऐसा भयानक संग्राम हुआ कि जैसे देवताओं तथा असुरों के बीच हुआ बतलाते हैं। इतने में अचानक भीमसेन को न जाने क्या सूझा। वह उठ खड़ा हुआ और अपने सारथी विशोक से बोला—"विशोक! तुम यहीं पर ठहरो, मैं ज़रा आगे चलता हूँ और धृतराष्ट्र के इन दुष्ट लड़कों का काम तमाम करके लौटता हूं। मेरे लौटने तक तुम यहीं पर खड़े रहना।" यह कहकर भीमसेन हाथ में गदा लेकर रथ पर से कूद पड़ा और शत्रु-दल के बीच में जा घुसा। घोड़ों, सवारों एवं रथों को चकनाचूर करता हुआ वायुपुत्र भीमसेन दुर्योधन के भाइयों की ओर इस प्रकार बढ़ चला, मानो कराल काल हाथ में दण्ड लिये घूम रहा हो।

धृष्टद्युम्न ने जब भीमसेन को रथ पर चढ़कर शत्रु-सेना में घुसते देखा था तभी वेग से उसका पीछा शुरू किया। पर भीम के रथ को एक जगह खाली खड़ा देखा। वहां रथ पर अकेला सारथी ही था, भीमसेन न था।

"विशोक! भीमसेन कहां गये?"

सारथी विशोक ने द्रुपद-राजकुमार को नमस्कार करके निवेदन किया, "सेनापते! पांडु-पुत्र मुझे यहीं ठहरने की आज्ञा देकर आप हाथ में गदा

लेकर अकेले इसी सेना-समुद्र में कूद पड़े हैं और धृतराष्ट्र के लड़कों की खोज में हैं। आगे का हाल तो मुझे मालूम नहीं।"

यह सुन धृष्टद्युम्न शंकित हो उठा। उसे भय हुआ कि कहीं सारे कौरव-पुत्र एक साथ मिलकर भीमसेन पर हमला न कर दें। यह सोच पांडव-सेनापति भी स्वयं शत्रु-सेना में घुस पड़ा। भीमसेन की गदा की मार से जो हाथी-घोड़े मरे पड़े थे, उन्हीं के द्वारा भीम का पता लगाता हुआ धृष्टद्युम्न आगे बढ़ा।

दूर शत्रुओं के समूह में भीमसेन दिखाई दिया। धृष्टद्युम्न ने देखा कि भीमसेन हाथ में गदा लिये भूमि पर खड़ा है। उसकी लाल-लाल आंखों से मानो चिनगारियां निकल रही हैं, सारा शरीर घावों से भरा है। शत्रु-दल के रथारूढ़ वीर, भीमसेन को चारों तरफ से घेरे हुए बाणों की बौछार कर रहे हैं। यह देखकर धृष्टद्युम्न का हृदय अभिमान एवं श्रद्धा से भर आया। वह रथ पर से कूद पड़ा और दौड़कर भीम को छाती से लगा लिया और खींचकर अपने रथ पर बिठा लिया। फिर उसके शरीर पर लगे बाणों को एक-एक करके निकालने लगा।

यह देख दुर्योधन ने अपने सैनिकों से कहा—"देखते क्या हो? द्रुपद-कुमार और भीमसेन पर हमला बोल दो। भले ही वे चुनौती स्वीकार करें या न करें। दोनोंमें से कोई बचने न पावे।" यह सुनते ही कितने ही कौरव वीर एक साथ उन दोनों पर टूट पड़े। भीम और धृष्टद्युम्न ने न तो चुनौती दी न स्वीकार ही की। वे युद्ध करने को प्रस्तुत न हुए। फिर भी कौरव-वीर उन पर बाण बरसाते रहे।

यह देख धृष्टद्युम्न से न रहा गया। उसने कौरवों पर मोहनास्त्र का प्रयोग किया जिससे वे सब अचेत होगये। (धृष्टद्युम्न ने मोहनास्त्र का प्रयोग द्रोणाचार्य से सीखा था।) इतने में दुर्योधन वहां आ पहुंचा। उसने मोहनास्त्र के प्रभाव को दूर करनेवाला अस्त्र चलाया। उसके प्रयोग से सारे कौरव वीर फिर जाग्रत हो उठे और दुर्योधन ने सबको उत्साहित करके धृष्टद्युम्न पर जोरों से आक्रमण करने की आज्ञा दी।

उधर युधिष्ठिर ने वीर अभिमन्यु के सेनापतित्व में भीमसेन और धृष्टद्युम्न की सहायता के लिए सेना भेज दी थी। अभिमन्यु ठीक समय

पर अपनी सेना के साथ धृष्टद्युम्न की मदद पर जा पहुंचा। इस मदद के पहुंच जाने से धृष्टद्युम्न और उत्साह के साथ लड़ने लगा। इधर भीमसेन भी ज़रा विश्राम करके केकय-राज के रथ पर आरूढ़ होकर कौरवों पर भीषण प्रहार करने लगा। इतना सब होने पर भी द्रोण के पराक्रम एवं उग्रता के आगे भीमसेन आदि की वीरता फीकी-सी जान पड़ती थी। आचार्य द्रोण ने द्रुपद-कुमार के सारथी और घोड़ों को मार डाला और उसके रथ को चकनाचूर कर दिया। इसपर धृष्टद्युम्न अभिमन्यु के रथ पर जा चढ़ा और अविचलित भाव से अपना युद्ध जारी रक्खा। पर अंत में द्रोण ने वह तबाही मचाई कि पांडव सेना के पांव उखड़ गये। पांडव सैनिकों के हृदय कांप उठे।

इसके बाद तो अंधाधुंध संकुल-युद्ध होने लगा। असंख्यों वीर सैनिक मारे गये। दुर्योधन और भीमसेन के भी दो-दो हाथ हुए। दोनोंने पहले तो वाग्-बाणों का एक दूसरे-पर प्रहार किया। फिर हथियारों की लड़ाई हुई। दोनों वीर रथों पर आरूढ़ होकर एक-दूसरे पर भीषण शस्त्र-प्रहार करने लगे। अन्त में दुर्योधन बुरी तरह घायल हुआ और बेहोश होकर रथ पर गिर पड़ा। तब कृपाचार्य ने बड़ी चतुराई से उसे अपने रथ पर ले लिया जिससे दुर्योधन की जान बच गई। उसी समय भीष्म उधर आ पहुंचे और कौरव सेना का संचालन करने लगे। उन्होंने पांडव सेना को तितर-बितर कर दिया। बड़ी देर तक इसी प्रकार तुमुल युद्ध होता रहा, यहांतक कि पश्चिमी आकाश लाल हो चला। सूरज डूबा ही चाहता था। फिर भी कुछ मुहूर्त्त तक युद्ध जारी रहा।

सूर्यास्त के बाद युद्ध समाप्त हुआ। आज का युद्ध इतना भयंकर था कि धृष्टद्युम्न और भीमसेन के सकुशल शिविर में लौट आने पर युधिष्ठिर ने बड़ा आनन्द मनाया। उनकी खुशी की सीमा न थी।

: ७० :

सातवां दिन

दुर्योधन का सारा शरीर घावों से भरा था। असह्य पीड़ा हो रही

थी। पितामह भीष्म के पास जाकर वह बड़ा झल्लाया और बोला—"पितामह ! प्रतिदिन पांडवों की ही जीत होती जा रही है। वे हमारे व्यूह को तोड़ते और हमारे वीरों को मौत के घाट उतारते जा रहे हैं, फिर भी न जाने आप क्यों कुछ करते-धरते नहीं ?"

दुर्योधन को सांत्वना देते हुए भीष्म ने उत्तर दिया—

"बेटा दुर्योधन ! द्रोणाचार्य, शल्य कृतवर्मा, अश्वत्थामा, विकर्ण, भगदत्त, शकुनि, राजा सुशर्मा, मगध-नरेश, कृपाचार्य और स्वयं मुझ-जैसे महारथी लोग जब तुम्हारी खातिर प्राणों तक की बलि चढ़ाने को तैयार हैं तो फिर तुम्हें चिंता किस बात की? धीरज धरो, भगवान् सब ठीक ही करेंगे।" यह कहकर भीष्म सेना की व्यूह-रचना में लग गये।

जब व्यूह-रचना हो चुकी तो भीष्म बोले—"राजन् ! अपनी इस सेना को तो देखो ! हजारों की संख्या में रथ-घोड़े, घुड़सवार, उत्तम हाथी देश-विदेश से आये हुए शस्त्रधारी सैनिक आदि से सज्जित इस विराट् सेना से मनुष्यों की कौन कहे, देवताओं तक को परास्त किया जा सकता है, फिर भय किस बात का ?"

यह कहकर भीष्म ने दुर्योधन को एक ऐसा लेप दिया, जिसके लगाने से दुर्योधन के सारे घाव ठीक हो गये और वह फिर से ताजा हो उठा। इससे दुर्योधन का साहस एवं उत्साह बढ़ गया और वह खुशी-खुशी फिर लड़ने को तत्पर हो गया।

उस दिन कौरवों की सेना का व्यूह मंडलाकार रचा गया। एक-एक हाथी के निकट सात-सात रथ खड़े थे। प्रत्येक रथ की रक्षा के लिए सात घुड़सवार सैनिक नियुक्त थे। एक-एक घुड़सवार का सात-सात धनुर्धारी वीर साथ दे रहे थे। एक-एक धनुर्धारी वीर का बचाव करने को दस-दस वीर ढाल लिये खड़े थे। सभी वीर अभेद्य कवच पहने हुए थे। इस सुसज्जित, विशाल सेना-समूह के बीच में अपने रथ पर खड़ा दुर्योधन ऐसे शोभयमान हुआ, जैसे देवताओं की सेना में देवराज इन्द्र।

उधर युधिष्ठिर ने पांडवों की सेना को 'वज्र-व्यूह' में रचवाया। उस दिन का युद्ध केन्द्रित न था, बल्कि कई मोर्चों पर व्याप्त था। प्रत्येक मोर्चे पर विख्यात वीरों में घमासान युद्ध होता रहा। एक मोर्चे पर अर्जुन

के विरुद्ध स्वयं भीष्म डटे हुए थे। एक स्थान पर द्रोणाचार्य और विराटराज में भीषण युद्ध हो रहा था। दूसरे एक मोर्चे पर शिखंडी और अश्वत्थामा में लड़ाई हो रही थी। एक जगह धृष्टद्युम्न और दुर्योधन भिड़े हुए थे। एक ओर नकुल और सहदेव अपने मामा शल्य पर बाण बरसा रहे थे। दूसरी ओर अवंती के दोनों राजा युधामन्यु से लड़ते दिखाई दे रहे थे। एक मोर्चे पर दुर्योधन के चार भाइयों की अकेला भीमसेन खबर ले रहा था, तो दूसरे मोर्चे पर घटोत्कच और भगदत्त में भयानक द्वंद्व छिड़ा हुआ था। एक और मोर्चे पर अलम्बुष और सात्यकि की टक्कर थी तो कहीं दूर पर भूरिश्रवा धृष्टद्युम्न का मुकाबला कर रहे थे। युधिष्ठिर का श्रुतायु के साथ द्वंद्व हो रहा था, जब कि कृपाचार्य और चेकितान एक दूसरे मोर्चे पर भिड़ रहे थे।

द्रोणाचार्य के साथ हुई लड़ाई में विराटराज को हार खानी पड़ी। उनका रथ, सारथी और घोड़े सब नष्ट हो गये। इसपर विराटराज अपने पुत्र शंख के रथ पर चढ़ गये। विराट-कुमार उत्तर एवं श्वेत, पहले ही दिन की लड़ाई में काम आ चुके थे। सातवें दिन के युद्ध में तीसरे कुमार शंख ने पिता के देखते-देखते प्राण त्याग दिये।

उधर शिखंडी के रथ को अश्वत्थामा ने तोड़-फोड डाला। इसपर शिखंडी जमीन पर कूद पड़ा और ढाल-तलवार लेकर अश्वत्थामा पर झपटा; किन्तु अश्वत्थामा ने बाणों की बौछार से उसकी तलवार के टुकड़े कर दिये। तब अपनी टूटी तलवार ही शिखंडी ने बड़े जोर से घुमाकर अश्वत्थामा पर फेंक मारी। अश्वत्थामा ने कुशलता से एक बाण ऐसा निशाना ताककर मारा कि वेग के साथ आ रही तलवार रास्ते में ही कटकर गिर पड़ी। शिखंडी बुरी तरह घायल हुआ और सात्यकि के रथ पर चढ़ मैदान छोड़कर भाग गया।

राक्षस अलम्बुष और सात्यकि में जो युद्ध हुआ, उसमें पहले सात्यकि की बुरी गत हुई। किंतु थोड़ी ही देर में वह संभल गया और राक्षस की बुरी तरह खबर ली। अलम्बुष हारकर उल्टे पांव भाग खड़ा हुआ।

दुर्योधन के रथ के घोड़े धृष्टद्युम्न के बाणों के बुरी तरह शिकार हुए। इसपर दुर्योधन हाथ में खड्ग लेकर मैदान में कूद पड़ा और धृष्ट-

द्युम्न की ओर झपटा, किंतु शकुनि ने बीच में पकड़कर दुर्योधन को रथ पर बिठा लिया और युद्ध-भूमि से हटा लिया।

अवंती के दोनों भाई—विंद और अनुविंद—युधामन्यु के विरुद्ध लड़े और हार गये। उनकी सारी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

वृद्ध भगदत्त हाथी पर सवार होकर घटोत्कच से लड़ा और उसकी सारी सेना को तितर-बितर कर दिया। अकेला घटोत्कच अंत तक डटा रहा। भयानक युद्ध हुआ और अन्त में घटोत्कच हारकर मैदान छोड़ भाग खड़ा हुआ। भगदत्त की इस विजय पर कौरव-सेना में बड़ी खुशी मनाई गई।

एक दूसरे मोर्चे पर मद्रराज शल्य अपने भानजों नकुल और सहदेव से लड़ रहा था। नकुल के रथ के घोड़े मारे गये। वह तुरन्त सहदेव के रथ पर सवार होकर मामा शल्य पर बाण चलाने लगा। सहदेव के चलाये पैनों बाणों से शल्य मूर्छित हो गया। शल्य का यह हाल देखकर उसके सारथी ने बड़ी चतुराई से अपने रथ को वहां से हटा लिया जिससे शल्य के प्राणों की रक्षा हो गई। कौरव सेना ने जब देखा कि स्वयं राजा शल्य मैदान छोड़कर भाग रहे हैं तो उसमें घबराहट फैल गई। माद्री-पुत्रों ने विजय-शंख बजाते हुए शल्य की सेना को तहस-नहस कर दिया।

दोपहर को युधिष्ठिर और श्रुतायु में जोर का युद्ध होने लगा। युधिष्ठिर का रथ श्रुतायु के रथ की ओर बढ़ा। जाते-जाते युधिष्ठिर ने श्रुतायु पर कई बाण चलाये। श्रुतायु ने उन सब बाणों को रोका ही नहीं, बल्कि सात तीखे बाण युधिष्ठिर पर खींच कर मारे, जिससे युधिष्ठिर का कवच टूट गया और वह घायल हो गए। इसपर युधिष्ठिर को बड़ा क्रोध आ गया और उन्होंने एक बड़ा भयानक बाण श्रुतायु की छाती पर मारा। उस दिन युधिष्ठिर अपने स्वाभाविक शांत-भाव से रहित-से हो गये और क्रोध के कारण प्रज्वलित हो उठे। अंत में श्रुतायु अपने रथ, घोड़े और सारथी से हाथ धो बैठा और घायल होकर मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ। इसपर दुर्योधन की सेना में खलबली मच गई। सैनिक घबराहट में पड़ गये। इस घटना के बाद तो दुर्योधन की सेना का साहस और भी टूट गया और सैनिकों में भय छा गया।

राजा चेकितान कृपाचार्य के साथ लड़ने लगा। कृपाचार्य ने चेकितान के सारथी को मार डाला और रथ को चकनाचूर कर दिया। इस पर चेकितान खड्ग लेकर जमीन पर कूद पड़ा और कृपाचार्य के घोड़ों और सारथी को मार डाला। तब आचार्य कृप भी रथ से उतरे और पृथ्वी पर ही खड़े हो चेकितान पर कई बाण चलाए। उन बाणों के प्रहार से चेकितान बहुत ही परेशान हो गया और तब क्रोध में आकर कृपाचार्य पर अपनी गदा वेग से घुमाकर फेंकी; परंतु, कृपाचार्य ने उसे भी बाणों से काट दिया। इसपर चेकितान तलवार घुमाता हुआ कृपाचार्य पर झपटा। कृपाचार्य ने भी तुरन्त धनुष फेंक दिया और खड्ग लेकर तैयार हो गये। दोनों में घात-प्रतिघात हो होता रहा। अन्त में दोनों ही घायल होकर गिर पड़े। भीमसेन चेकितान को और शकुनि कृपाचार्य को अपने अपने रथ में बिठाकर शिविर में ले गए।

धृष्टकेतु ने छियानवे बाण भूरिश्रवा की छाती पर ताक कर मारे। सभी बाण निशाने पर जा लगे। उस समय भूरिश्रवा उन बाणों के साथ ऐसे दैदीप्यमान हुए जैसे सूर्य अपनी किरणों से सुशोभित होते हैं। ऐसे में भी भूरिश्रवा धृष्टकेतु के पीछे बुरी तरह पड़ गये और उसे युद्ध-भूमि से खदेड़कर ही छोड़ा।

दुर्योधन के तीन भाई अभिमन्यु के साथ लड़कर बुरी तरह हारे। अभिमन्यु चाहता तो उनके प्राण ले लेता; किन्तु उसे भीमसेन की प्रतिज्ञा याद थी। इस कारण उनको जीवित छोड़कर दूसरी ओर हट गया। इतने में पितामह भीष्म अभिमन्यु से भिड़ पड़े। अर्जुन ने जब यह देखा तो श्रीकृष्ण से बोले—"सखे! मैं भीष्म पर हमला करना चाहता हूं। आप उधर को रथ चलाइए।"

अर्जुन के वहां पहुंचते ही उसके और भाई भी वहां आ पहुंचे। अकेले भीष्म पांचों पांडवों का सामना करने लगे। पर यह युद्ध अधिक देर नहीं चला। सूरज अस्त होने लगा और युद्ध बंद हुआ। दोनों पक्ष के सैनिक और वीर थके-मांदे, घावों की पीड़ा से तड़पते व कराहते हुए अपने अपने शिविरों में जा पहुंचे।

दोनों तरफ के वीरों ने अपने-अपने शरीरों पर लगे बाण निकाले और

घावों को वैद्यक-रीति के अनुसार पानी से धोकर औषधि लगाई और विश्राम करने लगे। कुछ देर मन-बहलाव के लिए संगीत और वाद्य का आनन्द लेने लगे। दोनों ओर के सैनिक उस आनन्द में इतने लीन हो गये कि युद्ध की चर्चा तक भूल गये।

: ७१ :
आठवां दिन

आठवें दिन सवेरे भीष्म ने कौरव-सेना की व्यूह-रचना कछुए की शक्ल से की। इसपर युधिष्ठिर धृष्टद्युम्न से बोले—"कौरवों के कूर्म-व्यूह को देखकर अपनी सेना की व्यूह-रचना इस तरह करो कि जिससे शत्रु-व्यूह को तोड़ा जा सके। जल्दी इसकी व्यवस्था होनी चाहिए।"

तब धृष्टद्युम्न ने पांडवों की सेना की तीन शिखरों (चोटियों) वाले व्यूह में रचना की। इस व्यूह के एक सिरे पर भीमसेन और दूसरे पर सात्यकि अपनी-अपनी सेनाएं लेकर मुस्तैदी से खड़े हो गये। बीच वाले सिरे पर स्वयं युधिष्ठिर खड़े हुए।

सामरिक कला में हमारे पूर्वजों को काफी प्रवीणता प्राप्त थी। लड़ने के तौर-तरीकों के बारे में यद्यपि कोई सुविस्तृत शास्त्र तो नहीं रचा गया; फिर भी प्रायः सभी क्षत्रियों को उसका परंपरागत ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होता चला जाता था। शत्रु-पक्ष के अस्त्र-शस्त्र तथा उन शस्त्रों की शक्ति इत्यादि बातों को देखते हुए, उस समय की प्रचलित युद्ध-पद्धति के अनुसार, उन दिनों के राजा लोग अपने अस्त्र-शस्त्रों एवं तौर-तरीकों में आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी समय-समय पर कर लेते थे।

कुरुक्षेत्र के युद्ध को हुए कई हजार वर्ष हो चुके हैं। अतः महाभारत में जिस युद्ध का वर्णन है, उसकी आजकल के युद्ध की कार्रवाइयों के साथ तुलना करके उसे कोरी कल्पना ठहरा देना या निरर्थक बतंगड़ समझना उचित नहीं। अभी डेढ़ सौ साल हुए, इंगलैंड के वीर नेल्सन ने अपनी सुप्रसिद्ध नौ-सेना को लेकर फ्रांसीसियों के छक्के छुड़ा दिये थे; किन्तु

यदि उसी विजेता नेल्सन के जहाजों और हथियारों की तुलना आजकल की नौ-सेना व हथियारों से की जाय तो उस समय की लड़ाइयां विलक्षण ही प्रतीत होंगी ! यदि डेढ़ ही सौ बरस के पहले की परिस्थिति यह थी तो महाभारत-युद्ध के समय की बात का तो पूछना ही क्या है !

एक बात और भी है, जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए । युद्ध को ही विषय बनाकर जो काव्य या आख्यान-ग्रंथ रचा जाय, उससे युद्ध की कार्रवाइयों एवं विभिन्न हथियारों का प्रामाणिक विवरण तथा व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती । हमारे यहां प्राचीन काल में युद्ध के जो तौर-तरीके और पद्धति प्रचलित थी, वह क्षत्रियोचित संस्कृति का ही एक अंग मानी जाती थी । युद्ध के तौर-तरीकों के रहस्य एवं गतिविधि का ज्ञान उन्हीं लोगों तक सीमित रहा जिनका उससे काम पड़ता था । कवियों या ऋषियों के रचित ग्रंथों में उन पद्धतियों की व्याख्या या विवरण नहीं पाये जा सकते । आजकल के किसी गल्प या उपन्यास में कहीं किसी रोग के इलाज का जिक्र हो तो लेखक से इस बात की तो आशा नहीं की जाती कि वह इलाज का पूरा विवरण, दवाओं की सूची-सहित देता जाय । यदि दे भी तो बड़ा बेतुका-सा होगा ! ठीक इसी तरह व्यासजी से भी युद्ध-प्रणाली के पूरे शास्त्रीय विवरण की आशा रखना सर्वथा अनुचित होगा ।

मकर-व्यूह क्या चीज होती है ? कूर्म-व्यूह किसे कहते हैं । श्रृंगारक क्या होता है ? बाणों की बौछार से अपने चारों तरफ किला-बन्दी कर लेना कैसे हो सकता है ? शरीर के बाणों से बिंध जाने पर भी कैसे जीवित रहा जा सकता था ? कवचों से वीरों की कहां तक रक्षा होती थी ? इत्यादि बातों का विवरण व्यासजी ने अपने इस ग्रन्थ में इस ढंग से नहीं दिया है जिससे आजकल के पाठकगण उसे समझ सकें । जितना विवरण उन्होंने दे दिया है वही उनकी विशेष प्रतिभा का द्योतक है ।

•

आठवें दिन का युद्ध शुरू हुआ तो पहले ही धावे में भीमसेन ने धृतराष्ट्र के आठ बेटों का वध कर दिया । यह देखकर दुर्योधन का हृदय विदीर्ण हो गया । कौरव सेना के लोग डरे कि कहीं भीमसेन अपनी प्रतिज्ञा

आज ही न पूरी कर दे ।

उस दिन एक ऐसी घटना हुई जिससे अर्जुन शोक-विह्वल हो उठा । उसका लाड़ला बेटा और साहसी वीर इरावान, जो एक नागकन्या से पैदा हुआ था, उस दिन खेत रहा । वीर इरावान पांडवों की सहायता के लिए आया हुआ था और उसने ऐसी कुशलता से युद्ध किया था कि सारी कौरव सेना में भारी तबाही मच गई थी । यह देखकर दुर्योधन ने राक्षस वीर अलम्बुष को इरावान के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा । दोनों में बड़ी देर तक घोर संग्राम होता रहा । अंत में राक्षस के हाथों इरावान मारा गया ।

अर्जुन को जब इस बात की खबर मिली तो यह दुःख उससे सहा नहीं गया । भरी हुई आवाज में श्रीकृष्ण से बोला—"वासुदेव ! काका विदुर ने पहले ही कहा था कि दोनों पक्ष वालों को युद्ध से दुःसह दुःख प्राप्त होगा । धिक्कार है हमें, जो सिर्फ सम्पत्ति के अर्थ ऐसा निकृष्ट कार्य करने पर उतारू हो गये ! इस भारी हत्याकाण्ड के परिणामस्वरूप हम या वे (कौरव) न जाने कौन सा सुख प्राप्त करेंगे । मधुसूदन, अब मैंने जाना कि भाई युधिष्ठिर ने क्यों दुर्योधन से अनुरोध किया था कि कम-से-कम पांच गांव देकर ही संधि कर लें । सचमुच उन्होंने दूर की सोची थी । किन्तु मूर्ख दुर्योधन ने पांच गांव तक देने से इन्कार कर दिया, जिसमें अब दोनों पक्षों में ये जो पाप-कर्म हो रहे हैं—उन सब का वही कारण बना । यदि मैं इस युद्ध में भाग ले रहा हूं तो वह केवल इसीलिए कि लोग यह कह कर मेरी निन्दा न करें कि यह कायर है, डरपोक है !

"जब मैं युद्ध-क्षेत्र में खड़े हुए इन क्षत्रियों को देखता हूं तो मेरा हृदय गरम हो उठता है । धिक्कार है हमारे जीवन को, जो अधर्म की ही भित्ति पर स्थित है !"

इधर भीमसेन के पुत्र घटोत्कच ने जब देखा कि इरावान मारा गया तो उसने इतने जोर से गर्जना की कि सारी सेना सुनकर थर्रा उठी । उसके बाद वह कौरव सेना पर टूट पड़ा और घोर प्रलय मचाने लगा । कई स्थानों पर घबराहट के मारे सेना बिखर गई । यह हाल देखकर स्वयं दुर्योधन घटोत्कच के मुकाबले में आ गया ।

दुर्योधन का साथ देने के लिए वंग-नरेश भी अपनी गज-सेना के साथ

उधर ही जा पहुंचा। दुर्योधन ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया और घटोत्कच की सेना के कितने ही वीरों को मार गिराया। इसपर घटोत्कच को बड़ा क्रोध हो आया। उसने दुर्योधन पर शक्ति नामक हथियार का प्रयोग किया। उसके प्रहार से तो दुर्योधन मारा ही जाता, पर वंग-नरेश ने अपना हाथी बीच में डालकर उसको बड़ी खूबी से बचा लिया। दुर्योधन के बजाय हाथी घटोत्कच की शक्ति की भेंट चढ़ गया।

इसी बीच भीष्म को पता लग गया कि दुर्योधन संकट में है, तो उन्होंने आचार्य द्रोण के नेतृत्व में एक बड़ी सेना दुर्योधन की सहायता के लिए भेज दी। कुमुक पहुंच जाने पर कई सुविख्यात कौरव वीरों ने घटोत्कच पर एक साथ हमला कर दिया।

उस समय जो गर्जन चारों दिशाओं में हुआ उससे युधिष्ठिर को मालूम हो गया कि घटोत्कच पर कोई आफत आई है। उन्होंने तत्काल भीमसेन को घटनास्थल पर भेज दिया। भीमसेन को आ जाने पर तो युद्ध की भयानकता और भी अधिक हो गई। पर जल्दी ही सूर्यास्त हो गया और युद्ध बंद हुआ।

: ७२ :

नवां दिन

नवें दिन का युद्ध शुरू होने से पहले दुर्योधन भीष्म के पास गया और हमेशा की तरह जली-कटी सुनाकर उनके हृदय पर मानो भालों का प्रहार सा करने लगा। पितामह को इससे पीड़ा तो बहुत हुई; परन्तु फिर भी उन्होंने धीरज न छोड़ा। वह बोले—

'बेटा, तुम्हारी ही खातिर यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा हूं और युद्ध में अपने प्राणों तक की आहुति देने को प्रस्तुत हूं। फिर भी तुम इस बूढ़े को इस प्रकार जब-तक क्लेश क्यों पहुंचाते हो? उचित और अनुचित का कुछ खयाल किए बिना तुम जो ये कटु वचन कह रहे हो, सो क्यों? मुझे ऐसा लगता है कि विनश का समय निकट आ जाने पर हरा भी पीला ही दीख पड़ता है। तुम्हारी इन बातों से भी ऐसा ही मालूम देता

है तुम्हें भी हित में अहित का भ्रम हो रहा है और सब उल्टा ही सूझ रहा है। जानबूझकर अपनी ही इच्छा से तुमने जो वैर मोल लिया उसका परिणाम अब तुम्हें भुगतना पड़ रहा है। इस परिस्थिति में धर्म एवं कर्तव्य की दृष्टि से तुम्हारे लिए अब उचित यही है कि पौरुष एवं शौर्य से काम लो और निर्भय होकर युद्ध करो। मैं क्षत्रिय हूं। शिखंडी के विरुद्ध मुझसे लड़ा नहीं जायगा। एक स्त्री का वध करना मुझसे नहीं हो सकता। न ही मैं पांडवों की हत्या अपने हाथों करने पर राजी हूंगा। बस, ये मेरे दृढ़ विचार हैं। इन दोनों को छोड़कर और चाहे किसीसे भी मुझे लड़ने भेज दो, मैं पीछे नहीं हटूंगा। दूसरे सारे क्षत्रिय वीरों से खुले दिल से लड़ने को मैं प्रस्तुत हूं। तुम्हें भी यही शोभा देता है कि अविचलित होकर क्षत्रियोचित वीराता के साथ युद्ध करो और दूसरों को दोष देना छोड़ो।''

भीष्म ने इस प्रकार दुर्योधन को उपदेश दिया और सैन्य की व्यूह-रचना के बारे में आवश्यक सूचनाएं देकर विदा किया।

दुर्योधन का क्षुब्ध हृदय भीष्म की बातें सुनकर कुछ शांत हुआ। दुःशासन को बुलाकर बोला—''भैया! आज हमें अपनी सारी शक्ति और सैन्यबल युद्ध में लगाना होगा। पितामह भीष्म के आश्वासन पर मुझे पूरा भरोसा है। वह सच्चे हृदय से हमारे लिए लड़ रहे हैं। उनको यदि आपत्ति है तो शिखंडी से लड़ने में है; कहते हैं कि शिखंडी के विरुद्ध लड़ना उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध होगा। अतः हमें और किसी की चिन्ता भी नहीं। केवल इसी बात की व्यवस्था खूब सतर्कता से करनी चाहिए कि शिखंडी पितामह के सामने न जाने पावे। गाफिल सिंह का जंगली कुत्ता भी वध कर सकता है।''

नवें दिन के युद्ध में अभिमन्यु और अलम्बुष में घोर संग्राम छिड़ गया। धनंजय के पुत्र ने पिता की ही भांति रण-कौशल का परिचय किया। अलम्बुष का रथ चूर हो गया। उसे युद्ध-क्षेत्र से जान लेकर भागना पड़ा।

दूसरी तरफ सात्यकि अश्वत्थामा से भिड़ा हुआ था। द्रोण की अर्जुन से थोड़ी देर लड़ाई रही। उसके बाद सभी पांडव वीरों ने पितामह पर एक साथ हमला कर दिया। भीष्म की रक्षा के लिए दुर्योधन ने दुःशासन

को भेज दिया। भीष्म ने अद्‌भुत पराक्रम से लड़कर पांडवों के सारे प्रयत्न बेकार कर दिये। पांडवों की सेना की पितामह ने उस दिन तो बड़ी दुर्गत की। वन में भूली-भटकती फिरनेवाली गायों की भांति पांडव सैनिकों की भी बड़ी दीन और दयनीय अवस्था हो गई।

यह देखकर श्रीकृष्ण ने रथ रोक लिया और अर्जुन से बोले—"पार्थ! जिस अवसर की प्रतीक्षा में तुम भाइयों ने तेरह वर्ष बिताए, वह अवसर अब हाथ आया है। क्षत्रिय-धर्म को स्मरण कर लो और भीष्म को मारने में आगा-पीछा न करो।"

यह सुनकर अर्जुन ने सिर झुका लिया और बोला—"पूजने योग्य आचार्यों और पितामह की हत्या करने से तो वनवास करना ही श्रेयस्कर था। फिर भी आपका कहा मानता हूं। रथ चलाइए।"

अर्जुन ने अनमने होकर यह कहा और चिंतित भाव से लड़ने लगा; किंतु भीष्म तो ऐसे प्रकाशमान हो रहे थे जैसे दोपहरी का सूर्य!

अर्जुन का रथ जब भीष्म की ओर बढ़ा तो पांडव सेना में उत्साह की लहर दौड़ गई। वीरों में पुनः साहस आ गया। पर भीष्म ने अर्जुन के रथ पर बाणों की ऐसी वर्षा की कि जिससे सारा रथ ही बाणों के अंधकार में मानो छिप गया। न तो अर्जुन दिखाई देता था न श्रीकृष्ण, न रथ दिखाई देता था न घोड़े। फिर भी श्रीकृष्ण ज़रा भी न घबराए। अविचलित भाव से सतर्कता के साथ रथ चलाते रहे। अर्जुन के बाणों ने कई बार भीष्म के धनुष को काट-काटकर गिरा दिया। हर बार भीष्म अर्जुन के कौशल की सराहना करते और दूसरा धनुष उठा लेते और फिर अर्जुन और श्रीकृष्ण पर बाण चलाते, यहांतक कि अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों को बड़ी पीड़ा हुई।

इसपर कृष्ण झुंझलाकर अर्जुन से यह कहते हुए कि 'तुम ठीक तरह से नहीं लड़ते हो', कुपित होकर रथ से उतर पड़े और हाथ में चक्र लेकर भीष्म पर झपटे।

क्रोध में भरे श्रीकृष्ण को अपनी ओर आते हुए देख भीष्म पितामह उनका स्वागत करते हुए बोले—"भगवान् श्रीकृष्ण! स्वागत है! तुम्हारे हाथों मारा जाकर मैं अवश्य ही स्वर्ग प्राप्त करूंगा।"

इतने में अर्जुन दौड़कर श्रीकृष्ण के पास पहुंचा और दोनों हाथों से उन्हें कसकर पकड़ लिया। बोला—"केशव! आपने शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की है! अपना वचन आप न तोड़िये। पितामह को बाणों से मार गिराने का काम मेरा है। मैं ही इसे पूरा करूंगा। आप चलिये। मेरा रथ चलाते रहिये। मेरे लिए यही बहुत है।"

यह सुन वासुदेव फिर रथ पर चढ़ गए और उसे चलाने लगे।

भीष्म ने फिर युद्ध शुरू किया। पांडवों की सेना की बड़ी बुरी गत बनी। सैनिक बहुत पीड़ित हो रहे थे। थोड़ी देर में सूर्यास्त हुआ और उस दिन युद्ध बंद कर दिया गया।

: ७३ :

भीष्म का अंत

दसवें दिन का युद्ध शुरू हुआ। आज पांडवों ने शिखंडी को आगे किया था। आगे-आगे शिखंडी और उसके पीछे अर्जुन। शिखंडी की आड़ में अर्जुन ने पितामह के ऊपर बाण बरसाये। आज भीष्म का तेज ऐसा प्रखर हो रहा था मानो ग्रीष्म में मध्याह्न का सूर्य।

शिखंडी के बाणों ने वृद्ध पितामह का वक्षःस्थल वेध डाला। क्षण भर के लिए भीष्म की आंखों से मानों चिनगारियां निकलीं। ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी अग्निमय दृष्टि ही शिखंडी को जलाकर राख कर देगी; परंतु पल-भर बाद ही भीष्म का क्रोध शांत हो गया।

उन्होंने अपने को संभाल लिया और वह सोचकर कि जीवन-संध्या समीप आ रही है, वह कुछ देर शिखंडी का प्रतिरोध किये बिना मूर्ति-वत् खड़े रहे। यह दृश्य देखकर सब अचंभे में आ गये। देवता तक विस्मित हो उठे।

पर भीष्म की मन की बातें शिखंडी क्या जानता? वह तो बाण-पर-बाण बरसाये ही जा रहा था। भीष्म ने अपने चेहरे पर ज़रा भी शिकन न आने दी और शिखंडी के बाणों का प्रत्युत्तर नहीं दिया। अर्जुन ने जब यह देखा कि पितामह प्रतिरोध नहीं कर रहे तो ज़रा जी कड़ा करके भीष्म

के मर्म-स्थानों को लक्ष्य करके तीखे बाणों से बींधना शुरू कर दिया। भीष्म का सारा शरीर बिंध गया, पर इतने पर भी उनका मुख मलिन न हुआ। वह मुस्कराते हुए पास ही खड़े दु:शासन से कहने लगे—"देखो, ये बाण अर्जुन के हैं, शिखंडी के नहीं। जैसे केंकड़ी के शरीर को उसके बच्चे ही फाड़ देते हैं, उसी प्रकार अर्जुन के ये बाण मेरे शरीर को बींध रहे हैं!" अपने प्यारे पौत्र के चलाये बाणों के प्रति भी पितामह की इस प्रकार की कोमल भावना थी।

भीष्म ने शक्ति-अस्त्र अर्जुन पर चलाया। अर्जुन ने उसे तीन बाणों से काट गिराया। अब भीष्म को यह निश्चय हो गया कि आज का युद्ध उनका आखिरी युद्ध होगा। इस कारण वह हाथ में ढाल-तलवार लेकर रथ से उतरने लगे। इतने में अर्जुन के चलाये बाणों से उनकी ढाल के टुकड़े-टुकड़े हो गये। अर्जुन का बाण बरसाना जारी था। उसके बाणों ने पितामह के शरीर पर उंगली रखने को भी जगह न छोड़ी थी। पितामह के सारे शरीर पर बाण-ही-बाण चुभ गये थे और ऐसी अवस्था में ही भीष्म रथ से सिर के बल जमीन पर गिर पड़े। भीष्म के गिरने पर आकाश में खड़े देवताओं ने अपने दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया और दिशाओं में सुवास-भरी मंद-मंद पवन पानी की बूंदें छिड़काती हुई चलने लगी।

आकाश से पृथ्वी पर उतरकर प्राणिमात्र के शरीर तथा आत्मा का जिन्होंने कल्याण किया, उन पूजनीय माता गंगा के पुत्र महात्मा भीष्म, पिता शान्तनु को सुख पहुंचाने की खातिर राज्य-श्री एवं सुख-भोग को त्यागकर आजीवन ब्रह्मचर्य के व्रत पर अटल रहनेवाले महान् वीर भीष्म, परशुराम को परास्त करने वाले अद्वितीय योद्धा भीष्म, आविश्वासी दुर्योधन की खातिर अपने सत्यव्रत पर दृढ़ रहकर, तिल-तिल करके प्राणों की आहुति देते रहकर तथा युद्ध-भूमि में आग के तप्त अंगारे के समान तीखे बाणों से सारे शरीर के विंध जाने पर भी अपनी शक्ति के अंतिम क्षण तक पांडवों को कंपानेवाले भीष्म, महाभारत के युद्ध के दसवें दिन, शक्ति की अंतिम बूंद समाप्त हो जाने पर रथ से भूमि पर गिर पड़े! और भीष्म के गिरने के साथ ही कौरवों के हृदय भी गिर गये।

भीष्म गिरे तो, लेकिन उनका शरीर भूमि से न लगा। सारे शरीर में जो बाण लगे थे वे एक तरफ से घुसकर दूसरी तरफ निकल आए थे। भीष्म का शरीर जमीन पर न पड़कर उन तीरों के सहारे ऊपर ही उठा रह गया। उस विलक्षण शर-शय्या पर पड़े भीष्म के शरीर से एक अनूठी आभा फूट रही थी। वह पहले से भी अधिक ज्वलंत दिखाई दे रहे थे। भीष्म के गीरते ही दोनों पक्ष के वीरों ने युद्ध बंद कर दिया और भीष्म के दर्शनार्थ झुंड-के-झुंड दौड़ पड़े। भरत देश के सभी राजा भीष्म के आगे सिर झुकाये, हाथ जोड़े उसी प्रकार खड़े रहे, जैसे सारे देवता सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा को नमस्कार करने खड़े हों।

"मेरा सिर नीचे लटक रहा है। उसे ऊपर उठाये रखने के लिए सिर के नीचे कुछ सहारा तो कोई लगा दो।" अपने चारों ओर खड़े राजाओं से भीष्म ने कहा।

पास में खड़े राजा लोग शिविरों में दौड़े और कई सुन्दर और मुलायम तकिये ले आए। रेशम और रुई के उन कोमल तकियों को पितामह ने लेने से इन्कार कर दिया। अर्जुन से बोले—"बेटा अर्जुन, मेरे सिर के नीचे कोई सहारा नहीं है। वह लटक रहा है। कोई ठीक-सा सहारा तो लगा दो।"

भीष्म ने ये वचन उसी अर्जुन से कहे जिसने अभी-अभी प्राणहारी बाणों से उनको बींध डाला था। भीष्म का आदेश सुनते ही अर्जुन ने अपने तरकश से तीन तेज बाण निकाले और पितामह के सिर को उनकी नोक पर रखकर उनके लिए उपयुक्त तकिया बना दिया।

भीष्म बोले—"हे राजागण! अर्जुन ने मेरे लिए जो सिरहाना बनाया है, उसीसे मैं प्रसन्न हुआ हूं। अभी मेरा शरीर त्याग करने के लिए उचित समय नहीं हुआ है। अतः सूर्यनारायण के उत्तरायण होने तक मैं यहीं और ऐसे ही पड़ा रहूंगा। मेरी आत्मा भी उस समय तक शरीर में स्थिर रहेगी। आप लोगों में से जो भी उस समय तक जीवित बचें, वे आकर मुझे देख जायं।"

इसके बाद पितामह ने अर्जुन से कहा—"बेटा! मेरा सारा शरीर जल रहा है और प्यास लग रही है। थोड़ा पानी तो पिलाओ।"

अर्जुन ने तुरन्त धनुष तानकर भीष्म की दाहिनी बगल में पृथ्वी पर बड़े जोर से एक तीर मारा। बाण पृथ्वी में घुसकर सीधा पाताल में जा लगा। उसी क्षण उस स्थान से जल का एक सोता फूट निकला। कवि कहते हैं कि इस प्रकार माता गंगा अपने महान् और प्यारे पुत्र की प्यास बुझाने स्वयं आईं और भीष्म ने अमृत के समान मधुर और शीतल जल पीकर अपनी प्यास बुझाई। वह बहुत ही खुश और प्रसन्न दिखाई दिये।

फिर दुर्योधन से बोले—"बेटा दुर्योधन! तुम्हें अच्छी बुद्धि प्राप्त हो! देखा तुमने, अर्जुन ने मेरी प्यास कैसे बुझाई? कैसे जल निकला? यह बात संसार में और किसीसे हो सकती है? अब भी समय है! विलम्ब न करो। अर्जुन से संधि कर लो। मेरी कामना है कि मेरे साथ ही इस युद्ध का भी अवसान हो जाय! बेटा! तुम मेरी बात पर ध्यान देकर पांडवों से अवश्य संधि कर लो।"

मृत्यु को सामने देखने पर भी जैसे रोगी को दवा नहीं सुहाती, कड़वी ही लगती है, वैसे ही दुर्योधन को पितामह की ये बातें बहुत ही कड़वी लगीं। पर वह कुछ बोला नहीं।

धीरे-धीरे सभी राजा अपने-अपने शिविरों को लौट आये।

: ७४ :
पितामह और कर्ण

जब कर्ण को यह पता चला कि भीष्म पितामह घायल होकर रणक्षेत्र में पड़े हैं तो वह उनके पास गया। उनको दंडवत् प्रणाम किया और बोला:

"पूज्य कुलनायक! सर्वथा निर्दोष होने पर भी आपकी घृणा का पात्र बना हुआ यह राधापुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता है।"

प्रणाम करके जब कर्ण उठा तो पितामह को उसके मुख पर भय की छाया-सी दिखाई दी। यह देख भीष्म का दिल भर आया। बड़े प्रेम-पूर्वक कर्ण के सिर पर उन्होंने हाथ रखा और आशीर्वाद दिया और चुभे हुए बाणों से होनेवाले कष्ट को दबाकर बोले—"बेटा, तुम राधा के पुत्र नहीं, देवी कुन्ती के पुत्र हो। यह मुझे संसार का सारा मर्म जाननेवाले

नारदजी ने बताया है। सूर्यपुत्र! मैंने तुमसे द्वेष नहीं किया। अकारण ही तुमने पांडवों से वैर रखा। इसी कारण तुम्हारे प्रति मेरा मन मलिन हुआ। तुम्हारी दान-वीरता और शूरता से मैं भलीभाँति परिचित हूं। इसमें कोई संदेह नहीं कि शूरता में तुम कृष्ण और अर्जुन की बराबरी कर सकते हो। तुम पांडवों के जेठे हो। इस कारण तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम उनसे मित्रता कर लो। मेरी यही इच्छा है कि इस युद्ध में मेरे सेना-पतित्व के साथ-ही-साथ पांडवों के प्रति तुम्हारे वैर-भाव का भी आज ही अन्त हो जाय।"

यह सुन कर्ण बड़ी नम्रता के साथ बोला—"पितामह! मैं जानता हूँ कि मैं कुन्ती का पुत्र हूँ। यह भी मुझे मालूम है कि मैं सूत-पुत्र नहीं हूँ। परन्तु फिर भी दुर्योधन से जो मैंने संपत्ति प्राप्त की है, उसके कारण मैं उसकी सहायता करने को बाध्य हूँ। यह बात मुझसे नहीं हो सकती कि अब मैं दुर्योधन का साथ छोड़ दूँ और उनके शत्रुओं से जा मिलूं। मेरा कर्त्तव्य यही है कि मैं दुर्योधन के ही पक्ष में रहकर युद्ध करूं। आप कृपया मुझे इस बात की अनुमति दें कि मैं दुर्योधन की तरफ से लड़ूँ। मैंने जो-कुछ किया या कहा, उसमें जितने दोष हों, उसके लिए मुझे क्षमा कर दें।"

कर्ण का कथन भीष्म बड़े ध्यान से सुनते रहे। उसके बाद बोले—"जो तुम्हारी इच्छा हो, वही करो। जीत धर्म की होगी!"

भीष्म के आहत होने के बाद भी महाभारत का युद्ध बंद नहीं हुआ। पितामह ने सबके हित के लिए जो सलाह दी, कौरवों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया और युद्ध जारी रहा।

भीष्म के बिना कौरवों की सेना ठीक उसी तरह असहाय जान पड़ी जैसे गड़रिये के बिना भेड़-बकरियों का झुण्ड। सत्य पर अटल रहनेवाले भीष्म के आहत होते ही सभी कौरव एक स्वर से बोल उठे—"कर्ण! अब तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो।"

कौरवों ने सोचा कि कर्ण के युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर अवश्य हमारी ही जीत होगी। जबतक भीष्म सेनापति बने रहे तबतक कर्ण ने युद्ध में भाग नहीं लिया था। भीष्म ने कर्ण का दर्प दूर करने के विचार

से जो कुछ कहा था, उसपर बिगड़कर कर्ण ने शपथ खाकर कहा था कि जबतक भीष्म जीवित रहेंगे तबतक मैं युद्ध नहीं करूंगा। अगर उनके हाथों पांडवों का वध और दुर्योधन की जीत हो जायगी तो मैं दुर्योधन की आज्ञा लेकर वन में चला जाऊंगा। और अगर वह युद्ध में हार गये और वीरोचित स्वर्ग को प्राप्त हो गये तो उस समय मैं अकेला ही लड़कर सारे पांडवों को युद्ध में परास्त करके दुर्योधन को युद्ध में विजेता का यश दिलाऊंगा।

दस दिन पहले जिस कर्ण ने यह शपथ खाई थी और दुर्योधन की सहमति से उसे निभाया था, वही कर्ण युद्ध में आहत भीष्म के पास पैदल दौड़ा गया और उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—

"परशुराम को परास्त करनेवाले वीर। आज आप शिखंडी के हाथों आहत होकर इस युद्धभूमि में पड़े हैं। धर्म के शिखर माने जानेवाले आप-जैसे महात्मा का जब यह हाल हुआ तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि संसार में पुण्य का फल किसीको प्राप्त नहीं होता। कौरवों को संकट की बाढ़ से पार लगानेवाली नौका के सदृश थे आप! अब आपके बिना पांडवों के हाथों कौरवों की भारी पीड़ा पहुंचनेवाली है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण और अर्जुन उसी प्रकार कौरवों का सर्वनाश कर देंगे जैसे पवन और अग्नि मिलकर जंगल का नाश करते हैं। आपसे प्रार्थना है कि आप अपनी कृपादृष्टि मुझपर अनुगृहीत करें।"

महात्मा भीष्म कर्ण को आशीर्वाद देते हुए बोले—"कर्ण! जिसने भी तुम्हें अपना मित्र बना लिया, उसको तुम वैसे ही सहारा दिया करते हो, जैसे नदियों को समुद्र, बीजों को मिट्टी और प्राणियों को मेघ। अब दुर्योधन की तुम्हीं रक्षा करना। जिसके लिए तुमने कांबोजों को जीता था, हिमालय के दुर्गों पर बसे हुए किरातों को कुचल डाला, जिसके लिए गिरिव्रज के राजाओं से लड़कर विजय प्राप्त की और जिसके लिए और भी कितने ही प्रतापी कार्य किये हैं, उसी दुर्योधन की सेना के अब तुम ही रक्षक बनकर रहना। तुम्हारा कल्याण हो। जाओ, और शत्रुओं से युद्ध करो। कौरवों की सेना को अपनी ही संपत्ति समझकर उसकी रक्षा करो।"

भीष्म पितामह से आशीष पाकर कर्ण बहुत प्रसन्न हुआ और रथ पर

चढ़कर युद्धक्षेत्र में जा पहुँचा। कर्ण को देखते ही दुर्योधन आनन्द के मारे फूल उठा। भीष्म के विछोह का जो दुःख उसके लिए दुःसह-सा प्रतीत हो रहा था, अब कर्ण के आजाने पर किसी तरह उसे भूल जाना उसके लिए संभव मालूम होने लगा।

: ७५ :
सेनापति द्रोण

दुर्योधन और कर्ण इस बारे में सोच-विचार करने लगे कि अब सेनापति किसे बनाया जाय।

कर्ण बोले—"यहां पर जितने क्षत्रिय उपस्थित हैं, वे सब सेनापति बनने की योग्यता रखते हैं। शारीरिक बल, पराक्रम, यत्नशीलता, बुद्धि, शूरता, धीरज, कुल, ज्ञान आदि सभी बातों में यहां इकट्ठे हुए सभी क्षत्रिय-राजा एक-दूसरे की समता कर सकते हैं। पर सवाल यह है कि इनमें से सेनापति किसे बनाया जाय? सभी एक साथ तो सेनापति बन नहीं सकते। किसी एक को ही इस पद के लिए चुनना होगा और संभव है कि इसमें दूसरे लोग बुरा मानें। यह हमारे लिए हानिकर साबित होगा। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए मुझे तो यही सबसे अच्छा प्रतीत होता है कि आचार्य द्रोण को ही सेनापति बनाया जाय। वह सभी वीरों के आचार्य हैं, शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ हैं और क्षत्रियों में तो उनकी समता करनेवाला कोई है नहीं। मेरी राय में तो अपने आचार्य को ही सेनापति के पद पर बिठाया जाय।"

कर्ण की यह बात दुर्योधन ने मान ली।

"आचार्य! जाति, कुल, शस्त्र-ज्ञान, वय, बुद्धि, वीरता, कुशलता आदि सभी बातों में आप सबसे श्रेष्ठ हैं। आप ही अब इस सेना का सेनापतित्व स्वीकार करें। हमारी इस सेना का यदि आप संचालन करेंगे तो यह निश्चित है कि हम युधिष्ठिर को अवश्य जीत लेंगे।"—यह कहकर दुर्योधन ने सभी क्षत्रिय वीरों के सामने द्रोणाचार्य से सेनापतित्व स्वीकार करने की विनती की।

एकत्र राजाओं ने यह सुन सिंहनाद करके दुर्योधन को प्रसन्न किया। शास्त्रोक्त रीति से द्रोणाचार्य का सेनापति-पद पर अभिषेक हुआ । उस समय ऐसा जयजयकार हुआ, मानों आकाश विदीर्ण हो जायगा । वंदी लोगों के स्तुति-गान और जय-घोष को सुनकर कौरव तो ऐसे उत्साह में आ गये कि पूछो मत । उन्हें यह भ्रम होने लगा मानो उन्होंने पांडवों पर विजय ही पा ली हो ।

•

आचार्य द्रोण ने युद्ध के लिए कौरव सेना को शकट-व्यूह में रचा । कर्ण के रथ को उसी दिन पहले-पहल युद्ध के मैदान में इधर-उधर चलते देख कौरव सेना के वीरों में एक नया ही जोश और आनन्द दौड़ गया ।

कौरवों की सेना के सिपाही आपस में बातें करने लगे—"पितामह तो अर्जुन को मारना नहीं चाहते थे । अनमने भाव से युद्ध कर रहे थे; परन्तु कर्ण ऐसा नहीं करेंगे । अब तो पांडवोंका नाश होकर ही रहेगा ।"

द्रोणाचार्य ने पांच दिन तक कौरवों की सेना का संचालन करते हुए घोर युद्ध किया । यद्यपि अवस्था में वह बूढ़े थे, फिर भी जवानों को लजानेवाली फुर्ती के साथ युद्ध के मैदान में एक छोर से दूसरे छोर तक चक्कर काटते रहे और पागलों के-से जोश के साथ युद्ध करते रहे। उनके भीषण आक्रमण के आगे पांडवों की सेना उसी तरह तितर-बितर हो जाती थी, जैसे आंधी के चलने पर मेघ-राशि । सात्यकि, भीम, अर्जुन, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रुपद, काशिराज आदि सुविख्यात वीरों के विरुद्ध अकेले द्रोणचार्य भिड़ जाते और एक-एक को खदेड़ देते । पांचों दिन उनके हाथों पांडवों की सेना बहुत ही सताई गई । आचार्य द्रोण ने पांडव सेना की नाक में दम कर दिया ।

: ७६ :

दुर्योधन का कुचक्र

द्रोणाचार्य के सेनापतित्व ग्रहण करने के बाद दुर्योधन, कर्ण और दुःशासन, तीनों ने आपस में सलाह करके एक योजना बनाई । उसके

अनुसार दुर्योधन आचार्य के पास जाकर बोला—"आचार्य ! किसी भी उपाय से आप युधिष्ठिर को जीवित ही पकड़ करके हमारे हवाले कर सकें तो बड़ा ही उत्तम हो । इससे अधिक हम आपसे कुछ नहीं चाहते । यदि इस एक कार्य को आप सफलतापूर्वक पूरा कर दें तो फिर मैं और मेरे साथी संतोष मान लेंगे ।"

यह सुनकर द्रोणाचार्य एकदम खुश हो उठे । पांडवों को मारना उनको भी प्रिय न था । यद्यपि कर्त्तव्य से प्रेरित होकर वह युद्ध में शरीक हुए थे, फिर भी उनके मन में यही संघर्ष चल रहा था कि पांडु-पुत्रों को—विशेषकर युधिष्ठिर को—मारना अधर्म तो नहीं है ! इस कारण अब दुर्योधन से यह सूचना पाकर वह बड़े खुश हुए ।

बोले—"दुर्योधन ! तुम्हारी क्या यही इच्छा है कि युधिष्ठिर के प्राणों की रक्षा हो जाय ? तुम्हारा कल्याण हो ! जब तुम्हींने यह कह दिया कि धर्मपुत्र के प्राण न लिये जायं, तो फिर इसमें शक ही क्या हो सकता है कि युधिष्ठिर का कोई शत्रु नहीं है ! लोगों ने 'अजातशत्रु' की जो उपाधि उसको दी है, तुमने उसे आज सार्थक कर दिया । जब तुम स्वयं यह अनुरोध करने लगे हो कि युधिष्ठिर का वध न किया जाय, उसे जीवित ही पकड़ लिया जाय, तो इससे युधिष्ठिर का यश दस गुना बढ़ जाता है । धन्य है युधिष्ठिर को, जिसका कोई शत्रु नहीं ।"

यह कह आचार्य कुछ देर सोचते रहे और फिर बोले—"बेटा ! मैंने जान लिया कि युधिष्ठिर को जीवित पकड़वाने से तुम्हारा क्या उद्देश्य है । तुम्हारा उद्देश्य यही है कि पांडवों को आधा राज्य देकर उनसे संधि कर लें; नहीं तो युधिष्ठिर को जीता पकड़ने की बात ही तुम क्यों करते ?" यह कहते-कहते आचार्य द्रोण बहुत ही गद्गद हो उठे और सोचने लगे—

'बुद्धिमान धर्मपुत्र का जन्म सफल है, कुंतीनंदन बड़भागी है, जिसने अपने शील-स्वभाव से सबको प्रभावित कर दिया है ।' वह बार-बार यही सोचने लगे और धार्मिक जीवन की विजय पर असीम संतोष का अनुभव करने लगे । फिर यह सोचकर कि दुर्योधन के मन में अपने भाइयों के प्रति अभी तक स्नेह है, द्रोण और भी प्रसन्न हुए ।

किंतु दुर्योधन का उद्देश्य तो कुछ और ही था ! उसके हृदय में वैर-भाव और कुकर्म की इच्छा ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी—वह तनिक भी कम नहीं हुई थी। जब द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को जीता पकड़ने की बात मान ली तो ऐसा करने का अपना उद्देश्य भी उसने आचार्य को बताया।

दुर्योधन को अबतक यह विदित हो चुका था कि युधिष्ठिर को मार डालने से न तो युद्ध बन्द होगा, न पांडवों का क्रोध ही कम होगा। उलटे, पांडव और भी अधिक उत्तजित हो जायंगे और तबतक लड़ेंगे, जबतक कि सारे सैनिक खत्म न हो जायं। दुर्योधन को यह भी पता चल गया था कि हार उसकी होगी और जीत पांडवों की होगी। यदि ऐसा न होकर दोनों तरफ के योद्धाओं का नाश हो गया तो भी कृष्ण तो मरेंगे नहीं। न ही द्रौपदी-जैसी स्त्रियां ही मरेंगी। कृष्ण जीवित रहे तो यह भी निश्चित है कि राज्य द्रौपदी या कुंती के हाथों में चला जायगा। अतः युधिष्ठिर का वध करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। उलटे, यदि युधिष्ठिर को जीता ही पकड़ लिया जाय तो युद्ध भी शीघ्र ही बंद हो जायगा और जीत भी कौरवों की होगी। थोड़ा-सा राज्य युधिष्ठिर को देने का बहाना करना होगा, सो वह कर देंगे और बाद में फिर जुआ खेलकर सहज ही में उसे वापस छीन भी लेंगे। क्षत्रियोचित धर्म मानने वाले और बात के पक्के युधिष्ठिर को जुआ खेलकर फिर वन में भेजा जा सकता है। इधर दस दिन के युद्ध में दुर्योधन को यह भी मालूम हो चुका था कि लड़ने से कुल की तबाही ही होनेवाली है; सफल होना शायद संभव नहीं है। इन्हीं सब विचारों से प्रेरित होकर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से युधिष्ठिर को जीवित पकड़ लाने का अनुरोध किया था।

लेकिन द्रोण को जब दुर्योधन के असली उद्देश्य का पता लगा तो वह बहुत उदास हो गये। सोचने लगे कि झूठे ही वह कल्पना करने लगे थे कि दुर्योधन का दिल अच्छा है। इससे उनके मन में दुर्योधन के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई। वह मन-ही-मन दुर्योधन को कोसने लगे; परन्तु फिर भी यही सोचकर उन्होंने संतोष मान लिया कि युधिष्ठिर के प्राण न लेने का कोई-न-कोई बहाना तो मिला ही।

इधर पांडवों को जासूसों द्वारा यह मालूम हो गया कि आचार्य द्रोण

ने युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने का निश्चय किया है। पांडव तो द्रोणाचार्य की अद्वितीय शूरता एवं शस्त्र-विद्या के अनुपम ज्ञान से भलीभांति परिचित ही थे। अतः जब सुना कि द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को पकड़ने का निश्चय ही नहीं किया, बल्कि प्रतिज्ञा भी की है तो वे भी भयभीत हो गए। सबको यही चिंता रहने लगी कि किसी भी तरह युधिष्ठिर की रक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया जाय।

इस कारण पांडव सेना की व्यूह-रचना इस तरह से की गई कि जिससे युधिष्ठिर के चारों ओर उनकी सुरक्षा के लिए काफी सेना मुस्तैदी से रह सके। सेना का एक बहुत बड़ा भाग युधिष्ठिर की रक्षा के लिए नियक्त किया गया।

द्रोण के सेनापतित्व में युद्ध प्रारंभ हो गया। पहले दिन के संग्राम में उन्होंने अपने पराक्रम का काफी परिचय दिया। जैसे आग किसी सूखे वन को जलाती हुई फैलती है, वैसे ही पांडव सेना को जलाते हुए आचार्य द्रोण चक्कर काटते रहे। किसी को पता भी नहीं चला कि द्रोण हैं किस मोर्चे पर। ऐसी फुर्ती के साथ इधर-उधर रथ चलाते, बाण बरसाते और सर्वनाश मचाते रहे कि पांडव सेना को भ्रम होने लगा कि कहीं द्रोण अनेक तो नहीं हो गए।

पांडव सेना का व्यूह उस मोर्चे पर टूट गया जिसपर सेनापति धृष्टद्युम्न था और महारथियों में घोर द्वंद्व छिड़ गया। माया-युद्ध में निपुण शकुनि सहदेव से युद्ध करने लगा। जब उनके रथ टूट गये तो दोनों वीर रथों से उतर पड़े और गदा लेकर एक-दूसरे से ऐसे टकराये, मानो दो पहाड़ जीवित होकर भिड़ गये हों।

भीमसेन और विविंशति में जो युद्ध हुआ, उसमें दोनों के रथ टूट-फूट गए। शल्य ने अपने भानजे नकुल को बहुत सताया। नकुल को इससे बड़ा क्रोध चढ़ा। उसने मामा के रथ की ध्वजा और छतरी काटकर गिरा दी और विजय का शंख बजा दिया। दूसरी ओर कृपाचार्य धृष्टकेतु पर टूट पड़े और उसको दूर तक खदेड़ दिया। सात्यकि और कृतवर्मा में भी भयानक युद्ध हुआ।

विराटराज कर्ण से जा भिड़े। सदा की भाँति अभिमन्यु ने अद्भुत

पराक्रम का परिचय दिया। उसने अकेले ही पौरव, कृतवर्मा, जयद्रथ, शल्य आदि चारों महारथियों का मुकाबला किया और चारों को परास्त कर दिया।

इसके बाद भीम और शल्य में आचानक गदा-युद्ध छिड़ा। अन्त में भीम ने शल्य को बुरी तरह हराया और उनको युद्ध-क्षेत्र से हटना पड़ा। यह देखकर कौरव सेना का साहस डगमगाने लगा। इसपर पांडव सेना ने कौरव सेना पर जोरों का हमला कर दिया। इससे कौरव सेना में खलबली मच गई।

द्रोण ने जब यह देखा तो अपनी सेना का हौसला बढ़ाने के लिए अपने सारथी को आज्ञा दी कि रथ उस ओर ले चलो, जिधर युधिष्ठिर युद्ध कर रहे हों। द्रोण के सुनहरे रथ के आगे सिंधु-देश के चार सुन्दर और फुर्तीले घोड़े जुते हुए थे। द्रोण का आज्ञा देना था कि घोड़े हवा से बातें करते हुए अपने रथ को युधिष्ठिर के रथ की ओर ले दौड़े। आचार्य के रथ को अपनी ओर आते देख युधिष्ठिर ने आचार्य पर बाज के पर लगे तीखे बाण चलाये, किन्तु आचार्य उनसे ज़रा भी विचलित न हुए। उल्टे धर्मराज पर उन्होंने कई बाण चलाये और उनका धनुष काटकर गिरा दिया। युधिष्ठिर संभलें, इसके पहले ही द्रोणाचार्य वेग से उनके निकट जा पहुंचे। धृष्टद्युम्न ने हजार चेष्टा की, परन्तु वह द्रोण को नहीं रोक सका। उनका प्रचंड वेग किसीके रोके नहीं रुकता था।

'युधिष्ठिर पकड़े गए!' 'युधिष्ठिर पकड़े गए!' की चिल्लाहट से सारा कुरुक्षेत्र गूंज उठा।

इतने ही में एकाएक न जाने क़हां से अर्जुन उधर आ पहुंचा। रक्त की नदी को पार करता, हड्डियों के पहाड़ों को लांघता और धरती को कंपाता हुआ अर्जुन का रथ वहां जा खड़ा हुआ। देखते ही द्रोणाचार्य ज़रा देर के लिए तो सन्न-से रह गये।

और अर्जुन के गांडीव धनुष से बाणों की ऐसी अविरल बौछार छूट रही थी कि कोई देख ही नहीं पाता था कि कब बाण धनुष पर चढ़ते और कब चलते। कुरुक्षेत्र का आकाश बाणों से छा गया और इस कारण सारे मैदान में अंधकार ही अंधकार छा गया।

अर्जुन के हमले के कारण द्रोणाचार्य को पीछे हटाना पड़ा। युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने का उनका प्रयत्न विफल हो गया और संध्या होते-होते उस दिन का युद्ध भी बंद हो गया। कौरव सेना में भय छा गया। पांडव सेना के वीर शान से अपने-अपने शिविर को लौट चले। सैन्य-समूह के पीछे-पीछे चलते हुए कृष्ण और अर्जुन अपने शिविर में जा पहुंचे।

इस प्रकार ग्यारहवें दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

: ७७ :

बारहवां दिन

पहले ही दिन युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने की चेष्टा के विफल हो जाने पर आचार्य द्रोण दुर्योधन से कहने लगे—"राजन्! अर्जुन के पास रहने पर युधिष्ठिर को पकड़ना असंभव है। अपनी तरफ से जो-कुछ करना है, वह मैं करूंगा। यदि कोई उपाय करके अर्जुन को युधिष्ठिर से अलग करके उसे कहीं दूर हटा दिया जाय तो मैं व्यूह तोड़कर पास पहुंच जाऊंगा और यदि वह मैदान में डटा रहा तो निश्चय ही उसे कैद करके ले आऊंगा और यदि युधिष्ठिर भाग खड़ा हुआ तो वह भी हमारी जीत ही मानी जायगी।"

द्रोणाचार्य की ये बातें कौरवों के मित्र त्रिगर्त-नरेश सुशर्मा ने सुन लीं। उसने अपने भाइयों के साथ मिलकर मंत्रणा की कि अर्जुन को युधिष्ठिर से अलग हटाने का क्या उपाय किया जा सकता है? सबसे अंत में यही निश्चय किया कि संशप्तक-व्रत धारण करके अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा जाय और लड़ते-लड़ते उसे युधिष्ठिर से दूर हटाकर ले जाया जाय।

यह निश्चय करके उन्होंने एक भारी सेना इकट्ठी की और नियमानुसार संशप्तक-व्रत की दीक्षा ली। सबने घास के बने वस्त्र धारण किये। अग्नि की पूजा की और फिर शपथ खाई कि हम लोग युद्ध में धनंजय का वध किये बिना नहीं लौटेंगे। यदि भय के कारण पीठ दिखाकर भाग आए तो हमें महापाप करने का दोष प्राप्त हो; हम प्राणों तक का उत्सर्ग

करने को प्रस्तुत रहेंगे।

यह शपथ लेने के बाद संशप्तकों ने वे सब दान-पुण्य किये, जो मरणान्न व्यक्तियों से कराये जाते हैं और फिर वे युद्ध-क्षेत्र में दक्षिण की ओर मुख करके कूद पड़े और अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा।

संशप्तक-व्रत लिये हुए त्रिगर्त देश के वीरों की इस टोली को कौरव सेना का 'आत्मघाती दल' समझा जा सकता है। आजकल की लड़ाइयों में भी यह प्रणाली प्रचलित है, जिसके अनुसार कोई दल-विशेष या व्यक्ति-विशेष किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए कटिबद्ध होकर निकलते हैं और कृतकार्य हुए बिना जीवित नहीं लौटते। अंग्रेजी में ऐसे वीरों की टोली को 'सुसाइड स्क्वैड' (Suicide Squad) कहते हैं।

संशप्तक-व्रत-धारी त्रिगर्त वीरों ने अर्जुन को नाम ले-लेकर पुकारा और उसे युद्ध के लिए चुनौती दी।

अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा, "राजन्! देखिये, ये लोग संशप्तक-व्रत लेकर मुझे ललकार रहे हैं। आप तो जानते ही हैं कि मैंने यह प्रण कर रक्खा है कि किसीके ललकारने पर युद्ध में जरूर जाऊंगा। राजा सुशर्मा और उसके साथी मुझे युद्ध के लिए ललकार रहे हैं। इसलिए मैं तो जा रहा हूं और उनका सर्वनाश करके ही लौटूंगा। आप मुझे आज्ञा दीजिए।"

युधिष्ठिर ने जब यह देखा तो बोले—"भैया, आचार्य द्रोण का इरादा तो तुम्हें मालूम ही है। उन्होंने मुझे जीवित पकड़ ले जाने का दुर्योधन को वचन दिया है। तुम तो जानते ही हो कि द्रोणाचार्य बड़े बली हैं, शूर हैं, कष्ट-सहिष्णु हैं, शस्त्र-विद्या के पारंगत हैं और अपनी प्रतिज्ञा के लिए पूर्ण प्रयत्नशील हैं। उनके प्रण और उनके सामर्थ्य को ध्यान में रखकर जो तुम्हें उचित लगे, वह करो।—यह मेरा कहना है।"

अर्जुन ने कहा—"आपकी रक्षा पांचालराज-पुत्र सत्यजित् करेंगे। जबतक वह जीवित रहेंगे तबतक आप पर किसी तरह की आंच नहीं आ सकती।"

और सत्यजित् को युधिष्ठिर का रक्षक तैनात करके अर्जुन संशप्तकों की ओर ऐसे लपका जैसे भूखा शेर शिकार पर लपकता है।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"कृष्ण! देखिये वे त्रिगर्त लोग खड़े हैं। प्राणों के भय के कारण तो उन्हें रोना ही चाहिए था, किन्तु व्रत के नशे में मस्त वे बड़े खुश हो रहे हैं। स्वर्ग की प्रतीक्षा करते हुए वे आनन्द के मारे अपने आपे में नहीं हैं।" यह कहते-कहते अर्जुन शत्रु-सेना के पास जा पहुंचा।

युद्ध का बारहवां दिन था; बहुत ही भयानक लड़ाई हो रही थी। अर्जुन ने त्रिगर्तों पर ऐसा आक्रमण किया कि त्रिगर्त-सेना के वीर विचलित होने लगे। इसपर घबराये हुए सैनिकों का उत्साह बढ़ाता हुआ राजा सुशर्मा सिंह की भांति गरज उठा।

बोला—"शूरो! याद रक्खो! क्षत्रियों की भरी सभा में तुम लोगों ने शपथ खाकर व्रत धारण किया है। घोर प्रतिज्ञा करने के बाद भय-विह्वल होना तुम्हें शोभा नहीं देता। लोग तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे। डरो नहीं! आगे बढ़ो और प्राणों की बलि चढ़ा दो।"

यह सुन सभी वीरों ने एक-दूसरे को प्रोत्साहित करके शंख बजाते हुए फिर भयानक युद्ध शुरू कर दिया।

उनका यह युद्ध देखकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"हृषीकेश! जबतक इनके तन में प्राण रहेंगे, ये मैदान से हटेंगे नहीं। अतः अब हमें भी झिझकना नहीं चाहिए। आप रथ चलाइए।"

मधुसूदन ने रथ चलाया और अपने सारथ्य की कुशलता का अद्भुत परिचय दिया। श्रीकृष्ण द्वारा संचालित रथ उस समय ऐसे ही शोभित हुआ जैसे देवासुर-संग्राम के समय इंद्र का रथ शोभित हो रहा था। अर्जुन के गांडीव ने भी अपनी पूरी चतुराई का परिचय दिया। त्रिगर्तों को एक ही समय में सौ-सौ अर्जुन दिखाई देने लगे और अर्जुन के द्वारा घायल वीर ऐसे दिखाई देने लगे जैसे हजारों फूलों से लदे पलाश के पेड़।

घोर संग्राम होने लगा। एक बार तो अर्जुन का रथ त्रिगर्तों के बाणों की बौछार से मानो अंधकार में विलीन हो गया।

लेकिन अर्जुन ने त्रिगर्तों द्वारा मारे गये बाणों के घेरे में ही गांडीव तानकर ऐसे बाण मारे कि जिनसे शत्रुओं की बाण-वर्षा का घेरा हवा में उड़ गया।

उस समय युद्ध-भूमि का दृश्य ऐसा भयानक प्रतीत हुआ मानो प्रलय के समय रुद्र की नृत्य-भूमि हो। सारे मैदान पर जहांतक दृष्टि पहुंचती थी, बिना सिर के धड़, टूटे हाथ-पैर आदि के ढेर पड़े दिखाई देते थे।

•

अर्जुन को संशप्तकों से लड़ते देख द्रोणाचार्य ने अपनी सेना को आज्ञा दी कि पांडवों की सेना के व्यूह के उस स्थान पर आक्रमण करे कि जहां युधिष्ठिर हों। युधिष्ठिर ने देखा कि द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में एक भारी सेना उनकी ओर बढ़ी चली आ रही है। वह धृष्टद्युम्न को सचेत करते हुए बोले—"वह देखो! ब्राह्मण-वीर आचार्य द्रोण मुझे पकड़ने के लिए आ रहे हैं। सतर्कता के साथ सेना की देखभाल करना।"

धृष्टद्युम्न द्रोण के आने की प्रतीक्षा किये बिना ही आगे बढ़ चला। द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न को, जिसका जन्म ही द्रोणाचार्य के वध के लिए हुआ था, अपनी ओर आते देखकर द्रोणाचार्य क्षण-भर के लिए भयभीत से हुए, मानो काल का आगमन हो रहा हो। उन्हें स्मरण हो आया कि धृष्टद्युम्न के हाथों मेरी मृत्यु निश्चित है और आचार्य उसकी ओर न बढ़कर जिधर राजा द्रुपद युद्ध कर रहे थे, उस ओर घूम गये।

द्रुपद की सेना को खूब परेशान करने और खून की नदी बहाने के बाद द्रोणाचार्य ने फिर युधिष्ठिर की ओर अपना रथ बढ़ाया। आचार्य को देखते ही युधिष्ठिर अविचलित भाव से बाणों की वर्षा करने लगे। इसपर सत्यजित् द्रोणाचार्य पर टूट पड़ा। भयानक संग्राम छिड़ा। इस समय द्रोणाचार्य ऐसे प्रतीत हुए मानो साक्षात् काल हों। पांडव सेना के वीरों को एक-एक करके वह मारने लगे। पांचाल-राजकुमार वृक के प्राण उनके बाणों ने ले लिये। सत्यजित् का भी वही हाल हुआ।

यह देख विराट का पुत्र शतानीक द्रोण पर झपटा और दूसरे ही क्षण शतानीक का कुंडलोंवाला सिर युद्ध-भूमि में लोटने लगा। इसी बीच केदम नाम का राजा द्रोणाचार्य से आ टकराया और उसको भी प्राणों से हाथ धोना पड़ा। द्रोण आगे ही आगे बढ़ते चले गये। उनके प्रबल वेग को रोकने के लिए हिम्मत करके वसुधान आया और वह भी यमलोक पहुंचा। युधामन्यु, सात्यकि, शिखंडी, उत्तमौजा आदि कितने

ही महारथियों को तितर-बितर करते हुए द्रोणाचार्य युधिष्ठिर के नजदीक जा पहुंचे। उस समय द्रुपदराज का एक और पुत्र पांचाल्य अपने प्राणों की ज़रा भी परवा न करके अदम्य जोश के साथ द्रोण पर टूट पड़ा। वह भी मृत होकर रथ से जमीन पर इस प्रकार गिरा जैसे आकाश से तारा टूटकर गिरता हो।

"राधेय! आचार्य द्रोण का पराक्रम तो देखो! पांडवों की सेना कैसी बेहाल होकर इधर-उधर भाग रही है। मैं कहता हूं कि ये पांडव अब युद्ध में अवश्य हार जायंगे।"—दुर्योधन ने कहा।

कर्ण को यह ठीक नहीं लगा। बोला—"दुर्योधन! पांडवों को हराना इतना सरल काम नहीं है। पांडव ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जो युद्ध से इतनी जल्दी पीछे हट जायं। वे कभी उन घोर यातनाओं को नहीं भूल सकेंगे जो उन्हें विष से, आग से और जुए के खेल से पहुंची थीं। वनवास के समय जो कष्ट झेलने पड़े, उन्हें भी वे नहीं भूल सकते। देखो तो, वे पांडव वीर फिर से इकट्ठे होकर आचार्य पर हमला कर रहे हैं। कितने ही वीर युधिष्ठिर की रक्षा के लिए आगये हैं। भीम, सात्यकि, युधामन्यु, क्षत्रधर्म, नकुल, उत्तमौजा, द्रुपद, विराट, शिखंडी, धृष्टकेतु आदि बहुत से वीर आ गये हैं और अब द्रोणाचार्य पर भयानक हमला हो रहा है। आचार्य के कंधों पर इतना भार लादकर हम यहां खड़े रहें, यह ठीक नहीं होगा। यद्यपि वह महान् वीर हैं फिर भी उनकी सहन-शक्ति की भी कोई सीमा है। भेड़िये भी एक साथ हमला करके एक भारी हाथी को मार सकते हैं। इसलिए चलो, चलें। उन्हें अकेले छोड़ना ठीक नहीं।" यह कहता हुआ कर्ण आचार्य द्रोण की सहायता को चल दिया।

: ७८ :

शूर भगदत्त

आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने की कई बार चेष्टा की, पर असफल रहे। यह देख दुर्योधन ने एक भारी गज-सेना भीम की ओर बढ़ा दी। भीमसेन ने रथ पर ही खड़े उन लड़ाकू हाथियों के झुण्ड

का मुकाबला किया। बाणों की बौछार से हाथियों की बुरी दशा हो गई। अर्द्ध-चन्द्र बाणों के प्रहार से दुर्योधन की रथ की ध्वजा कटकर गिर गई और धनुष भी टूट गया। दुर्योधन को यों बेहाल होते देखकर अंग नाम का म्लेच्छराज एक बड़े हाथी पर सवार होकर भीमसेन के सम्मुख आ डटा। म्लेच्छराज पर भीम ने नाराच बाणों की जोरों की वर्षा की जिससे म्लेच्छराज को अपने हाथी समेत मैदान से लौटना पड़ा। यह देख वहां की सारी कौरव सेना भयभीत होकर भाग खड़ी हुई।

हाथी और रथों में जुते हुए घोड़े जब घबराकर भागने लगे तो हजारों पैदल सैनिक उनके पैरों-तले कुचल गये और मृत्यु को प्राप्त हुए। कौरव सेना को इस प्रकार घबराहट के मारे भागते देखकर प्राग्ज्योतिष देश के राजा भगदत्त से न रहा गया। वह अपने विख्यात लड़ाकू हाथी सुप्रतीक पर सवार होकर भीमसेन की ओर बढ़ा। अपनी सूंड को घुमाता हुआ वह हाथी भीमसेन पर झपटा और उसके रथ और घोड़ों को तहस-नहस कर दिया। रथ के नष्ट हो जाने पर भी भीमसेन बिल्कुल नहीं घबराया। हाथियों के मर्म-स्थानों के बारे में उसकी जानकारी खूब थी। इस कारण वह जमीन पर कूद पड़ा और चालाकी से भगदत्त के हाथी के पांवों के बीच में से घुसकर उसके शरीर से सटकर नीचे खड़ा हो गया और उसके मर्म-स्थानों पर घूंसे मार-मारकर उसे बेहाल कर दिया। हाथी मारे दर्द के जोरों से चिंघाड़ने लगा। कुम्हार के चाक की भांति वह अपने चारों ओर चक्कर खाने लगा और अपने-आपको छुड़ाने का प्रयत्न करने लगा। घूमते-घूमते अचानक हाथी ने अपनी सूंड से भीमसेन को पकड़ लिया और उसे जमीन पर पटककर अपने पैरों से कुचलने वाला था कि इतने में भीमसेन बड़ी चपलता से उसकी पकड़ में से छिटक गया और फिर से उसके पैरों के बीच जा घुसा और पहले की भांति उसे घूंसे मार-मारकर तंग करने लगा।

भीमसेन को यह आशा थी कि पांडव-सेना का कोई हाथी इधर निकल आवे और सुप्रतीक पर आक्रमण कर दे तो उसे इस संकट से बच निकलने का मौका मिले। पर सेना के और वीरों को इस बात का पता ही नहीं लगा। उधर बड़ी देर तक भीम का पता न चला तो सैनिकों ने शोर

मचाया कि भीमसेन मारा गया। भगदत्त के हाथी ने भीमसेन को मार दिया।

यह शोर सुनकर युधिष्ठिर ने भी विश्वास कर लिया कि भीमसेन सचमुच ही मारा गया होगा। यह सोचकर उन्होंने अपने वीरों को आज्ञा दी कि भगदत्त पर हमला बोल दो।

इतने में दशार्ण देश के राजा ने अपने लड़ाकू हाथी पर सवार होकर भगदत्त के हाथी पर हमला कर दिया।

दशार्ण के हाथी ने बड़े जोरों के साथ युद्ध किया और सुप्रतीक पर जोर का हमला किया, फिर भी सुप्रतीक के आगे वह अधिक देर टिका नहीं सका। सुप्रतीक ने अपने दांतों से दशार्ण के हाथी की पसलियां तोड़ दीं। दशार्ण का हाथी चक्कर खाकर गिर पड़ा। इसी बीच मौक़ा पाकर भीमसेन सुप्रतीक के पैरों के बीच में से निकल आया।

इधर युधिष्ठिर की भेजी कुमुक आ पहुंची थी। और वृद्ध भगदत्त को चारों तरफ से पांडव वीरों ने घेर लिया, बाणों के वार से उसका हाथी और वह स्वयं दोनों बुरी तरह घायल हो गये, परन्तु फिर भी भगदत्त इससे विचलित नहीं हुआ। दावानल की भांति बूढ़े वीर भगदत्त का कलेजा जल रहा था। घेरे हुए शत्रु-वृन्द की बिल्कुल परवाह न करके उसने सात्यकि के रथ की ओर ही हाथी दौड़ा दिया। हाथी ने सात्यकि के रथ को उठाकर हवा में फेंक दिया। सात्यकि फुरती से जमीन पर कूद पड़ा, वरना उसका बचना कठिन हो जाता। उसका सारथी बड़ा कुशल था। उसने आकाश में फेंके गए रथ और घोड़ों को बड़ी कुशलता से बचा लिया और फिर से रथ को उठाकर ठीक-ठाक कर लिया और सात्यकि के नजदीक ले आया।

भगदत्त के हाथी ने पांडव सेना को बहुत तंग किया। वह निधड़क होकर सेना के अन्दर घुसकर सैनिकों को उठा-उठाकर फेंकने लगा और उसने चारों ओर तबाही मचा दी। इस हमले से सैनिकों को बड़ी घबराहट हुई। हाथी पर शान से खड़ा राजा भगदत्त ठीक उसी तरह पांडव सेना के वीरों को मौत के घाट उतार रहा था, मानो देवराज इन्द्र अपने ऐरावत पर खड़े असुरों का वध कर रहे हों।

इसी बीच भीमसेन फिर से रथ पर सवार होकर सुप्रतीक पर हमला करने लगा; परन्तु मतवाले हाथी ने उसके रथ के घोड़ों की ओर सूंड बढ़ाकर जोर से ऐसी फुंकारें मारीं कि घोड़े घबराकर भाग खड़े हुए।

•

उधर दूसरी ओर दूर पर अर्जुन संशप्तकों से लड़ रहा था। उसने देखा कि जहां पांडव सेना थी, वहां आकाश तक धूल उड़ रही है और हाथी की चिंघाड़ें भी सुनाई दे रही हैं। यह देखकर उसने ताड़ लिया कि जरूर कोई न कोई अनर्थ हो रहा होगा। वह श्रीकृष्ण से बोला—

"मधुसूदन, सुनिये तो! भगदत्त के लड़ाकू हाथी सुप्रतीक की चिंघाड़ सुनाई दे रही है। लड़ाकू हाथी को चलानेवालों में भगदत्त का सानी संसार में कोई नहीं है। मुझे डर है कि कहीं वह हमारी सेना को तितर-बितर करके हरा न दे। हमें शीघ्र ही उधर चलना चाहिए। इन संशप्तकों को जितना हरा चुके हैं, अभी तो उतना ही काफी है। इनको यहीं छोड़ कर उधर चलना जरूरी मालूम देता है, जहां द्रोणाचार्य युधिष्ठिर से लड़ रहे हैं।"

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की बात मान ली और उन्होंने रथ उसी ओर को घुमा दिया, जिधर भगदत्त के हाथी और भीम का युद्ध हो रहा था। सुशर्मराज और उसके भाई संशप्तक अर्जुन के रथ का पीछा करने लगे और 'ठहरो-ठहरो' चिल्लाते हुए आक्रमण भी करने लगे। यह देख अर्जुन बड़ी दुविधा में पड़ा। क्षण-भर के लिए किंकर्तव्य-विमूढ़-सा होकर सोचने लगा कि—'क्या करें? सुशर्मा यहां पर ललकार रहा है। उधर उत्तरी मोर्चे पर सेना का व्यूह टूट रहा है और संकट का मौका आया है। उधर जायं तो सुशर्मा समझेगा कि डरकर भाग रहा है; यहीं पर डटे रहें और उधर सेना को तुरन्त मदद न पहुंची तो किया-किराया सब चौपट हो जायगा।'

अर्जुन इसी सोच-विचार में पड़ा हुआ था कि इतने में सुशर्मा ने एक शक्ति-अस्त्र अर्जुन पर छोड़ा और एक तोमर श्रीकृष्ण पर। सचेत होकर तुरन्त ही अर्जुन ने तीन बाण मारकर सुशर्मा को जवाब दे दिया और भगदत्त की ओर रथ को तेजी से बढ़ाये चलने के लिए श्रीकृष्ण से कहा।

अर्जुन के पहुँचते ही पांडवों की सेना में नया उत्साह आ गया। सब जहां-के-तहां रुक गये। भागने की किसीने चेष्टा न की। सेना सम्हल गई और तुरन्त हमला करने को प्रस्तुत हो गई। वहां मोर्चे पर पहुंचते ही कौरव सेना पर जोरों का हमला करके अर्जुन भगदत्त की तरफ बढ़ा। भगदत्त ने तत्काल ही अपना हाथी अर्जुन पर चला दिया। भगदत्त का हाथी अर्जुन के रथ पर काल की तरह झपटा, पर श्रीकृष्ण ने बड़ी कुशलता से रथ को हाथी के रास्ते से हटाकर बचा लिया।

हाथी पर सवार भगदत्त ने अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों पर ही बाण बरसाने शुरू किये। अर्जुन ने हाथी के कवच पर तीर मारकर पहले उसी को तोड़ दिया। इस कारण सुप्रतीक के शरीर पर बाणों का असर होने लगा। इससे उसे बहुत पीड़ा हुई। यह देख भगदत्त ने श्रीकृष्ण पर एक शक्ति फेंकी। अर्जुन ने बाणों से उसके टुकड़े कर दिये। इसके बाद भगदत्त ने एक तोमर अर्जुन पर चलाया। तोमर अर्जुन के मुकुट पर जा लगा। इससे अर्जुन को बड़ा क्रोध आया। उसने अपना मुकुट संभालकर रख लिया और बोला—"भगदत्त! अब इस संसार को अन्तिम बार अच्छी तरह से देख लो।" और यह कहते कहते अपना गांडीव धनुष तान लिया। राजा भगदत्त उम्र में वृद्ध था। उसके पके बाल और भरे हुए चेहरे पर वृद्धावस्था के कारण झुर्रियां देखकर सिंह का स्मरण हो आता था। भौंहों पर का चमड़ा लटककर आंखों पर आ पड़ता था। भगदत्त उसे एक रेशमी कपड़े से उठाकर बांधे रखता था। शूरता में उसका कोई सानी नहीं था। अपने शील-स्वभाव और प्रताप के कारण वह क्षत्रियों में बड़ा प्रसिद्ध था। यहांतक कि लोग बड़ी श्रद्धा से कहा करते थे कि भगदत्त इंद्र का मित्र है। अर्जुन के चलाये बाणों से भगदत्त का धनुष टूट गया। तरकश का भी वही हाल हुआ और अर्जुन ने भगदत्त के मर्म-स्थानों पर भी बाण चलाकर उन्हें वेध डाला था।

उन दिनों योद्धा लोग कवच पहना करते थे। अस्त्र-शस्त्र विद्या सिखाते समय यह भी सिखाया जाता था कि कवच के होते हुए भी शरीर को बाणों से कैसे बींधा जा सकता है।

वृद्ध भगदत्त के सब हथियार नष्ट हो गये। इसलिए उसने हाथी

का अंकुश ही उठा लिया और उसे अभिमंत्रित करके अर्जुन पर छोड़ा। वह अस्त्र अर्जुन के प्राण ले ही लेता, यदि श्रीकृष्ण अपनी छाती आगे न कर लेते। वैष्णवास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित होने के कारण श्रीकृष्ण की छाती पर लगते ही वह शक्ति वनमाला-सी बनकर श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ाने लगी।

अर्जुन के अभिमान को इससे बड़ा धक्का लगा। वह श्रीकृष्ण से बोला—"जानर्दन! शत्रु का चलाया हथियार अपने ऊपर लेना क्या आपके लिए उचित था? जब आप यह घोषणा कर चुके हैं कि केवल रथ ही चलायेंगे, युद्ध न करेंगे तो फिर यह कहां का न्याय है कि धनुष लिये तो मैं सामने खड़ा रहूँ और वार आप अपने ऊपर झेल लें?"

यह सुनकर श्रीकृष्ण हँसते हुए बोले—"पार्थ! तुम नहीं जानते; यदि मैं इसे अपने ऊपर न ले लेता, तो यह अस्त्र तुम्हारे प्राण लेकर ही छोड़ता। वह मेरी चीज थी और मेरे पास लौट आई।"

अर्जुन ने सुप्रतीक पर तानकर एक बाण चलाया। वह हाथी के सिर को चीरता हुआ इस प्रकार अन्दर चला गया जैसे बिल के अन्दर सांप। बाण के लगने से हाथी चिंघाड़ता हुआ बैठ गया। भगदत्त ने उसे बहुत उकसाया, डांटा-डपटा, लेकिन हाथी ने उसकी एक न सुनी और बैठा ही रहा। पीड़ा के मारे बुरा हाल था उसका। बेहाल होकर वह दाँतों से जमीन खोदने लगा और थोड़ी देर बाद खत्म हो गया।

हाथी के मर जाने पर अर्जुन को दुःख हुआ। वह चाहता था कि अकेले भगदत्त को ही गिरावे और हाथी को न मारे, पर ऐसा न हो सका। उसके बाद अर्जुन ने तेज बाणों से भगदत्त की आंखों के ऊपर बंधी रेशमी पट्टी कट गई, जो उसकी आंखों के ऊपर लटक आनेवाली चमड़ी को ऊपर उठाये रखती थी। इससे भगदत्त की आंखें बन्द हो गईं। उसे कुछ नहीं सूझने लगा। वह अंधेरे में मानो विलीन हो गया। थोड़ी ही देर बाद एक और पैने बाण ने उसकी छाती छेद डाली।

सोने की माला पहने भगदत्त जब हाथी के मस्तक पर से गिरा तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी पर्वत की चोटी पर से फूलों से लदा हुआ वृक्ष आंधी से उखड़कर गिर रहा हो। भगदत्त को गिरते देखकर कौरवों

की सेना मारे भय के तितर-बितर होने लगी।

किंतु शकुनि के दो भाई वृषक और अचल तब भी विचलित न हुए और जमकर लड़ते रहे। उन दोनों वीरों ने अर्जुन पर आगे और पीछे से बाणों की वर्षा करके खूब परेशान किया। अर्जुन ने थोड़ी देर बाद उन दोनों के रथों को तहस-नहस कर दिया और उनकी सेनाओं पर भी भयानक बाण-वर्षा की। सिंह-शिशुओं के समान वे दोनों भाई अर्जुन के बाणों से घायल होकर गिर पड़े और मृत्यु को प्राप्त हुए।

अपने अनुपम वीर भाइयों के मारे जाने पर शकुनि के क्रोध और क्षोभ की सीमा न रही। उसने माया-युद्ध शुरू कर दिया और उन सब उपायों से काम लिया जिनमें उसे कुशलता प्राप्त थी; परन्तु अर्जुन ने उसके एक-एक अस्त्र को अपने जवाबी अस्त्रों से काट डाला और उसकी माया का प्रभाव दूर कर दिया। अन्त में अर्जुन के बाणों से शकुनि ऐसा आहत हुआ कि उसे युद्ध-क्षेत्र से हट जाना पड़ा।

इसके बाद तो पांडवों की सेना द्रोणाचार्य की सेना पर टूट पड़ी। असंख्य वीर खेत रहे, खून की नदियां बह चलीं। थोड़ी देर बाद सूर्य अस्त हुआ। द्रोण ने देखा कि उनकी सेना बुरी तरह मार खा रही है। कितने ही सैनिक घायल हो गये हैं, कितने ही वीरों के कवच टूट गये हैं। लोगों में लड़ने का साहस नहीं रहा है। हालत यहांतक हो गई है कि किसी-किसी की बुद्धि भी ठिकाने नहीं रही। अपनी सेना का यह हाल देखकर द्रोणाचार्य ने लड़ाई बन्द कर दी। दोनों पक्षों की सेनाएं अपने-अपने डेरों को चल दीं और इस प्रकार बारहवें दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

: ७९ :

अभिमन्यु

बारहवें दिन का युद्ध समाप्त हो जाने पर पांडव सेना अर्जुन की प्रशंसा करती हुई उत्साह के साथ अपने शिविर में लौट चली। उधर कौरव पक्ष के वीर लज्जा अनुभव करके चिंतित भाव से धीरे-धीरे अपने-अपने डेरों में जाने लगे।

अगले दिन सवेरा हुआ तो दुर्योधन क्रोध में भरा हुआ आचार्य द्रोण के शिविर में गया और आचार्य को नमस्कार करके सैनिकों की उपस्थिति की ओर ध्यान न देते हुए गुस्से से बरस पड़ा।

"आचार्य ! युधिष्ठिर को नजदीक पाकर भी उन्हें पकड़ने में आप असमर्थ रहे। यदि सचमुच आपको हमारी रक्षा की चिन्ता होती, तो कल जो-कुछ हुआ, वह आप न होने देते। यदि आप युधिष्ठिर को जीवित ही पकड़ने को दृढ़ संकल्प कर लेते, तो फिर किसमें इतनी शक्ति है जो आपकी इच्छा को पूरा होने से रोके सके ? आपने मुझे जो वचन दिया था, न जाने क्यों, अभी तक उसे आपने पूरा नहीं किया। आप लोग महात्मा हैं और महात्माओं के कार्य भी बड़े ही विलक्षण होते हैं।"

दुर्योधन के इस प्रकार सबके सामने कहने पर आचार्य द्रोण को बड़ी चोट लगी। वह बोले—

"दुर्योधन ! अपनी सारी शक्ति लगाकर मैं तुम्हारे लिए ही लड़ रहा हूँ। क्षत्रिय होकर इस भांति कुविचार करना तुम्हें शोभा नहीं देता। मैंने तो पहले ही तुम्हें बता दिया था कि हमारा उद्देश्य तबतक सफल नहीं हो सकता जबतक अर्जुन युधिष्ठिर के पास रहेगा और तुमको फिर से यह बताये देता हूँ कि अर्जुन को युधिष्ठिर के अलग हटाकर कहीं दूर ले जाये बिना तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता—यद्यपि मैं जहांतक हो सकेगा, इसका प्रयत्न जारी ही रखूंगा।"

आचार्य द्रोण को दुर्योधन पर क्रोध तो बहुत आया, पर उन्होंने अपने को शान्त कर लिया।

तेरहवें दिन भी संशप्तकों (त्रिगर्तों) ने अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा। अर्जुन भी चुनौती स्वीकार करके उनके साथ लड़ता हुआ दक्षिण दिशा की ओर चला। नियत स्थान पर पहुँचने पर अर्जुन और संशप्तकों के बीच घोर संग्राम छिड़ गया।

अर्जुन के दक्षिण की ओर चले जाने के बाद द्रोणाचार्य ने कौरव सेना की चक्र-व्यूह में रचना की और युधिष्ठिर पर धावा बोल दिया। युधिष्ठिर की ओर से भीम, सात्यकि, चेकितान, धृष्टद्युम्न, कुंतिभोज, उत्त-

मौजा, विराटराज, कैकेय वीर आदि और भी कितने ही सुविख्यात महारथियों ने द्रोणाचार्य के आक्रमण की बाढ़ को रोकने की जी-तोड़ कोशिश की, फिर भी द्रोण का वेग उनके रोके नहीं रुक सका। यह देख सभी महारथी चिन्ता में पड़ गये।

सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु अभी बालक ही था। फिर भी अपनी रण-कुशलता और शूरता के लिए वह इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि लोग उसको कृष्ण एवं अर्जुन की समता करनेवाला समझते थे।

युधिष्ठिर ने इस वीर बालक को बुलाकर कहा—"बेटा ! द्रोणाचार्य हमें बहुत तंग कर रहे हैं। यदि हमें हारना पड़ा तो अर्जुन हमारी निन्दा करेगा। द्रोण के रचे चक्रव्यूह को तोड़ना हमारे और किसी वीर से हो नहीं सकता। अकेले तुम्हीं ऐसे हो, जिसके लिए द्रोण के बनाये इस व्यूह को तोड़ना संभव है। द्रोण की सेना पर आक्रमण करने को तैयार हो ?"

यह सुन अभिमन्यु बोला—"महाराज, इस चक्रव्यूह में प्रवेश करना तो मुझे आता है, पर प्रवेश करने के बाद कहीं कोई संकट आ गया तो व्यूह से बाहर निकलना मुझे याद नहीं है।"

युधिष्ठिर ने कहा—"बेटा ! व्यूह को तोड़कर एक बार भीतर प्रवेश कर लो; फिर तो जिधर से तुम आगे बढ़ोगे, उधर से ही हम तुम्हारे पीछे-पीछे चले आवेंगे और तुम्हारी मदद को तैयार रहेंगे।"

युधिष्ठिर की बातों का समर्थन करते हुए भीमसेन ने कहा—"तुम्हारे ठीक पीछे-पीछे मैं चलूंगा। धृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि वीर भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ तुम्हारा अनुकरण करेंगे। एक बार तुमने व्यूह को तोड़ दिया, तो फिर यह निश्चित समझना कि हम सब कौरव-सेना को तहस-नहस कर डालेंगे।"

यह सब सुनकर बालक अभिमन्यु को अपने मामा श्रीकृष्ण और पिता अर्जुन की वीरता का स्मरण हो आया। बड़े उत्साह के साथ वह बोला—"मैं अपनी वीरता और पराक्रम से आज मामा श्रीकृष्ण और पिताजी को अवश्य प्रसन्न करूँगा।"

युधिष्ठिर ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"तुम्हारा बल हमेशा बढ़ता रहेगा। तुम यशस्वी होओगे !"

"सुमित्र ! वह देखो ! द्रोणाचार्य के रथ की ध्वजा। उसी ओर रथ चलाओ, जल्दी करो।" अपने सारथी को उत्साहित करते हुए अभिमन्यु ने कहा और सारथी ने भी उसी ओर रथ चलाया।

रथ की गति से संतोष न पाकर अभिमन्यु ने सारथी को और तेज़ी से रथ चलाने को उकसाया। उत्साह में आकर वह बार-बार कहने लगा—"तेज चलाओ और तेज !"

इस पर सारथी नम्र भाव से बोला—"भैया ! महाराज युधिष्ठिर ने आप पर यह बड़ी भारी जिम्मेदारी डाली है। मेरे विचार से आप थोड़ी देर और सोच-विचार कर लें और उसके बाद व्यूह में प्रवेश करने का तय करें। यह आप ध्यान में रखें कि द्रोणाचार्य अस्त्र-विद्या के महान् आचार्य हैं और महाबली हैं। आप तो अवस्था में भी अभी निरे बालक ही हैं।"

यह सुनकर अभिमन्यु हँस पड़ा और बोला—"सुमित्र, तुमको यह याद रखना चाहिए कि मेरे मामा श्रीकृष्ण हैं और पिता हैं महारथी अर्जुन ! भय और शंका का भूत मेरे पास नहीं फटक सकता। शत्रु-पक्ष के सभी वीरों की शक्ति मेरी शक्ति का सोलहवां हिस्सा भी नहीं हो सकती। इनको देखकर मैं सोच-विचार में पड़ूँ ? तुम फिक्र मत करो। चलाओ रथ तेजी से द्रोणाचार्य की सेना की ओर। खूब तेजी से चलाओ !"

अभिमन्यु की आज्ञा मानकर सारथी ने उधर ही रथ बढ़ा दिया।

तीन-तीन वर्ष के सुन्दर और वेगवान घोड़े उस सुनहरे रथ को बड़े वेग से खींचते हुए कौरव सेना की ओर दौड़े। कौरव सेना में हलचल मच गई—"अरे, अभिमन्यु आया और उसके पीछे-पीछे पांडव वीर भी चले आ रहे हैं !"

कर्णिकार वृक्ष की ध्वजा फहराते हुए अभिमन्यु के रथ को अपनी ओर वेग से आते हुए देखकर कौरव सेना के दिल एकबरगी दहल उठे। सब मन में कहने लगे—"वीरता में अभिमन्यु अर्जुन से भी बढ़कर मालूम होता है। आज के युद्ध में भगवान् ही रक्षक हैं।" और अभिमन्यु का रथ धड़धड़ाता हुआ ऐसा चला, मानो शेर का बच्चा हथियों पर झपट

रहा हो। कौरव सेना रूपी समुद्र में एक मुहूर्त के लिए ऐसा भँवर-सा आ गया जैसे किसी बड़ी नदी के मिलने पर समुद्र में आता है। द्रोणाचार्य के देखते-देखते उनका बनाया व्यूह टूट गया और अभिमन्यु व्यूह के अन्दर दाखिल हो गया।

कौरव वीर एक-एक करके अभिमन्यु का सामना करने आते गये और यमधाम को इस प्रकार कूच करते गये जैसे आग में पड़कर पतंगे भस्म हो जाते हैं। जो भी सामने आया, उस बाल-वीर के बाणों की मार से मारा गया। यज्ञशाला की जमीन पर जैसे दर्भ फैला दी जाती है, उसी तरह अभिमन्यु ने कौरव सेना की लाशें सारे युद्ध-क्षेत्र में बिछा दीं। जिधर देखो उधर, धनुष, बाण, ढाल, तलवार, फरसे, गदा, अंकुश, भाले, रास, चाबुक, शंख आदि बिखरे पड़े थे ! कटे हुए हाथ, फटे हुए सिर, कपाल, शरीर के टुकड़ों आदि के ढेर से सारा मैदान ऐसे ढक गया था कि खोजने पर भी कहीं मिट्टी नहीं दिखाई देती थी।

अभिमन्यु द्वारा किये गये इस सर्वनाश को देखकर दुर्योधन को बड़ा क्रोध आया। वह स्वयं जोश में आकर उस बालक से जा भिड़ा। द्रोणाचार्य को जब पता चला कि दुर्योधन अभिमन्यु से युद्ध करने गया है, तो उन्होंने तुरन्त कई सैनिकों को उसकी सहायता के लिए उधर भेज दिया कि जल्दी से जाकर दुर्योधन की रक्षा करे। थोड़ी देर तक घोर युद्ध होता रहा। इतने में द्रोण की भेजी कुमुक आ पहुँची और दुर्योधन को बड़े परिश्रम के बाद अभिमन्यु के हाथों से छुड़ाया गया। बालक अभिमन्यु को इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि हाथ में आया शिकार बचकर निकल गया। दुर्योधन की सहायता को जो वीर आये थे, उनपर वह टूट पड़ा और उन सबको मार-मारकर बेहाल कर दिया। वे बड़ी मुश्किल से अपने प्राण बचाकर भाग सके।

कौरव सेना ने जब यह हाल देखा तो युद्ध-धर्म और लज्जा को उसने ताक में रख दिया। बहुत-से वीर एक साथ उस अकेले बालक पर टूट पड़े; किन्तु जैसे समुद्र की उमड़ती हुई लहरें बार-बार रेतीले किनारे पर टकराकर छितरा जाती हैं, वैसे ही वीर अभियन्यु से टकराकर वे सभी वीर हर बार बिखर जाते थे। उन सबके बीच अभिमन्यु चट्टान की तरह

अटल खड़ा रहा। कुछ देर बाद द्रोण, अश्वत्थामा, कर्ण, शकुनि आदि सात महारथियों ने अपने रथों पर चढ़कर चारों तरफ से अभिमन्यु पर एक साथ हमला बोल दिया। इसी बीच अश्मक नामक एक राजा अपना रथ बड़े वेग से चलाता हुआ अभिमन्यु पर झपटा। अभिमन्यु ने उसके वेग को रोक लिया और दो ही बाणों के वार से उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। इसके बाद अभिमन्यु ने कर्ण के अभेद्य कवच को छेद डाला और उसको बुरी तरह घायल कर डाला। और भी कितने ही वीरों को आहत होकर मैदान में पीठ दिखानी पड़ी। बहुतों के प्राणों की बलि चढ़ गई। मद्रराज शल्य बुरी तरह घायल हुए और रथ पर ही अचेत होकर पड़ गया। यह देखकर शल्य का छोटा भाई क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गया और बड़े वेग से अभिमन्यु पर झपटा, पर अभिमन्यु ने उसके रथ को नष्ट कर दिया और उसका काम भी तमाम कर दिया।

अपने मामा और पिता से पाई हुई अस्त्र-शस्त्र की कुशलता को काम में लाकर शत्रु-दल को सर्वनाश का सामना करानेवाले वीर बालक की शूरता तथा रण-कुशलता को देखकर आनन्द के कारण द्रोणाचार्य की आंखें एकबारगी कमल की भांति विकसित हो गईं।

"अभिमन्यु की समता करनेवाला वीर कोई नहीं है।" द्रोण ने मुग्ध होकर कृपाचार्य से कहा। दुर्योधन ने जब इस प्रकार द्रोण को अभिमन्यु की प्रशंसा करते हुए सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया।

वह बोला—"आचार्य को अर्जुन से जो स्नेह है, उसी कारण वह उसके पुत्र की अनुचित प्रशंसा में व्यर्थ समय गंवा रहे हैं। वह चाहते तो इस बालक का दमन करना कोई भारी बात नहीं थी, पर आचार्य इसे मारना थोड़े ही चाहते हैं।"

बात यह थी कि दुर्योधन ने अधर्म से प्रेरित होकर युद्ध की यह बला सिर मोल ले ली थी। इस कारण उसे अक्सर द्रोण, भीष्म आदि पर अविश्वास होता रहता था और इसीसे यह बड़ा व्यथित भी हो जाता था।

"इस नासमझ लड़के को तो मैं अभी ठिकाने लगाये देता हूं।" यह कहकर सिंहनाद करके और शंख बजाकर दुःशासन ने अभिमन्यु पर बाणों

से हमला कर दिया।

दुःशासन और अभिमन्यु में बड़ी देर तक युद्ध होता रहा। दोनों अपने-अपने रथ पर चढ़कर पैंतरे बदलते हुए और एक-दूसरे को छकाते हुए युद्ध करते रहे। अन्त में दुःशासन घायल होकर रथ में अचेत हो गया। उसका चतुर सारथी यह हाल देखकर युद्ध के मैदान से उसका रथ दूर ले गया। पराक्रमी दुःशासन की इस पराजय के कारण पांडव सेना में खुशी छा गई और अभिमन्यु की जयजयकार से सारी दिशाएं गूंजने लगीं।

इसके बाद महाबली कर्ण ने फिर से अभिमन्यु पर हमला कर दिया। अभिमन्यु उससे परेशान तो हुआ, पर वह घबराया तनिक भी नहीं। उसने ठीक निशाना ताककर एक ऐसा बाण मारा कि कर्ण का धनुष कटकर गिर पड़ा।

इससे क्रुद्ध होकर कर्ण के भाई ने अभिमन्यु पर आक्रमण किया और दूसरे ही क्षण अभिमन्यु के बाणों ने उसके सिर को धड़ से अलग करके पृथ्वी पर गिरा दिया। लगे-हाथ अभिमन्यु ने कर्ण की भी खबर ले ली और उसे उसकी सेना के साथ युद्ध के मैदान से दूर खदेड़ दिया।

जब कर्ण का यह हाल हुआ तो कौरव सेना की पंक्तियां फिर टूट गईं। सैनिक तितर-बितर होकर भाग खड़े हुए। द्रोण ने उन्हें डटे रहने को हजार उकसाया, पर फिर भी कोई डटे रहने का साहस न कर सका, जिसने ज़रा साहस किया कि अभिमन्यु ने उसकी ऐसी गति बनाई जैसे सूखे जंगल को आग तबाह कर देती है।

: ८० :

अभिमन्यु का वध

जैसा कि पहले तय हुआ था, पांडवों की सेना अभिमन्यु के पीछे-पीछे चली और जहां से व्यूह तोड़कर अभिमन्यु अन्दर घुसा था, वहीं से व्यूह के अन्दर प्रवेश करने लगी। यह देखकर सिंधु देश का पराक्रमी राजा जयद्रथ, जो धृतराष्ट्र का दामाद था, अपनी सेना को लेकर पांडव सेना पर

टूट पड़ा। जयद्रथ के इस साहसपूर्ण काम और सूझ को देखकर कौरव सेना में उत्साह की लहर दौड़ गई। कौरव सेना के सभी वीर उसी जगह इकट्ठे होने लगे जहां जयद्रथ पांडव सेना का रास्ता रोके हुए खड़ा था। शीघ्र ही टूटे मोर्चों की दरारें भर गईं। जयद्रथ के रथ पर चांदी का शूकर-ध्वज फहरा रहा था। उसे देख कौरव-सेना की शक्ति बहुत बढ़ गई और उसमें नया उत्साह भर गया। व्यूह को भेदकर अभिमन्यु ने जहां से रास्ता किया था, वहां इतने सैनिक आकर इकट्ठे हो गये कि व्यूह फिर पहले-जैसा ही मजबूत हो गया।

व्यूह के द्वार पर एक तरफ युधिष्ठिर, भीमसेन और दूसरी ओर जयद्रथ में युद्ध छिड़ गया। युधिष्ठिर ने जो भाला फेंककर मारा तो जयद्रथ का धनुष कटकर गिर गया। पलक मारते-मारते जयद्रथ ने दूसरा धनुष उठा लिया और दस बाण युधिष्ठिर पर छोड़े। भीमसेन ने बाणों की बौछार से जयद्रथ का धनुष फिर काट दिया, रथ की ध्वजा और छतरी को तोड़-फोड़ दिया और रण-भूमि में गिरा दिया। उस पर भी सिंधुराज नहीं घबराया। उसने फिर एक दूसरा धनुष ले लिया और बाणों से भीमसेन का धनुष काट डाला। पल-भर में ही भीमसेन के रथ के घोड़े ढेर हो गये। भीमसेन को लाचार हो रथ से उतरकर सात्यकि के रथ पर चढ़ना पड़ा।

जयद्रथ ने जिस कुशलता और बहादुरी से ठीक समय व्यूह की टूटी किलेबन्दी को फिर में पूरा करके मजबूत बना दिया, उससे पांडव बाहर ही रह गये। अभिमन्यु व्यूह के अन्दर अकेला रह गया। पर अकेले अभिमन्यु ने व्यूह के अन्दर ही कौरवों की उस विशाल सेना को तहस-नहस करना शुरू कर दिया। जो भी उसके सामने आता, खत्म हो जाता था।

दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण अभी बालक था, पर उसमें वीरता की आभा फूट रही थी। उसके भय छू तक नहीं गया था। अभिमन्यु की बाण-वर्षा से व्याकुल होकर जब सभी योद्धा पीछे हटने लगे तो वीर लक्ष्मण अकेला जाकर अभिमन्यु से भिड़ पड़ा। बालक की इस निर्भयता को देख भागती हुई कौरव सेना फिर से इकट्ठी हो गई और वीर लक्ष्मण का साथ देकर लड़ने लगी। सबने एक साथ ही अभिमन्यु पर बाण-वर्षा

कर दी, पर वह अभिमन्यु पर इस प्रकार लगी, जैसे पर्वत पर मेह बरसता हो।

दुर्योधन-पुत्र अपने अद्भुत पराक्रम का परिचय देता हुआ वीरता से युद्ध करता रहा। अन्त में अभिमन्यु ने उसपर एक भाला चलाया। केंचुली से निकले सांप की तरह चमकता हुआ वह भाला वीर लक्ष्मण के बड़े जोर से जा लगा। सुन्दर नासिका और सुन्दर भौहों वाला, चमकीले-घुंघराले केश और जगमगाते कुंडलों से विभूषित वह वीर बालक भाले की चोट से तत्काल मृत होकर गिर पड़ा।

यह देख कौरव-सेना आर्त्तस्वर में हाहाकार कर उठी।

"पापी अभिमन्यु का इसी क्षण वध करो।"—दुर्योधन ने चिल्लाकर कहा और द्रोण, अश्वत्थामा, बृहद्बल, कृतवर्मा आदि छः महारथियों ने अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया।

द्रोण ने कर्ण के पास आकर कहा, "इसका कवच भेदा नहीं जा सकता। ठीक से निशाना बांधकर इसके रथ के घोड़ों की रास काट डालो और पीछे की ओर से इसपर अस्त्र चलाओ।"

सूर्य-कुमार कर्ण ने यही किया। पीछे की ओर से बाण चलाये गए। अभिमन्यु का धनुष कट गया। घोड़े और सारथी मारे गये। वह रथ-विहीन हो गया। धनुष भी न रहा। फिर भी वह वीर बालक ढाल-तलवार लिये शान से खड़ा रहा। उस समय ऐसा लगता था मानो क्षत्रियोचित शूरता का वह मूर्त्त स्वरूप हो। लड़ाई के मैदान में ढाल-तलवार लिये खड़े अभिमन्यु ने रण-कौशल का ऐसा प्रदर्शन किया कि सभी वीर विस्मय में पड़ गए। अभिमन्यु बिजली की तरह तलवार घुमाता रहा और जो भी उसके पास आता उसपर आक्रमण करके उसकी खासी अच्छी खबर लेता। वह तलवार इस फुर्ती से चलाता था कि ऐसा मालूम होता था, मानो वह जमीन पर खड़ा ही न हो और आकाश में ही युद्ध कर रहा हो। इतने में आचार्य द्रोण ने अभिमन्यु की तलवार काट डाली। साथ ही कर्ण ने कई तेज बाण एक साथ चलाकर उसकी ढाल के टुकड़े कर दिये।

तुरन्त ही अभिमन्यु ने टूटे रथ का पहिया हाथ में उठा लिया,

और उसे घुमाने लगा। ऐसा करते हुए वह ऐसा लगता था मानो सुदर्शन चक्र लिये हुए साक्षात् भगवान नारायण हों। रथ के पहिए की धूल लग जाने के कारण उसके गौर-वर्ण शरीर की स्वाभाविक शोभा और बढ़ गई।

इस समय अभिमन्यु भयानक युद्ध कर रहा था। यह देख सारी सेना एक साथ उसपर टूट पड़ी। उसके हाथ का पहिया चूर-चूर हो गया। इसी बीच दुःशासन का पुत्र गदा लेकर अभिमन्यु पर झपटा। इसपर अभिमन्यु ने भी पहिया फेंककर गदा उठा ली और दोनों आपस में भिड़ पड़े। दोनों में घोर युद्ध छिड़ गया। एक-दूसरे पर गदा का भीषण वार करते हुए दोनों ही राजकुमार आहत होकर गिर पड़े। पर दोनों ही हड़-बड़ा कर उठने लगे। दुःशासन का पुत्र जरा पहले उठ खड़ा हुआ। अभिमन्यु अभी उठ ही रहा था कि दुःशासन के पुत्र ने उसके सिर पर जोर से गदा-प्रहार किया। यों भी अभिमन्यु अबतक कइयों से अकेला लड़ते हुए घायल हो चुका था और थककर चूर हो रहा था। गदा की मार पड़ते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

●

संजय ने धृतराष्ट्र को इस घटना का हाल सुनाते हुए कहा—"सुभद्रा के पुत्र के कौरव-सेना में घुसने पर सेना की ऐसी दुर्दशा हो गई जैसे हाथी के घुस आने पर कदली-वन की होती है। ऐसे इस वीर को कई लोगों ने एक साथ आक्रमण करके मार डाला और मरे हुए अभिमन्यु के शरीर को घेरकर आपके बंधु-बान्धव एवं साथी जंगली व्याधों की भांति नाचने-कूदने व आनन्द मनाने लगे। जो सच्चे वीर थे, यह देखकर उनकी आंखों में आंसू आ गये। आकाश में जो पक्षी मंडरा रहे थे, वे चीखने लगे; मानो पुकार-पुकारकर कह रहे हों कि "यह धर्म नहीं! धर्म नहीं!"

●

अभिमन्यु के वध पर कौरव वीरों के आनन्द का कोई ठिकाना न रहा। सभी वीर सिंहनाद करने लगे; किन्तु धृतराष्ट्र के पुत्र युयुत्सु को इससे बड़ा क्रोध आया।

वह बोला—"तुम लोगों ने यह उचित नहीं किया। युद्ध-धर्म से अनभिज्ञ क्षत्रियो! चाहिए तो यह था कि तुम लोग लज्जा से सिर झुकाते। उलटे, सिंहनाद कर रहे हो! तुमने यह एक भारी पाप किया है और आगे के लिए एक भारी संकट मोल ले लिया है। इसपर ध्यान न देकर मूर्ख व नासमझ लोगों की भांति आनन्द मना रहे हो! धिक्कार है तुम्हें!" यह कहते-कहते युयुत्सु ने अपने हथियार फेंक दिए और मैदान से चल दिया।

युयुत्सु धर्म-प्रिय था। उसकी बातें कौरवों को क्यों पसंद आने लगीं!

: ८१ :

पुत्र-शोक

"हा दैव! जिस वीर ने द्रोण और अश्वत्थामा को, कृप और दुर्योधन को परास्त कर दिया था, जिसने शत्रु-सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, वह चिर-निद्रा में सो गया। हाय मेरे लाड़ले, दुःशासन को खदड़ने वाले शूर! क्या सचमुच तुम्हारी मृत्यु हो गई? तो फिर अब मुझे विजय की क्या जरूरत! अब राज्य को ही लेकर मैं क्या करूंगा? हा दैव! अर्जुन को मैं कैसे सांत्वना दूंगा? बेचारी सुभद्रा को, जो बच्चे से बिछड़ी हुई गौ की भांति तड़पेगी, मैं कैसे शांत कर सकूंगा? जिन बातों से स्वयं मुझे सांत्वना नहीं मिल सकती, ऐसी निरर्थक बातें दूसरों से कैसे करूं? लोभ में पड़कर लोगों की बुद्धि मंद हो जाती है। जैसे कोई मतिहीन शहद के लालच में पड़कर सामने के गड्ढे को देखे बिना उसमें गिरकर नाश को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही मैंने भी विजय की लालसा में पड़कर अपने प्यारे बेटे को सर्वनाश के गड्ढे में धकेल दिया। मुझ-जैसा मतिहीन और मूर्ख संसार-भर में और कौन हो सकता है? मैं भी कैसा हत्यारा और पापी हूं कि जो अर्जुन की अनुपस्थिति में उसके लाड़ले बेटे की रक्षा करने के बजाय उसकी हत्या करवा दी!"

अपने शिविर में दुःख की प्रतिमूर्ति-से बैठे युधिष्ठिर इस प्रकार,

विलाप कर रहे थे। आसपास बैठे लोग अभिमन्यु की शूरता का स्मरण करते हुए अवाक्-से बैठे थे।

युधिष्ठिर पर जब कभी विपदा आती और वह शोक-विह्वल होते थे तब भगवान् व्यास उनके पास किसी-न-किसी प्रकार आ पहुंचते थे और उनको समझा-बुझाकर शांत किया करते थे।

इस समय भी भगवान् व्यास आ पहुंचे।

युधिष्ठिर ने उनका उचित आदर-सत्कार करके ऊंचे आसन पर बिठाया और रुद्ध-कंठ से बोले—"भगवन्, हजार प्रयत्न करने पर भी मन शांत नहीं होता।"

व्यासजी युधिष्ठिर को सांत्वना देते हुए बोले—"युधिष्ठिर, तुम बड़े बुद्धिमान हो। शास्त्रों के ज्ञाता हो। किसी के विछोह पर इस तरह शोक-विह्वल होना और मोह में पड़ना तुम्हें शोभा नहीं देता। मृत्यु के तत्त्व से तुम क्या परिचित नहीं हो? नासमझ लोगों की तरह शोक करना तुम्हें उचित नहीं।" और इस प्रकार जीवन-मरण की दार्शनिक व्याख्या करते हुए भगवान् व्यास ने युधिष्ठिर को शांत किया। वे बोले—

"जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा ने अखिल विश्व का सृजन किया, भांति-भांति से असंख्य जीव-जन्तुओं का निर्माण किया और इस प्रकार जीव-जन्तुओं की संख्या बढ़ती ही गई। वह रुकती तो थी ही नहीं। विधाता ने जब यह देखा तो भारी सोच में पड़ गये कि जगत् में स्थान तो सीमित है, और उसपर रहने वाले जीव-जन्तुओं की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही है। इसके लिए क्या उपाय करें? ब्रह्मा ने बहुत सोचा-विचारा; परन्तु फिर भी उन्हें कोई उपाय न सूझा। विधाता के मन में इस लगातार चिन्ता के कारण जो संताप हुआ, उससे एक भीषण ज्वाला सी उठी और वह सारे संसार का नाश करने लगी। यह देख रुद्र को भय हुआ कि इससे कहीं संसार का समूलोच्छेदन न हो जाय। वह ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि इस ज्वाला को वह समेट लें। ब्रह्मा ने रुद्र की प्रार्थना मान ली और क्रोध की ज्वाला को शांत कर लिया। दबे हुए क्रोध की अग्नि ने मृत्यु का रूप ले लिया। प्राणियों की उत्पत्ति और नाश में व्याधियों और दुर्घटनाओं के द्वारा समता लाने की वह चेष्टा कर रही है और इस प्रकार जीवन का यह एक अनिवार्य अंग ही बन गई है।

"मृत्यु एक ऐसी ईश्वरीय व्यवस्था है कि जिसका एकमात्र उद्देश्य संसार का हित करना है। अतः मृत्यु (मरण) से डरना या उसके लिए शोक करना उचित नहीं। जो मर गये हैं उनके प्रति शोक करने का कोई कारण नहीं है। वास्तव में शोक तो उनके लिए करना चाहिए जो जीवित हैं और मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

भगवान् व्यास ने इस तत्त्व-विचार के समर्थन में कई पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों के प्रमाण देकर युधिष्ठिर के व्यथित हृदय को शांत किया।

वह फिर बोले—"तुम तो जानते ही हो कि संसार में जितने भी कीर्त्तिमान्, प्रतापी और धन-संपत्ति से संपन्न भाग्यवान् लोग रहे हैं, उन सभी को अन्त में शरीर छोड़कर जाना ही पड़ा है। यह भी तुम्हें मालूम है कि मरुत्, सुक्षेत्र, शिवि, राम, दिलीप, मांधाता, ययाति, अंबरीष, शशबिंदु, रंतिदेव, भरत, पृथु आदि चौदहों यशस्वी सम्राट् भी आखिर मृत्यु को ही प्राप्त हुए थे। अतः तुम्हें अपने पुत्र की चिंता न करनी चाहिए। जो अधिक देरी न करके स्वर्ग को पहुंच जाय, उसके प्रति शोक करना ही नहीं चाहिए। जो दुःख का अनुभव करने लगता है उसका दुःख बढ़ता ही जाता है। विवेकशील व्यक्ति को चाहिए कि शोक को मन से हटा दे और अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए सद्गति को प्राप्त करने की चेष्टा में दत्त-चित्त रहे।"

धर्मराज युधिष्ठिर को यों उपदेश देकर भगवान् व्यास अन्तर्धान हो गए।

•

संशप्तकों (त्रिगर्तों) का संहार करने के बाद युद्ध समाप्त करके अर्जुन और श्रीकृष्ण अपने शिविर को लौट रहे थे। रास्ते में अर्जुन का दिल कुछ घबराने-सा लगा। वह श्रीकृष्ण से बोला—"गोविन्द! न जाने क्यों मेरा मन घबरा रहा है। मन में भारी व्यथा है। यद्यपि इसका कोई कारण मालूम नहीं पड़ता; पर कहीं महाराज युधिष्ठिर के साथ कोई

दुर्घटना तो नहीं हुई ? धर्मराज कुशल से तो होंगे ?"

वासुदेव ने कहा—"युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित सकुशल होंगे। तुम इस बात की जरा भी चिंता न करो।"

रास्ते में संध्या-वंदन करने के बाद दोनों फिर रथ पर सवार होकर अपने शिविर की ओर चलने लगे। ज्यों-ज्यों शिविर निकट आता गया, त्यों-त्यों अर्जुन की घबराहट बढ़ती गई। वह बोला—जनार्दन ! क्या कारण है कि सदा की भांति आज कोई मंगल-ध्वनि सुनाई नहीं दे रही है ? बाजे नहीं बज रहे हैं ? जो सैनिक सामने दीख पड़ता है, मुझपर उसकी निगाह पड़ते ही न जाने क्यों, वह अपना सिर झुका लेता है। कभी ऐसा हुआ नहीं। आज यह क्या बात है ? और क्यों ? माधव, मेरा मन घबराया हुआ है। मैं भ्रांत-सा हो रहा हूं ? सब भाई कुशल से तो होंगे ? आज अभिमन्यु अपने भाइयों के साथ हँसता हुआ मेरा स्वागत करने क्यों नहीं दौड़ा आ रहा है ?"

ऐसी ही बातें करते हुए दोनों शिविर के अन्दर पहुंचे।

युधिष्ठिर आदि जो भाई-बन्धु शिविर में थे, वे कुछ बोले नहीं। यह देख अर्जुन बोला, "आप लोगों के चेहरे उतरे हुए क्यों हैं ? अभिमन्यु भी दीख नहीं पड़ रहा है। क्या कारण है कि आप कोई भी आज मेरी विजय पर मेरा स्वागत नहीं करते ? हँसकर आप लोग बातें नहीं करते ? मैंने सुना है कि आचार्य द्रोण ने चक्र-व्यूह की रचना की थी। अभिमन्यु को छोड़कर आपमें कोई भी इस व्यूह को तोड़कर भीतर घुसना नहीं जानता है। अभिमन्यु तो उसे तोड़कर भीतर नहीं चला गया ? मैं उसे बाहर निकलने की तरकीब नहीं बता सका था। वहां जाकर वह कहीं मारा तो नहीं गया है ?"

किसीके कुछ न कहने पर भी अर्जुन ने परिस्थिति देखकर अपने-आप ही सब बातें ताड़ लीं और तब उससे नहीं रहा गया। सब कुछ जान लेने पर वह बुरी तरह बिलखने लगा।

"अरे ! क्या सचमुच मेरा प्यारा बेटा यमलोक पहुंच गया ? सचमुच क्या वह यमराज का मेहमान बन गया ? युधिष्ठिर, भीमसेन, धृष्टद्युम्न, महापराक्रमी सात्यकि आदि आप सब लोगों ने क्या सुभद्रा के पुत्र को

शत्रु के हाथों सौंप दिया ? आप सबके होते हुए उसे बलि चढ़ना पड़ा ? अब मैं सुभद्रा को किस तरह जाकर समझाऊंगा ? द्रौपदी को कैसे मुंह दिखाऊंगा ? उनके पूछने पर क्या कहूंगा ? अरे, उत्तरा को अब कौन समझायेगा ? कैसे कोई उसे सांत्वना देगा ?"

पुत्र के विछोह से दुःखित अर्जुन को वासुदेव ने सम्हाला और उसे तरह-तरह से समझाने लगे—"भैया, तुम्हें इस तरह व्यथित नहीं होना चाहिए। हम क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय हथियारों के बल जीते हैं और हथियारों से ही हमारी मृत्यु होती है। जो कायर नहीं हैं, जो युद्ध के मैदान में पीठ दिखाना नहीं जानते, उन शूरों की तो मृत्यु सहेली बनकर सदा साथ रहती है। जो वीर निडर होते हैं उनकी तो असमय में अचानक मृत्यु हो जाना ही स्वाभाविक मृत्यु है। पुण्यवानों के योग्य स्वर्ग को तुम्हारा पुत्र प्राप्त हुआ है। क्षत्रिय की यही तो कामना होती है कि युद्ध करते हुए वीरोचित रीति से प्राण-त्याग करे। क्षत्रियों के जीवन का जो चरम ध्येय है—जिसे पाना ही क्षत्रियों के जीवन का परम उद्देश्य माना गया है—उसीको आज अभिमन्यु प्राप्त हुआ। अतः तुम्हें पुत्र की मृत्यु का दुःख न करना चाहिए। तुम अधिक शोक-विह्वल होओगे तो तुम्हारे बंधु-बांधवों एवं साथियों का भी मन अधीर हो उठेगा। उनकी भी स्थिरता जाती रहेगी। अतः शोक को दूर करो। अपने को संभालो और दूसरों को भी ढाढ़स बंधाओ।"

श्रीकृष्ण की बातें सुनकर अर्जुन कुछ शांत हुआ। उसने अपने इस वीर पुत्र की मृत्यु का सारा हाल जानना चाहा। उसके पूछने पर युधिष्ठिर बोले—

"मैंने अभिमन्यु से कहा था कि चक्रव्यूह को तोड़कर भीतर प्रवेश करने का हमारे लिए रास्ता बना दो तो हम सब तुम्हारा अनुकरण करते हुए व्यूह में प्रवेश कर लेंगे। तुम्हारे सिवा दूसरा और कोई इस व्यूह को तोड़ना नहीं जानता। तुम्हारे पिता और मामा को भी यही प्रिय होगा। तुम इस काम को अवश्य करना। मेरी बात मानकर वीर अभिमन्यु उस अभेद्य व्यूह को तोड़कर अन्दर घुस गया। हम भी उसीके पीछे-पीछे चले और हम अन्दर घुसने ही वाले थे कि पापी जयद्रथ ने हमें रोक लिया।

उसने बड़ी चतुरता से टूटे हुए व्यूह को फिर ठीक कर दिया। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी जयद्रथ ने हमें प्रवेश करने नहीं दिया। इसके बाद हम तो बाहर रहे और अन्दर कई महारथियों ने एक साथ मिलकर उस अकेले बालक को घेर लिया और मार डाला।"

युधिष्ठिर की बात पूरी भी न हो पाई थी कि अर्जुन आर्त्त स्वर में "हा बेटा!" कहकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। चेत आने पर वह उठा और दृढ़तापूर्वक बोला—"जिसके कारण मेरे प्रिय पुत्र की मृत्यु हुई, उस जयद्रथ का मैं कल सूर्यास्त होने से पहले वध करके रहूंगा। युद्ध-क्षेत्र में जयद्रथ की रक्षा करने को यदि आचार्य द्रोण और कृप भी आ जायं तो उनको भी मैं अपने बाणों की भेंट चढ़ा दूंगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है!"

यह कहकर अर्जुन ने गांडीव धनुष का जोर से टंकार किया। श्रीकृष्ण ने भी पांचजन्य शंख बजाया और भीमसेन बोल उठा—"गांडीव की यह टंकार और मधुसूदन के शंख की यह ध्वनि धृतराष्ट्र के पुत्रों के सर्वनाश की सूचना है।"

: ८२ :

सिंधुराज

सिंधु-देश के सुप्रसिद्ध राजा वृद्धक्षत्र के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम जयद्रथ रखा गया। बड़ी तपस्या के बाद वृद्धक्षत्र के यह पुत्र हुआ था। पुत्र के पैदा होते समय यह आकाशवाणी हुई थी—

'यह राजकुमार बड़ा यशस्वी होगा; पर एक श्रेष्ठ क्षत्रिय के हाथों सिर काटे जाने से इसकी मृत्यु होगी।"

इस बात का ज्ञान होते हुए भी, कि जो पैदा होता है वह मरता जरूर है, बड़े-बड़े ज्ञानियों और तपस्वियों को किसीके मरने पर दुःख अवश्य होता है। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वृद्धक्षत्र आकाशवाणी सुनकर बड़े व्यथित हुए। उन्होंने तत्काल शाप दिया कि जो मेरे पुत्र का सिर काटकर जमीन पर गिरायेगा उसके सिर के उसी

क्षण सौ टुकड़े हो जायंगे और वह भी मृत्यु को प्राप्त होगा।

जयद्रथ के अवस्था प्राप्त हो जाने पर वृद्धक्षत्र ने उसे सिंहासन पर बिठाया और स्वयं तपस्या करने वन को चले गए और 'स्यमंत-पंचक' नामक स्थान पर आश्रम बनाकर तपश्चर्या में दिन बिताने लगे। यही स्यमंत-पंचक आगे चलकर कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ।

जयद्रथ को मारने की अर्जुन की प्रतिज्ञा के समाचार जासूसों द्वारा कौरवों की छावनी में पहुंचे। जयद्रथ को जब अर्जुन की प्रतिज्ञा का हाल मालूम हुआ तो उसके मन में एकाएक विचार आया कि अब उसका अन्त-समय निकट आ गया मालूम होता है। वह दुर्योधन के पास गया और बोला, "मुझे युद्ध की चाह नहीं। मैं अपने देश चला जाना चाहता हूं।" यह सुन दुर्योधन ने उसको धीरज बंधाया और बोला—"सैंधव! आप भय न करें। आपकी रक्षा के लिए जब कर्ण, चित्रसेन, विविंशति, भूरिश्रवा, शल्य, वृषसेन, पुरुमित्र, जय कांबोज, सुदक्षिण, सत्यव्रत, विकर्ण, दुर्मुख, दुःशासन, सुबाहु, कालिंगव, अवन्ति देश के दोनों राजा, आचार्य द्रोण, अश्वत्थामा, शकुनि आदि महारथी तैयार हैं तो फिर आप का यहां से भयभीत होकर चले जाना ठीक नहीं। मेरी सारी सेना आपकी रक्षा करने के लिए नियुक्त की जायगी, आप निःशंक रहें!" दुर्योधन के इस प्रकार आग्रह करने पर जयद्रथ ने उसकी बात मान ली।

इसके बाद जयद्रथ आचार्य द्रोणके पास गया और पूछा—"आचार्य! आपने मुझे और अर्जुन को एक साथ ही अस्त्र-विद्या सिखाई थी। हम दोनों की शिक्षा में आपको कुछ अन्तर भी प्रतीत हुआ था?"

द्रोण ने कहा—"जयद्रथ, तुम्हें और अर्जुन को मैंने एक ही जैसी शिक्षा दी थी। दोनों की शिक्षा एक समान होने पर भी अपने लगातार अभ्यास और कठिन तपस्या के कारण अर्जुन तुमसे बढ़ा-चढ़ा है, इसमें संदेह नहीं। पर तुम इससे भय न करना। कल हम ऐसे व्यूह की रचना करेंगे जिसे तोड़ना अर्जुन के लिए भी दुःसाध्य होगा। उस व्यूह के सबसे पिछले मोरचे पर तुम्हें सुरक्षित रक्खा जायगा। फिर तुम तो क्षत्रिय हो। अपने पूर्वजों की परम्परा को कायम रखते हुए निर्भय होकर युद्ध करो। यमराज हम सबका पीछा तो कर ही रहे हैं—फर्क इतना ही है कि कोई

आगे जाता है तो कोई पीछे। तपस्वी लोग जिस लोक को प्राप्त करते हैं उसे क्षत्रिय लोग युद्ध में बड़ी सुगमता के साथ प्राप्त कर लेते हैं। इस-लिए तुम डरो मत!"

सवेरा हुआ। शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण ने सेना की व्यवस्था करने में ध्यान दिया। युद्ध के मैदान से बारह मील दूरी पर जयद्रथ को अपनी सेना एवं रक्षकों के साथ रखा गया। उसकी रक्षा के लिए भूरि-श्रवा, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य, वृषसेन आदि महारथी अपनी सेनाओं के साथ सुसज्जित तैयार थे। इन वीरों की सेना और पांडवों की सेना के बीच में आचार्य द्रोण ने एक भारी सेना को शकट चक्र-व्यूह में रचा। शकट-व्यूह के अन्दर कुछ दूर आगे पद्मव्यूह बनाया। उससे आगे एक सूचीमुख-व्यूह रचा। इसी सूचीमुख-व्यूह के बीच में जयद्रथ को सुरक्षित रूप से रखा गया। शकट-व्यूह के द्वार पर द्रोणाचार्य रथ पर खड़े थे। उन्होंने सफेद वस्त्र धारण किये थे। उनका कवच भी सफेद रंग का था और माथे पर उन्होंने सफेद शिरस्त्राण पहन रखा था। इस शुभ्र वेश में द्रोणाचार्य अपूर्व तेज के साथ प्रकाशमान हुए। उनके रथ में भूरे रंग के घोड़े जुते थे। रथ पर जो ध्वजा फहरा रही थी, उसमें वेदी का चित्र अंकित था और मृग-छाला लगी हुई थी। हवा में उस ध्वजा को फहराते देखकर कौरवों का जोश बढ़ने लगा। व्यूह की मजबूती देखकर दुर्योधन को धीरज बंधा।

धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्मर्षण ने कौरव सेना के आगे अपनी सेना लाकर खड़ी कर दी। उस सेना में एक हजार रथ, एक सौ हाथी, तीन हजार घोड़े, दस हजार पैदल और डेढ़ हजार धनुर्धारी वीर सुव्यवस्थित रूप से खड़े थे। अपनी इस सेना के आगे रथ पर खड़े होकर दुर्मर्षण ने शंख बजाया और पांडवों को युद्ध के लिए ललकारा—

"कहां है वह अर्जुन जिसके बारे में लोगों ने उड़ा दिया कि वह युद्ध में हराया नहीं जा सकता? कहां है वह? आये तो सामने! अभी संसार देखता है कि वह वीर हमारी सेना से टकराकर उसी तरह टूटा जाता है, जैसे पत्थरों से टकराकर मिट्टी का घड़ा।"

अर्जुन ने यह सुना और दुर्मर्षण की ओर अपनी सेना के बीच अपना

रथ खड़ा कर दिया और शंख बजाया, जिसका अर्थ था कि उसने चुनौती स्वीकार कर ली है। उसके जवाब में कौरव सेना में भी कई शंख बजने लगे।

"केशव! ज़रा उधर रथ चलाइए जहां दुर्मर्षण की सेना है। उधर जो गज-सेना है उसको तोड़ते हुए अन्दर घुसेंगे।" अर्जुन ने कहा।

दुर्मर्षण की सेना को अर्जुन ने तितर-बितर कर दिया। सेना उसी प्रकार इधर-उधर बिखर गई, जैसे तेज हवा के चलने से बादल बिखर जाते हैं। यह देख दुःशासन बड़ा क्रुद्ध हुआ और एक भारी गज-सेना लेकर उसने अर्जुन को घेर लिया।

दुःशासन बड़ा ही पराक्रमी था। अर्जुन और दुःशासन में भयानक लड़ाई छिड़ गई। अर्जुन के बाणों से गिरे वीरों की लाशों से सारा युद्ध-क्षेत्र पट गया। बड़ा बीभत्स दृश्य था। दुःशासन की सेना का जोश ठंडा हो गया और वह पीठ दिखाकर भाग खड़ी हुई। दुःशासन भी पीछे हटा और द्रोण के पास भागा।

अर्जुन का रथ भी तेजी से चलता हुआ आचार्य के निकट जा पहुंचा।

"आचार्य! अपने प्रिय पुत्र को गंवाकर और दुःख से व्यथित होकर सिंधुराज जयद्रथ की तलाश में आया हूं। अपनी प्रतिज्ञा मुझे पूर्ण करनी है, आप मुझे अनुगृहीत करें!"—धनंजय ने विनती की।

आचार्य मुस्कराकर बोले—अर्जुन, आज तो तुम मुझे हराये बिना जयद्रथ के पास नहीं जा सकोगे।" और दोनों में युद्ध छिड़ गया। आचार्य द्रोण ने धनुष तानकर अर्जुन पर बाणों की बौछार कर दी।

अर्जुन ने भी आचार्य को यथोचित उत्तर दिया। द्रोण ने अर्जुन के बाणों को सहज ही में काटकर गिरा दिया और आग के समान जलाने-वाले कई तेज बाण मारकर अर्जुन और श्रीकृष्ण को बहुत घायल किया। तब अर्जुन आचार्य के धनुष को काट डालने के इरादे से तरकश से बाण निकाल ही रहा था कि इतने में द्रोण के एक बाण से अर्जुन के गांडीव की डोरी कट गई। यह देख द्रोण ने मुस्कराते हुए अर्जुन पर, उसके घोड़ों पर, रथ पर और उसके चारों ओर बाणों की वर्षा कर दी। इससे अर्जुन बड़ा क्रोधित हो गया और आचार्य पर हावी होने की इच्छा से बाणों

को एक साथ तानकर छोड़ा।

लेकिन पल-भर में ही आचार्य अर्जुन पर फिर से हावी हो गये। बाणों की बेरोक वर्षा करके रथ-सहित अर्जुन को घने अन्धकार में डाल दिया।

आचार्य द्रोण की रण-कुशलता और पराक्रम को देखकर वासुदेव ने अर्जुन ने कहा—"पार्थ! अब देर लगाना ठीक नहीं। आचार्य को छोड़ चलो। ये थकनेवाले नहीं हैं।"

यह कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ आचार्य की बाईं तरफ से होकर हांक दिया और दोनों शत्रु सैन्य की ओर जाने लगे। यह देख आचार्य बोले—"जा कहां रहे हो, अर्जुन? तुम तो शत्रु को परास्त किये बिना कभी युद्ध से हटते नहीं थे! अब भागे क्यों जा रहे हो? ठहरो तो!"

अर्जुन बोला—"आप मेरे आचार्य हैं—शत्रु नहीं हैं। मैं आपका शिष्य हूं, पुत्र के समान हूं। आपको परास्त करने की सामर्थ्य तो संसार के किसी योद्धा में नहीं।" यह कहता हुआ अर्जुन घोड़ों को तेजी से दौड़ाता हुआ द्रोण के सामने से हट गया और कौरव सेना की ओर चला।

अर्जुन पहले भोजों की सेना पर टूट पड़ा। कृतवर्मा और सुदक्षिण पर एक ही साथ हमला करके व उनको परास्त करके श्रुतायुध पर टूट पड़ा। जोरों की लड़ाई छिड़ गई। श्रुतायुध के घोड़े मारे गये। इसपर उसने गदा उठाकर श्रीकृष्ण पर चलादी। पर निःशस्त्र और युद्ध में शरीक न होने वाले श्रीकृष्ण पर चलाई गई गदा श्रुतायुध को ही जा लगी और श्रुतायुध मृत होकर गिर पड़ा। यह उस वरदान का परिणाम था जो श्रुतायुध की मां ने उसके लिए प्राप्त किया था।

●

श्रुतायुध की माता पर्णाशा ने वरुण देवता से प्रार्थना की कि मेरा बेटा संसार में किसी शत्रु के हाथों न मारा जाय।

वरुण देवता पर्णाशा से बड़ा स्नेह करते थे। उन्होंने कहा—"तुम्हारे पुत्र को एक दैवी हथियार प्रदान करूंगा। उसे लेकर यदि वह युद्ध करेगा तो कोई भी वीर उसे परास्त नहीं कर सकेगा। लेकिन शर्त यह है कि जो निःशस्त्र हो, युद्ध में शरीक न हुआ हो, उसपर यह शस्त्र नहीं

चलाया जाना चाहिए। यदि चलाया गया तो उलटकर यह चलानेवाले का ही वध कर देगा।"

यह कहकर वरुण ने एक दैवी गदा पर्णाशा के पुत्र को प्रदान की। युद्ध के जोश में श्रुतायुध को यह शर्त याद न रही। इसीलिए उसने श्रीकृष्ण पर गदा चला दी। श्रीकृष्ण ने उस गदा को अपने वक्षःस्थल पर ले लिया; परन्तु मंत्र में त्रुटि होने पर जैसे मंत्र पढ़नेवाले के बस का भूत उलटकर उसीका वध कर देता है, उसी प्रकार श्रुतायुध की फेंकी हुई गदा उलटकर उसीको जा लगी। श्रुतायुध जमीन पर गिर पड़ा, जैसे आंधी के चलने से उखड़कर कोई भारी पेड़ गिर पड़ता है।

इसपर कांबोजराज सुदक्षिण ने अर्जुन पर जोरों का हमला कर दिया। किन्तु अर्जुन ने उसपर बाणों की ऐसी वर्षा की कि उसका रथ चूर-चूर हो गया, कवच के टुकड़े-टुकड़े हो गए और छाती पर बाण लगने से कांबोजराज हाथ फैलाता हुआ धड़ाम से ऐसे गिर पड़ा, जैसे उत्सव समाप्त होने पर इंद्र-ध्वजाएं।

श्रुतायुध और कांबोजराज जैसे पराक्रमी वीरों का यह हाल देख-कर कौरव सेना में बड़ी घबराहट मच गई। इसपर श्रुतायुध और अच्छ्-तायु नाम के दो वीर राजाओं ने अर्जुन पर दोनों तरफ से बाण-वर्षा शुरू कर दी। इससे दोनों में फिर घोर संग्राम शुरू हो गया। अर्जुन बहुत घायल हो गया और थककर ध्वज-स्तंभ के सहारे खड़ा हो गया। श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया। थोड़ी देर में अर्जुन ने अपनी थकान मिटाकर ताजा हो शत्रु-सेना पर फिर से बाण बरसाने शुरू कर दिये और देखते-देखते दोनों भाइयों को चिरनिद्रा में सुला दिया। यह देख उन दोनों के दो पुत्रों ने युद्ध शुरू कर दिया। उनको भी अर्जुन ने मृत्यु-लोक पहुंचा दिया और इस प्रकार अपना गांडीव हाथ में लिये हुए असंख्य वीरों का काम तमाम करता हुआ अर्जुन आगे बढ़ता गया और कौरव सेनारूप समुद्र को चीरता हुआ अन्त में उसी जगह जा पहुंचा जहां जयद्रथ अपनी सेना से घिरा खड़ा था।

: ८३ :

अभिमंत्रित कवच

उधर हस्तिनापुर में महाराज धृतराष्ट्र ने संजय से जब अर्जुन की विजयों का हाल सुना तो व्याकुल होकर कहने लगे—"संजय, जिस समय संधि की बातचीत करने श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आये हुए थे, उसी समय मैंने दुर्योधन को सचेत किया था और कहा था कि संधि करने का यह अच्छा समय है। इसे हाथ से न जाने दो। अपने भाइयों से मेल कर लो। श्रीकृष्ण हमारी भलाई के लिए आये हैं। उनकी बातों को ठुकराना ठीक नहीं। कितना समझाया था उसे! पर दुर्योधन ने मेरी एक न सुनी। दु:शासन और कर्ण की ही बात उसे ठीक जंची। काल का उकसाया हुआ वह विनाश-गर्त्त में गिरा हुआ है। फिर अकेले मैंने ही क्या, द्रोण, भीष्म, कृप सभीने उसे समझाया कि युद्ध करने में कोई लाभ नहीं है। किन्तु उस मूर्खने किसीकी न सुनी। लोभ से उसकी बुद्धि फिर चुकी थी, मन कुविचारों से भर गया था। क्रोध का ही उसके मन पर राज था। ऐसा न होता तो युद्ध की बला मोल ही क्यों लेता?" यह कह धृतराष्ट्र ने ठंडी सांस ली।

यह सुन संजय बोला—"राजन्! अब पछताने से क्या होता है? आपका शोक करना वैसा ही है जैसे पानी सूख जाने पर बांध लगाना। चाहिए तो यह था कि कुन्ती-पुत्रोंको जुए का निमंत्रण ही न देते। आपने तब क्यों नहीं रोका? यदि युधिष्ठिर को पांसा खेलने से रोकते तो आज यह दु:ख क्योंकर होता? पिता के नाते आपका कर्त्तव्य था कि पुत्रको दबाकर रखते। यदि आपने ऐसा किया होता तो इस दारुण दु:ख से बच गये होते। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होते हुए भी आपने अपने विवेक से काम नहीं लिया; बल्कि कर्ण और शकुनि की मूर्खता-भरी सलाह मान ली। इस कारण आप श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, द्रोणादि की आंखों में गिर चुके हैं। अब आपके प्रति उनकी वह श्रद्धा नहीं रही जो पहले थी। श्रीकृष्ण ने आपके बारे में यह बात जान ली कि धार्मिकता आपकी बातों तक ही

सीमित है। आपके मन में तो लोभ का निवास है। अतः राजन्, अब अपने पुत्रों की निन्दा न कीजिए। इसमें दोषी तो आप ही हैं। अब तो आपके पुत्र क्षत्रियोचित धर्म के अनुसार भरसक अपनी चेष्टा कर ही रहे हैं। जान की परवाह न करके वे लड़ रहे हैं। जिस युद्ध का संचालन अर्जुन, श्रीकृष्ण, सात्यकि, भीम आदि महारथी कर रहे हों, उसमें आपके लड़कों की एक नहीं चल सकती है। उन वीरों के आगे वे टिक नहीं सकते। पर फिर भी जितना उनसे बन पड़ता है उतना प्रयत्न तो आपके पुत्र कर ही रहे हैं। अब उनकी निन्दा करना उचित नहीं है।"

शोक से व्याकुल धृतराष्ट्र भारी आवाज में बोले—"भैया संजय, मैं भी मानता हूं कि तुमने जो कहा है वह बिलकुल ठीक है। होनी को भला कौन टाल सकता है? तो बताओ फिर क्या हुआ? चाहे वह मंगल-समाचार हो, चाहे अमंगल! जो-कुछ हुआ उसका सही-सही हाल बताते ही जाओ।"

और संजय सुनाने लगा—

अर्जुन का रथ जयद्रथ की ओर जाते देख दुर्योधन बहुत चिंतित और दु:खी हुआ। तुरंत ही वह द्रोणाचार्य के पास पहुँचा और बोला—

"आचार्य! अर्जुन तो हमारे इस सेना-व्यूह को तोड़कर अंदर दाखिल हो गया है। हमारी इस हार से जयद्रथ की रक्षा पर तैनात सैनिक लोग विचलित हो उठेंगे। सबको आशा थी कि आचार्य द्रोण से निबटे बिना अर्जुन आगे नहीं जायगा। पर वह तो झूठी निकली। आपके देखते-देखते आपके सामने से अर्जुन अपना रथ आगे बढ़ा ले गया। मालूम होता है कि आप पांडवों का भला करनेका मौका देखते ही रहते हैं। यह देखकर तो मेरा मन बहुत अधीर हो उठता है। आप ही बताइये कि मैंने आपका बिगाड़ा क्या है? कौन-सा ऐसा अपराध मुझसे हुआ, जो इस तरह आप मेरा अहित कर रहे हैं? यदि पहले ही आपका इरादा मुझे मालूम हो जाता तो जयद्रथ को कभी यहाँ ठहरने का आग्रह नहीं करता। उसने तो मुझसे कहा था कि वह अपने देश को वापस जाना चाहता है, परन्तु मैंने ही उसे नहीं जाने दिया। मुझसे यह बड़ी भूल हो गई। यदि अर्जुन जयद्रथ पर आक्रमण कर देता है तो फिर जयद्रथ के प्राण नहीं बचने के!

तो मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ ?"

दुर्योधन को इस प्रकार विलाप करते देख द्रोणाचार्य बोले—"दुर्योधन, यद्यपि इस समय तुमने बहुत-सी अनुचित बातें कही हैं फिर भी मुझे तुमपर कोई क्रोध नहीं है। तुम्हें मैं अपने पुत्र के समान मानता हूँ। मेरे लिए जैसे अश्वत्थामा, वैसे तुम। अतः तुमको तो मैं जो-कुछ कहूँ, वही करना चाहिए। यह कवच लो। इसे तुम पहन लो और जाकर अर्जुन का डटकर मुकाबला करो। मुझे यहाँ से हटना नहीं है, क्योंकि देखो, बाणों की बौछार हो रही है और पांडवों की सेना तेजी से हमारी ओर बढ़ती चली आ रही है। अर्जुन दूसरी ओर गया है, इधर युधिष्ठिर अकेला है, उसीको जीवित पकड़ने के लिए हमने यह प्रबन्ध किया है। मैं सोचता हूँ कि उसे पकड़कर तुम्हारे हाथों सौंप दूं तो मेरा एक काम पूरा हो। इस काम को छोड़कर मैं अर्जुन का पीछा करने नहीं जा सकता। यदि मैं व्यूह का द्वार छोड़कर अर्जुन की खोज में चला जाऊँगा तो भारी अनर्थ हो जायगा। मैंने यह कवच तुमको दिया है, इसे पहनकर चले जाओ। भय न करो। तुम बड़े शूर हो और साथ ही रण-कुशल भी। इस कवच पर किसी भी हथियार का वार होने पर तुम्हें तकलीफ नहीं होगी। किसी हथियार का इसपर प्रभाव नहीं होगा। यह मेरा अभिमंत्रित कवच है। इससे तुम्हारे शरीर की रक्षा होगी। जैसे देवराज इंद्र ब्रह्मा से कवच प्राप्त कर युद्धक्षेत्र में गये थे वैसे ही मेरे हाथों कवच पहनकर तुम भी युद्ध के लिए प्रस्थान करो। तुम्हारा कल्याण हो !"

आचार्य के ये वचन सुनकर और उनके हाथों दैवी कवच प्राप्त कर दुर्योधन की हिम्मत बंधी। आचार्य के कहे अनुसार एक बड़ी सेना को लेकर वह अर्जुन के मुकाबले को चला।

इधर अर्जुन कौरव सेना को पीछे छोड़कर तेजी से आगे बढ़ता गया। बहुत दूर चले जाने के बाद श्रीकृष्ण ने देखा कि घोड़े थके हुए हैं। उन्होंने रथ खड़ा किया कि घोड़े ज़रा सुस्ता लें। इतने में विंद और अनुविंद नाम के दो वीरों ने अर्जुन पर आक्रमण किया। अर्जुन ने उनका मुकाबला किया और उनकी सेना तितर-बितर करके दोनों को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद श्रीकृष्ण ने रथ से घोड़े खोल दिये। थोड़ी

देर थकान मिटा लेने के बाद रथ जोतकर फिर जयद्रथ की ओर तेजी से चल दिये।

दूरी पर दुर्योधन को आता देख श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सचेत करते हुए कहा—

"धनंजय ! देखो, पीछे दुर्योधन आ रहा है। चिरकाल से मन में क्रोध की जो आग दबा रखी है, आज उसे प्रकट करो। इस अनर्थ की जड़ को जलाकर भस्म ही कर दो। इससे अच्छा अवसर कभी नहीं मिलेगा। आज यह तुम्हारा शत्रु तुम्हारे बाणों का लक्ष्य बनने को आ रहा है। स्मरण रहे—यह महारथी है। दूर से ही आक्रमण करने की सामर्थ्य रखता है। अस्त्र-विद्या का कुशल जानकार है ही। जोश के साथ युद्ध करनेवाला भी है। शरीर का गठीला और बली भी है।"

यह कह श्रीकृष्ण ने रथ घुमा दिया और अर्जुन ने एकाएक दुर्योधन पर हमला कर दिया।

इस अचानक आक्रमण से दुर्योधन ज़रा भी न घबराया। वह बोला—"अर्जुन ! सुना तो बहुत है कि तुमने बड़े वीरोचित कार्य किये हैं, किन्तु तुम्हारी वीरता का सही परिचय अभी तक हमें मिला नहीं है। ज़रा देखें कि तुममें कौन-सा ऐसा पराक्रम है कि जिसकी इतनी प्रशंसा सुनने में आ रही है।" और दोनों में घोर संग्राम छिड़ गया।

"पार्थ ! यह कैसे अचरज की बात है ? क्या वजह है कि तुम्हारे चलाये बाण आज दुर्योधन को ज़रा भी चोट नहीं पहुंचा रहे हैं ? गांडीव धनुष से बाण निकले और शत्रु पर उसका प्रभाव न हो ! यह तो कभी नहीं देखा था। आज ऐसा क्यों हो रहा है ? मुझे इस बात की कभी भी आशा न थी। अर्जुन ! तुम्हारी पकड़ में ढील तो नहीं रहती ? भुजाओं का बल तो कम नहीं हो गया ? गांडीव की तनावट स्वाभाविक तो है ? फिर क्या बात है जो तुम्हारे बाण दुर्योधन पर असर नहीं करते ?"—श्रीकृष्ण आतुर होकर बोले।

अर्जुन ने कहा—"सखे कृष्ण ! मेरा ख्याल है कि इसने आचार्य द्रोण से अभिमंत्रित कवच पा लिया है और उसीको यह पहने हुए है। आचार्य ने इस कवच का भेद मुझे भी बताया था। उन्होंने जरूर ही वह

कवच इसके शरीर पर पहनाया होगा। स्वयं दुर्योधन इसे नहीं पहन सकता। दूसरे द्वारा पहनाये हुए कवच को दुर्योधन ठीक उसी तरह ओढ़े खड़ा है जैसे बोझा लदा हुआ बैल। आप अभी मेरी कुशलता की बानगी देखिए।" यह कहते-कहते अर्जुन ने ऐसी तेजी से बाण चलाए कि पलक मारते दुर्योधन के घोड़े और सारथी मारे गये और रथ चूर-चूर हो गया। थोड़ी ही देर में अर्जुन ने दुर्योधन का धनुष काट डाला और चमड़े के दस्ताने फाड़ दिये। दुर्योधन के शरीर का वह भाग, जो कवच से ढका नहीं था, अर्जुन के बाणों से बुरी तरह भिद गया। इस प्रकार अर्जुन ने दुर्योधन को बेहद परेशान किया। अर्जुन के बाणों से दुर्योधन के हाथ, पांव, नाखून, उंगलियाँ तक बिंध गये और अन्त में दुर्योधन को हार माननी ही पड़ी।

दुर्योधन समर-भूमि में पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ। यह देख श्रीकृष्ण ने अपना पांचजन्य शंख बजाया और बड़े जोर से विजय-नाद किया।

जयद्रथ की रक्षा पर नियुक्त वीरों ने जब यह सुना तो उनके दिल एकबारगी दहल उठे और भूरिश्रवा, कर्ण, वृषसेन, शल्य, अश्वत्थामा, जयद्रथ आदि आठों महारथी अर्जुन के मुकाबले पर आ गये।

: ८४ :

युधिष्ठिर की चिन्ता

दुर्योधन को अर्जुन का पीछा करते देखकर पांडव सेना ने शत्रुओं पर और भी जोर का हमला कर दिया। धृष्टद्युम्न ने सोचा कि जयद्रथ की रक्षा करने को यदि द्रोण भी चले गये तो अनर्थ हो जायगा। इस कारण द्रोणाचार्य को रोके रखने के इरादे से उसने द्रोण पर लगातार आक्रमण ज़ारी रखा। धृष्टद्युम्न की इस चाल से कारण कौरव सेना तीन हिस्सों में बँटकर कमजोर पड़ गई।

मौका देखकर धृष्टद्युम्न ने अपना रथ आचार्य के रथ से टकरा दिया। दोनों रथ एक-दूसरे से भिड़ गये। राजकुमार के रथ के कबूतरी रंग के घोड़े और आचार्य के रथ के भूरे रंग के घोड़े एक साथ खड़े हो जाने से ऐसे शोभायमान हुए जैसे सूर्यास्त के समय की मेघ-माला! वह दृश्य बड़ा ही सुहावना था। इतने में धृष्टद्युम्न ने अपना धनुष फेंक दिया और ढाल-तलवार लेकर द्रोणाचार्य के रथ पर उछलकर जा चढ़ा और द्रोण पर पागलों की भांति वार करने लगा। अपने जन्म के वैरी पर धृष्टद्युम्न ऐसे ही झपटा जैसे मरे जानवर पर चील-कौवे झपटते हैं। उसकी आंखों में निठुरता और खून की प्यास झलक रही थी! काफी देर तक धृष्टद्युम्न का हमला जारी रहा। अंत में द्रोण ने क्रोध में आकर एक पैना बाण चलाया। वह पांचालकुमार के प्राण ही ले लेता, यदि सात्यकि का बाण उसे बीच में ही न काट देता। अचानक सात्यकि के बाण रोक लेने पर द्रोण का ध्यान उसकी ओर फिर गया। इसी बीच पांचाल-सेना के रथ-सवार धृष्टद्युम्न को वहां से हटा ले गये।

काले नाग के समान फुफकार मारते हुए व लाल-लाल आंखों से चिनगारियां बरसाते हुए द्रोणाचार्य सात्यकि पर टूट पड़े। पर सात्यकि भी कोई मामूली वीर नहीं था। पांडव सेना के सबसे चतुर योद्धाओं में उसका स्थान था। जब उसने द्रोणाचार्य को अपनी ओर झपटते देखा तो वह खुद भी उनकी ओर झपटा।

चलते-चलते सात्यकि ने अपने सारथी से कहा—"सारथी! यह हैं आचार्य द्रोण, जो अपनी ब्राह्मणोचित वृत्ति छोड़कर धर्मराज को पीड़ा पहुंचानेवाले क्षत्रियोचित काम करने पर उतारू हुए हैं। इन्हीं के कारण दुर्योधन को घमंड हो गया है। अपनी शूरता का इन्हें इतना गर्व है कि सदा उसीमें ये भूले रहते हैं। चलाओ वेग से अपना रथ। ज़रा इनका दर्प भी चूर करें।"

सात्यकि का इशारा पाते ही सारथी ने घोड़े छोड़ दिये। चांदी-से सफेद चमकने वाले घोड़े हवा से बातें करते हुए द्रोणाचार्य की ओर सात्यकि का रथ ले दौड़े। पास पहुंचते-पहुंचते सात्यकि और द्रोण, दोनों ने एक-दूसरे पर बाण बरसाने शुरू कर दिए। उन दोनों के धनुष से निकले बाणों ने सूरज को ढंक दिया, जिससे युद्ध के मैदान पर चारों ओर अंधेरा-ही अंधेरा छा गया। दोनों ओर से चमकते हुए नाराच बाण ऐसे सनसनाते

चले, जैसे केंचुली उतरे हुए काले नाग। दोनों रथों की छतें और ध्वजाएं टूटकर गिर पड़ीं दोनों के शरीर में से खून बह निकला। उस भीषण युद्ध को देखकर दूसरे वीर तो अपना लड़ना भी भूल गये। सबने अपनी-अपनी लड़ाई बन्द कर दी और अवाक्-से खड़े होकर द्रोण और सात्यकि का युद्ध देखने लगे। इससे एकबारगी वीरों का गरजना, सिंह-नाद करना, शंख-तुरही आदि बाजों का बजना, सब बंद हो गया। सात्यकि और द्रोण एक-दूसरे पर विविध शास्त्रों के वार करके जिस प्रकार का भयानक द्वंद्व-युद्ध कर रहे थे, उसे देखने के लिए देवता, विद्याधर, गंधर्व, यक्ष आदि की भारी भीड़ आकाश-वीथि में लग गई।

द्रोण का धनुष सात्यकि की बाण-वर्षा से कट गया। लेकिन पलक मारते ही द्रोण ने दूसरा धनुष लेकर उसकी डोरी चढ़ा ली। पर सात्यकि ने उसे भी तुरन्त काट दिया। द्रोण ने फिर एक धनुष उठा लिया। वह भी कट गया। इस तरह द्रोण के एक-एक करके एक सौ धनुष सात्यकि न काट गिराये। 'सात्यकि तो धनुर्धर रामचन्द्र, कार्तिकेय, भीष्म और धनंजय आदि कुशल योद्धाओं की टक्कर का वीर है।' द्रोण मन-ही-मन सात्यकि की सराहना करने लगे।

सात्यकि ने और भी कुशलता का परिचय दिया। जिस अस्त्र का द्रोण प्रयोग करते, उसी अस्त्र का उसी तरह सात्यकि द्रोण पर प्रयोग करता। इस तरह बहुत देर तक दोनों वीर लड़ते रहे। फिर धनुर्वेद के आचार्य द्रोण ने सात्यकि के वध के उद्देश्य से आग्नेयास्त्र चलाया, पर उसी क्षण सात्यकि ने वरुणास्त्र छोड़ कर द्रोण के अस्त्र का प्रभाव होने ही न दिया। इस प्रकार बहुत देर तक युद्ध चलता रहा। अंत में धीरे-धीरे सात्यकि कुछ कमजोर पड़ने लगा। यह देख कौरव सेना में खुशी की लहर दौड़ गई।

इसी बीच युधिष्ठिर को पता चला कि सात्यकि पर संकट आया हुआ है, तो वह अपने आस-पास के वीरों से बोले—"कुशल योद्धा नरोत्तम और सच्चे वीर सात्यकि द्रोण के बाणों से बहुत ही पीड़ित हो रहे हैं। चलो, हम लोग उधर चलकर उस वीर महारथी की सहायता करें।"

उसके बाद वह धृष्टद्युम्न से बोले—"द्रुपद-कुमार! आपको अभी जाकर द्रोणाचार्य पर आक्रमण करना चाहिए; नहीं तो डर है कि कहीं आचार्य के हाथों सात्यकि का वध न हो जाय। अब आप किसीका इंतजार न करें। इसी समय रवाना हो जायं। सात्यकि को समय पर ही सहायता पहुंच जानी चाहिए। मुझे आज आचार्य की ओर से बड़ा खतरा मालूम होता है। कोई बालक जैसे पक्षी को रस्सी से बांधकर उसे उड़ाता हुआ उससे खेल करे, उसी प्रकार सात्यकि के साथ युद्ध करते हुए द्रोण बड़ा आनन्द मना रहे हैं और सात्यकि कमजोर पड़ रहा है। वह अधिक देर आचार्य के सामने टिक नहीं सकेगा। अतः आप जल्दी-से-जल्दी जाकर उसकी सहायता करें। अपने साथ और वीरों को भी लेते जायं।" यह कहकर युधिष्ठिर ने धृष्टद्युम्न के साथ द्रोण पर हमला करने के लिए एक बड़ी सेना भेज दी। समय पर कुमुक पहुंच जाने पर भी बड़े परिश्रम के बाद सात्यकि को द्रोण के फंदे से छुड़ाया जा सका।

इसी समय श्रीकृष्ण के पांचजन्य की ध्वनि सुनाई दी। यह आवाज सुनकर युधिष्ठिर चिंतित हो गये।

"सात्यकि! सुना तुमने! अकेले पांचजन्य की ही आवाज सुनाई दे रही है और गांडीव की टंकार नहीं सुनाई देती। अर्जुन को कहीं कुछ हो तो नहीं गया? मेरा मन शंकित हो रहा है। जान पड़ता है, जयद्रथ के रक्षकों से घिरकर अर्जुन संकट में पड़ गया है। आगे सिंधुराज की सेना है और पीछे द्रोणाचार्य की, अर्जुन बीच में फंस गया मालूम होता है। अर्जुन शत्रु-सैन्य में सुबह का घुसा है और अब तो दिन ढलने को आया है। और बार-बार पांचजन्य की ही आवाज सुनाई दे रही है। कहीं अर्जुन को कुछ हो गया हो और वासुदेव ही अकेले लड़ने लगे हों! सात्यकि, तुम्हारे लिए कोई ऐसा काम नहीं जो असाध्य हो। अर्जुन तुम्हारा मित्र भी है—आचार्य भी है। उसे जरूर विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा होगा। इसमें मुझे सन्देह नहीं है। फिर अर्जुन की तुम्हारे प्रति ऊंची धारणा है। कितनी ही बार उसे मैंने तुम्हारी प्रशंसा करते सुना है। जब हम वनवास में थे तब अर्जुन ने मुझसे कहा था कि सात्यकि-जैसा सच्चा वीर कहीं ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। उस

ओर तो देखो ! भयानक युद्ध के कारण आकाश में कैसी धूल उड़ रही है ! अर्जुन जरूर शत्रुओं से घिरा हुआ है और संकट में है। जयद्रथ कोई साधारण वीर नहीं। वह बड़ा पराक्रमी है। फिर उसकी खातिर अपने प्राणों की बाजी लगा देने को आज कई महारथी तैयार हैं। तुम अभी, इस घड़ी अर्जुन की सहायता को चले जाओ।" इतना कहते-कहते युधिष्ठिर बहुत ही अधीर हो उठे।

युधिष्ठिर के इस प्रकार आग्रह करने पर सात्यकि ने बड़ी नम्रता से कहा—"धर्म पर अटल रहने वाले युधिष्ठिर ! आपकी आज्ञा मेरे सिर-आंखों पर है। और फिर अर्जुन के लिए मैं क्या न करूंगा ? उसकी खातिर मैं अपने प्राणों को भी न्यौछावर करने के लिए सदा तैयार हूं। आपकी आज्ञा होने पर, मैं मनुष्य तो क्या, देवताओं तक पर टूट पड़ने में न हिचकूंगा। पर सारी बातों को भली प्रकार समझनेवाले वासुदेव और अर्जुन मुझे जो आदेश दे गये हैं, आपसे उसका निवेदन करना अनुचित न होगा। वासुदेव और अर्जुन ने मुझसे कहा था कि 'जबतक हम दोनों जयद्रथ का वध करके न लौटें तबतक तुम युधिष्ठिर की रक्षा करते रहना। खूब सावधान रहना। असावधानी से काम न लेना। तुम्हारे ही भरोसे हम युधिष्ठिर को छोड़ जाते हैं। एक द्रोण ही हैं जिनसे हमें सतर्क रहना है। उन्हीं से खतरा होने की आशंका है; क्योंकि द्रोण की प्रतिज्ञा तो तुम जानते ही हो। अतः युधिष्ठिर की रक्षा का भार तुम्हारे ऊपर है', महाराज वासुदेव और अर्जुन मुझे यह आदेश दे गये हैं और मुझपर इतना भरोसा करके यह भारी जिम्मेदारी डाल गये हैं। मैं उनकी बात को कैसे टालूं ? आप अर्जुन की ज़रा भी चिन्ता न करें। अर्जुन को कोई नहीं जीत सकता। वह द्रोण के समान ही वीर है और धनुर्धारी है। विश्वास रखिये कि सिंधुराज और दूसरे महारथी अर्जुन के आगे टिक नहीं सकेंगे। मैं कहता हूं कि वे सभी अर्जुन के सोलहवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकते। मैं जाऊं भी तो यहां आपको किसकी रक्षा में छोड़ जाऊं ? मुझे तो यहां पर कोई ऐसा वीर नहीं दीखता जो द्रोण के हमले का मुकाबला कर सके। इसलिए आप आगा-पीछा सोच-समझकर ही मुझे आज्ञा दीजिए।"

यह सुन युधिष्ठिर ने कहा—"बहुत कुछ सोच-विचार कर लेने के बाद निष्पक्ष होकर ही मैं तुम्हें जाने को कह रहा हूं। तुम्हारे लिए मेरी यही आज्ञा है। यहां मेरी रक्षा के लिए महाबली भीमसेन हैं, धृष्टद्युम्न हैं, और भी कितने ही वीर हैं। अतः तुम मेरी चिन्ता न करो।"

इतना कह कर युधिष्ठिर ने सात्यकि के रथ पर हर तरह के अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री रखवा दी और खूब विश्राम करके ताजे हो रहे घोड़े भी जुतवा दिये और आशीर्वाद देकर सात्यकि को विदा किया।

"भीमसेन ! धर्मराज युधिष्ठिर की अच्छी तरह से देखभाल और रक्षा करना।"—यह कह सात्यकि रथ पर सवार होकर अर्जुन की ओर रवाना हो गया।

रास्ते में कौरव सेना ने सात्यकि का डटकर मुकाबला किया। पर सात्यकि उनकी भारी सेना को तितर-बितर करता हुआ आगे बढ़ता गया। इस तरह वह कई शत्रुओं से लड़ता-लड़ता बड़ी देर बाद अर्जुन के पास पहुंच सका।

उधर जैसे ही सात्यकि युधिष्ठिर को छोड़कर अर्जुन की ओर चला, वैसे ही द्रोणाचार्य ने पांडव सेना पर हमले करने शुरू कर दिये। पांडव सेना की पंक्तियां कई जगह से टूट गईं और उन्हें पीछे हटाना पड़ गया। यह देख युधिष्ठिर बड़े चिंतित हो उठे।

: ८५ :
युधिष्ठिर की कामना

"अर्जुन अभी तक लौटा नहीं और न सात्यकि की ही कोई खबर आई। भैया भीमसेन, मन शंकित हो रहा है। बार-बार पांचजन्य बज रहा है, किन्तु गांडीव की टंकार सुनाई नहीं दे रही है। इससे मन में भय-सा छा रहा है ! वीर सात्यकि मेरे लिए प्राणों से भी प्यारा था ! उसे मैंने अर्जुन की सहायता के लिए भेजा। न जाने अभी तक भी वह क्यों नहीं लौटा ? भैया, मेरी तो चिन्ता बढ़ रही है। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करूं ?"—भीमसेन से इस प्रकार कहकर धर्मराज चिन्ता-

कुल हो उठे। उन्हें कुछ न सूझा कि क्या करें। किंकर्त्तव्यमूढ़-से होकर इधर-उधर टहलने लगे। यह देख भीमसेन बोला—"भैया, मैंने आपको इतना अधीर कभी नहीं देखा। आप क्यों इस प्रकार धीरज खो रहे हैं? आप जो भी कहें, मैं करने को तैयार हूं। मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं क्या करूं? आप मन में उदासी न आने दें।"

युधिष्ठिर ने कहा—"भैया! मुझे तो ऐसा भय हो रहा है कि हमारे प्यारे अर्जुन को जरूर कुछ हुआ है। अर्जुन सकुशल होता तो गांडीव की टंकार अवश्य सुनाई देती। अर्जुन की अनुपस्थिति में अब स्वयं माधव हथियार लेकर लड़ रहे दीखते हैं। यही कारण है कि गांडीव की टंकार सुनाई नहीं पड़ रही है। इस सारी परेशानी में मुझे कुछ नहीं सूझ पड़ता कि क्या करूं। मन उद्भ्रांत-सा हो रहा है। यदि भीम, मेरा कहा मानो, तो तुम भी अर्जुन के पास चले जाओ और सात्यकि और अर्जुन का हाल-चाल मालूम करो और इसके लिए जो कुछ करना जरूरी हो, वह करके वापस आकर मुझे सूचना दो। मेरा कहना मानकर ही सात्यकि अर्जुन की सहायता को कौरव सेना से युद्ध करता हुआ गया है। तुम भी उसके पीछे-पीछे, जिधर वह गया है, उधर जाओ। यदि तुम उसको कुशल-पूर्वक पाओ तो सिंहनाद करना। मैं समझ लूंगा कि सब कुशल है।"

भीमसेन ने युधिष्ठिर की बात का प्रतिवाद नहीं किया। सिर्फ इतना ही कहा—"राजन्, आप ज़रा भी चिन्ता न करें। मैं इसी समय जाकर उनका कुशल-समाचार लाता हूं और आपको उनकी खबर देता हूं।" और वह धृष्टद्युम्न से बोला—"पांचाल-कुमार! आचार्य द्रोण के इरादे से तो आप परिचित हैं ही। किसी-न-किसी तरह धर्मपुत्र युधिष्ठिर को जीवित ही पकड़ने का उनका प्रण है। राजा की रक्षा करना ही हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। जब वह स्वयं मुझे जाने की आज्ञा दे रहे हैं तो उसका भी पालन करना मेरा धर्म हो जाता है। इस कारण युधिष्ठिर को तुम्हारे ही भरोसे पर छोड़कर जा रहा हूं। इनकी भली भांति रक्षा करना।"

धृष्टद्युम्न ने कहा—"तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो और निश्चिन्त होकर जाओ। विश्वास रखो कि द्रोण मेरा वध किये बिना युधिष्ठिर को नहीं पकड़ सकेंगे।" आचार्य द्रोण के जन्म के वैरी धृष्टद्युम्न

के इस प्रकार विश्वास दिलाने पर भीम निश्चिन्त होकर तेजी से अर्जुन की तरफ चल दिया।

अर्जुन की सहायता के लिए जाते हुए भीमसेन को कौरव सेना के वीरों ने आ घेरा और उसका रास्ता रोकने की चेष्टा की। लेकिन जैसे शेर छोटे-मोटे जानवरों को खदेड़ देता है, उसी प्रकार भीमसेन ने शत्रु-सेना को तितर-बितर कर दिया। रास्ते में भीम के हाथों धृतराष्ट्र के ग्यारह बेटे मारे गये। भीम इस तरह जाते-जाते द्रोण के पास पहुंच गया। आचार्य द्रोण उसका रास्ता रोककर बोले—"भीमसेन, मैं तुम्हारा शत्रु हूं। मुझे परास्त किये बिना तुम आगे नहीं बढ़ सकोगे। मेरी अनुमति पाकर ही तुम्हारा भाई अर्जुन व्यूह में दाखिल हुआ है। पर तुम्हें मैं जाने की इजाजत नहीं दूंगा।"

आचार्य का खयाल था कि अर्जुन की भांति भीमसेन भी उनके प्रति आदर प्रकट करेगा।

किन्तु भीमसेन तो उल्टा गुस्सा हो गया। बोला—"ब्राह्मणश्रेष्ठ! अर्जुन सेना में घुस पाया है तो आपसे इजाजत लेकर नहीं, बल्कि अपने पराक्रम के बूते पर व्यूह तोड़कर वह अन्दर दाखिल हुआ है। अर्जुन ने आपपर दया की होगी। परन्तु आप मुझसे ऐसी आशा न रखिए। मैं आपका शत्रु हूं। एक समय था, जब आप हमारे आचार्य थे, पिता-समान थे। तब हम आपको पूजते थे। लेकिन अब जबकि आपने स्वयं कहा है कि आप हमारे शत्रु हैं, तो फिर वही होगा, जो शत्रु के साथ होना चाहिए।" और यह कहते-कहते भीम गदा घुमाता हुआ द्रोण पर टूट पड़ा और द्रोण का रथ चूर-चूर कर डाला। द्रोण को दूसरे रथ पर सवार होना पड़ा। भीम ने उसे भी चकनाचूर कर दिया। इस तरह गदा घुमाते हुए चारों ओर के सैनिकों को भी तितर-बितर करके भीमसेन व्यूह के अन्दर घुस गया।

उस दिन द्रोण के एक-एक करके कई रथ चूर किये गये। भीमसेन कौरव सेना को चीरता-फाड़ता जा रहा था कि इतने में भोजों ने उसका सामना किया। उनको भीम ने तहस-नहस कर दिया और वह बराबर आगे बढ़ता ही गया। जितने भी सैन्य-दल मुकाबले पर आये, उन्हें मारता

गिराता अन्त में भीम उस स्थान पर पहुंच गया जहां अर्जुन जयद्रथ की सेना से लड़ रहा था।

अर्जुन को सुरक्षित देखते ही भीमसेन ने सिंहनाद किया। भीम का सिंहनाद सुनकर श्रीकृष्ण और अर्जुन आनन्द के मारे उछल पड़े और उन्होंने भी जोरों से सिंहनाद किया।

इन सिंहनादों को सुनकर युधिष्ठिर बहुत ही प्रसन्न हुए। उनके मन से शोक के बादल हट गये। उन्होंने अर्जुन को मन-ही-मन आशीर्वाद दिया। वह सोचने लगे—

'अभी सूरज डूबने से पहले अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेगा और जयद्रथ का वध करके लौट आयेगा। हो सकता है, जयद्रथ के वध के बाद दुर्योधन शायद सन्धि कर ले। किन्तु क्या ऐसा संभव होगा? अपने भाइयों का इस प्रकार मारा जाना देखकर उसको सही रास्ते पर आना तो होगा ही। कितने ही प्रतापी राजा-महाराजाओं और प्रसिद्ध योद्धाओं को मैदान में काम आया देखकर भी क्या दुर्योधन की बुद्धि ठिकाने नहीं आयेगी? जब पितामह भीष्म का भी पतन हो गया तो फिर कम-से-कम रहे-सहे लोगों का नाश न होने देने का क्या कोई उपाय नहीं हो सकेगा! क्या ही अच्छा होता, यदि कोई रास्ता निकल आता।' इस प्रकार युधिष्ठिर के मन में विचार उठने लगे।

इधर तो युधिष्ठिर मन-ही-मन शांति-स्थापना की कामना कर रहे थे, और उधर मोर्चे पर जहां भीम, सात्यकि और अर्जुन थे, घोर संग्राम हो रहा था। संसार किस रास्ते चले और उसके लिए घटना-चक्र का रुख कैसा हो, आदि बातें एक ईश्वर को छोड़कर और कौन जान सकता है? ईश्वर का ही किया सब कुछ हो रहा है।

: ८६ :

कर्ण और भीम

युद्ध के मैदान में एक स्थान पर सात्यकि और भूरिश्रवा, दूसरे स्थान पर कर्ण और भीम और तीसरे स्थान पर अर्जुन और जयद्रथ के बीच ऐसा

घोर संग्राम छिड़ा हुआ था, कि जैसा किसी ने उस समय तक न देखा था, न सुना था। द्रोणाचार्य पांडवों के हमलों की बाढ़ रोकते और उनपर जवाबी हमले करते हुए व्यूह के द्वार पर ही डटे रहे। थोड़े ही समय में जिस स्थान पर अर्जुन और जयद्रथ का युद्ध हो रहा था, दुर्योधन भी वहां आ पहुंचा, मगर थोड़ी ही देर में बुरी तरह हारकर मैदान छोड़ भाग खड़ा हुआ।

इस भांति उस रोज कई मोर्चों पर जोरों से युद्ध हो रहा था। दोनों पक्षों के लोगों को जहां आगे के शत्रु-सैन्य से लड़ना पड़ता था, वहां पिछली तरफ से भी शत्रु के आक्रमण को संभालना पड़ रहा था।

युद्ध का कुछ निर्णय न होता देख दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास आया और अपनी आदत के अनुसार उन्हें जली-कटी सुनाने लगा—

"गुरुदेव! अर्जुन, भीम और सात्यकि हमारी सेना की परवाह न करके आगे बढ़ आये हैं और अब सिन्धुराज तक जा पहुंचे हैं। वहीं अर्जुन से भीषण युद्ध हो रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि जिस व्यूह की रक्षा आप कर रहे हैं, वह इतनी सुगमता से कैसे तोड़ा जा सका? हमारे सारे मन्सूबे मिटी में मिल गये। लोग मुझसे पूछते हैं कि वीर और पराक्रमी और धनुर्विद्या के आचार्य द्रोणाचार्य ने इन नौसिखियों के हाथों कैसे ऐसी मुंह की खाई? मैं उन्हें कैसे समझाऊं? आपने मुझे कहीं का नहीं रखा। आपके होते हुए भी मैं अनाथ-सा हो रहा हूं।"

द्रोण ने सदा की भाँति उसे सांत्वना देते हुए कहा—

"दुर्योधन, तुम जो सदा मेरी निन्दा किया करते हो, वह न तो धर्म के अनुकूल है, न सचाई के ही। जो हुआ सो हुआ। अब उसपर सिर खपाने से फायदा? पिछले को भूलकर आगे के कामों पर विचार करो।"

पर दुर्योधन का चित्त ठिकाने नहीं था। वह बोला—

"जो कुछ करना-धरना है, उसपर आप ही भली-भाँति सोच-विचार लें और किसी निश्चय पर पहुंचें। इतना मैं कहे देता हूं कि योजना जो भी बने, उसे तुरन्त ही कार्यरूप में परिणत करना चाहिए।"

द्रोण ने कहा—"बेटा दुर्योधन, सोचने की तो कई बातें हैं। बात यह सही है कि तीन महारथी हमें लांघकर आगे बढ़ गये हैं। परन्तु उनके

आगे बढ़ जाने से हमपर जितना खतरा आ सकता है, हमारे पीछे होने
के कारण उनपर भी उतना ही खतरा हो सकता है। उनके आगे और
पीछे, दोनों तरफ हमारी सेनाएं खड़ी हैं। इस दशा में कहना चाहिए
कि उनपर ही खतरा अधिक है। इसलिए तुम्हें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए।
तुम तो जयद्रथ की सहायता को जाओ और वहां जो कुछ करना आव-
श्यक हो वह करो। बेकार की चिन्ता करने से तो बेमौत मरना होता
है। इससे कोई लाभ तो होता नहीं। मेरा तो यहीं पर रहना ठीक होगा।
जब कभी तुम्हें कुमुक और युद्ध-सामग्री की जरूरत होगी, यहां से भेज
दिया करूंगा। मुझे यहां पांचालों और पांडवों के हमले को रोकने के
लिए मोर्चे को सँभाले रखना चाहिए।"

आचार्य के कहने-सुनने पर दुर्योधन कुछ सेना लेकर फिर से लड़ाई
के उस मोर्चे पर चला गया, जहां अर्जुन और जयद्रथ में जोरों की लड़ाई
हो रही थी।

आजकल की युद्ध-प्रणाली में कभी-कभी दुश्मन की मोर्चेबन्दियों को
एक तरफ छोड़कर आगे बढ़ना भी खास तरीका माना गया है। इस
भाँति से दुश्मन की सेना को एक ओर छोड़कर, उसकी परवाह न कर आगे
बढ़ निकलने से फायदे भी होते हैं और नुकसान भी। पिछले विश्व-युद्ध
के समय, युद्ध-विद्या के जानकारों ने प्रयोग करके, इस तरीके से काम
लिया था। शत्रु की सेना से हर मोर्चे पर लड़ते हुए समय गंवाने के बजाय
जहां आवश्यक न हो, वहां शत्रु-सेना को एक ओर छोड़कर आगे बढ़
जाने के तरीके को अंग्रेजी में 'बाई पासिंग' (By-Passing) कहते हैं।
उसी तरह का तरीका महाभारत के युद्ध में भी बरता गया था। चौदहवें दिन
के युद्ध में अर्जुन ने जो आश्चर्यजनक और मार्के का काम कर दिखाया,
वह इस तरीके से काम लेना था। ऐसा करके अर्जुन ने दुर्योधन को बहुत
परेशान किया था। इसी बात पर तो दुर्योधन और आचार्य द्रोण की
कहा-सुनी भी हो गई थी। जिसका जिक्र ऊपर आ चुका है।

उस दिन भीम और कर्ण में जो युद्ध हुआ, वह एक रोमांचकारी
घटना के रूप से वर्णित है। महाभारत के द्रोण-पर्व और कर्ण-पर्व में युद्ध
के बहुत से ऐसे प्रसंग पाये जाते हैं, जिनका वर्णन पढ़कर यह भ्रम-सा

होने लगता है कि कहीं आजकल के युद्ध का वर्णन तो हम नहीं पढ़ रहे
हैं। उनमें वर्णित युद्ध की कार्रवाइयां आजकल की लड़ाइयों की कार्र-
वाइयों से मिलती-जुलती-सी हैं।

पहले भी भीमसेन ने कर्ण के मुकाबले की परवाह न करके अर्जुन के ही
पास जाने की कोशिश की। किन्तु कर्ण ने उसे आगे नहीं जाने दिया।
भीमसेन पर उसने बाणों की सतत बौछार करके उसका रास्ता रोक
दिया। कर्ण ने भीमसेन का मजाक उड़ाया और हँसते-हँसते कहा—"भीम,
अब संभल जाओ, पर देखो, कहीं भाग नहीं जाना। रण में पीठ दिखाना
ठीक नहीं।" कर्ण की यह चुटकी भीम के लिए असह्य हो उठी और
कर्ण पर वह बुरी तरह झपट पड़ा। दोनों में घोर युद्ध छिड़ गया। कर्ण
हँस-हँसकर बाण चला रहा था और भीम के बाणों को रोकता भी जाता
था। किन्तु भीम बड़ी उग्रता के साथ लड़ रहा था। कर्ण दूर से ही खड़ा
खड़ा निशाना ताककर भीम पर बाण बरसा रहा था, पर भीम कर्ण की
बाण-वर्षा की ज़रा भी परवा न करके कर्ण के पास पहुंचने की कोशिश
कर रहा था। कर्ण न तो विचलित हो रहा था, न उत्तेजित ही, जबकि
भीमसेन उत्तेजना और उग्रता की प्रतिमूर्ति-सा दिखाई दे रहा था। कर्ण
जो-कुछ करता, धीरज और व्यवस्था के साथ शांत-भाव से करता। किन्तु
भीम को तो थोड़ा सा भी, अपमान असह्य हो जाता। वह उबल पड़ता
और विस्मयजनक शारीरिक बल का परिचय देता। तात्पर्य यह कि जहां
कर्ण ठंडे दिमाग और चतुराई से काम लेता था, वहां भीमसेन अमानुषिक
शारीरिक बल और पागलों के-से जोश से काम ले रहा था।

भीमसेन का शरीर घावों से भर गया और उनसे खून की धारा बह
निकली। ऐसा मालूम हो रहा था, मानो वसन्त में अशोक वृक्ष। फिर
भी घावों की ज़रा भी परवा किये बगैर उसने कर्ण के रथ को तहस-
नहस कर दिया और घोड़ों को मार गिराया। उसका धनुष भी काट
डाला। तब कर्ण को दूसरे रथ की ओर भागना पड़ा। इस हार से कर्ण
के मुख की वह कांति लुप्त हो गई, जो पहले थी। अपमान के कारण
उसके मुख पर हँसी की जगह क्रोध आ गया। वह क्षुब्ध हो उठा, जैसे
तूफान आने पर समुद्र। वही भीमसेन पर बड़ी उग्रता के साथ टूट पड़ा।

दोनों ही बड़े वीर थे। शेरों का-सा शारीरिक बल, चीलों की-सी फुर्ती, और साँप की-सी फुंकार के साथ एक-दूसरे पर झपटकर वे आघात करने लगे। भीमसेन को उस समय उन सब पिछले घोर अपमानों, यातनाओं और मुसीबतों की याद हो आई, जो उसे, उसके भाइयों और द्रौपदी को पहुंचाई गई थीं। प्राणों का मोह छोड़कर वह लड़ने लगा। दोनों के रथ एक-दूसरे से जा टकराये। कर्ण के सफेद और भीम के काले घोड़े एक दूसरे से सट जाने से ऐसी शोभा देने लगे जैसे काले मेघों में बिजली।

कर्ण का धनुष फिर कट गया। सारथी आहत होकर रथ से नीचे गिर पड़ा। यह देख कर्ण ने भीम पर शक्ति नामक अस्त्र का प्रयोग किया। भीम ने उसे रोक दिया और कर्ण पर कई बाण छोड़े। इतने में कर्ण ने दूसरा धनुष ले लिया और भीम पर बाणों की वर्षा शुरू कर दी किन्तु भीम ने फिर उसका धनुष काट दिया।

कर्ण की यह हालत देख दुर्योधन ने अपने भाई दुर्जय को बुलाकर कहा, "मालूम होता है कि आज भीमसेन कर्ण की जान लेकर ही छोड़ेगा। तुम अभी जाकर भीम का मुकाबला करो और कर्ण की रक्षा करो।"

भाई की आज्ञा मानकर दुर्जय भीमसेन का सामना करने लगा। यह देख भीम बड़ा क्रोधित हुआ और बाणों से दुर्जय, उसके सारथी और घोड़ों को एक साथ मौत के घाट उतार दिया। दुर्जय आहत होकर भूमि पर गिर पड़ा और चोट खाये सांप की तरह तड़पने-लोटने लगा। यह देख कर्ण से न रहा गया। उसकी आंखों से आंसू उमड़ पड़े और सिसकियां बंध गईं। वह दुर्जय के तड़पते हुए शरीर की प्रदक्षिणा करने लगा। लेकिन भीम ने तो अपना युद्ध जारी रखा और कर्ण पर लगातार बाणों की वर्षा करके उसे बहुत ही परेशान कर दिया।

रथ के टूट जाने पर कर्ण एक और रथ पर सवार हुआ और भीम से फिर भिड़ पड़ा। कर्ण के चलाये बाणों ने भीमसेन को बड़ी पीड़ा पहुंचाई। भीमसेन मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया और कर्ण पर जोरों से गदा चलाई। उसके प्रहार से कर्ण के रथ, घोड़े और सारथी वहीं ढेर हो गए। ध्वजा टूट गई। वह रथ से उतर पड़ा और पैदल ही लड़ने लगा।

दुर्योधन को जब इस बात का पता लगा तो उसने अपने दूसरे भाई दुर्मुख को आज्ञा दी कि राधेय का रथ भीम ने बेकार कर दिया है सो तुम अभी जाकर उसे अपने रथ पर बिठा लाओ। दुर्मुख दुर्योधन की आज्ञा मानकर कर्ण के पास अपना रथ ले गया। धृतराष्ट्र के एक और बेटे को सामने आता देखकर भीमसेन का पुराना वैर जाग उठा। उसने सोचा कि आज धृतराष्ट्र का एक और बेटा यमपुर सिधारेगा और उसने दुर्मुख के सात बाण मारे। कर्ण दुर्मुख के रथ पर चढ़ ही रहा था कि इतने में भीमसेन के बाणों ने दुर्मुख का कवच फाड़ डाला और दुर्मुख मृत होकर रथ से गिर पड़ा। खून से लथपथ हुई दुर्मुख की लाश देखकर कर्ण की आंखें फिर डबडबा आईं। एक मुहूर्त तक उसीको एकटक देखता हुआ वह खड़ा रहा। किन्तु भीम तब भी न रुका। उसने कर्ण पर कई पैने बाण छोड़े। कर्ण का कवच टूट गया। उससे उसे बड़ी पीड़ा होने लगी। ऐसी हालत में उसने भीमसेन पर बाणों का चलाना फिर शुरू कर दिया। उससे भीम के शरीर पर कई घाव हो गये। उससे उसे पीड़ा तो बहुत हुई, पर उसने वह पीड़ा सह ली और कर्ण पर बराबर भयानक बाण-वर्षा जारी रखी। उधर कर्ण को एक तो घावों के कारण सख्त पीड़ा हो रही थी, दूसरे दुर्योधन के भाइयों को अपनी खातिर प्राणों की बलि चढ़ाते देखकर उसका हृदय व्यथा के मारे तड़प रहा था। यह विषम वेदना उससे सही न जा सकी। तब हारकर वह मैदान से हट गया।

उस समय भीमसेन का घावों से भरा शरीर धधकती हुई आग-सा प्रतीत हो रहा था। कर्ण को मैदान से हटते देखकर वह सिंहनाद करके जीत की खुशी मनाने लगा। यह सुनकर अभिमानी कर्ण का स्वाभिमान जाग उठा। वह जाते-जाते रुक गया। उसने लड़ाई से हटने का विचार छोड़ दिया और फिर मैदान में आ डटा।

: ८७ :

कुन्ती को दिया वचन

संजय से जब धृतराष्ट्र ने सुना कि दुर्मुख और दुर्जय मारे गये तो

उनसे न रहा गया । वह बोले—

"दुर्योधन ने यह कैसा अनर्थ किया कि दुर्मुख और दुर्जय को युद्ध की आग में झोंककर मरवा डाला । यही मूर्ख दुर्योधन कहा करता था कि 'सारे संसार में मैंने एक भी वीर नहीं देखा जो वीरता में कर्ण की बराबरी कर सके । वह कर्ण जब मेरा साथी है तो देवता भी मुझे परास्त नहीं कर सकते । फिर इन पांडवों की बात ही क्या है ? इस तरह इस मूर्ख दुर्योधन ने आशा में अपना महल खड़ा किया था । पर भीमसेन के आगे कर्ण टिक न सका और युद्ध से भाग खड़ा हुआ । उससे कुछ करते न बना । वह करता भी क्या ? वायुपुत्र तो वीरता और बल में यमराज के समान ही है । ऐसे महाबली से दुष्ट दुर्योधन ने वैर मोल लिया है । अब बचने की कोई आशा ही नहीं रही ।"

धृतराष्ट्र का यह विलाप सुनकर संजय झल्ला उठा । बोला—"राजन्, दुर्योधन तो नासमझ था ही । लेकिन पांडवों से वैर मोल लेने में तो आप भी शामिल थे । नासमझ बेटे की बातें मानकर आपने ही तो इस सारे अनर्थ का बीज बोया । आप ही तो इसकी जड़ हैं । भीष्म जैसे महात्माओं की बात आपने ठुकरा दी । अब उसीका परिणाम भोग रहे हैं । किया सब आपने और निन्दा अपने बेटे की कर रहे हैं । वह तो अपने प्राण हथेली पर लेकर लड़ ही रहा है । अब पछताने से क्या होता है ?"

यह कह संजय आगे का हाल सुनाने लगा ।

●

भीमसेन के हाथों कर्ण को हारते देखकर दुर्मद, दुःसह, दुर्द्धर्ष, आदि धृतराष्ट्र के पांच बेटे भीमसेन पर टूट पड़े । उनके आने से कर्ण का साहस भी बँध गया । उसने भीमसेन पर कई तीखे बाण चलाये । पहले तो भीससेन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों की ओर ध्यान न दिया और कर्ण के ही पीछे लगा रहा; पर उन पांचों ने कर्ण को चारों तरफ से घेरकर अपने बचाव में ले लिया और भीमसेन पर बाणों की मार करते रहे । इसपर भीमसेन को गुस्सा चढ़ आया, उसने धृतराष्ट्र के उन पांचों पुत्रों को यमपुर पहुंचा दिया । पांचों जवान राजकुमार, अपने

सारथियों और घोड़ों के साथ युद्ध के मैदान में मृत होकर ऐसे गिर पड़े जैसे आंधी आने पर जंगल में रंग-बिरंगे फूलोंवाले सुन्दर पेड़ उखड़कर गिर पड़ते हैं ।

दुर्योधन के और पांचों भाइयों को इस तरह मारा गया देखकर कर्ण बड़े जोश में आ गया और बड़ी उग्रता के साथ लड़ने लगा । भीमसेन भी कर्ण से हुए अपने पुराने कष्टों को याद करके बहुत उत्तेजित हो उठा और कर्ण पर पैने बाणों की बौछार करने लगा । कर्ण का धनुष कट गया । घोड़े और सारथी मारे गये । कर्ण रथ-विहीन हो गया । तब वह रथ से कूद पड़ा और भीमसेन पर गदा-प्रहार किया । भीम ने बाण चलाकर गदा को रोक दिया और कर्ण पर बाणों की बौछार जारी रखी । कर्ण को फिर हार खानी पड़ी और वह पीठ दिखाकर मैदान से हट गया ।

इसपर दुर्योधन को असह्य शोक हुआ । उसने अपने सात भाइयों चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन, चित्रायुध, और चित्रवर्म को कर्ण की सहायता करने को भेजा । सातों भीम से जा भिड़े और विलक्षण रण-कुशलता का परिचय दिया । फिर भी भीमसेन के आगे भला वे बालक कब टिक सकते थे ? एक-एक करके सातों भाई सदा की नींद में सो गये ।

यह देख कर्ण की आंखों में आंसू उमड़ आये और उसके क्रोध का ठिकाना न रहा । एक अन्य रथ पर सवार होकर काल की भांति भीमसेन पर भयानक आक्रमण करने लगा । भीम और कर्ण दोनों वीर ऐसे दीख पड़े जैसे दो गरजते व चमकते हुए बादल हों । भीमसेन का पराक्रम देखकर अर्जुन, श्रीकृष्ण और सात्यकि—तीनों पांडव वीर बहुत प्रसन्न हुए । यहां तक कि भूरिश्रवा, कृप, अश्वत्थामा, शल्य, जयद्रथ आदि वीर भी भीमसेन की अद्भुत रण-कुशलता की प्रशंसा करने लगे ।

दुर्योधन को यह बिल्कुल पसन्द न आया । वह अपने पक्ष के लोगों का भीमसेन की तारीफ करना न सह सका । कर्ण की हालत पर उसे बड़ा दुःख हुआ । उसने अपने सात और भाइयों को यह आज्ञा देकर भेजा कि जाकर भीमसेन को घेर लो और उसपर जोरों से वार करो । ऐसा

न हो कि भीमसेन के बाण कर्ण के प्राण ले लें। दुर्योधन की आज्ञा मानकर शत्रुजय, शत्रुहंस, चित्र, चित्रायुध, दृढ़, चित्रसेन और विकर्ण—इन सातों भाइयों ने जाकर भीम को घेर लिया और एक साथ बाण बरसाकर उसे खूब परेशान किया।

पर भीमसेन ने उन सातों भाइयों को थोड़ी ही देर में मार गिराया।

विकर्ण अपनी न्यायप्रियता के कारण सबका प्यारा था। इसकारण जब विकर्ण भी मरकर गिर पड़ा, तो भीमसेन बहुत उदास हो गया। व्यथित होकर बोला—

"धर्म एवं न्याय के ज्ञाता विकर्ण! क्षत्रियोचित कर्त्तव्य का पालन करते हुए तुम भी लड़ाई में काम आ गये! तुम मारे गये! और वह भी मेरे हाथों। यह युद्ध भी कैसा कठोर है जिसमें तुम्हें और पितामह भीष्म को भी मारना हमारे लिए आवश्यक हो गया।"

इस प्रकार एक-एक करके दुर्योधन के भाइयों को अपनी खातिर प्राणों की आहुति देते देखकर कर्ण के संताप की सीमा न रही। शोकातुर होकर वह रथ पर गिर पड़ा और दोनोंआखें बन्द कर लीं। उसे बेहोशी सी आ गई; पर थोड़ी देर बाद वह फिर सँभला और जी कड़ा करके फिर से लड़ाई में जुट गया।

भीम ने फिर बाण चलाकर कर्ण का धनुष काट डाला। जैसे ही कर्ण ने दूसरा धनुष लिया, भीम ने उसे भी काटकर गिरा दिया। इस प्रकार कर्ण के अठारह धनुष कट गये। इसपर कर्ण की सतर्कता और शांति जाती रही। भीम की ही भांति वह उत्तेजित हो उठा। दोनों एक-दूसरे पर भयानक वारकरने लगे। लड़ते-लड़ते भीमसेन ने बड़े जोर से सिंहनाद किया। दूरी पर दूसरी ओर द्रोणाचार्य से लड़ते हुए युधिष्ठिर ने जब भीम की यह गर्जना सुनी, तो वह भी उत्साहित हो उठे और द्रोण पर जोरों का हमला कर दिया।

उधर कर्ण और भीम के युद्ध में इस बार भीमसेन के रथ के घोड़े मारे गये। सारथी भी कटकर गिर पड़ा। रथ टूट-फूट गया और धनुष भी कट गया। इसपर भीम ने कर्ण के रथ पर शक्ति अस्त्र चलाया। उसे कर्ण ने बाणों से काट गिराया। भीम ने ढाल-तलवार ले ली और जान झोंक-

कर लड़ने लगा। पलक मारते-मारते कर्ण ने उसकी ढाल के भी टुकड़े कर दिये। जब ढाल भी न रही तो भीम ने तलवार घुमाकर जोर से कर्ण पर फेंक मारी। तलवार से कर्ण का धनुष कट गया तो कर्ण ने दूसरा धनुष ले लिया और बड़ी चतुराई के साथ बाणों का प्रयोग किया और भीम को खूब परेशान किया। इससे भीम बहुत ही पीड़ित हुआ। उसे असीम क्रोध आया। वह उछलकर कर्ण के रथ पर जा कूदा। कर्ण ने रथ के ध्वज-स्तंभ की आड़ लेकर भीमसेन की झपट से अपनेको बचा लिया। तब भीम नीचे जमीन पर कूद पड़ा और मरे हाथियों के ढेर में घुसकर अपना बचाव कर लिया। हाथियों के ढेर की ओट में से भीमसेन विलक्षण युद्ध करने लगा। मैदान में जो रथ के पहिये, घोड़े, हाथी आदि पड़े थे, उन्हींको उठा-उठाकर कर्ण पर फेंकता गया, जिससे उसे क्षण-भर भी आराम न मिल पाया।

उस समय कर्ण चाहता तो वह भीम को आसानी से मार सकता था; पर निहत्थे भीम को उसने मारना नहीं चाहा। फिर माता कुन्ती को दिया वचन उसे याद था कि वह अर्जुन के सिवा और किसीको युद्ध में न मारेगा।

शांत रहकर भीम को चिढ़ाते हुए वह बोला—"अरे मूर्ख पेटू! लड़ाई के बारे में तुम क्या जानो? वन के कन्द-मूल और धूल खाना तुम्हें खूब आता है। पर क्षत्रियोचित ढंग से युद्ध करना तुम्हारा काम नहीं। इसलिए चलो, भागो यहां से!"

यह सुनकर भीमसेन आग-बबूला हो उठा।

"देखो! कर्ण के हाथों भीमसेन की बुरी गति हो रही है।"—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा।

सुनते ही अर्जुन ने अपनी अग्निमय दृष्टि कर्ण की तरफ फेरी। क्रोध के कारण उसकी आंखें ऐसी प्रज्वलित हो रहीं थीं, मानो कर्ण को जलाकर ही छोड़ेंगी। अर्जुन ने गांडीव तानकर बाण चढ़ाये। अर्जुन के बाण सनसनाते हुए कर्ण पर बरस पड़े और अन्त में लाचार होकर कर्ण को युद्ध-क्षेत्र से हट जाना पड़ा।

: ८८ :

भूरिश्रवा का वध

"अर्जुन ! देखो, वह तुम्हारा शिष्य और मित्र सात्यकि शत्रुओं की सेना तितर-बितर करता हुआ आ रहा है।"—रथ चलाते-चलाते श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा।

"माधव ! युधिष्ठिर को छोड़कर सात्यकि का यहां चला आना मुझे ठीक नहीं जँचता। द्रोण तो उधर मौके की ताक में ही हैं। युधिष्ठिर की रक्षा का भार हमने सात्यकि को सौंपा था। उनकी रक्षा करने के बजाय उसे इस तरह यहां नहीं चले आना चाहिए था। अभी तक जयद्रथ का भी वध नहीं हो पाया है। और उधर देखिये, भूरिश्रवा सात्यकि से भिड़ गया है। ऐसे समय धर्मराज ने सात्यकि को यहां भेजकर भारी भूल की।"—अर्जुन ने चिन्तित भाव से कहा।

श्रीकृष्ण को जन्म देने के लिए देवकी का अवतार हुआ था। देवकी के स्वयंवर के अवसर पर सोमदत्त और शिनि इन दो राजाओं में भारी युद्ध हुआ। वसुदेव की तरफ से शिनि ने सोमदत्त से लड़कर उसको परास्त कर दिया और देवकी को अपने रथ पर बिठाकर ले गये। उस दिन से लेकर शिनि और सोमदत्त में खानदानी वैर हो गया था। यहांतक कि दोनों खानदानवाले सदा एक-दूसरे के प्राणों के प्यासे रहते थे।

सात्यकि शिनि का पोता था और भूरिश्रवा सोमदत्त का पुत्र था। इस कारण, सात्यकि को देखते ही भूरिश्रवा ने उसे युद्ध के लिए ललकारा और बोला—

"शूरता के दर्प में भूले हुए सात्यकि ! देखो, अभी तुम्हारी खबर लेता हूं। चिरकाल से तुमसे युद्ध करने की चाह मेरे मन में समाई हुई थी। आज तुम मेरे सामने पड़े हो। अब मेरी इच्छा पूरी होगी। राजा दशरथ के पुत्र लक्ष्मण के हाथों इन्द्रजीत का जैसे वध हुआ, वैसे ही आज मेरे हाथों तुम्हारा वध होने वाला है। मृत्यु तुम्हारी बाट जोह रही है। जिन वीरों को तुमने मारा था उनकी विधवाएं आज प्रसन्न होंगी। चलो तो

फिर लड़ ही लें।"

यह सुन सात्यकि हँसा और बोला—"निरर्थक बातें बनाने से क्या फायदा ? जिसे लड़ने से डर हो, उसे इस तरह का हौआ दिखाया जा सकता है। तुम व्यर्थ की बातें बनाना छोड़ो। युद्ध करके ही अपनी शूरता का परिचय दो। शरत्काल के मेघों की भांति केवल गरजना शूरों को विचलित नहीं करता।"

इस कहा-सुनी के बाद युद्ध शुरू हो गया और दोनों वीर एक-दूसरे पर शेरों की भांति टूट पड़े।

लड़ते-लड़ते सात्यकि और भूरिश्रवा के घोड़े मारे गये। धनुष कट गए और रथ भी बेकार हो गये। इसके बाद दोनों वीर जमीन पर खड़े ढाल-तलवार लेकर एक-दूसरे पर भयानक वार करने लगे। दोनों ने अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया। वे दोनों एक-दूसरे से बढ़कर थे। इसलिए एक मुहूर्त्त तक दोनों में खड्ग-युद्ध होता रहा। बाद में दोनों की ढालें कट गईं। इसपर दोनों ने ढाल-तलवार फेंक दी और कुश्ती लड़ने लगे।

दोनों वीर एक-दूसरे से छाती भिड़ाते और गिर पड़ते। एक-दूसरे को कसकर पकड़ लेते और जमीन पर लोटने लगते। फिर अचानक उछल-कर उठ खड़े होते और दुबारा एक-दूसरे को धक्का देकर गिरा देते। इसी तरह दोनों जन्म के वैरी बहुत देर तक समान युद्ध करते रहे।

उधर अर्जुन सिन्धुराज जयद्रथ के साथ युद्ध कर रहा था और उसका वध करने के मौके की तलाश में था।

"अर्जुन, सात्यकि बहुत थका-सा मालूम होता है। जान पड़ता है भूरिश्रवा सात्यकि को खत्म करके ही छोड़ेगा।"—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा। पर अर्जुन तो जयद्रथ से ही लड़ने में दत्त-चित्त था।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से दुबारा आग्रह करके कहा—"देखो, भूरिश्रवा ने जब सात्यकि को युद्ध के लिए ललकारा, तभी वह कौरव सेना से लड़ते रहने के कारण थका हुआ था। इसलिए यह बराबरी का युद्ध नहीं है। पहले तुम्हें सात्यकि की सहायता के लिए जाना चाहिए। नहीं तो वह भूरिश्रवा के हाथों मारा जाता दीखता है।"

श्रीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में भूरिश्रवा ने सात्यकि

को ऊपर उठाया और जमीन पर जोर से दे पटका। कौरव सेना जोरों से कोलाहल कर उठी—"सात्यकि मारा गया !"

"अर्जुन, देखो ! वृष्णि-कुल का सबसे प्रतापी वीर सात्यकि जमीन पर असहाय-सा पड़ा हुआ है। जो तुम्हारे प्राण बचाने व तुम्हारी सहायता करने आया था, उसीकी तुम्हारे सामने हत्या हो रही है। तुम्हारे देखते-ही-देखते, तुम्हारा मित्र अपने प्राण गंवानेवाला है।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक बार फिर आग्रह करके कहा।

अर्जुन ने देखा कि मैदान में मृत-से पड़े सात्यकि को भूरिश्रवा उसी तरह घसीट रहा है, जैसे सिंह हाथी को घसीट रहा हो। यह देख अर्जुन भारी असमंजस में पड़ गया। उसे कुछ सूझ न पड़ा कि क्या किया जाय।

वह श्रीकृष्ण से बोला—"कृष्ण, भूरिश्रवा मुझसे लड़ नहीं रहा है। दूसरे के साथ लड़नेवाले पर मैं कैसे बाण चलाऊं ? मेरा मन नहीं मानता। परन्तु साथ ही जब मेरी खातिर सात्यकि प्राण गंवा रहा हो तब अपनी ही धुन में लड़ते रहना भी मुझसे नहीं होता।"

अर्जुन इस प्रकार श्रीकृष्ण से बातें कर ही रहा था कि इतने में जयद्रथ के चलाये बाणों के समूह आकाश में छा गये। इसपर अर्जुन ने बातें करते-ही-करते जयद्रथ पर बाणों की बौछार जारी रखी। साथ-ही साथ संकट में पड़े हुए सात्यकि की तरफ भी बार-बार देखता और खिन्न हो उठता था।

"पार्थ ! कई वीरों से युद्ध करने के कारण थका हुआ सात्यकि अब निहत्था और निःसहाय होकर भूरिश्रवा के हाथों में बुरी तरह फंसा हुआ है। तुमको इस प्रकार तटस्थ नहीं रहना चाहिए।"—श्रीकृष्ण ने कहा।

ज्योंही अर्जुन ने सात्यकि की ओर मुड़कर देखा तो पाया कि सात्यकि जमीन पर पड़ा था और भूरिश्रवा उसके शरीर को एक पांव से दबाकर और दाहिने हाथ में तलवार लेकर उसपर वार करने को उद्यत ही था। यह देख अर्जुन से न रहा गया। उसने उसी क्षण भूरिश्रवा पर तानकर बाण चलाया। बाण लगते ही भूरिश्रवा का दाहिना हाथ कटकर तलवार समेत दूर जमीन पर जा गिरा।

हाथ कटे हुए भूरिश्रवा ने पीछे मुड़कर देखा तो क्रुद्ध होकर बोला—

"अरे कुन्ती-पुत्र ! मुझे तुमसे इसकी आशा नहीं थी कि ऐसा अवीरोचित काम करोगे। जब मैं दूसरे से लड़ रहा था और तुम्हारी तरफ देख भी नहीं रहा था, तब तुमने पीछे से मुझपर बाण चलाकर हमला क्यों किया ? तुम्हारे इस काम से इस बात का सबूत मिलता है कि आदमी पर संगति का असर पड़े बिना नहीं रह सकता। अर्जुन ! जब भाई युधिष्ठिर तुमसे पूछेंगे कि तुमने जब वार किया, तब भूरिश्रवा क्या कर रहा था, तब क्या उत्तर दोगे ? अरे, ऐसा अधार्मिक और अन्यायपूर्ण युद्ध करना तुम्हें किसने सिखाया ? पिता इन्द्र ने या आचार्य द्रोण ने या कृप ने ? वह कौन-सा धर्म था जिसके अनुसार तुमने एक ऐसे व्यक्ति पर बाण चलाया जो न तो तुमसे लड़ रहा था, न तुम्हारी तरफ देख ही रहा था ? नीच लोगों के योग्य इस निकृष्ट कार्य को करके तुमने सुयश पर धब्बा लगा लिया है। मैं जानता हूं कि तुम स्वयं अपनी इच्छा से ऐसा काम करने पर उतारू नहीं हो सकते। जरूर कृष्ण ने इसके लिए तुमको उकसाया होगा। पर तुम तो क्षत्रिय हो ! वीर हो ! यह कृत्य तो तुम्हारे स्वभाव के विरुद्ध था ? दूसरे से लड़नेवाले पर हथियार चलाना क्षत्रियोचित काम नहीं है। इसलिए दुष्ट कृष्ण की सलाह से तुमने ऐसा अधर्म क्यों किया ?"

अपना हाथ कट जाने पर जब भूरिश्रवा ने इस प्रकार कृष्ण की निंदा की तो अर्जुन बोला—

"वृद्ध भूरिश्रवा ! जवानी के साथ-साथ बुद्धि भी तो नहीं खो बैठे हो ! युद्ध-धर्म का जब तुम्हें पूरा ज्ञान है, तो फिर मुझे और श्रीकृष्ण को क्यों धिक्कार रहे हो ? सात्यकि मेरा मित्र था। मेरे लिए अपने प्राणों को हथेली पर रखकर यहां लड़ रहा था। तुमने मेरे दाहिने हाथ के समान प्रिय मित्र सात्यकि का वध करने की कोशिश की और वह भी उस समय, जबकि वह घायल और अचेत-सा होकर जमीन पर पड़ा हुआ था और कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता था। यह मैं खड़े-खड़े कैसे देख सकता था ? यदि मैं उसकी सहायता न करता तो मुझे नरक ही प्राप्त होता। तुम कहते हो श्रीकृष्ण की संगति के कारण मैं भले से बुरा बन गया। तो संसार में ऐसा कोई है, जो इस तरह बुरा बनना नहीं चाहता

हो ? मतिभ्रम हो जाने के कारण ही तुम ऐसी बकवास कर रहे हो। अनेक महारथियों के साथ अकेले लड़कर जब सात्यकि बिलकुल थका हुआ था, तब तुमने लड़कर उसे परास्त कर दिया, यह तो ठीक था। पर जब वह परास्त होकर जमीन पर निःशस्त्र पड़ा हुआ था, तब उस अवस्था में तुमने उसे तलवार से मारना चाहा, क्या यह धर्म था ? जिसके हथियार टूट चुके थे, कवच नष्ट हो चुका था और जो इतना थका हुआ था कि जिसके लिए खड़ा रहना भी दूभर था, ऐसे मेरे कोमल बालक अभिमन्यु का वध होने पर तुम सभी लोगों ने विजयोत्सव मनाया था। तुम्हीं बताओ कि ऐसा करना किस धर्म के अनुसार उचित था ?"

अर्जुन के इस प्रकार मुंहतोड़ जवाब देने पर भूरिश्रवा चुपके से सात्यकि को छोड़ हट गया और अपने बायें हाथ से युद्ध के मैदान में शरों को फैलाकर और आसन जमाकर बैठ गया। उसने परमात्मा का ध्यान करके वहीं प्रायोपवेशन—आमरण अनशन—शुरू कर दिया। यह देख सारी कौरव सेना भूरिश्रवा की प्रशंसा करने लगी और अर्जुन और कृष्ण की निन्दा करने लगी।

यह सब देखकर अर्जुन बोला—"वीरो! तुम सब मेरी प्रतिज्ञा जानते हो। मेरे बाणों की पहुंच तक अपने किसी भी मित्र या साथी का शत्रु के हाथों वध न होने देने का प्रण मैंने कर रखा है। इसलिए सात्यकि की करना मेरा धर्म था। किसी का धर्म जाने बिना उसकी निन्दा करना उचित नहीं।"

उसके बाद अर्जुन भूरिश्रवा से बोला—पुरुष-श्रेष्ठ ! आश्रितों का भय दूर करके उनको शरण देनेवाले वीर ! तुमने कुकर्म का यह फल पाया है। इसके लिए मेरी निन्दा करना व्यर्थ है। निन्दा तो हम सबको क्षत्रिय-धर्म की करनी चाहिए जो इन सभी अनर्थों की जड़ है।"

अर्जुन की यह बातें सुनकर भूरिश्रवा ने भी शांति से सिर नवाया और जमीन पर टेक दिया।

इन बातों में कोई दो घड़ी का समय बीत गया था। सात्यकि की भी थकान मिट चुकी थी और वह तरोताजा हो गया था। भूरिश्रवा के हाथों हुए अपमान के कारण क्रोध से वह अंधा हो गया था। उसने अब

देखा न ताव, तलवार लेकर भूरिश्रवा की ओर, जो आंखें बन्द किये और आसन जमाये ध्यान में लीन बैठा था, झपटा। सात्यकि को झपटता देख सारी कौरव सेना में हाहाकार मच गया। अर्जुन और श्रीकृष्ण चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि 'ऐसा न करो, ऐसा न करो !' सब लोगों के मना करते हुए भी सात्यकि ने भूरिश्रवा का सिर धड़ से अलग कर दिया। वृद्ध भूरिश्रवा स्वर्ग सिधार गया।

•

सिद्धों और देवताओं ने भूरिश्रवा का यश गाया। सात्यकि के कार्य को सबने निकृष्ट कहकर धिक्कारा। सबके मन में भूरिश्रवा की मृत्यु के कारण उदासी छा गई। सात्यकि के निन्द्य कर्म पर सबको असीम घृणा हुई।

सात्यकि ने कहा—"भूरिश्रवा मेरा खानदानी शत्रु था और जब मैं युद्ध के मैदान में अधमरा पड़ा था, तब उसने मेरी हत्या करने की कोशिश की थी। इसलिए मैंने जो उसका वध किया, वह उचित था।" पर उसका यह समाधान किसी को ठीक नहीं जंचा। लड़ाई के मैदान में जिस ढंग से भूरिश्रवा का वध हुआ, उसे किसी ने भी उचित नहीं माना।

भूरिश्रवा के वध की कहानी, महाभारत की उन कहानियों में से है जिसमें दुविधात्मक समस्याएं हल होती हैं। जहां ईर्ष्या-द्वेष का बोल-बाला हो, वहां धर्म और अनुशासन नाममात्र के लिए भी नहीं रहते।

: ८९ :

जयद्रथ-वध

"कर्ण ! आज हमारा भाग्य-निर्णय होनेवाला है।" दुर्योधन ने कहा, "और आज वह अवसर हाथ आया है, जिससे मेरे भाग्य के चमकने की सम्भावना है। आज यदि अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी न हो पाई तो निश्चय ही वह लज्जा के मारे आत्मघात कर लेगा। अर्जुन के मर जाने पर पांडवों का नाश भी निश्चित है। फिर तो सारा राज्य हमारे ही अधीन हो जायगा। उसके बाद कोई हमारे सामने सिर नहीं उठा सकेगा। मूर्खता और भ्रम के वश होकर अर्जुन ने यह प्रतिज्ञा करके अपने ही सर्वनाश का

आयोजन कर लिया है। यह तो मेरे भाग्योदय की ही सूचना है ! ऐसे अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिए। हमें कोई-न-कोई प्रयत्न करके अर्जुन की प्रतिज्ञा झूठी कर देनी चाहिए । आज तुम्हें अपनी रण-कुशलता का पूरा-पूरा परिचय देना होगा। आज तुम्हारी परीक्षा का दिन है। अब सूरज अस्त हुआ ही चाहता है। थोड़ी देर रह गई है। सूर्यास्त तक अर्जुन जयद्रथ के पास पहुंच नहीं सकेगा। कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शल्य, तुम और मैं सभी साथ-साथ और हर तरह से सतर्क रहकर जयद्रथ की रक्षा करते रहें तो अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी होने ही नहीं पायेगी।"

यह सुन कर्ण बोला—"राजन् ! भीमसेन के साथ युद्ध करते-करते मैं बहुत थक गया हूं। मेरा सारा शरीर घावों से भर गया है। शरीर की स्फूर्ति कम हो गई है। फिर भी तुम्हारे उद्देश्य की पूर्ति में यथासंभव पूरा हाथ बटाऊंगा। मैं तुम्हारी ही खातिर जी रहा हूं।"

युद्ध-स्थल में जिस समय कर्ण और दुर्योधन में ये बातें हो रही थीं, उसी समय दूसरी तरफ अर्जुन कौरव सेना में प्रलय-सा मचा रहा था। अर्जुन की इच्छा यह थी कि किसी तरह कौरव सेना को तोड़-फोड़कर अन्दर प्रवेश करके सूर्यास्त होने से पहले जयद्रथ के निकट पहुंचकर उसका काम तमाम किया जाय।

इतने में श्रीकृष्ण ने एकाएक अपना पांचजन्य शंख जोरों से बजाया। सुनते ही उनका सारथी दारुक एक रथ लेकर आ पहुंचा। सात्यकि लपक-कर उसपर सवार हुआ। वह कर्ण पर टूट पड़ा और दोनों में बड़ी कुश-लता और तत्परता से युद्ध होने लगा।

दारुक ने रथ चलाने में बड़ा कौशल दिखाया और सात्यकि ने धनुष चलाने में। दोनों का रण-कौशल देखने को देवता आकाश में इकट्ठे हो गये। कर्ण के चारों घोड़े और सारथी मारे गये। उसके रथ की ध्वजा कटकर गिर पड़ी। पल-भर में रथ भी चूर हो गया। इसपर कर्ण दुर्यो-धन के रथ पर चढ़कर युद्ध करने लगा।

इस युद्ध का वर्णन धृतराष्ट्र को सुनाते हुए संजय ने कहा—"इस संसार में श्रीकृष्ण, अर्जुन और सात्यकि के समान धनुर्धारी और कोई नहीं है।"

उधर कौरव सेना को तितर-बितर करता हुआ अर्जुन जयद्रथ के

पास आखिर पहुंच ही गया। उस समय के अर्जुन के रौद्ररूप का वर्णन नहीं हो सकता था। वह अपने पुत्र अभिमन्यु की हत्या और पिछली सारी मुसीबतों को याद करके क्रोध से आग की भांति प्रज्वलित हो उठा। उस समय वह दोनों हाथों से गांडीव धनुष का प्रयोग कर रहा था। कौरव-सेना इससे भयाकुल हो उठी। उस समय वह कौरव सेना को महाकाल के समान भयानक प्रतीत होने लगा।

जयद्रथ की रक्षा करनेवाले सभी महारथियों को हराकर अर्जुन एकदम जयद्रथ के पास पहुंच गया और उसपर टूट पड़ा। पर जयद्रथ भी कोई साधारण वीर नहीं था। वह सुविख्यात योद्धा था। डटकर लड़ने लगा। उसे हराना अर्जुन के लिए भी सुगम न था। बड़ी देर तक युद्ध होता रहा दोनों पक्षों के वीर सूर्य की ओर बार बार देखने लगे। धीरे-धीरे पश्चिम में लालिमा छाने लगी और सूर्यास्त का समय भी नजदीक आने लगा; परन्तु जयद्रथ और अर्जुन का युद्ध समाप्त होने के कोई लक्षण नजर नहीं आते थे।

यह देख दुर्योधन के मन में आनन्द की लहरें उठने लगीं। उसने सोचा कि अब जरा सी ही देर और है। जयद्रथ तो बच ही गया और अर्जुन की प्रतिज्ञा विफल हुई ही सी है।

दुर्योधन यह सोचकर खुश हो रहा था कि इतने में अँधेरा सा छा गया। सूर्यास्त हो गया। पांडवों की सेना में उदासी छा गई। सब आपस में कानाफूसी करने लगे, "जयद्रथ मारा नहीं गया ! सूर्यास्त हो गया। अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी। ! अब क्या होगा ?"

उधर कौरव सेना में खुशी की लहरें फैल गईं और सैनिक जहां-तहां शोर मचाने लगे।

जयद्रथ ने भी पश्चिम की ओर देखते हुए मन में कहा—"चलो, प्राण बचे !"

इसी बीच श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"अर्जुन ! जयद्रथ सूर्य की तरफ देखने में लगा है और मन में समझ रहा है कि सूर्य डूब गया। परन्तु अभी तो सूर्य डूबा नहीं है। यह अन्धकार मेरा ही फैलाया हुआ है। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का तुम्हारे लिए यही अवसर है !"

श्रीकृष्ण के ये वचन अर्जुन के कान में पड़े ही थे कि अर्जुन के गांडीव से एक तेज बाण छूटा और जयद्रथ के सिर को ऐसा उड़ा ले गया जैसे चील मुर्गी के बच्चे को उड़ा ले जाती है। पर श्रीकृष्ण ने समय पर ही एक और चेतावनी अर्जुन को दे दी थी—

"अर्जुन ! जयद्रथ के सिर को जमीन पर न गिरने देना। बाण इस तरह मारना कि उसके सहारे ही वह आकाश-मार्ग से जाकर उसके पिता वृद्धक्षत्र की गोद में जा गिरे। जयद्रथ को मिले वरदान की बात तुमको याद ही होगी कि जिसके हाथों इसका सिर पृथ्वी पर गिरेगा उसके सिर के सौ टुकड़े हो जायंगे।"

अर्जुन ने ऐसा ही किया। जयद्रथ के पिता राजा वृद्धक्षत्र अपने आश्रम में बैठे संध्या कर रहे थे। इतने में काले-काले केश और सोने के कुंडलों वाला जयद्रथ का सिर ध्यानमग्न राजा की गोद में जा गिरा। ध्यान समाप्त होने पर जब वृद्धक्षत्र की आँखें खुली और वह उठे तो जयद्रथ का सिर उनकी गोद से जमीन पर गिर पड़ा और उसी क्षण बूढ़े वृद्धक्षत्र के सिर के भी सौ टुकड़े हो गये। जयद्रथ और उसके वृद्ध पिता दोनों ही एक साथ वीरोचित स्वर्ग को सिधारे।

●

श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम और सात्यकि ने अपने-अपने शंख बजाकर विजय-घोष किया। पांडव सेना के दूसरे वीरों ने भी शंख बजाये। यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने जान लिया कि अर्जुन के हाथों जयद्रथ का वध हो गया और उन सबके आनन्द की सीमा न रही।

इसके बाद तो युधिष्ठिर दूने उत्साह के साथ सारी पांडव सेना को लेकर आचार्य द्रोण पर टूट पड़े। चौदहवें दिन का युद्ध केवल सूर्यास्त तक ही नहीं हुआ बल्कि रात को भी होता रहा। ज्यों-ज्यों युद्ध का जोश बढ़ता गया, त्यों त्यों विधि-निषेध की सीमाएँ एक-एक करके टूटती गईं यहां तक कि अन्त में अधर्म का बोलबाला हो गया।

: ९० :

आचार्य द्रोण का अंत

महाभारत-कथा के पाठक जानते हैं कि घटोत्कच भीमसेन का हिडिंबा राक्षसी से उत्पन्न पुत्र था।

महाभारत के कथा-पात्रों में दो ही बालक ऐसे हैं जो वीरता, धीरता साहस, शक्ति, बल, शील, यश आदि सभी गुणों से युक्त और उज्ज्वल चरित्र के थे और वे थे अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु और भीमसेन का पुत्र घटोत्कच। दोनों ने ही पांडवों के पक्ष में अद्भुत वीरता के साथ युद्ध करके प्राणों का उत्सर्ग किया था।

महाभारत का आख्यान एक अद्भुत रचना है जिसमें मानव-जीवन के दुःख-दर्द का सार आ गया है। करुण रस से पूर्ण यह धार्मिक ग्रन्थ जीवन के दुःखों पर प्रकाश डालकर पाठकों को अजर-अमर सत्यरूप परमात्मा की ओर बढ़ने को प्रेरित करता है।

साधारण कहानियों व उपन्यासों का ढंग कुछ और ही होता है। वे या तो दुःखांत होते हैं या सुखांत। सुखांत कथाओं का नायक रोमांचकारी घटनाओं और मुसीबतों को पार करता हुआ, अन्त में अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है और अपनी मनचाही प्रेमिका से विवाह कर लेता है। पाठक का आकुल मन इससे प्रसन्न हो उठता है। दुःखांत कथाओं का ढंग ठीक इससे उलटा होता है, जिसमें प्रारम्भ में तो घटनाएं शुभ से शुभतर होती जाती हैं, परन्तु अन्त में भारी दुर्घटना के साथ यवनिका-पतन हो जाता है।

परन्तु रामायण और महाभारत-जैसी धार्मिक व प्राचीन रचनाओं की प्रणाली कुछ इस प्रकार की है कि जिससे पाठक का मन द्रवित हो जाता है। कभी वह आनन्द की तरंगों में बहता है तो कभी दुःख की आंधी उसे झंझोड़ देती है। मन की भावनाएं पल-पल बदलती जाती हैं और परिणाम में पाठक परमात्मा की शरण लेकर सुख-दुःख से ब्राह्मी-स्थिति को पहुंचने के लिए प्रेरित होता है।

दोनों तरफ ईर्ष्या-द्वेष एवं प्रतिहिंसा की जो आग भड़क रही थी, वह इतनी प्रबल हो उठी कि केवल दिन के समय लड़ने से ही उसको संतुष्ट नहीं किया जा सका। चौदहवें दिन, सूर्य के डूबने के बाद भी युद्ध जारी रखने के लिए मशालें जलाई गईं। रात का समय था। घटोत्कच और उसके साथियों ने भयानक माया-युद्ध शुरू कर दिया। रात के समय की उस लड़ाई का दृश्य अद्भुत था। वह एक ऐसी घटना थी जैसी भारत देश में पहले कभी नहीं हुई थी। हजारों मशालें जल रही थीं और दोनों ओर के वीर अपनी अपनी सेना को युद्ध के लिए उत्साहित कर रहे थे।

कर्ण और घटोत्कच में उस रात बड़ा भयानक युद्ध हुआ। घटोत्कच और उसकी पैशाची सेना ने बाणों की वह बौछार की कि जिससे दुर्योधन की सेना के झुण्ड के झुण्ड वीर मारे जाने लगे। प्रलय-सा मच गया। यह देखकर दुर्योधन का दिल कांपने लगा।

कौरव वीरों ने कर्ण से अनुरोध किया कि किसी भी तरह आज घटोत्कच का काम तमाम करना चाहिए। उन्होंने कहा, "कर्ण! आप इसी घड़ी इस राक्षस का वध कर दो! वरना हमारी सारी सेना तबाह हो जायगी। इसको शीघ्र ही मृत्युलोक पहुंचाओ।"

घटोत्कच ने कर्ण को भी इतनी पीड़ा पहुंचाई थी कि वह भी क्रोध में भरा हुआ था। कौरवों का अनुरोध सुनकर उसकी उत्तेजना और भी प्रबल हो उठी। वह आपे में न रहा और इंद्रदेव की दी हुई शक्ति का, जिसे उसने अर्जुन का वध करने के उद्देश्य से यत्नपूर्वक सुरक्षित रखा हुआ था, घटोत्कच पर प्रयोग कर दिया।

इससे अर्जुन का संकट तो टल गया पर भीमसेन का प्रिय एवं वीर पुत्र घटोत्कच मारा गया और उसकी लाश आकाश से जमीन पर धड़ाम से आ गिरी। पांडवों के दुःख की सीमा न रही।

इतने पर भी युद्ध बन्द नहीं हुआ। द्रोणाचार्य के धनुष से बाणों की ऐसी तीव्र बौछार हो रही थी जिससे पांडव सेना के असंख्य वीर गाजर-मूली की तरह कट कर गिर जाते थे। रहे-सहे पांडव सैनिक भी खेत रहे।

यह देख श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले—"अर्जुन! आज युद्ध में द्रोण को

परास्त करना किसी की शक्ति में नहीं है। जबतक इनके हाथों में शस्त्र है तबतक धार्मिक युद्ध लड़कर उनपर विजय नहीं पाई जा सकती। धर्म के विरुद्ध चलकर ही—कुछ कुचक्र रचकर ही—इनको परास्त करना होगा और आज अगर यह परास्त न हुए तो हमारा सर्वनाश कर देंगे। इसलिए किसी प्रकार द्रोण यह सुन लें कि अश्वत्थामा मारा गया, तो यह शोक में भरकर हथियार फेंक देंगे—युद्ध न करेंगे। इसलिए किसी को आचार्य के पास जाकर यह खबर पहुंचानी चाहिए कि अश्वत्थामा मारा गया।

यह सुनकर अर्जुन सन्न रह गया। इस प्रकार असत्य-मार्ग का अनुकरण करना उसे ठीक नहीं जंचा। उसने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। पांडव-पक्ष के दूसरे वीरों ने भी इसे नापसन्द किया। किसीका भी मन नहीं मानता था कि ऐसा अधर्म-कार्य करे। लेकिन युधिष्ठिर ने काफी सोच-विचार के बाद कहा कि यह पाप मैं अपने ही ऊपर लेता हूं।

अमृत की प्राप्ति के लिए जब समुद्र-मंथन हुआ तब देवताओं का संकट दूर करने के लिए भगवान् महादेव ने स्वयं विषपान किया था। आश्रित मित्र की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्र वानर-राजा बालि की अन्यायपूर्वक वध करके पाप का भार अपने ऊपर लिया था। ठीक इसी तरह युधिष्ठिर ने भी अपने सुयश पर पाप-कालिमा का इरादा कर लिया कि जिससे औरों का संकट दूर हो सके।

इस व्यवस्था के अनुसार भीम ने गदा-प्रहार से अश्वत्थामा नाम के एक भारी लड़ाकू हाथी को मार डाला। फिर द्रोण की सेना के पास जाकर जोर से चिल्लाने लगा—"मैंने अश्वत्थामा को मार डाला है!" परन्तु सपने में भी नीच काम करने का विचार न करनेवाले भीमसेन को भी वह झूठी बात कहते हुए बड़ी लज्जा आई।

उधर युद्ध करते हुए द्रोणाचार्य ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना ही चाहते थे कि इतने में भीमसेन की आवाज उनके कानों में पड़ी। जब उन्होंने सुना कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया तो वह विचलित हो गए। साथ ही उन्हें इस बात की सच्चाई पर शक भी हुआ। उन्होंने युधिष्ठिर से पूछा—"बेटा युधिष्ठिर! क्या यह बात सच है कि मेरा प्रिय पुत्र अश्वत्थामा मारा गया?"

आचार्य द्रोण को विश्वास था कि युधिष्ठिर तीनों लोकों के आधि-
पत्य के लिए भी झूठ नहीं बोलेंगे । इसी कारण उन्होंने युधिष्ठिर से ही
यह प्रश्न किया था ।

यह देखकर श्रीकृष्ण चिन्तित हो उठे । उन्हें भय हुआ कि कहीं
युधिष्ठिर अपनी धर्मपरायणता के कारण पांडवों के नाश का कारण
न बन जायं ।

युधिष्ठिर असत्य बोलते हुए डरे; पर विजय प्राप्त करने की लालसा
भी उनको विकल कर रही थी । वह बड़ी दुविधा में पड़ गये । फिर भी
किसी तरह जी कड़ा करके जोर से बोले—"हां, अश्वत्थामा मारा
गया ।" परन्तु यह कहते-कहते फिर उनको धर्म का भय हो आया । इस
कारण अन्त में धीमे स्वर से यह भी कह दिया, "मनुष्य नहीं, हाथी ।"
दूसरे, साथ ही भीम ने तथा अन्य पांडवों ने ऐसा जोरों का शंखनाद और
सिंहनाद किया कि युधिष्ठिर के अंतिम वचन उस शोर में लुप्त हो गये ।

•

उस दिन की इन घटनाओं का हाल सुनाते हुए संजय ने कहा—
"राजन् ! इस प्रकार युधिष्ठिर के असत्य-भाषण के कारण बड़ा अधर्म
हो गया ।"

पौराणिक कहते हैं कि जैसे ही युधिष्ठिर के मुंह से यह असत्य बात
निकली त्योंही उनका रथ, जो पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर-ही-ऊपर चलता
रहता था, एकदम जमीन से लगकर चलने लगा ।

तात्पर्य यह कि संसार झूठ का आदी हो चुका था; इस कारण
युधिष्ठिर के सत्य-भाषण का उससे कोई संबंध न था । पर अब, जबकि
जीत पाने की इच्छा से उन्होंने भी असत्य-भाषण किया, तो उनका रथ
भी पापी धरातल से जा टिका ।

युधिष्ठिर के मुंह से यह सुनते ही कि अश्वत्थामा मारा गया, द्रोण
के मन में विराग छा गया । जीवित रहने की इच्छा ही उनके मन में
न रही । जब वह इस मनःस्थिति में थे तभी भीमसेन कठोर वाग्बाणों
से उनको और सताने लगा । वह बोला—

"ब्राह्मण लोगों के कर्त्तव्यभ्रष्ट हो जाने के कारण और क्षत्रियोचित

वृत्ति धारण कर लेने के कारण ही क्षत्रियों पर यह विपदा आ गई । यदि
ब्राह्मण लोगों ने अधर्म का मार्ग न अपनाया होता, तो कितने ही क्षत्रिय-
राजाओं के प्राण बच गये होते । आप तो इस तथ्य से परिचित हैं ही कि
अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है और यह भी जानते हैं कि ब्राह्मण ही उस महान्
धर्म के आधार-स्तंभ माने जाते हैं । फिर स्वयं आप भी तो उच्च ब्राह्मण-
कुल के हैं । तब आपने यह हिंसा-वृत्ति क्यों अपनाई और स्वार्थ-वश होकर
पाप करने पर क्यों तुले हुए हैं ?"

एक तो योंही पुत्र के विछोह की खबर सुनकर द्रोण के मन से प्राणों
का मोह टूट चुका था और वैराग्य छा रहा था, ऊपर से भीमसेन के
मुंह से कड़वी बातें सुनकर उन्हें और भी सख्त पीड़ा पहुंची । उन्होंने
तुरन्त अपने सारे अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और रथ पर ही आसन जमा-
कर ध्यानमग्न होकर बैठ गये ।

इतने में द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न हाथ में तलवार लेकर द्रोण पर
झपटा । यह देखकर चारों ओर हाहाकार मच गया और इसी हाहाकार
के बीच धृष्टद्युम्न ने ध्यान-मग्न आचार्य की गर्दन पर खड्ग से जोर का
वार किया । आचार्य द्रोण का सिर तत्काल ही धड़ से अलग होकर गिर
पड़ा । भारद्वाज-पुत्र द्रोण की आत्मा दिव्य ज्योति से जगमगाती हुई स्वर्ग
सिधार गई ।

: ९१ :

कर्ण भी मारा गया

द्रोण के मारे जाने पर कौरव-पक्ष के राजाओं ने कर्ण को सेनापति
मनोनीत किया । मद्रराज शल्य कर्ण के सारथी बने । शल्य के चलाये
दैवी रथ पर बैठा हुआ कर्ण बहुत ही शोभित हो रहा था । उसके शरीर
की कांति बहुत ही उज्ज्वल हो रही थी । दूसरे दिन कर्ण के सेनापतित्व
में फिर में घमासान युद्ध जारी हो गया ।

ज्योतिषियों से पूछकर पाण्डवों ने भयानक युद्ध के लिए सबसे उप-
युक्त समय का पता कर लिया । नियत समय पर अर्जुन ने कर्ण पर भीषण

आक्रमण कर दिया। अर्जुन की रक्षा करता हुआ भीम, अपने रथ पर उसके पीछे-पीछे चला और दोनों एक साथ कर्ण पर टूट पड़े।

जब दुःशासन ने यह देखा, तो भीम पर बाणों की वर्षा कर दी। उससे भीम क्रुद्ध हो उठा और बोला—"अरे दुःशासन! बस अब तू अपने को गया ही समझ। जो अत्याचार तूने किये थे उनका बदला अभी ब्याज समेत चुकाता हूं। द्रौपदी को जिस दिन तेरे पापी हाथों ने छुआ था और तब मैंने जो शपथ ली थी, वह अब पूरी हो जायगी।" यह कहते-कहते भीम दुःशासन पर झपटा।

जिस दुरात्मा ने द्रौपदी का अपमान किया था, उसको भीम ने एक ही धक्के में जमीन पर गिरा दिया और उसका एक-एक अंग तोड़-मरोड़ डाला। "धूर्त, नीच कहीं का! तेरे इसी हाथ ने तो द्रौपदी के केश पकड़-कर खींचने का दुःसाहस किया था। पहले उसे ही तेरे शरीर से तोड़ फेंकता हूं। देखूं तो! अब कौन तेरी सहायता के लिए आगे बढ़ता है। कौन है तेरा साथ देने वाला! किसकी इतनी सामर्थ्य है जो तुझे मेरे हाथों से आज बचा सके! आवे तो वह सामने! ज़रा देखूं तो उसे!" और दुर्योधन पर इस भांति तीव्र कटाक्ष करते हुए भीमसेन ने पागलों के-से जोश में दुःशासन का हाथ एक झटके में शरीर से अलग करके फेंक दिया और फिर दुःशासन के लहू को चूस-चूसकर ऐसे पीने लगा, जैसे जंगली जानवर पीते हैं। उस समय भीमसेन का विकृत रूप भयानक हिंस्र जन्तु का-सा प्रतीत हो रहा था।

गरम-गरम खून पीने के बाद भीमसेन महाकाल के-से भयानक रूप में युद्ध के मैदान में नाचने-कूदने लगा और चिल्लाने लगा—"गया एक पापी इस संसार से! मेरी एक प्रतिज्ञा पूरी हुई! अब दुर्योधन की बारी है। उसका काम तमाम करना बाकी है। वह बलिदान का बकरा किधर है? कोई कह दे उससे कि वह भी तैयार हो जाय।"

भीमसेन का वह भयानक रूप, उसका चिल्लाना और वह उन्माद-नृत्य देखकर लोगों के दिल दहल उठे। सब कांप उठे। यहां तक कि एक बार कर्ण का भी शरीर कांपने लगा।

इस पर शल्य ने कर्ण को दिलासा देते हुए कहा—"कर्ण, तुम तो

वीर हो, इस तरह हताश होना तुम्हें शोभा नहीं देता। इस समय तो दुर्योधन को, जो भग्न-हृदय-सा हो गया है, सान्त्वना देनी चाहिए। तुम्हें तो चाहिए था कि उसे धीरज देते। उलटे तुम्हीं धीरज गँवा बैठे—हिम्मत न हारो। दुःशासन के मारे जाने पर अब सबकी आंखें तुम्हींको देख रही हैं, तुम्हीं सबका आसरा बने हुए हो। युद्ध का सारा दायित्व अब तुम्हीं-को वहन करना होगा। क्षत्रियोचित धर्म से काम लो। अर्जुन के साथ युद्ध करके या तो विजय का यश प्राप्त करो या वीरोचित स्वर्ग।"

सारथी बने हुए शल्य की ये बातें सुनकर कर्ण गुस्से में आ गया। उसकी आंखें लाल हो गईं और वह असीम क्रोध के साथ अर्जुन पर टूट पड़ा।

●

"दुर्योधन, इस युद्ध को बन्द कर दो! आपसी वैर भूल जाओ! पांडवों से संधि कर लो!" द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने कहा।

पर दुर्योधन झल्लाकर बोला—"पापी भीमसेन ने जंगली जानवर की तरह भैया दुःशासन का खून चूसते हुए जो कुछ कहा, क्या वह तुमने नहीं सुना? तुम तो उसके पास ही खड़े थे! तो फिर संधि कर लेने की बेकार बातें क्यों करने लगे हो? हमारे लिए अब संधि-चर्चा बेकार है।"

अश्वत्थामा से यह कहकर दुर्योधन ने सेना की व्यूह-रचना को फिर से सुधारकर पांडवों पर हमला करने की आज्ञा दे दी।

इधर अर्जुन और कर्ण के बीच घोर संग्राम छिड़ा हुआ था। कर्ण ने अर्जुन पर एक ऐसा बाण चलाया, जो काले नाग की तरह जहर की आग उगलता गया। अर्जुन की ओर उस भयानक तीर को आता देख-कर कृष्ण ने रथ को पांव के अंगूठे से दबा दिया, जिससे रथ जमीन में पांच अंगुल धंस गया। कृष्ण की इस युक्ति से अर्जुन मरते-मरते बचा। कर्ण का चलाया हुआ सर्पमुखास्त्र फुफकारता हुआ आया और अर्जुन का मुकुट उड़ा ले गया। इसपर अर्जुन के क्रोध का ठिकाना न रहा। जोश के साथ कर्ण पर बाण-वर्षा कर दी। इतने में क्या हुआ कि कर्ण के रथ का बाईं तरफ का पहिया अचानक धरती में धंस गया।

इससे कर्ण घबरा गया और बोला—"अर्जुन! ज़रा ठहरो! मेरे

रथ का पहिया कीचड़ में फंस गया है। ज़रा उसको उठाकर ठीक जमीन पर रख दूं। तबतक के लिए ज़रा रुक जाओ। पांडु-पुत्र, तुम्हें धर्म-युद्ध करने का जो यश प्राप्त हुआ है उसे व्यर्थ ही न गंवाओ। मैं जमीन पर खड़ा रहूं और तुम रथ पर बैठे-बैठे मुझपर बाण चलाओ, यह ठीक नहीं होगा। ज़रा रुको, मैं अभी पहिया उठाकर ठीक जमीन पर किये देता हूं। तबतक के लिए अपनी बाण-वर्षा बंद रखो।"

कर्ण की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण बोले—"कर्ण! तुम भी धर्म की बातें करने लगे! यह ठीक रहा! अब मुसीबत पड़ने पर धर्म का खयाल आया तुमको! जब दुःशासन, दुर्योधन और तुम द्रौपदी को भरी सभा में घसीट कर लाये थे उस वक्त तुम्हें धर्म की याद आई थी? नौसिखिये युधिष्ठिर को जुए के कुचक्र में फंसाते वक्त तुम्हारा धर्म कहां जा छिपा था? जब पाण्डव प्रतिज्ञा पूरी करके बारह साल का वनवास और एक साल का अज्ञातवास करके लौटे, तब तुम लोगों ने उनका राज्य वापस देने से इन्कार किया था। क्या वह धर्म था? उस समय तुमने अपने धर्म को कहां छिपाये रखा था? जिन दुष्टों ने भीमसेन को जहर देकर मार देने की कोशिश की थी, उनके उस कुचक्र में तुम भी तो साथी बने हुए थे? लाख के भवन में कुन्ती-पुत्रों को ठहराकर उनको सोते हुए जला डालने का जो षड्यन्त्र किया गया था उसमें तुम्हारा भी तो हाथ था! क्या उस समय तुम्हें धर्म की याद नहीं आई? द्रौपदी का घोर अपमान होते हुए तुमने जो कुछ कहा था क्या वह भूल गये? और यह भी भूल गये कि यह सब देखकर तुम उसी समय कहकहा लगाकर हँसे थे?—'तेरे पति आज तेरे काम न आ सके। चल, अब और किसीको पति बना ले!' क्या ये अधार्मिक बातें तुमने द्रौपदी को नहीं सुनाई थीं? एक सती-साध्वी से ऐसी बातें करते हुए तुम्हारा धर्म कहां लुप्त हो गया था? जब दुधमुंहे बच्चे अभिमन्यु को तुम सात लोगों ने एक साथ घेरकर निर्लज्जता के साथ मार डाला था तब तुम्हारा धर्म कहां था? और आज जब मुसीबत सामने खड़ी दिखाई दे रही है तब तुमको धर्म याद आ रहा है!"

श्रीकृष्ण की इस झिड़की का कर्ण से कोई उत्तर देते न बना। उसने

सिर झुका लिया और अटके हुए रथ पर से ही युद्ध जारी रखा। इतने में कर्ण का एक बाण अर्जुन को जा लगा, तो वह थोड़ी देर के लिए विचलित हो उठा। बस, यही ज़रा-सा समय पाकर कर्ण रथ से उतर पड़ा और रथ का पहिया उठाकर उसे समतल पर लाने की कोशिश करने लगा। पर दैव उसका साथ छोड़ चुका था। कर्ण के हजार प्रयत्न करने पर भी पहिया गढ़े से निकलता न था।

तब कर्ण ने परशुराम से सीखे मन्त्रास्त्रों को स्मरण में लाने का प्रयत्न किया; परन्तु परशुराम के शापवश वे भी याद न आये।

यह स्थिति देख श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"अर्जुन, अब देरी न करो; हिचकिचाओ मत। इसी समय इस दुष्ट को खतम कर दो। मारो जल्दी से कसकर एक बाण!"

श्री व्यासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण की यह बात मानकर अर्जुन ने तानकर एक बाण ऐसा मारा कि कर्ण का सिर कटकर जमीन पर गिर पड़ा।

•

कवि का मन नहीं मानता कि इस अधार्मिक वध की सारी जिम्मेदारी अर्जुन पर ही छोड़ दी जाय। इसलिए वह कहते हैं कि भगवान् ने आदेश दिया और अर्जुन ने मान लिया। कवि अर्जुन को दोषी नहीं ठहराना चाहते। कर्ण के सर्पास्त्र से अर्जुन की रक्षा करने के लिए किसने रथ को नीचे झुकाया था? भगवान् ने। जब कर्ण जमीन पर खड़ा होकर रथ का पहिया उठाने में लगा रहा, तब अर्जुन ने उसपर बाण क्यों चलाया? भगवान् की प्रेरणा से।

उन दिनों की युद्ध-पद्धति की दृष्टि से ऐसी बातें धर्म-विरुद्ध मानी जाती थीं। धर्म के विरुद्ध चलने का भार भगवान् के सिवाय और किसके द्वारा वहन किया जा सकता है?

हिंसात्मक युद्ध के द्वारा अधर्म एवं अत्याचार को नष्ट करने की आशा रखना व्यर्थ है। हथियारबन्द युद्ध से अत्याचार या अन्याय कभी नहीं मिटते। धार्मिक उद्देश्यों के लिए ये जो युद्ध किये जाते हैं, उनमें भी अनिवार्य रूप से अन्याय और अधर्म हो ही जाते हैं। ऐसे युद्धों के

परिणाम-स्वरूप अधर्म की ही वृद्धि होती है।

: ९२ :
दुर्योधन का अंत

जब दुर्योधन को इस बात की खबर मिली कि युद्ध में कर्ण भी मारा गया, तो उसके शोक की सीमा न रही। उसके लिए यह दुःख असह्य हो उठा। दुर्योधन की इस शोचनीय अवस्था पर कृपाचार्य को बड़ा तरस आया। उन्होंने दुर्योधन को सांत्वना देते हुए कहा—

"राजन्! राज्य के लोभ से यह युद्ध लड़ा जा रहा है। जो-जो काम जिन-जिन लोगों को सौंपा गया, उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उसको किया और प्राण-पण से युद्ध करते हुए वे स्वर्ग सिधारे हैं। अब तुम्हारा कर्त्तव्य यही है कि पांडवों से किसी प्रकार सन्धि कर लो। अब युद्ध बन्द करना ही श्रेयस्कर होगा।"

यद्यपि दुर्योधन हताश हो चुका था, फिर भी कृपाचार्य की यह सलाह उसे बिल्कुल पसन्द नहीं आई। वह उसे मानने के लिए तैयार न हुआ।

वह बोला—"आचार्य! यह समय भयभीत होने का नहीं है। अब तो हमें कायरता से नहीं, बल्कि वीरता से ही काम लेना होगा। यह युद्ध जारी रखना ही मेरा कर्त्तव्य है। आप क्या यह चाहते हैं कि मैं भीरु की भांति अपने प्राण बचा लूं, जबकि मेरी खातिर मेरे बन्धु व मित्रों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया है? यदि मैं ऐसा करूंगा तो संसार के लोग मुझपर थूकेंगे। मेरी निन्दा करेंगे। लोक-निन्दा सहकर मैं कौन-सा सुख भोगने के लिए जीता रहूं? जब मेरे सारे बन्धु-बान्धव मारे जा चुके हैं तो फिर सन्धि करके भी कौन-सा सुख भोग सकूंगा?"

सभी कौरव वीरों ने दुर्योधन की इन बातों की सराहना की। सबने उसकी बातों का समर्थन किया और कहा कि युद्ध जारी रखना ही ठीक होगा। इसपर सबकी सलाह से मद्रराज शल्य को सेनापति नियुक्त किया गया। शल्य भी बड़ा पराक्रमी, वीर और शक्तिमान था। उसकी शूरता,

अन्य कौरव सेनापतियों की शूरता से कम न थी। इसलिए शल्य के सेनापतित्व में फिर से युद्ध जारी हुआ।

पांडवों की सेना के संचालन का पूरा दायित्व अब युधिष्ठिर ने स्वयं अपने कंधों पर ले लिया। शल्य पर उन्होंने स्वयं आक्रमण किया। वही युधिष्ठिर, जो शांति की मूर्ति-से प्रतीत होते थे, अब क्रोध की प्रति-मूर्ति-सी बनकर प्रचण्ड वेग से शल्य पर टूट पड़े। उनका वह भीषण स्वरूप आश्चर्यजनक था। देर तक दोनों में द्वंद्व-युद्ध होता रहा। आखिर युधिष्ठिर ने शल्य पर शक्ति का प्रयोग किया और मद्रराज शल्य मृत होकर रथ पर से धड़ाम से इस प्रकार गिरे जैसे उत्सव-समाप्ति के बाद इन्द्रध्वजा।

जब शल्य भी मारे गये तो कौरव सेना निःसहाय-सी हो गई और उसके अन्दर भय छा गया। परन्तु फिर भी, रहे-सहे धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हिम्मत न हारी। उन्होंने चारों तरफ से भीम को घेर लिया और उस-पर बाणों की झड़ी लगा दी। लेकिन भीम इससे विचलित होनेवाला कब था? उसने एक ही हमले में उन सबको यमपुर पहुंचाकर छोड़ा। तेरह बरस तक मन में जो प्रतिहिंसा की आग दबा रखी थी, उसको उन धृतराष्ट्र-पुत्रों के रक्त से शांत करके भीमसेन को ऐसा अनुभव हुआ मानो आज ही उसका जीवन सार्थक एवं सफल हुआ था। वह हर्ष से फूला न समाता था।

दूसरी ओर शकुनि और सहदेव का युद्ध हो रहा था। तलवार की पैनी धार के समान नोकवाला एक बाण शकुनि पर चलाते हुए सहदेव ने गरजकर कहा—"मूर्ख शकुनि! अपने किये का फल भुगत ही ले!" और मानो उसकी बात सफल हो गई। बाण धनुष से निकला नहीं कि शकुनि का सिर कटकर गिरा नहीं।

भगवान् व्यास कहते हैं कि शकुनि का सिर, जो कौरवों के लिए पापों की जड़ के समान था, भूमि पर कट कर गिर पड़ा।

इस प्रकार कौरव सेना के सारे वीर कुरुक्षेत्र की भूमि पर सदा के लिए सो गये। अकेला दुर्योधन जीवित बचा था, अब उसके पास न तो सेना थी, न रथ ही। उस वीर की स्थिति बड़ी दयनीय थी। ऐसी हालत

में दुर्योधन अकेला ही हाथ में गदा लिये एक जलाशय की ओर चुपके से चल दिया । मन में सोचता जाता था—

'दूरदर्शी ज्ञानी विदुर पहले ही से यह सब जानते थे कि युद्ध का यह परिणाम होगा । तभी तो बार-बार मुझे समझाते रहते थे । पर मैंने कब किसकी सुनी !' यह सोचते-सोचते वह जलाशय में उतर गया । '......पर अवसर बीत जाने पर पछताने से कोई लाभ नहीं होता । किये का फल भुगतना ही पड़ता है ।' उसने अपने मन में कहा ।

•

उधर दूसरे दिन जब युद्ध-भूमि में दुर्योधन दिखाई न दिया तो युधिष्ठिर और उनके भाई उसे खोजते हुए उसी जलाशय पर जा पहुंचे जहां वह छिपा बैठा था । श्रीकृष्ण भी उनके साथ थे । उन सबको यह पता चल गया था कि दुर्योधन इसी जलाशय में छिपा हुआ है ।

"दुर्योधन ! अपने कुटुम्ब और वंश का नाश कराने के बाद अब पानी में छिपकर प्राण बचाना चाहते हो ? तुम्हारा दर्प और तुम्हारा आत्माभिमान क्या हुआ ? तुम क्षत्रिय-कुल में पैदा हुए हो ! बाहर निकलो और क्षत्रियोचित ढंग से युद्ध करो । भीरु न बनो । युद्ध से भागकर जीते रहने की चेष्टा न करो ।" युधिष्ठिर ने ललकारकर कहा ।

यह सुन दुर्योधन ने व्यथित होकर कहा—"युधिष्ठिर ! यह न समझना कि मैं प्राणों के डर से यहां छिपा बैठा हूं । मैं भयभीत होकर भी यहां नहीं आया । शरीर की थकान मिटाने को ही यहां ठंडे जल में विश्राम कर रहा हूं । युधिष्ठिर, मैं न तो डरा हुआ ही हूं, और न मुझे प्राणों का ही मोह है । फिर भी, सच पूछो तो युद्ध से मेरा जी हट गया है । मेरे सभी संगी-साथी और बन्धु-बान्धव मारे जा चुके हैं । अब मैं बिल्कुल अकेला हूं । राज्य-सुख का मुझे लोभ नहीं रहा । यह सारा राज्य अब तुम्हारा ही है । निश्चिन्त होकर तुम्हीं इसका उपभोग करो ।"

"दुर्योधन ! एक दिन वह था कि जब तुम्हींने कहा था कि सूई की नोक-जितनी जमीन भी नहीं दूंगा । शांति की इच्छा से जब हमने तुम्हारे आगे मिन्नतें कीं, तब तुमने इन्कार कर दिया था । अब कहते हो, मेरा सर्वस्व तुम्हारा ही है । शायद तुम्हें अपने पापों का स्मरण नहीं रहा ।

तुमने जो महापाप किये हैं, उन सबको क्या फिर से याद दिलाना जरूरी होगा ? तुमने हमें जो हानियां पहुंचाई थीं और द्रौपदी का जो अपमान किया था, वे सब तो पुकार-पुकार कर तुम्हारे प्राणों की बलि मांग रहे हैं । अब तुम बच नहीं पाओगे !" युधिष्ठिर ने गरजते हुए कहा ।

दुर्योधन ने जब स्वयं युधिष्ठिर के मुख से ये कठोर बातें सुनीं तो उसने गदा उठा ली और जल में ही उठ खड़ा हुआ और बोला—

"अच्छा; यही सही ! तुम एक-एक करके मुझसे भिड़ लो ! मैं अकेला हूं और तुम पांच हो । पांचों का अकेले के साथ लड़ना न्यायोचित नहीं । फिर तुम पांचों तरोताजा हो । मैं थका हुआ और घायल हूं । कवच भी मेरे पास नहीं है । इसलिए एक-एक करके निपट लो । चलो !"

यह सुनकर युधिष्ठिर बोले—"यदि अकेले पर कइयों का हमला करना धर्म नहीं, तो बालक अभिमन्यु कैसे मारा गया था ? तुम्हारी ही तो अनुमति पाकर उस एक बालक को सात-सात महारथियों ने मिलकर धर्म के विरुद्ध लड़कर मारा था न ! तब धर्म का ध्यान नहीं रखा ? पर बात यह है कि जब अपने पर संकट पड़ता है तब धर्मशास्त्र का उपदेश सभी लोग देने लग जाते हैं । इस कारण अब बकवास बन्द करो और निकल आओ जलाशय से ! पहन लो कवच और हममें से जिस किसीसे भी चाहो, द्वंद्व-युद्ध कर लो । यदि मारे गये तो स्वर्ग पाओगे और यदि जीत गये, तो सारे राज्य के तुम्हीं स्वामी बनोगे ।"

यह सुन दुर्योधन जलाशय से बाहर निकल आया और उसने भीम से गदा-युद्ध करने की इच्छा प्रकट की । भीम भी राजी हो गया और दोनों में गदा-युद्ध शुरू हो गया । दोनों की गदाएं जब एक-दूसरे से टकरातीं तो उनमें से चिनगारियां निकल पड़ती थीं । इस तरह बड़ी देर तक युद्ध जारी रहा ।

इसी बीच दर्शक लोग आपस में चर्चा करने लगे कि दोनों में जीत किसकी होगी । श्रीकृष्ण ने इशारों में ही अर्जुन को बताया कि भीम दुर्योधन की जांघ पर गदा मारेगा तो जीत जायेगा । भीमसेन ने श्रीकृष्ण का इशारा तुरंत भांप लिया और अचानक सिंह की भांति दुर्योधन पर झपटा और उसकी जांघ पर जोर की गदा का प्रहार किया ।

जांघ पर गदा की चोट लगनी थी कि दुर्योधन धड़ाम से पृथ्वी पर कटे पेड़ की भांति गिर पड़ा। यह देख भीम और उन्मत्त हो गया। उसका पुराना वैर मूर्तिमान हो उठा। उसी उन्मत्त अवस्था में उसने आहत पड़े हुए दुर्योधन के माथे पर ज़ोर से एक लात जमाई।

भीम का यह कार्य श्रीकृष्ण को ठीक न लगा। वह बोले—"भीमसेन! अब बस करो! तुमने अपना ऋण चुका दिया, तुम्हारा वचन पूरा हुआ। फिर भी दुर्योधन क्षत्रिय राजा है और हमारे ही कुल का है। इसलिए यह ठीक नहीं कि तुम उसके माथे पर इस प्रकार लात मारो। यह पापी तो शीघ्र ही अपनी मौत मर जायेगा। अब हम यहां खड़े ही क्यों रहें? दुर्योधन और उसके साथी-संगी अब नष्ट हो चुके हैं। चलो, हम अपने स्थान को चलें।"

जांघ टूट जाने के कारण अधमरी अवस्था में पड़े दुर्योधन ने जब श्रीकृष्ण के ये वचन सुने तो उसके दिल में क्रोध और द्वेष की आग-सी भड़क उठी। वह चिल्लाकर बोला—"अरे निर्लज्ज कृष्ण! धर्म-युद्ध करनेवाले हमारे पक्ष के सारे यशस्वी महारथियों को तुमने ही कुचक्र रचकर मरवा डाला है, तिसपर मुझे पापी कहते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? यदि तुमने कुचक्र न रचा होता, तो कर्ण, भीष्म या द्रोण भला समर में परास्त होने वाले थे?"

मरणासन्न अवस्था में भी दुर्योधन को इस प्रकार प्रलाप करते देख श्रीकृष्ण बोले—

"दुर्योधन! तुम बेकार की बातें कर रहे हो। अब यह तुम्हारा अंत समय है। लोभ में पड़कर और राज-सत्ता के घमंड से मदान्ध होकर तुमने जो अनगिनत महापाप किये, उन्हींका यह परिणाम है। अब तो कुछ समझ से काम लो। क्यों किसी को व्यर्थ दोष देते हो? तुम अपने ही किये का फल पा रहे हो। यह क्यों नहीं समझते और उसका पश्चात्ताप करते? अपने अपराध के लिए दूसरों को दोष देना बेकार है।"

यह सुन दुर्योधन बोला—"क्षत्रिय लोग जैसी मृत्यु की अभिलाषा करते हैं, वैसे ही वीरोचित मृत्यु मुझे प्राप्त हुई है। मेरे समान भाग्यवान् आज और कौन होगा! मरने पर भी मेरा सुयश सदा बना रहेगा। पर

तुम जीते रहो और लोक-निन्दा के पात्र बने रहो। भीमसेन ने जो मेरे सिर पर लात मारी है, उसकी मुझे ज़रा भी चिन्ता नहीं, क्योंकि अभी थोड़ी ही देर में चील-कौए मेरे माथे पर अपनी तालें रखने ही वाले हैं।"

लालच में पड़कर दुर्योधन अधर्म पर उतारू हुआ था। उसके फल-स्वरूप जो वैर भाव बढ़ा, उसके कारण दोनों तरफ अधर्म के अनेक काम हुए। और अधर्म का फल अधर्म ही हुआ करता है।

: ९३ :

पांडवों का शर्मिन्दा होना

कुरुक्षेत्र का युद्ध अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि श्रीकृष्ण के बड़े भाई हलधर श्रीबलराम अपनी तीर्थ-यात्रा समाप्त करके वापस आ गये। उस समय भीम और दुर्योधन में गदा-युद्ध समाप्त ही हुआ था। जब बलराम को पता चला कि भीमसेन ने दुर्योधन की जांघ पर गदा-प्रहार किया तो उन्हें बड़ा गुस्सा आया।

वह भीम को घृणा से देखते हुए बोले—"धिक्कार है तुमको भीम, जो तुमने कमर के नीचे गदा मारकर गदा-युद्ध के नियम का भंग किया। तुम्हें नहीं मालूम कि ऐसा करना अनुचित है!"

भीम के व्यवहार से बलराम को इतना क्रोध आया कि वह उनसे सहा न गया। वह श्रीकृष्ण से बोले—"भैया कृष्ण! तुम तो अन्याय और अनीत को सह लेते हो, पर मुझसे अनीत होते नहीं देखी जाती। मैं अनीति करनेवालों को जरूर दंड दूंगा।" यों कहते कहते बलराम अपना हल हाथ में लेकर भीमसेन पर झपटे।

श्रीकृष्ण ने जब यह देखा कि बलराम बहुत क्रोध में हैं और गुस्से में न जाने क्या अनर्थ कर डालें तो उनका रास्ता रोककर खड़े हो गये और उनको समझाते हुए बोले—"भैया, आप ज़रा शांत होकर सोचिए। पांडव हमारे मित्र हैं। निकट के संबंधी हैं। वे दुर्योधन के अत्याचारों से पीड़ित हुए हैं। द्रौपदी का भरी सभा में अपमान किया गया था। तभी भीम ने अपनी गदा से दुर्योधन की जांघें तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी। सब लोग

भीम की इस प्रतिज्ञा से परिचित हैं और स्वयं दुर्योधन भी भीमसेन की इस प्रतिज्ञा को जानता है। फिर आप जानते ही हैं कि अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना तो क्षत्रियों का धर्म ही है ! इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप उतावले न होइये। पांडव निर्दोष हैं। उनसे नाराज न होइये। सिर्फ एक घटना को लेकर धर्माधर्म का विवेचन करना ठीक नहीं है। भीम का काम न्याययुक्त है या नहीं, इस बात का निर्णय करने से पहले दुर्योधन के किये अत्याचारों पर भी ध्यान देना होगा। अब तो कलियुग का प्रारम्भ हो रहा है। इसमें तो अन्याय का बदला अन्याय ही माना जायगा; अतः दुर्योधन के किये कई अन्यायों और छल-प्रपंचों के बदले यदि भीमसेन ने कटि के नीचे गदा-प्रहार कर भी दिया, तो वह अधर्म कैसे हो सकता है ? इसी दुर्योधन की प्रेरणा से—उसके उकसाने पर पीछे से बाण मार कर हमारे अभिमन्यु का धनुष काट दिया गया था। जब अर्जुन का पुत्र रथ-विहीन होकर बिना धनुष के जमीन पर खड़ा था, तभी उस पर बहुत से महारथियों ने एक साथ हमला करके उसे मार डाला। भीमसेन इसको मार भी डालता तो भी यह कोई अधर्म या अन्याय नहीं होता। फिर यह भी सोचिये कि बार-बार इसने पांडवों पर अत्याचार किये और व्यर्थ में उनसे युद्ध भी छेड़ा। तब फिर यह बात कैसे भूली जा सकती है कि मौका आने पर भीमसेन अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करेगा ? इस कारण भीम के इस कृत्य को एकदम अन्याय नहीं कहा जा सकता।"

श्रीकृष्ण की इन दलीलों का बलराम पर कोई असर हुआ हो, ऐसा नहीं लगा। वह अपनी राय पर दृढ़ रहे और भीम के काम को न्याय-युक्त मानने को तैयार न हुए। फिर भी श्रीकृष्ण के समझाने-बुझाने पर उनका क्रोध शांत हुआ।

वह बोले—"भैया कृष्ण ! तुम चाहे जो कहो, मुझे तो विश्वास है कि दुर्योधन को वीरोचित स्वर्ग प्राप्त होगा और भीमसेन के सुयश पर कलंक की कालिमा बनी रहेगी। गदा-युद्ध के नियम का उल्लंघन करने के कारण भीम को संसार सदा धिक्कारता रहेगा और जिस स्थान पर ऐसा अन्याय हुआ हो, वहां मैं तो पल-भर भी नहीं ठहरूंगा।" इतना कहकर बलराम तुरन्त द्वारका को प्रस्थान कर गये।

"युधिष्ठिर ! आप भी तो कुछ कहिये। इस बारे में आपकी क्या राय है ? आप क्यों चुप हैं ?" श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की ओर देखकर पूछा।

युधिष्ठिर बोले—"श्रीकृष्ण ! भूमि पर मृत-तुल्य पड़े दुर्योधन के सिर पर भीम का लात मारना मुझे अच्छा न लगा। यह बात ठीक है कि कौरवों ने हमपर बहुत अत्याचार किये और हमें असंख्य कष्ट पहुंचाये। और यह भी मैं जानता हूं कि भीमसेन का मन क्रोध और दुःख के मारे बड़ा विकल होता रहा है। उसी विकलता के कारण प्रतिज्ञा लेकर भीमसेन ने जिस ढंग से दुर्योधन को मारा था, वह कार्य न्याय-युक्त है या नहीं, इसका मैं ठीक ठीक निर्णय नहीं कर पाता। भीमसेन ने भारी मुसीबतें झेली हैं। इसलिए उसके इस काम के विरुद्ध एकाएक मुझसे कुछ कहते भी नहीं बनता है।"

जब धर्म को क्षति पहुंचती है तो सज्जनों का मन शांत नहीं हो पाता। पर मन पशोपेश में जरूर पड़ जाता है। भीम के इस कार्य से धर्मराज की बुद्धि कुंठित हो गई। विवेकशील अर्जुन भी चुप रहा। उसने न भीमसेन को सराहा, न उसे दोष ही दिया। लेकिन पास में जो दूसरे क्षत्रिय खड़े थे, वे दुर्योधन की निन्दा करते नहीं थके। यह श्रीकृष्ण को अच्छा न लगा। वह बोले—

"क्षत्रियगण ! आप लोगों को यह शोभा नहीं देता कि घायल होकर अधमरे दुर्योधन की यों निन्दा करें। यह ठीक है कि नासमझी के कारण ही दुर्योधन की यह अवस्था हुई। दुष्टों की संगति का ही यह प्रभाव था कि दुर्योधन भी दुष्ट बना; फिर भी यह राजा है—राजकुल का है। इसे वीर-मृत्यु प्राप्त हुई। इसे हम यहीं छोड़ें और उसे अपने कर्मों के अनुसार फल पाने दें।"

घायल और तड़पते हुए अधमरे दुर्योधन ने जब श्रीकृष्ण के ये बोल सुने तो वह मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया। अपने दोनों हाथों को टेककर, बड़ी कठिनाई से वह उठा और क्रोधभरी दृष्टि से श्रीकृष्ण को देखता हुआ बोला—"अरे निर्लज्ज कृष्ण ! मुझे असहाय अवस्था में डालकर ऐसी बढ़-चढ़कर बातें बोलते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ? क्या तुम

वह बात भूल गये कि तुम्हारा पिता वसुदेव राजा कंस के यहां नौकर था ? राजा लोगों के साथ मित्रता करने तक की हैसियत तो तुम्हारी है नहीं, और मुझे दुष्ट कहने की हिम्मत करते हो ? तुमने ही तो भीम को इशारे से मेरी जांघ पर गदा मारने की सलाह दी थी। यह न समझना कि मैं तुम्हारी चालों से अपरिचित हूं। जब हम दोनों लड़ रहे थे तो तुमने अर्जुन से बातें करने के बहाने से भीम को मेरी जांघों पर गदा मारने का जो इशारा किया था, तुम समझते होगे कि मैं उसे समझा नहीं ! पर तुम भूलते हो। इसी प्रकार पितामह भीष्म को तुम्हारी ही चाल ने परास्त किया था। शिखण्डी को उनके आगे खड़ा करके अर्जुन से उन पर बाण चलवाना तुम्हारा ही काम था। धर्मराज से झूठ बुलवाकर आचार्य द्रोण का तुम्हीं ने वध करवाया। युधिष्ठिर की झूठी बात को सच मानकर आचार्य ने धनुष डाल दिया और तभी पापी धृष्टद्युम्न ने ध्यानमग्न बैठे आचार्य का सिर काट डाला। उसे ऐसा करने से रोकना तो दूर, तुम उल्टा उसके कार्य से खुश हुए। कर्ण ने अर्जुन का वध करने के लिए जिस शक्ति को सुरक्षित रक्खा था, तुम्हारी ही प्रवंचना के कारण विवश होकर उसने उसका प्रयोग घटोत्कच पर कर दिया। अपना हाथ कट जाने पर बूढ़े भूरिश्रवा जब शरों की शैया पर बैठे प्रायोपवेशन कर रहे थे, उस समय सात्यकि ने तुम्हारी प्रेरणा ही से तो उसका वध किया था। कीच में फंसे रथ के पहिये को जब कर्ण उठा रहा था, तब अर्जुन ने नीच आदमी की तरह जो उसका वध किया था, वह भी तुम्हारे ही आदेश से। अरे दुरात्मा, हम सबके नाश का कारण केवल तुम्हीं हो। तुम्हारी ही माया के कारण सिन्धुराज जयद्रथ, सूर्यास्त हो गया यह समझकर असावधान रहे और धोखे से मारे गये। धिक्कार है तुम्हें ! तुम्हारी इस मक्कारी और धोखेबाजी के लिए सारा संसार तुम्हारी निंदा करेगा।"

दुर्योधन इस प्रकार श्रीकृष्ण पर वाग्बाणों की बौछार करता-करता पीड़ा के मारे कराहता हुआ फिर से गिर पड़ा। वह बैठा न रह सका। श्रीकृष्ण उसकी इस अवस्था पर तरस खाते हुए बोले—"गांधारी-पुत्र ! क्रोध की आग से अपने प्राणों को क्यों व्यर्थ जला रहे हो ? तुम

अपने ही पापों के फलस्वरूप नाश को प्राप्त हुए हो। उसका दोष मुझे व्यर्थ ही दे रहे हो। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे नाश का कारण मैं नहीं हूं। तुम्हारे ही पापों के कारण भीष्म और द्रोण मारे गये। पाण्डु-पुत्रों पर तुमने जो अत्याचार किये थे, उनका कोई और नतीजा निकलने वाला ही नहीं था। उन अत्याचारों की भला कोई सीमा थी ! कुंतीदेवी समेत उन सबको जला डालने का तुमने जो कुचक्र रचा था, वह तुम्हें याद नहीं रहा ? द्रौपदी का तुमने जो अपमान किया था, उसका तुम्हें पूरा बदला मिला क्या ? तुमने दूसरों को जो हानि पहुंचाने की कोशिशें कीं, उसीके कारण आपसी वैर-विरोध बढ़ता गया और आज तुम इस अवस्था को प्राप्त हुए। फिर अपने किये का दोष दूसरों के माथे क्यों ? माना कि पांडवों की तरफ से भी अन्याय हुए थे; लेकिन क्या वे अपने-ही आप हुए ? वे तुम्हारे ही बोये पाप-बीज के तो फल थे ! लालच में पड़कर तुमने जो महापाप किये, उन्हींका यह फल तुम्हें भुगतना पड़ रहा है; यह निश्चय समझो। फिर भी तुम्हारी मृत्यु वीरोचित हुई और तुम वीरोचित स्वर्ग को सिधारोगे। तब शोक और क्लेश क्यों ? तुम समझदार भी तो हो।"

यह सुन दुर्योधन ने कुछ नरमी से कहा—"ठीक ही कहते हो, कृष्ण ! आज तो मैं मित्रों व बांधवों के साथ स्वर्ग जा रहा हूं। पर याद रक्खो, तुम लोगों को अभी दुःख के सागर में डूबे रहना होगा। तुम लोगों ने भी जो कुछ किया है, उसका फल तुम लोगों को भी तो मिलेगा न !"

दुर्योधन के ये अन्तिम वचन उपस्थित लोगों को एक महान् सत्य के रूप में लगे। दुर्योधन के दुःखी, लेकिन ज़रा देर के लिए शांत मुंह पर एक प्रकार का तेज चमकने लगा। व्यासजी कहते हैं कि उस समय आकाश से दुर्योधन पर पुष्प-वर्षा होने लगी और गन्धर्वों ने दुंदुभि बजाई। दिशाओं में एक अपूर्व ज्योति फैल गई।

यह सब देखकर श्रीकृष्ण और पांचों पांडव मन-ही-मन बड़े लज्जित हुए। उन्हें लगा कि दुर्योधन के कथन में सचाई है।

"दुर्योधन ने सच ही कहा है। हम केवल धर्म-युद्ध करके उसपर विजय नहीं पा सकते थे। बिना कुछ प्रपंच रचे, उसपर विजय पाना हमारे लिए

संभव नहीं था।" श्रीकृष्ण ने कहा और सब अपने-अपने रथों पर सवार होकर अपनी छावनी की ओर चल दिये।

: ९४ :

अश्वत्थामा

दुर्योधन पर जो-कुछ बीती, उसका हाल सुनकर अश्वत्थामा बहुत क्षुब्ध हो उठा। अपने पिता द्रोणाचार्य को मारने के लिए जो कुचक्र रचा गया था, उसे भी वह भूला नहीं था। भीमसेन ने युद्ध के माने हुए नियमों के विरुद्ध कमर के नीचे गदा-प्रहार करके दुर्योधन को हराया, यह जानकर वह मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया। तुरन्त ही वह उस स्थान पर जा पहुंचा जहां दुर्योधन मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ पड़ा था। दुर्योधन के सामने जाकर अश्वत्थामा ने दृढ़तापूर्वक प्रतिज्ञा की कि आज ही रात में पांडवों का बीज नष्ट करके रहेगा।

मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए दुर्योधन ने जब यह सुना तो उसका पुराना वैर फिर जागृत हो गया और उसे कुछ प्रसन्नता हुई। उसने आसपास खड़े लोगों से कहकर अश्वत्थामा को कौरव सेना का विधिवत् सेनापति बनाया और बोला—

"आचार्य-पुत्र! यह मेरा शायद अन्तिम कार्य है। शायद आप ही मुझे शांति दिला सकें। मैं बड़ी आशा से आपकी राह देखता रहूंगा।"

●

सूरज डूब चुका था, रात हो गई थी। घने जंगल में चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा था। एक बड़े बरगद के पेड़ के नीचे अश्वत्थामा कृपाचार्य और कृतवर्मा रात बिताने की गरज से ठहरे। कृप और कृतवर्मा बहुत थके हुए थे। इसलिए दोनों वहीं पड़े-पड़े सो गये। लेकिन अश्वत्थामा को नींद नहीं आई। क्रोध और द्वेष के मारे सर्प की भांति फुफकारता हुआ वह जागता रहा। रात का समय था। चारों ओर कई तरह के जानवरों की बोलियां सुनाई दे रही थीं। उनको सुनता-सुनता अश्वत्थामा विचारों में डूब गया।

उस बरगद की शाखाओं पर कौओं के झुण्ड-के-झुण्ड बसे हुए थे। रात को वे सब सोये हुए थे कि इतने में एक बड़े भारी उल्लू ने आकर उन कौओं पर आक्रमण कर दिया। एक-एक करके उन सोते हुए कौओं पर चोंच मारकर उल्लू उनको चीरने-फाड़ने लगा। रात का वक्त था। उल्लू को तो खूब दिखाई दे रहा था; लेकिन कौओं को अंधेरे में कुछ सूझता नहीं था। वे चिल्ला-चिल्लाकर मरते गये। अकेले उल्लू के आगे सैकड़ों कौओं की एक न चली।

यह देख अश्वत्थामा सोचने लगा—"अकेले उल्लू ने इन सभी कौओं को सोते समय उनकी कमजोरी का लाभ उठाकर जिस तरह मार डाला है, ठीक वैसे ही मैं भी इन अधम पांडवों को और पिताजी की हत्या करने वाले धृष्टद्युम्न को, उनके संगी-साथियों समेत, एक साथ ही क्यों न मार डालूं! अभी रात का समय है और वे सब अपने शिविरों में पड़े सो रहे होंगे। इस समय उन सबका वध कर डालना बहुत सुगम होगा। यद्यपि ऐसा करना न्याय-युक्त नहीं है, पर उन्होंने भी तो अधर्म का ही सहारा लेकर मेरे पूज्य पिता एवं राजा दुर्योधन को मारा है। इस अधर्म का बदला अधर्म से ही क्यों न लूं? इस उल्लू ने तो मुझे ठीक समय पर उपदेश ही दिया समझो! फिर समय को देखते हुए, उसके अनुसार युद्ध के नये-नये ढंगों को काम में लाना अन्याय कैसे हो सकता है? शास्त्र भी तो इस बात की अनुमति देते हैं कि जब शत्रु थका हुआ हो या उसका सैन्य-बल इधर-उधर बंटा हुआ हो, तब उसपर आक्रमण किया जा सकता है। और हमारे पास अब इतनी सेना है कहां, जो हम धर्म-युद्ध में उनका मुकाबला कर सकें। जब हम कमजोर हैं तो सोते में उनपर छापा मारना अनुचित नहीं हो सकता। और फिर इसके सिवा हमारे पास और उपाय ही क्या है?"

बहुत सोच-विचारकर अन्त में अश्वत्थामा ने उल्लू-कौवे वाली नीति से ही काम करने का निश्चय किया और कृपाचार्य को जगाकर उनको अपना निश्चय सुनाया।

अश्वत्थामा की बात सुनकर कृपाचार्य बड़े लज्जित हुए। वह बोले—"अश्वत्थामा, ऐसा अन्यायपूर्ण विचार और तुम्हारे मन में! बेटा, यह

तो घोर पाप है। संसार के इतिहास में ऐसा अन्याय अबतक नहीं हुआ। जिस राजा के लिए हमने हथियार उठाये, वह तो अधमरा पड़ा है। हमने अबतक अपने कर्त्तव्य का उचित रीति से पालन किया। लोभी, मूर्ख और पापी राजा दुर्योधन की खातिर हमने युद्ध किया और हार गये। जो कुछ हमें करना था वह हमने किया। अब हमें इस काम से बाज आना चाहिए। अब तो जाकर धृतराष्ट्र, महासती गांधारी, महा बुद्धिमान् विदुर आदि नीतिज्ञ लोगों से सलाह लें और जो भी उनकी सलाह हो, उसीके अनुसार काम करें। इसमें संदेह नहीं कि वे हमें ठीक ही सलाह देंगे।"

यह सुनकर अश्वत्थामा का क्रोध और शोक प्रबल हो उठा। वह बोला—"मामाजी! हरेक व्यक्ति अपनी ही बात को सही समझा करता है। जिसे आप अधर्म समझते हैं वही मुझे धर्म मालूम होता है। पांडवों ने जिस ढंग से पिताजी और दुर्योधन को मारा है, क्या वह धर्म के अनुकूल था? तो फिर उनका बदला लेने के लिए मैं भी अधर्म का सहारा लूं तो वह अन्याय कैसे हो सकता है? चाहे कोई कुछ भी समझे, मुझे तो अब यही उचित लगता है। यहांतक कि मैं तो इस निश्चय पर पहुंच चुका हूं कि ऐसा करके ही मैं अपने पूज्य पिता और दुर्योधन का ऋण चुका सकूंगा। मैं अभी रात में ही पांडवों के शिविर में घुस जाऊंगा और धृष्टद्युम्न और पांडवों को, जो अपने कवच उतारकर सोये पड़े होंगे, जरूर मारने वाला हूं।"

अश्वत्थामा की ये बातें सुनकर कृपाचार्य व्यथित हो गये। वह बोले—"अश्वत्थामा! तुम्हारे यश का प्रकाश सारे संसार में फैला हुआ है। अपने यश के इस शुभ्र वस्त्र में रक्त का अमिट धब्बा लगवाना चाहते हो? सोते हुओं को मारना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। तुम यह विचार छोड़ दो।"

यह सुन अश्वत्थामा झल्लाकर बोला—"आपने भी क्या यह धर्म-धर्म की रट लगा रक्खी है? पापी पांडवों ने पिताजी का उस समय वध किया था जब वह अपने सारे अस्त्र-शस्त्र फेंक चुके थे और रथ पर ध्यान-मग्न बैठे हुए थे। धर्म का बन्धन पांडवों के हाथों कभी का टूट चुका है।

अब क्या कुछ धर्म बाकी रह गया है? कीचड़ में फंसे हुए अपने रथ के पहिये को जब कर्ण उठा रहा था तब अर्जुन ने धर्म के विरुद्ध ही उसपर बाण चलाकर मारा था। भीमसेन ने दुर्योधन की कमर के नीचे गदा-प्रहार किया, तब फिर धर्म रहा कहां? पांडवों ने अधर्म की बाढ़ ही ला दी है। ऐसे निर्दयी लोगों से बदला लेते समय धर्म और अधर्म की विवेचना करना ही व्यर्थ है। मेरे पिता के हत्यारे धृष्टद्युम्न को सोते में मारने के फलस्वरूप यदि मुझे कृमि-कीट का भी जन्म लेना पड़े तो भी वह मुझे प्रिय ही होगा।"

दृढ़तापूर्वक अपनी इच्छा जताकर अश्वत्थामा पांडवों के शिविर की ओर जाने को उठा। यह देख कृपाचार्य और कृतवर्मा भी उठ खड़े हुए और बोले—"अश्वत्थामा! आज तुम दुःसाहस करने पर ही उतारू मालूम होते हो! अकेले तुम्हारा जाना ठीक नहीं। तुम जो करने जा रहे हो वह उचित नहीं है। पर तुम्हें इस प्रकार शत्रु के मुंह में अकेले नहीं जाने देंगे। हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे।"

यह कहकर कृपाचार्य और कृतवर्मा भी अश्वत्थामा साथ हो लिये।

आधी रात बीत चुकी थी। पांडवों के शिविर में सभी सैनिक मीठी नींद में सो रहे थे। धृष्टद्युम्न भी कवच उतार कर अपने शिविर में बे-सुध-सा सोया पड़ा था। इतने में अश्वत्थामा और उनके दोनों साथी वहां आ पहुंचे। अश्वत्थामा पहले धृष्टद्युम्न के शिविर में घुसा और सोये पड़े धृष्टद्युम्न पर उन्मत की भांति नाचने-कूदने लगा। अश्वत्थामा के पैरों तले कुचला जाकर धृष्टद्युम्न तत्काल ही मर गया। इसी प्रकार सभी पांचाल-वीरों को अश्वत्थामा ने कुचलकर भयानक ढंग से मार डाला, और फिर इसी प्रकार द्रौपदी के पुत्रों की भी एक-एक करके हत्या कर दी।

कृपाचार्य और कृतवर्मा ने भी इस हत्याकांड में अश्वत्थामा का हाथ बंटाया। वहां तीनों ने ऐसे-ऐसे अत्याचार किये जैसे कि भारत में अबतक किसी ने सुने भी न थे। यह कुकर्म करके तीनों ने वहां आग लगा दी। आग भड़क उठी और सारे शिविर में फैल गई। इससे सोये पड़े सारे सैनिक जाग पड़े और भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। उन सबको

अश्वत्थामा ने बड़ी निर्दयता से मार डाला और बोला—"हमारा कर्त्तव्य अब पूरा हुआ । जो कुछ करना था, वह कर चुके । अब दुर्योधन को जाकर यह खुशखबरी सुनानी चाहिए । यदि वह जीवित हुए, तो यह समाचार सुनकर बहुत ही प्रसन्न होंगे ।" यह कहकर तीनों उस स्थान की ओर चले जहां दुर्योधन पड़ा मौत की घड़ियां गिन रहा था ।

: ९५ :

अब विलाप करने से क्या लाभ ?

दुर्योधन के पास पहुंचकर अश्वत्थामा ने कहा—"महाराज दुर्योधन ! आप अभी जीवित हैं क्या ? देखिये, आपके लिए मैं ऐसा अच्छा समाचार लाया हूं कि जिसे सुनकर आपका कलेजा जरूर ठंडा हो जायगा और आप शांति से मर सकेंगे । जो-कुछ हम लोगों ने किया है, उसे आप ध्यान से सुनें । सारे पांचाल खत्म कर दिये गए। पांडवों के भी सारे पुत्र मारे गये । पांडवों की सारी सेना का हमने सोते में ही सर्वनाश कर दिया । पांडवों के पक्ष में अब केवल सात ही व्यक्ति जीवित बच गये हैं । हमारे पक्ष में कृपाचार्य, कृपवर्मा और मैं—तीन रह गये हैं ।"

यह सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"गुरु भाई अश्वत्थामा, आपने मेरी खातिर वह काम किया है जो न भीष्म पितामह से हुआ और न जिसे महावीर कर्ण ही कर सके । अब मैं शांति से मर सकूंगा ।" इतना कहकर दुर्योधन ने अपने प्राण त्याग दिये ।

रात के समय अचानक छापा मारकर अश्वत्थामा और उनके साथियों ने सारी पांडव सेना को तहस-नहस कर दिया, यह जानकर युधिष्ठिर को भारी व्यथा हुई । वह भाइयों से बोले—"अभी-अभी हमें विजय प्राप्त हुई कि इतने में बुरी तरह इस प्रकार हार खा गये । जो परास्त हुए थे, अब तो उनकी ही जीत हो गई । महापराक्रमी कर्ण के भी आक्रमण से द्रौपदी के जो पुत्र बच गये थे, वे ही अब हमारी असावधानी के कारण कीड़ों की भांति जल मरे । हमारी अवस्था ठीक उस व्यपारी की-सी हो गई जो बड़े महासागर को तो बड़ी सुगमता से पार करके अन्त में किसी छोटे-से नाले में डूबकर नष्ट हो जाता है ।"

द्रौपदी की दयनीय अवस्था की क्या कहें कि जिसके पांचों बेटे एक साथ अचानक काल-कवलित हो गये ! वह शोक उसके लिए असह्य हो उठा । धर्मराज युधिष्ठिर के पास आकर वह कातर स्वर में पुकार उठी—"क्या इस पापी अश्वत्थामा से बदला लेनेवाला हमारे यहां कोई नहीं रहा ?"

शोक-विह्वला द्रौपदी की हालत देखकर पांचों पांडव अश्वत्थामा की खोज में निकले । ढूंढ़ते-ढूंढ़ते आखिर उन्होंने गंगा-नदी के तट पर व्यासाश्रम में छिपे अश्वत्थामा का पता लगा ही लिया । पांडवों और श्रीकृष्ण को देखते ही अश्वत्थामा घबरा गया । दिव्यास्त्रों और उनके मंत्रों का तो अश्वत्थामा को ज्ञान ही था ! उसने धीरे-से एक तिनका उठा लिया और अभिमंत्रित करके और 'यह पांडवों के वंश का आमूल नाश करदे' यह कहकर उस तिनके को हवा में छोड़ दिया । मंत्र-बल से वह तिनका अस्त्र बन गया और सीधा राजकुमारी उत्तरा की कोख में जा पहुंचा । पांडव-वंश का नामोनिशान तक इससे मिट गया होता, लेकिन श्रीकृष्ण के प्रताप व अनुग्रह से उत्तरा के गर्भ की रक्षा हो गई । समय पाकर उत्तरा के गर्भ का यही पिंड महाराज परीक्षित के रूप में उत्पन्न हुआ और पांडवों के वंश का एकमात्र चिह्न रह गया ।

•

अश्वत्थामा और भीमसेन में युद्ध छिड़ गया लेकिन अन्त में अश्वत्थामा हार गया । वह अपनी पराजय के चिह्न के रूप में अपने माथे का उज्ज्वल रत्न पांडवों को भेंट करके अरण्य में चला गया । भीमसेन ने वह रत्न द्रौपदी के हाथ में रखा और कहा—"कल्याणी ! यह रत्न तुम्हारी खातिर लाया हूं । जिस दुष्ट ने तुम्हारे पुत्रों की हत्या की थी, वह परास्त कर दिया गया है । दुर्योधन मारा गया और दुःशासन का लहू भी मैंने पिया । इस प्रकार मैंने अपनी सारी प्रतिज्ञाएं पूरी कर लीं । आज मुझे बड़ी शांति अनुभव हो रही है ।"

भीमसेन का दिया वह रत्न द्रौपदी युधिष्ठिर को देकर नम्रता के साथ बोली—"निष्पाप धर्मराज युधिष्ठिर ! इस रत्न को आप अपने मस्तक पर धारण करें ।"

हस्तिनापुर का सारा नगर निःसहाय स्त्रियों और अनाथ बच्चों के रोने-कलपने के हृदयविदारक शब्दों से गूंज उठा। युद्ध समाप्त होने के समाचार पाकर हजारों निःसहाय स्त्रियों को लेकर वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में गये, जहाँ एक ही वंश के लोगों ने—भाई-बन्दों ने—एक-दूसरे से भयानक युद्ध करके अपने कुल का सर्वनाश कर डाला था। अन्धे धृतराष्ट्र ने बीती बातों का स्मरण करते हुए बहुत विलाप किया। पर उनके विलाप को वहां सुनता कौन? वहां तो श्रृगाल और कुत्ते बेरोक-टोक घूम रहे थे और जो अबतक सबके प्रिय थे उनकी लाशों को खींचते-खाते थे। चील, कौवे और गिद्ध लाशों पर से मांस नोचते-खसोटते थे। उन स्त्रियों और वृद्ध धृतराष्ट्र का विलाप सुनकर वे सब एक जोर का कोलाहल कर उठे, मानो कह रहे हों कि अब विलाप करने से लाभ क्या!

: ९६ :

सांत्वना कौन दे ?

संजय ने दुःखी महाराज धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज, दूसरे के सांत्वना देने मात्र से दुःखी का दुःख दूर नहीं हो सकता, यह तो अपने मन को दृढ़ करने से ही होगा। अतः आप धीरज धरें और शांत हों। जिन असंख्य राजा-महाराजाओं ने आपके पुत्र की खातिर युद्ध में प्राण दिये हैं उनके तथा दूसरे मृत बन्धु-बांधवों का अन्तिम संस्कार भी तो आपको करना है।"

धर्मात्मा विदुर ने भी धृतराष्ट्र को सांत्वना देने की चेष्टा की। वह बोले—"महाराज! युद्ध में जिनकी वीरोचित मृत्यु हुई है उनके बारे में तो शोक करना ही नहीं चाहिए। आत्मा अजर एवं अमर है। आत्माओं में न कोई भाई है, न बन्धु। उनमें आपसी नाता-रिश्ता कुछ नहीं होता। आपके जो पुत्र मर गये हैं, उनका अब आपके साथ कोई वास्तविक नाता नहीं रहा। जबतक कोई जीवित रहता है तभीतक उसका रिश्ता माना जाता है। परन्तु देहावसान होने के बाद कोई किसी का नहीं रहता। सभी प्राणी किसी अदृश्य स्थान से आकर संसार में प्रकट होते हैं और फिर

किसी अदृश्य लोक में जाकर लीन हो जाते हैं। जीवन का यही नियम है, इसलिए रोना-कलपना व्यर्थ है। रणभूमि में लड़ते हुए जो प्राण त्यागते हैं वे तो देवराज इन्द्र के अतिथि बनकर देवलोक में निवास करते हैं। इसलिए महाराज, बीती बातों पर विलाप करने से न तो आपको धर्म प्राप्त होगा, न अर्थ, न काम ही। मोक्ष की तो बात ही दूर है। अतः आप शोक करना छोड़ दें।"

इस तरह विदुर ने हर प्रकार से धृतराष्ट्र के व्यथित हृदय को शांत करने की चेष्टा की।

विदुर धृतराष्ट्र को सान्त्वना दे रहे थे कि इतने में भगवान् व्यास भी वहां आ पहुंचे और धृतराष्ट्र को आश्वासन देने लगे। वह बोले—"बेटा, मैं कोई ऐसी नई बात तो तुम्हें बतानेवाला नहीं हूं जो तुम्हें विदित न हो। तुम तो जानते ही हो कि यह जीवन अनित्य है और पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही यह युद्ध हुआ था। मैंने स्वयं भगवान् विष्णु की दिव्य वाणी से यह बात जानी है। इस कारण इस युद्ध को टाला नहीं जा सकता था अतः अब धीरज धारण करो और युधिष्ठिर को ही अपना पुत्र समझो तथा उसको स्नेह-दान करते हुए सुखपूर्वक रहो।" इतना कह व्यासदेव अन्तर्धान हो गये।

कुछ देर बाद धर्मराज युधिष्ठिर रोती-बिलखती हुई स्त्रियों के समूह को पार करते हुए भाइयों व श्रीकृष्ण सहित धृतराष्ट्र के पास आये व नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े खड़े रहे। शोक-विह्वल राजा धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को गले तो लगाया, पर वह आलिंगन स्नेहपूर्ण न था।

इसके बाद धृतराष्ट्र ने भीम को अपने पास बुलाया। धृतराष्ट्र के भाव से श्रीकृष्ण ने अन्दाजा लगाया कि इस समय धृतराष्ट्र पुत्र-शोक के कारण क्रोध में है। इससे भीम को उनके पास भेजना ठीक न होगा। अतः उन्होंने भीमसेन को तो एक तरफ हटा लिया और उसके स्थान पर लोहे की बनी हुई एक प्रतिमा अंधे राजा धृतराष्ट्र के आगे लाकर खड़ी कर दी। श्रीकृष्ण का भय सही साबित हुआ। वृद्ध राजा ने प्रतिमा को भीम समझकर ज्योंही छाती से लगाया त्योंही उन्हें याद हो आया कि मेरे कितने ही प्यारे बेटों को इस भीम ने मार डाला है। इस विचार के मन

में आते ही धृतराष्ट्र क्षुब्ध हो उठे और उसे जोरों से छाती से लगाकर कस लिया। प्रतिमा चूर-चूर हो गई।

पर प्रतिमा के भग्न हो जाने के बाद धृतराष्ट्र को खयाल आया कि मैंने यह क्या कर डाला? वह दुःखी हो गये और शोक-विह्वल होकर बोले—"हाय! क्रोध में आकर मूर्खतावश मैंने यह क्या कर डाला। भीम की हत्या कर दी!" और यह कहकर बुरी तरह विलाप करने लगे।

इसपर श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा—"राजन्, क्षमा करें! मुझे पहले से ही मालूम था कि क्रोध में आकर आप ऐसा काम करेंगे। इसलिए उस अनर्थ को टालने के लिए मैंने पहले से ही उचित प्रबंध कर रखा था। आपने जिसको नष्ट किया वह भीमसेन का शरीर नहीं, बल्कि लोहे की मूर्ति थी। आपके क्रोध का ताप उस प्रतिमा पर ही उतरकर शांत हो गया। भीमसेन अभी जीवित है।"

यह सुन धृतराष्ट्र के मन को धीरज बंधा और उन्होंने अपना क्रोध शांत कर लिया। उन्होंने सभी पांडवों को आशीर्वाद देकर विदा किया। धृतराष्ट्र से आज्ञा पाकर पांचों भाई श्रीकृष्ण के साथ देवी गांधारी के पास गये।

पांडवों के जाने से पहले ही व्यासजी गांधारी के पास पहुंच चुके थे और शोकातुर गांधारी को सांत्वना देते हुए कह रहे थे—"देवी! पांडवों पर नाराज न होओ। उनके प्रति मन में द्वेष को स्थान न दो। याद है तुम्हें, युद्ध छिड़ने से पहले तुमने ही कहा था कि जहां धर्म होगा, जीत भी उन्हींकी होगी। और आखिर वही हुआ। जो बातें हो चुकी हैं, उनका विचार करके मन में वैर रखना उचित नहीं। तुम्हारी सहनशीलता और धैर्य का यश संसार भर में फैला हुआ हैं। अब तुम अपने स्वभाव को न बदलना।"

गांधारी बोलीं—"भगवन्! मैं जानती हूं कि पुत्रों के वियोग के दुःख से मेरी बुद्धि अस्थिर हो उठी है, परन्तु फिर भी पांडवों के सौभाग्य पर मैं ईर्ष्या नहीं करती। आखिर वे भी मेरे लिए पुत्रों के ही बराबर हैं। मैं जानती हूं कि दुःशासन और शकुनि ही इस कुल के नाश के मूल कारण थे

और यह भी मुझे विदित है कि अर्जुन और भीम निर्दोष हैं। अपनी सत्ता के मद के कारण मेरे पुत्रों ने यह युद्ध छेड़ा था। अतः उनका मारा जाना उचित ही था और इसके लिए मैं पांडवों को कुछ भी दोष नहीं देना चाहती। परन्तु एक बात सुनकर मुझे खेद व शोक हुआ। श्रीकृष्ण के देखते हुए, भीमसेन ने दुर्योधन को गदा-युद्ध के लिए ललकारा, दोनों में युद्ध हुआ। यहांतक भी ठीक था। भीमसेन जानता था कि गदा-युद्ध में वह दुर्योधन की बराबरी नहीं कर सकता। लेकिन भीम ने नियम के विरुद्ध दुर्योधन को कमर के नीचे गदा मारकर उसे जो गिरा दिया, वह मुझसे नहीं सहा जाता।"

भीम को भी दुर्योधन को अनीति से मारने का दुःख हो रहा था। गांधारी की बातें सुनकर उसे दुःख हुआ और क्षमा-याचना करता हुआ बोला—"मां! युद्ध में अपने बचाव के लिए मुझसे ऐसा हुआ। वह धर्म हुआ या अधर्म, आप उसके लिए मुझे क्षमा कर दें। धर्म-युद्ध करके दुर्योधन से जीत सकना संभव न था, वह अजेय था। यही कारण था कि मुझे अधर्म बरतना पड़ा। पर यह भी तो सोचिये कि दुर्योधन ने सीधे-सादे युधिष्ठिर को जुआ खिलवाकर धोखा दिया और उनका राज्य छीन लिया। उसने हम सबको तरह-तरह के कष्ट पहुंचाए और हमारे विरुद्ध कुचक्र रचे। बहुत समझाने-बुझाने पर भी उसने हमारा राज्य न लौटाने का हठ किया। द्रौपदी का भरी सभा में जो घोर अपमान हुआ वह आपको अच्छी तरह मालूम ही है। उस समय मुझे इतना गुस्सा आया कि उसी सभा में मैंने दुर्योधन का वध कर दिया होता। तब शायद आप भी उसे अन्याय नहीं समझतीं। पर मैं ऐसा नहीं कर सका; क्योंकि उस समय हम धर्मराज युधिष्ठिर के कारण प्रतिज्ञा में बंधे हुए थे। अतएव कुछ कर नहीं सकते थे। मन मारकर खड़े-खड़े देखते रहे। मैंने युद्धक्षेत्र में उसी अपमान का बदला लिया है। हां, कुछ अनीति जरूर बरतनी पड़ी। उसके लिए मां, आप हमपर क्रोध न करें। पर अपने मन को शांत करें और हमें क्षमा ही कर दें।"

यह सुनकर गांधारी करुण स्वर में बोलीं—"बेटा! यदि तुमने मेरे सौ बेटों में से किसी एक को भी जीवित छोड़ा होता तो हम दोनों उसीके आसरे संतोष कर लेते। लेकिन तुमने तो मेरे सौ-के-सौ बेटों को मार डाला।"

कहते-कहते बूढ़ी गांधारी का गला भर आया। पर थोड़ी देर में वह संभल गईं। उन्हें क्रोध बहुत आ रहा था। उन्होंने युधिष्ठिर को बुलाया। युधिष्ठिर डरते-डरते गांधारी के आगे आये और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। यद्यपि गांधारी ने आंखों पर कपड़े की पट्टी बांध रक्खी थी, फिर भी युधिष्ठिर की उनकी ओर देखने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी।

युधिष्ठिर की नम्र बातों से गांधारी द्रवित हो उठीं। वह कुछ न बोलीं। उन्होंने युधिष्ठिर की ओर देखा भी नहीं। उन्हें भय था कि युधिष्ठिर पर मेरी क्रुद्ध दृष्टि पड़ गई तो वह कहीं भस्म न हो जाय। इसलिए उन्होंने अपना मुख दूसरी तरफ फेर लिया। फिर भी युधिष्ठिर के पांव की अंगुलियों पर उनकी ज़रा-सी निगाह पड़ ही गई। निगाह पड़ते ही उनकी अंगुलियां काली और विकृत हो गईं।

गांधारी का यह शोकोद्वेग देखकर अर्जुन भी डर गया और श्रीकृष्ण के पीछे ही खड़ा रहा। कुछ बोला नहीं।

महाबुद्धिमती और साध्वी गांधारी ने अपने दग्ध हृदय को धीरे-धीरे शांत कर लिया और पांडवों को आशीर्वाद देकर विदा किया।

युधिष्ठिर आदि सब वहां से चले गये, पर द्रौपदी वहीं गांधारी के पास ही रही। अपने पांचों सुकुमार बालकों के मारे जाने के कारण द्रौपदी शोक-विह्वल होकर रो रही थी। उसकी उस अवस्था पर गांधारी को बड़ी दया आई। वह बोली—"बेटी, दुःखी न होओ। मैं और तुम एक ही जैसी हैं। हमें सान्त्वना देने वाला कौन है? इस सबकी दोषी तो मैं ही हूं। मेरे ही दोष के कारण आज इस कुल का सर्वनाश हुआ है। पर अब अपने को भी दोष देने से क्या लाभ?"

: ९७ :

युधिष्ठिर की वेदना

कुरुक्षेत्र के युद्ध में मारे गये बन्धु-बांधवों की आत्म-शांति के लिए तिलांजलि देने के बाद पांचों पांडव गंगा-किनारे एक महीने तक ठहरे।

इन्हीं दिनों एक रोज़ नारद मुनि वहां पधारे। उन्होंने युधिष्ठिर से

प्रश्न किया—"धर्मपुत्र! भगवान कृष्ण के अनुग्रह, धनंजय के बाहुबल और अपनी धर्मपरायणता के बल से तुम्हें विजय का यश प्राप्त हुआ और सारा राज्य अब तुम्हारा ही हो गया। क्यों, अब तो सन्तुष्ट हो न?"

युधिष्ठिर ने रुंधे हुए स्वर से कहा—"भगवन्, यह बात सच है कि सारा राज्य मेरे अधीन हो गया है। फिर भी इस विजय को मैं भारी पराजय ही समझता हूं। जिसमें मेरे बंधु-बांधव मारे गये, जिसकी प्राप्ति के लिए हमें अपने प्यारे पुत्रों की बलि चढ़ानी पड़ी, उसे विजय कैसे कहा जाय? मुनिवर, जो अपने व्रत पर आजीवन अटल रहे और जिनकी युद्ध-कुशलता पर सारा संसार मुग्ध था, अपने उस बड़े भाई कर्ण को शत्रु समझकर हमने मार डाला। राज्य के लोभ में पड़कर ही तो हमने यह घोर पाप कर डाला। जिस वीर ने अपनी माता से की हुई प्रतिज्ञा का पालन करते हुए हम लोगों को प्राणों की भीख दी थी, अपने उसी भाई को हमने अन्याय से मारा। आप ही बताइये कि मुझसे बढ़कर नीच और दुरात्मा और कौन हो सकता है? महर्षि, आप संतुष्ट होने की बात पूछते हैं, मेरा हृदय तो आज जिस व्यथा से भरा हुआ है उसका कहना ही कठिन है। कर्ण के पैर माता कुंती के पैरों से बिल्कुल मिलते थे। राजसभा में उन्होंने जब हमारा अपमान किया था, तब मुझे क्रोध तो बहुत आ रहा था; किन्तु ज्यों ही उनके पैरों पर मेरी दृष्टि पड़ती थी, न जाने कैसे मेरा क्रोध शान्त हो जाता था। जब यह पता चला कि कर्ण हमारा बड़ा भाई था, तब उस बात का रहस्य में आया।"

इतना कहकर युधिष्ठिर ने दीर्घ निःश्वास लिया। वह ये बातें याद कर-करके बड़े व्यथित हो जाते थे। इसपर नारद मुनि ने कर्ण के शाप पाने का सारा हाल युधिष्ठिर को सुनाया और उनकी व्यथा दूर करने की चेष्टा की।

युवावस्था में कर्ण को जब यह बात मालूम हुई कि अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञान में अर्जुन उससे बहुत बढ़ा-चढ़ा है तो उसने द्रोणाचार्य से प्रार्थना की कि वह उसे ब्रह्मास्त्र चलाना सिखाने की कृपा करें। आचार्य द्रोण ने उसकी प्रार्थना अस्वीकार करते हुए कहा कि ब्रह्मास्त्र की विद्या या

तो किसी शीलवान् ब्राह्मण को ही सिखाई जा सकती है या किसी ऐसे क्षत्रिय को, जिसने कठिन तपस्या करके अपने आपको पवित्र बना लिया हो। इसके अलावा किसी को ब्रह्मास्त्र की विद्या नहीं सिखलाई जा सकती। यह सुन कर्ण महेन्द्र पर्वत पर गया, जहाँ परशुराम आश्रम बनाकर रहा करते थे। कर्ण ने यह भी सुन रक्खा था कि परशुराम केवल ब्राह्मणों को ही शिष्य बनाते हैं। इस कारण कर्ण ने परशुराम से झूठमूठ कह दिया कि मैं ब्राह्मण हूं। परशुराम ने उसे शिष्य बना लिया। परशुराम के साथ रहकर कर्ण धनुर्वेद और अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने लगा।

एक दिन कर्ण अकेला बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था कि इतने में दैवयोग से आश्रम के नजदीक चरनेवाली एक गाय को उसका बाण लग गया और वह गाय वहीं मर गई। जिस ब्राह्मण की वह गाय थी उसने क्रोध में आकर कर्ण को शाप दिया कि युद्ध में तुम्हारे रथ का पहिया कीच में धंस जायगा और तुम भी उसी तरह मारे जाओगे जैसे मेरी गाय मारी गई।

परशुराम कर्ण को बहुत प्यार करते थे। उसे उन्होंने धनुर्विद्या की सारी बातें सिखलाईं और ब्रह्मास्त्र चलाने और वापस लेने का रहस्य भी बतला दिया।

पर इसी बीच एक दिन परशुराम कर्ण की गोद में सिर रखकर सो रहे थे। इतने में एक भौंरा कर्ण की जांघ के नीचे घुस गया और काटने लगा। परन्तु कर्ण टस-से-मस न हुआ। उसे भय हुआ कि कहीं हिलने-डुलने से परशुरामजी की नींद न टूट जाय। इतने में भौंरे के काटने के कारण कर्ण की जांघ से रक्त की धारा बहने लगी। गरम-गरम लहू के स्पर्श से परशुराम की नींद खुल गई। उन्होंने आंखें खोलीं तो देखते क्या हैं कि इतना खून बह निकलने पर भी कर्ण अविचलित भाव से पीड़ा सहता हुआ बैठा है। परशुराम को समझते देर न लगी कि कर्ण ब्राह्मण नहीं, बल्कि क्षत्रिय है। उन्हें असीम क्रोध हुआ। उसी आवेश में क्षत्रियों के शत्रु परशुराम ने कर्ण को शाप दे दिया कि जो विद्या तुमने मुझसे सीखी, वह ऐन वक्त पर तुम्हारे काम नहीं आयेगी।

कर्ण दानवीर भी था। एक बार इंद्र ने ब्राह्मण के वेश में आकर कर्ण से उसके जन्म-जात कवच-कुंडलों की याचना की। कवच के न रहने पर उसकी शक्ति पहले की-सी न रहेगी, वह कमजोर हो जायगा, यह जानते हुए भी कर्ण ने तुरन्त कवच-कुंडल देवराज को दे दिये।

कर्ण के बारे में ये सब बात सुनाने के बाद नारदजी ने कहा—"युधिष्ठिर! इन कई कारणों के परिणामस्वरूप कर्ण का वध हुआ। माता कुंती से उसने प्रतिज्ञा की थी, परशुराम और गायवाले ब्राह्मण के शाप से वह कमजोर हो चुका था, भीष्म पितामह ने उसे महारथियों में गिनने से इन्कार करके उसका अपमान किया और शल्य ने उसकी अवहेलना की। इन सब बातों से और श्रीकृष्ण के कौशल से कर्ण मारा गया। अतः तुम यह न समझो कि तुम्हारे ही कारण कर्ण का वध हुआ। तुम्हारा इतना व्यथित होना ठीक नहीं।"

कुंती बोली—"बेटा, तुम उदास न होओ। मैंने कर्ण को बहुत समझाया था कि दुर्योधन का साथ छोड़ दे। स्वयं उसके पिता भगवान् सूर्य ने भी उसको यही सलाह दी थी। किन्तु कर्ण ने किसी की न सुनी। इस कारण अपनी मृत्यु का तो वह स्वयं ही कारण बना। तुम अपने मन पर ज़रा भी बोझ न रखो।"

कुंती की बात सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—"मां! तुमने कर्ण के जन्म के रहस्य को छिपाए रक्खा। इस कारण हमें उनका असली परिचय न मिल सका। इसी कारण मुझे इतनी व्यथा हो रही है। यह सब तुम्हारे कारण ही हुआ। मैं शाप देता हूं कि आज से स्त्रियां किसी भी रहस्य को गुप्त न रख सकेंगी।"

यह कथा पौराणिकों की कल्पना मालूम होती है। प्रायः लोग समझते हैं कि स्त्रियां किसी भी रहस्य को हज़्म नहीं कर सकतीं। इसी लोकमत के आधार पर इस कहानी की सुन्दर ढंग से कल्पना की गई है। किसी रहस्य को गुप्त रखने से दुनियादारी की दृष्टि से चाहे फायदा हो या नुकसान, पर धार्मिकता की दृष्टि से यह कोई इतना उत्तम गुण नहीं

समझा जाता। अतः स्त्रियों को इस बात को कभी महसूस करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी बात को गुप्त रखने की शक्ति न होना धर्म के पथ पर रोड़ा नहीं बन सकता। सम्भव है कि स्वाभाविक प्रेम के कारण ही स्त्रियां किसी बात को गुप्त रखने में असमर्थ होती हों।

लोकमत ऐसा होने पर भी, कितनी ही स्त्रियां ऐसी हैं जो रहस्यों को भलीभांति गुप्त रख लिया करती हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुरुषों में सभी बातें पचाने की सामर्थ्य होती है। भिन्न-भिन्न अभ्यासों व वृत्तियों के कारण प्रायः लोगों में जो भिन्नताएं दिखाई देती हैं उन्हें स्त्रियोचित या पुरुषोचित कहकर विभक्त कर देना संसार का स्वभाव है।

: ९८ :

शोक और सांत्वना

युधिष्ठिर के मन में यह बात समा गई थी कि हमने अपने बंधु-बांधवों को मारकर राज्य पाया है। इससे उनको भारी व्यथा रहने लगी। वह यही सोचते रहते। अन्त में उन्होंने संन्यास लेकर वन में जाने का निश्चय किया ताकि इस पाप का प्रायश्चित्त हो सके। इस विचार से उन्होंने सब भाइयों को बुलाकर कहा—"भाइयो ! मुझे न राज करने की चाह है, न भोग की। अब तुम्हीं सब इस राज्य को संभालो। मैं तो वन में जाकर तपस्या करना चाहता हूं।"

यह सुनकर सब भाइयों पर मानो वज्र गिर गया। वे बहुत चिंतित हो उठे और बारी-बारी से सब युधिष्ठिर को समझने लगे।

अर्जुन ने गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला। उसने कहा कि गृहस्थ रखते हुए भी किस प्रकार बहुत ही अच्छे पुण्य कर्म किये जा सकते हैं।

भीमसेन ने कटु वचनों से काम लिया। वह बोला—"महाराज, आप भी उन्हीं मन्द-मति लोगों की तरह बात करने लगे हैं जो शास्त्रों की रट लगाते हैं और धर्म का रहस्य जाने बगैर धर्म की दुहाई देते हैं।

संन्यास क्षत्रियों का धर्म नहीं है; बल्कि अपने कर्त्तव्यों का भलीभाँति पालन करते हुए जीवन बिताना ही क्षत्रिय का धर्म है।"

नकुल ने प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कर्म-मार्ग न केवल सुगम है बल्कि उचित भी, जबकि संन्यास-मार्ग कंटीला और दुष्कर है। इस तरह देर तक युधिष्ठिर से वाद-विवाद होता रहा।

सहदेव ने नकुल के पक्ष का समर्थन किया और अन्त में अनुरोध किया कि हमारे पिता, माता, आचार्य और बन्धु सब-कुछ आप ही हैं। हमारी ढिठाई क्षमा करें।

द्रौपदी भी इस वाद-विवाद में पीछे न रही। वह बोली—"महाराज ! दुर्योधन और उसके पक्ष के लोगों को मारना बिलकुल न्यायसंगत था। उसपर पछताने की आवश्यकता ही नहीं। कुकर्म करनेवालों को दण्ड देना राजा के कर्त्तव्यों में से ही है और उसका पालन करना उनके लिए अनिवार्य होता है। जिन्होंने पाप-कर्म किमे थे, उन्हीं को तो आपने दण्ड दिया है ! तब फिर उसपर पश्चात्ताप करने की आवश्यकता ही क्या है ? अब तो आपका यही कर्त्तव्य है कि राजोचित धर्म का पालन करते हुए राज्य-शासन करें और सोच न करें।"

इसी चर्चा के बीच भगवान् व्यास भी वहां आ पहुंचे और उन्होंने इतिहासों और शास्त्रों के कई प्रमाण देकर युधिष्ठिर की शंका दूर करने की चेष्टा की। उन्हें राज्य-शासन का भार वहन करने को राजी कर लिया। इसके बाद हस्तिनापुर में युधिष्ठिर का बड़ी धूमधाम के साथ राज्याभिषेक हुआ।

शासन-सूत्र ग्रहण करने से पहले युधिष्ठिर महात्मा भीष्म के पास गये, जो कुरुक्षेत्र में शर-शैया पर पड़े तपस्या करते हुए, मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्म का मर्म समझाया।

युधिष्ठिर को भीष्म पितामह ने जो उपदेश दिया वह महाभारत के शांतिपर्व में है। इस महाग्रंथ का यह एक सुविख्यात भाग है और अपने में सम्पूर्ण शास्त्र है।

युधिष्ठिर को उपदेश देने के बाद भीष्म पितामह ने शरीर त्यागा।

परंपरागत प्रथा के अनुसार युधिष्ठिर ने गंगा में भीष्म पितामह का जल-तर्पण किया। तर्पण के बाद जैसे ही वह जल से निकले और किनारे पर आये कि उनके मन में अतीत की घटनाओं का स्मरण हो आया। वह फिर शोक-विह्वल हो उठे और धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़े, जैसे शिकारी का बाण लगाने पर हाथी गिरता है।

भीमसेन ने उनको तुरन्त उठाकर छाती से लगा लिया और सांत्वना व शांति की बातें कहकर बहुत आश्वासन दिया।

धृतराष्ट्र भी युधिष्ठिर के पास आकर सांत्वना देते हुए बोले—"बेटा, तुम्हें इस तरह शोक-विह्वल नहीं होना चाहिए! चलो उठो। अपने बन्धुओं और मित्रों के साथ राज्य का शासन करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। शोक तो मुझे और गांधारी को करना चाहिए। तुमने तो क्षत्रियोचित धर्म का पालन करते हुए विजय प्राप्त की है। अब तुम्हें विजेता के योग्य कर्तव्यों का भी पालन करना होगा। अपनी नासमझी से मैंने भैया विदुर की सलाह न मानी, उसीका यह घोर परिणाम हुआ है। दुर्योधन ने जो मूर्खताएं कीं, उनको सही समझकर मैंने धोखा खाया। इस कारण मेरे सौ-के-सौ पुत्र उसी भांति काल-कवलित हो गये जैसे सपने में मिला धन नींद खुलने पर लोप हो जाता है। अब तुम्हीं मेरे पुत्र हो। इस कारण तुम्हें दुःखी न होना चाहिए।"

: ९९ :

ईर्ष्या

पितामह भीष्म को जलांजलि देने के बाद जब युधिष्ठिर शोकमग्न हो गये तो व्यासजी ने उन्हें शांत करने के लिए एक कथा सुनाई :—

कोई चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, कितना ही विवेकशील क्यों न हो, ईर्ष्या उसका पतन कर देती है। ईर्ष्या से लोग अपमानित हो जाते हैं। बृहस्पति देवताओं के आचार्य थे। सभी वेदों तथा शास्त्रों के ज्ञाता थे और बहुत बड़े विद्वान थे। पर उनको भी ईर्ष्यावश अपमानित होना पड़ा था।

बृहस्पति के एक भाई थे जिनका नाम था संवर्त। वह बड़े विद्वान् और सज्जन थे। इस कारण बृहस्पति को उनसे ईर्ष्या होने लगी। सज्जनों से लोग उनकी सज्जनता के कारण ही जलते हैं, यह बात कुछ विलक्षण मालूम होने पर भी सच है।

अपनी ईर्ष्या के कारण बृहस्पति ने संवर्त को कई तरह की तकलीफें दीं। यहांतक कि संवर्त तंग आकर घर से निकल भागे और पागलों का-सा बाना धारण करके गांव-गांव घूमने-भटकने लगे।

उन्हीं दिनों इक्ष्वाकु वंश के मरुत नाम के राजा ने महादेवजी को अपनी कठोर तपस्या से प्रसन्न करके उनके वरदान से हिमालय की किसी चोटी पर से सोने की राशि प्राप्त कर ली और उसको लेकर एक महायज्ञ करने का आयोजन किया। उसने देवगुरु बृहस्पति से यज्ञ कराने की प्रार्थना की।

पर बृहस्पति को भय हुआ कि इतना भारी यज्ञ करके राजा मरुत कहीं देवराज से अधिक यश न प्राप्त कर लें। इस कारण उन्होंने मरुत को यज्ञ कराने से इन्कार कर दिया।

राजा मरुत इससे निराश तो हुए पर उनको बृहस्पति के भाई संवर्त का पता लग गया और उन्होंने उनसे यज्ञ की पुरोहिताई करने की प्रार्थना की। पहले तो संवर्त ने बृहस्पति के भय के कारण इन्कार किया पर राजा के बहुत आग्रह करने पर राजी हो गये।

बृहस्पति को जब यह मालूम हुआ कि संवर्त राजा मरुत का यज्ञ कराने वाले हैं तो उनकी ईर्ष्या और भी बढ़ गई। ईर्ष्या की आग उनके मन में इस प्रकार प्रबल हो उठी कि वह उससे दिन पर दिन दुबले होने लगे। उनकी देह की कांति फीकी पड़ गई और उनकी बड़ी दयनीय दशा हो गई।

आचार्य की यह दशा देखकर देवराज बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने बृहस्पति को बुलाया और उनका अदर-सत्कार करके कुशल पूछी और बोले—"आचार्य! आप दुबले क्यों हो रहे हैं? नींद तो आती है न? सेवक लोग आपकी सेवा-टहल तो ठीक से कर रहे हैं न? देवता लोग आपका यथोचित आदर तो कर रहे हैं न? कहीं किसीसे कोई अपराध तो नहीं हुआ?"

बृहस्पति ने उत्तर दिया—"देवराज ! कोमल शैया पर आराम से सोया करता हूं। सेवक लोग प्रेमपूर्वक सेवा-टहल कर रहे हैं। देवताओं के व्यवाहार में भी कोई अन्तर नहीं आया है।" वह इतना ही कह सके, आगे उनसे कुछ नहीं बोला गया। दुःख के कारण उनका गला रुँध गया।

देवगुरु का यह हाल देखकर देवराज का जी भर गया। स्नेहपूर्वक पूछा—"गुरुदेव, क्या बात है जो आप इतने व्यथित हो रहे हैं ? आपका रंग फीका पड़ गया है और आप दुबले भी बहुत हो गये हैं। आखिर बात क्या है ?"

देवराज के बहुत आग्रह करने पर बृहस्पति ने कहा—"मेरा भाई संवर्त राजा मरुत के महायज्ञ की पुरोहिताई करने वाला है। यह मुझसे सहन नहीं हो रहा है। यही कारण है कि मैं दुःखी और दुबला हो रहा हूं।"

यह सुन कर देवराज अचंभे में आ गये। वह बोले—"ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! आपको तो सारी इच्छित वस्तुएं प्राप्त हैं। आप हम देवताओं के पुरोहित और मन्त्री हैं। आप इतने बुद्धिमान हैं कि आपकी सलाह का सभी देवता मान करते हैं। तो फिर बेचारा संवर्त आपका बिगाड़ ही क्या सतता है ? आप व्यर्थ ही उससे क्यों दुःखी हो रहे हैं ?"

पर-उपदेश-कुशल इंद्र ने अपने अतीत को मानो बिसार ही दिया और स्वयं आचार्य बृहस्पति को ईर्ष्या न करने का उपदेश देने लगा। बृहस्पति ने उनको उनकी भूली हुई बातों का स्मरण कराते हुए कहा—"देवराज ! अपने किसी शत्रु की बढ़ती देखकर तुम कभी चैन से सोये हो ? अपनी स्थिति से मेरी स्थिति की कल्पना करो। मेरी भी वही बात है। तुम्हारा अब यह कर्त्तव्य है कि किसी तरह संवर्त की बढ़ती रोको और मेरी रक्षा करो।"

यह सुन देवराज ने अग्नि को बुलाकर कह दिया कि राजा मरुत के यहां जाकर किसी तरह उसका महायज्ञ रोकने का प्रयत्न करें।

आज्ञा पाकर अग्निदेव मृत्युलोक को रवाना हुए। जब स्वयं अग्निदेव ही क्रोध में आ जायं तो फिर पूछना ही क्या ! रास्ते के लहलहाते

पेड़-पौधों को जलाते-उजाड़ते हुए और अपनी भयानक गर्जना से पृथ्वी को कंपाते हुए अग्निदेव प्रबल वेग से चले और राजा मरुत के आगे देव-रूप में जा खड़े हुए।

अग्निदेव को अपने यहां आया हुआ देखकर राजा मरुत के आनन्द की सीमा न रही। वह दैवी अतिथि का सत्कार करने दौड़ा।

"कोई है ? जल्दी से आसन लाओ अर्घ्य, पाद्य और गाय ! शीघ्रता करो !"—राजा ने परिचरों को आज्ञा देकर कहा।

सत्कार व पूजा हो चुकने के बाद अग्निदेव ने अपने आने का कारण बताया और बोले—"राजन्, संवर्त को अपने यहां से हटा दो। यदि चाहो तो स्वयं बृहस्पति को भी पुरोहिताई करने को राजी कर दूंगा।"

संवर्त भी वहीं उपस्थित थे। अग्निदेव की बात सुनकर वह क्रोध में आ गये। नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने के कारण संवर्त की शक्ति और तेज वृद्धि पर थे।

वह अग्नि से बोले—"देखो अग्निदेव, आप ऐसी बातें न करें। मैं आपको सावधान किये देता हूं। मुझे अगर क्रोध आ गया तो आपको मैं अपनी दृष्टि से ही जलाकर भस्म कर दूंगा।"

ब्रह्मचर्य में तो वह शक्ति होती है जिससे आग भी भस्म हो जाती है।

संवर्त की बातें सुनते ही अग्निदेव भय से पीपल के पत्ते की तरह कांपते वापस इंद्र-भवन को लौट आये और देवराज को सारा हाल सुनाया।

लेकिन देवराज को उनकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ। वह बोले—"आप ये कैसी अजीब बात बता रहे हैं अग्निदेव ! अरे, तुम तो स्वयं दूसरों को जलानेवाले हो ! कोई तुम्हें कैसे भस्म कर सकता है ?"

अग्नि ने ताना देते हुए कहा—"ऐसा न कहिये, देवराज ! दूर क्यों जाते हैं; ब्रह्म-तेज एवं ब्रह्मचर्य की शक्ति से तो आप स्वयं भी अपरिचित नहीं हैं !"

देवराज को ब्राह्मणों का अपमान करने के कारण जो कष्ट उठाने पड़े थे, अग्निदेव का उनकी ओर ही इशारा था। इंद्र समझ गये और अग्नि से निराश होकर उन्होंने एक गन्धर्व को बुलाकर आज्ञा दी कि मरुत के पास जाकर मेरा यह सन्देश सुनाओ कि यदि वह संवर्त का साथ न

छोड़ेगा तो मैं उसका शत्रु बन जाऊंगा और फिर उसका सर्वनाश निश्चित ही है।"

आज्ञा पाकर गन्धर्व मरुत राजा के पास गया और इन्द्र का संदेसा कह सुनाया।

पर मरुत राजा इन्द्र की बात मानने को तैयार नहीं हुआ। वह बोला—"अपने मित्र से छल करना घोर पाप है। मैं इस समय संवर्त का साथ नहीं छोड़ सकता।"

गंधर्व ने कहा—"राजन्, जब इन्द्र तुम पर वज्र-प्रहार करेंगे तब तुम कैसे बचोगे?" गन्धर्व की बात पूरी भी न हो पाई थी कि आकाश में इन्द्र के वज्र की कड़क सुनाई देने लगी।

उसे सुनकर राजा मरुत का हृदय दहल गया। उसने समझा कि इन्द्र ने हमला कर दिया है। वह संवर्त के पास गया और उन्हीं की शरण ली।

संवर्त ने राजा को अभय देकर कहा—"डरो मत!" और अपनी तपस्या का शक्ति का इन्द्र पर प्रयोग कर दिया। बस, वही इन्द्र जो आक्रमणकारी बनकर आये थे मूर्तिमान शान्ति की तरह नम्रतापूर्वक आकर राजा मरुत के यज्ञ में सम्मिलित हुए और सानन्द हवि ग्रहण कर चले गये। बृहस्पति ने ईर्ष्या-वश जो प्रयत्न किये थे, सब इस तरह बेकार हो गए और ब्रह्मचर्य के तेज की जीत हुई।

ईर्ष्या एक ऐसा पाप है जो बड़े-से-बड़े को भी लग जाता है। विद्या की अधीश्वरी सरस्वती तक को लजानेवाले बृहस्पति जब ईर्ष्या के वशीभूत हुए तो साधारण लोगों का तो पूछना ही क्या है!

: १०० :

उत्तंक मुनि

पांडवों से विदा होकर श्रीकृष्ण द्वारका लौट रहे थे। रास्ते में उत्तंक नाम के ब्राह्मणों में उत्तम एक मुनि से उनकी भेंट हुई। उनको देखते ही श्रीकृष्ण ने अपना रथ खड़ा किया और उनको प्रणाम किया।

मुनि उत्तंक ने वन्दना करके श्रीकृष्ण से पूछा—

"माधव! हस्तिनापुर में सब कुशल से तो हैं? पांडवों और कौरवों में स्नेह-भाव बना रहता है न?"

तपस्वी उत्तंक संसार की घटनाओं से बिल्कुल बेखबर थे। उन्हें इतना भी पता न था कि इन्हीं दिनों दोनों में घोर संग्राम हुआ और उसमें कौरवों का विनाश हो गया।

श्रीकृष्ण को ब्राह्मण मुनि का यह प्रश्न पहेली-सा लगा। क्षण भर के लिए उन्हें जवाब न सूझा। थोड़ी देर बाद उन्होंने युद्ध का का सारा हाल बताया और कहा—"द्विजवर, कौरवों और पांडवों में घोर युद्ध हुआ। मैंने अपनी तरफ से शांति-स्थापना की कोई चेष्टा उठा न रखी। परन्तु कौरव कुछ मानते ही न थे। सब के सब युद्ध में मारे गये। भावी को कौन टाल सकता है!"

यह हाल सुनकर उत्तंक को क्रोध हो आया। उनकी आंखें लाल हो उठीं और ओंठ फड़कने लगे। वह बोले—"वासुदेव! तुम्हारे देखते-देखते यह घोर अन्याय हुआ? तुमने कौरवों की रक्षा क्यों नहीं की? तुम चाहते तो उनको बचा सकते थे। अवश्य तुम्हारे छल-कपट के कारण ही उनका नाश हुआ होगा। तुम्हीं उनके नाश का कारण बने होगे। मैं तुम्हें अभी शाप देता हूं।"

उत्तंक मुनि की बात सुनकर श्रीकृष्ण हँसते हुए बोले—"महर्षि, शांत होइये। आप तो बड़े तपस्वी हैं। क्रोध के कारण तपस्या का फल क्यों गंवाते हैं? पहले मेरी बात पूरी तरह सुन लीजिये तब फिर चाहे जो शाप दीजिये।"

इसके बाद श्रीकृष्ण ने मुनि उत्तंक को ज्ञानचक्षु प्रदान करके अपना विश्वरूप दिखलाया और कहा—"संसार की रक्षा एवं धर्म के संस्थापन के लिए ही मैं तरह-तरह के जन्म लेता रहा हूं। जिस समय जिस योनि में जन्म लेता हूं उस अवतार के धर्म का पालन करता हूं। देवताओं में अवतरित होते समय देवताओं का सा व्यवहार करता हूं, यक्ष बना तो यक्षों जैसा और राक्षस बना तो राक्षसों जैसा व्यवहार करता हूं। इसी प्रकार मनुष्य या पशु का जन्म लेने पर मनुष्य या पशु का-सा आचरण करता हूं। जिस समय जिस ढंग से धर्म-संस्थापन का उद्देश्य पूरा हो सके

उस समय उसी रीति से काम किया करता हूं और अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेता हूं। कौरव लोग विवेक खो चुके थे। राज्य-सत्ता के मद में आकर उन्होंने मेरी कोई बात नहीं सुनी। मैंने उनसे विनती की, डराया-धमकाया भी और अपना विश्वरूप भी उन्हें दिखलाया। किन्तु मेरे सारे प्रयत्न विफल हुए। अधर्म का भूत उनपर सवार था। इस कारण वे अपना हठ नहीं छोड़ते थे। युद्ध की आग में वे स्वयं ही कूदे और नष्ट हुए। अतएव द्विज-श्रेष्ठ ! इस बारे में मुझपर क्रोध करने का कोई कारण नहीं है।"

उत्तंक मुनि ने जब यह देखा-सुना तो एकदम शांत हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर कहा—"मुनिवर, मैं अब आपको कुछ वरदान देना चाहता हूं। आज जो चाहें, मांग लें।"

उत्तंक ने कहा—"हे अच्युत ! तुम्हारा साक्षात्कार ही मेरे लिए वर-दान-स्वरूप है। तुम्हारे विश्वरूप के दर्शन करने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ है, इससे मेरा जीवन सार्थक हुआ। बस, मुझे किसी और वरदान की चाह नहीं।"

परन्तु भगवान् ने बहुत आग्रह किया कि कोई वरदान मांगिये ही। उत्तंक मुनि मरुभूमि के आसपास घूमने-फिरने वाले निःस्पृह तपस्वी थे। अतः उन्होंने कहा—"प्रभो ! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हो तो इतनी कृपा करो कि जब भी और जहां कहीं भी मुझे प्यास बुझाने के लिए जल की आवश्यकता हो, मुझे वहीं जल मिल जाया करे।"

"बस ! और कुछ नहीं चाहिए ?" यह कहकर श्रीकृष्ण हँस पड़े और मुनि को वरदान देकर द्वारका की ओर रवाना हो गये।

●

बहुत दिन बाद, एक बार उत्तंक वन में फिर रहे थे तो उन्हें बड़ी प्यास लगी। बहुत ढूंढ़ने पर भी कहीं पानी नहीं मिला। तब उत्तंक ने श्रीकृष्ण का ध्यान किया और तुरन्त उनके समाने एक चाण्डाल खड़ा दिखाई दिया। वह अर्धनग्न था और उसने फटे-पुराने चीथड़े पहन रखे थे। वे इतने मैले थे कि देखते ही घृणा उत्पन्न होती थी। चार-पांच शिकारी कुत्ते उसे घेरे हुए थे। हाथ में वह धनुष लिये था और उसके कन्धे पर

पानी से भरी मशक लटक रही थी।

उत्तंक को देख चाण्डाल हँसता हुआ बोला—"मालूम होता है आप प्यास के मारे परेशान हैं। आपको देखकर मुझे बड़ी दया आती है। यह लीजिये पानी।" कहकर चाण्डाल ने मशक के मुंह पर की बांस की टोंटी आगे बढ़ा दी।

उस चाण्डाल की गन्दी सूरत, उसकी चमड़े की मशक और उसके पास खड़े शिकारी कुत्तों को देखकर उत्तंक ने नाक-भौं सिकोड़ ली और उसका पानी लेने से इन्कार कर दिया।

उत्तंक को बड़ा क्रोध हुआ कि श्रीकृष्ण ने मुझे झूठा वरदान कैसे दिया ? उधर चाण्डाल सामने खड़ा बार-बार मशक बढ़ाकर कह रहा था कि पानी पी लें। ज्यों-त्यों वह आग्रह करता था त्यों त्यों मुनि उत्तंक का क्रोध भी बढ़ता जाता था। एकाएक चाण्डाल कुत्तों-समेत आंखों से ओझल हो गया।

चाण्डाल के यों अचानक अन्तर्धान हो जाने पर उत्तंक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा, कौन था यह ! निश्चय ही चाण्डाल नहीं था। यह तो मेरी परीक्षा हुई थी। अरे रे, मुझसे भारी भूल हो गई। मेरे ज्ञान ने भी समय पर मेरा साथ न दिया। चाण्डाल ही था तो बिगड़ क्या गया था ? मैंने उसके हाथ का पानी पीने से इन्कार करके बड़ी मूर्खता की। यह सोचकर उत्तंक मुनि पश्चात्ताप करने लगे।

थोड़ी देर में शंख और सुदर्शनचक्र लिये भगवान् श्रीकृष्ण उत्तंक के सामने प्रकट हुए।

उत्तंक ने व्यथित होकर कहा—"पुरुषोत्तम ! मेरी इस तरह परीक्षा लेना तुम्हारे लिए ठीक था ? मैं ब्राह्मण हूं। प्यास लगने पर भी किसी चाण्डाल के हाथों मशकवाला गन्दा पानी कैसे पी सकता था ? तुमको मेरे लिए ऐसा पानी भेजना क्या उचित था ?"

श्रीकृष्ण हँसकर बोले—"मुनिवर ! आपने पानी की इच्छा की तो मैंने देवराज से कहा कि उत्तंक मुनि को अमृत ले जाकर पिलाओ। देव-राज ने कहा कि मनुष्य को अमृत नहीं पिलाया जा सकता। कोई और वस्तु भले ही भिजवाइये। अन्त में मेरे आग्रह करने पर देवराज ने

मान तो लिया; पर कहा—"मैं चाण्डाल के रूप में जाऊंगा और पानी के रूप में अमृत पिलाऊंगा। यदि उत्तंक ने न पिया तो नहीं पिलाऊंगा।" मैं देव-राज की बात पर राजी हो गया कि आप तो बड़े ज्ञानी और महात्मा हैं, आपके लिए तो चाण्डाल और ब्राह्मण समान होंगे और चाण्डाल के हाथ का पानी पीने में नहीं सकुचायेंगे। अब आपके इस इन्कार करने से इन्द्र के हाथों मेरी पराजय ही हो गई। इतना कहकर श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो और उत्तंक बहुत ही लज्जित हुए।

: १०१ :

सेर भर आटा

कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हो चुका था और युधिष्ठिर हस्तिनापुर की गद्दी पर आसीन हो चुके थे। महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध का महायज्ञ किया था जिसमें सारे भारत के राजा इकट्ठे हुए थे। यज्ञ बड़ी धूमधाम से हुआ। देश के कोने-कोने में इस बात की घोषणा कर दी गई थी कि जितने भी ब्राह्मण और दीन-दरिद्र लोग जो कुछ दान लेना चाहें वे राजाधिराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में पहुंचें। इस कारण यज्ञशाला में जहां महाराजाओं की जगमगाती भीड़ थी, वहां हर एक जाति और वर्ण के लोग भी दल के दल आकर दान ले जा रहे थे। इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति से और सुचारु रूप से यज्ञ संपन्न हुआ।

यज्ञ के अंतिम दिन अचानक एक बड़ा-सा नेवला यज्ञशाला के बीच में कहीं से आ खड़ा हुआ और बड़ी निर्भीकता के साथ उपस्थित लोगों को देखता हुआ ठहाका मारकर हँसने लगा। एक अदने-से नेवले को इस प्रकार मनुष्यों की तरह हँसते देखकर यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणों के मन में भय-सा छा गया। वे शंकित हो उठे कि कहीं कोई भूत या पिशाच हमारे यज्ञ में विघ्न डालने तो नहीं आ गया। यज्ञ-मण्डप में उपस्थित दूसरे लोग भी चौंककर नेवले को ध्यान से देखने लगे।

नेवले का रूप अनूठा था। उसका आधा शरीर सुनहरा था और आधा साधारण नेवले का-सा। इस अद्भुत नेवले ने दूर-दूर से आये हुए

राजा-महाराजाओं और विद्वान् ब्राह्मणों की ओर देखकर निःसंकोच कहना शुरू किया—

"महामान्य सज्जनवृन्द ! शायद आप लोग सोच रहे होंगे और मन में खुश हो रहे होंगे कि आपने कोई बड़ा भारी यज्ञ संपन्न किया है; परंतु याद रखिये कि यह आपका केवल भ्रम है। इससे पहले एक बार एक महान् यज्ञ हो चुका है। कुरुक्षेत्र में रहनेवाले एक गरीब ब्राह्मण ने केवल एक सेर आटा एक अतिथि को दान में दिया था। लेकिन आप लोगों द्वारा इस यज्ञ में दिये गए अपार दान की, उस गरीब ब्राह्मण द्वारा दिये गए एक सेर आटे के दान से बराबरी नहीं हो सकती। अतः हे उपस्थित सज्जनगण ! मैं आपको चेतावनी देने आया हूं कि आप इस यज्ञ का और इसमें दिये गए दान का अपने मन में गर्व न कीजियेगा।"

नेवले को इस प्रकार बातें करते देखकर यज्ञ-मंडप में उपस्थित लोग आश्चर्य में आ गए। याचक ब्राह्मणों ने उस नेवले से पूछा—"हे नकुल, तुम कौन हो और हम लोगों की इस यज्ञशाला में तुम कहां से आये ? इस यज्ञ की तुम इस प्रकार बुराई किस आधार पर कर रहे हो ? यह महान् अश्वमेध-यज्ञ शास्त्र-विहित सभी सामग्रियों एवं विधियों से किया गया है। इसमें तुम किस प्रकार दोष निकाल रहे हो ? जो लोग इस यज्ञ में आये हैं उन सबकी उचित पूजा हुई है, उनका यथोचित सत्कार किया गया है। जो जितना चाहता था उसे उतना और उसी तरह का दान दिया गया। इस दान से सभी संतुष्ट हुए हैं। मंत्र-पाठ में भी त्रुटि नहीं हुई और अग्नि में आहुतियां भी उचित रीति से दी गई हैं। चारों वर्णों के लोग इससे पूर्णरूप से संतुष्ट हुए हैं। इतना सब कुछ होने पर भी क्या कारण है कि तुम इसे दोषयुक्त बता रहे हो ? हमें समझाकर कहो।"

यह सुन फिर नेवला एक बार कहकहा लगाकर हँसा और बोलने लगा—"हे विप्रगण ! मैंने जो कुछ कहा, बिल्कुल ठीक कहा है। न तो मेरा आप लोगों से कोई द्वेष है और न राजाधिराज युधिष्ठिर से ही मैं कोई ईर्ष्या करता हूं। फिर भी मैं जोर देकर कहता हूं कि आप लोगों ने धूमधाम से इतना धन खर्च करके जो यह महायज्ञ किया वह कुरुक्षेत्रवाले उस ब्राह्मण के दिये दान की समता कदापि नहीं कर सकता।

दानवीर तो वही द्विजवर थे। अपने दान-पुण्य के फलस्वरूप उनको अपनी पत्नी, पुत्र और बहू के साथ विमान में बैठकर सदेह स्वर्ग सिधारते हुए मैंने अपनी आँखों से देखा था। आप सब लोगों को मैं उसका सारा हाल सुनाता हूं।"

●

इस महाभारत-युद्ध से पहले कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण रहा करते थे। खेत में बिखरे हुए अनाज के दानों को चुन-चुनकर इकट्ठा करके वह अपनी आजीविका चलाते थे। ब्राह्मण, उनकी पत्नी, पुत्र और पुत्र-वधू चारों इसी उञ्छ-वृत्ति से दिन गुजारते थे। उन्होंने अपना यह नियम बना रक्खा था कि जो कुछ अनाज इकट्ठा हो उसको बराबर बांटकर तीसरे पहर के शुरू होने से थोड़ी देर पहले खा लिया करें। किसी दिन नियत समय तक कोई भी अनाज नहीं मिलता था। जिस दिन ऐसा होता उस दिन सब उपवास कर लिया करते और अगले दिन अनाज मिलने पर नियत समय पर खा लेते थे।

उसी समय एक बार पानी न बरसने के कारण भारी अकाल पड़ा। सब कहीं लोग भूख-प्यास से तड़पने लगे। जब खेतों में कुछ उगता ही न था तो फसल भी नहीं कटती थी, और जब फसल नहीं कटती तो अनाज के दाने बिखरते कहां से! इस कारण ब्राह्मण और उनके कुटुम्ब को लगातार कई दिनों तक भूखों रहना पड़ा।

एक दिन चारों जने भूखे-प्यासे धूप में तपते हुए दूर दूर तक घूमे-फिरे तब कहीं जाकर सेर-भर ज्वार के दाने इकट्ठे कर पाये। उनका आटा पीसा गया और यथाविधि पूजा-पाठ आदि समाप्त होने पर उसको बराबर चार हिस्सों में बांटकर चारों व्यक्ति आनन्द से खाने बैठे।

ठीक इसी समय कोई भूखा ब्राह्मण वहां आ पहुंचा। अतिथि को आया देख ब्राह्मण ने उठकर उसका विधिवत् सत्कार किया। वे लोग इतने निर्मल हृदय के थे कि स्वयं भूखे रहते हुए भी अतिथि का सत्कार करते हुए उन्होंने ऐसा अनुभव किया मानो उनका जीवन सार्थक हो गया। वे हर्ष से फूले न समाये। उन्होंने अतिथि से पूछा—"विप्रवर, मैं गरीब हूं। यह आटा नियमपूर्वक परिश्रम से कमाया हुआ है। कृपया

आप इसका भोजन करें। आपका कल्याण हो!"

इतना कहकर ब्राह्मण ने अपने हिस्से का आटा अतिथि के सामने रख दिया और अतिथि ने उसे खा लिया। फिर भी उसकी भूख न मिटी। उसने कुछ कहा तो नहीं; लेकिन भूखी नजर से ब्राह्मण की ओर देखा।

ब्राह्मण ने देखा, अतिथि को संतोष नहीं हुआ। इससे वह चिंतित हो गए। उन्हें चिन्तित देखकर उनकी पत्नी ने कहा—"नाथ, मेरे हिस्से का भी आटा अतिथि को खिला दीजिये। यदि उससे उन्हें संतोष हो गया तो मैं भी संतुष्ट हो जाऊंगी।"

पत्नी ने इतना कहकर अपने हिस्से का आटा पति के आगे रख दिया।

लेकिन ब्राह्मण ने पत्नी की बात न मानी। बोले—"सती! तुम्हारा कहना ठीक नहीं। पति का कर्तव्य है कि अपनी स्त्री का भरण-पोषण करे। जब जानवर और कीड़े-मकोड़े तक अपनी मादा का भरण-पोषण सावधानी के साथ करते हैं तो फिर मैं मनुष्य होकर अपनी सेवा करने-वाली पत्नी का भरण-पोषण न करूँ तो मेरा क्या भला होगा? प्रिये! तुम भूखी हो और तुम्हारी हड्डियां निकल आई हैं। शरीर पर मांस का लेश तक नहीं। ऐसी दशा में तुम्हें भूखी रखकर मैं अतिथि का सत्कार करने लग जाऊँ तो मुझे उसका कौन-सा फल प्राप्त होगा?"

यह सुनकर पत्नी ने कहा—"नाथ! मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि सभी बातों में आपका-मेरा समान अधिकार है। जैसे आपने स्वयं भूखे रहते हुए भी अतिथि को अपने हिस्से का आटा खिलाया वैसे ही कृपा करके मेरा भी हिस्सा खिला दीजिये। मेरी यह प्रार्थना अस्वीकार न कीजिये।"

पत्नी के यों आग्रह करने पर ब्राह्मण ने उसके हिस्से का भी आटा अतिथि को खिला दिया। उसे खा चुकने पर भी अतिथि की भूख न मिटी। इस पर ब्राह्मण और भी उदास हो गये।

यह हाल देखकर ब्राह्मण के पुत्र ने कहा—"पिताजी! यह मेरे हिस्से का भी आटा लीजिये और अतिथि को खिला दीजिये।"

यह सुन पिता व्यथित होकर बोले—"बेटा! जो उमर में बूढ़े हैं वे भूख सह सकते हैं। जवानों की भूख बड़ी तेज़ हुआ करती है। मेरा मन

नहीं मानता कि तुम्हारा भी हिस्सा लेकर अतिथि को खिला दूं।"

पर पुत्र ने न माना और अनुरोध करके कहा—"पिताजी ! पिता के बूढ़े हो जाने पर उसकी रक्षा करना पुत्र ही का कर्त्तव्य हो जाता है। यह भी बात नहीं कि पिता और पुत्र अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। आखिर पिता ही तो पुत्र बनता है। इसलिए मेरे हिस्से का आटा भी आप ही का है। आप मेरा हिस्सा स्वीकार कर लें और अधभूखे अतिथि को सन्तुष्ट करें।"

पिता ने हर्ष के साथ कहा—"पुत्र ! धन्य है तुम्हें ! तुम्हारे शील, इंद्रिय-दमन आदि हर बात पर तुमपर मुझे गर्व हो सकता है, तुम्हारा कल्याण हो ! तुम्हारे भी हिस्से का आटा मैं स्वीकार करता हूँ।" —यह कहकर ब्राह्मण ने उसे लेकर अतिथि को खिला दिया।

पर उसे खाने के बाद भी अतिथि का पेट नहीं भरा। उसके मुख पर संतोष की झलक दिखाई न दी। यह देख ब्राह्मण बहुत लज्जित हो गये और किंकर्त्तव्यविमूढ़-से बैठे रहे।

उनका यह हाल देखकर उनकी पुत्र-वधू ने कहा—"पिताजी, मैं भी अपना हिस्सा अतिथिदेव के लिए देती हूँ। लीजिये इसे भी अतिथि को खिला दीजिये। आपके आशीर्वाद से मेरा स्थायी कल्याण होगा।"

बहू की बात सुनकर ब्राह्मण बोले—"बेटी ! अभी तुम लड़की हो। तकलीफ सहते-सहते तुम्हारा रंग भी फीका पड़ गया है और तुम दुबली हो गई हो। तुम्हें भूखी रखकर अतिथि को तुम्हारा कौर खिला दूं तो मैं धर्म को नाश करनेवाला साबित हो जाऊँगा। तुम्हारा भूखों तड़पना मैं कैसे देख सकता हूँ ?"

पर पुत्र-वधू ने आग्रह करके कहा—"पिताजी, आप मेरे स्वामी के पिता हैं, गुरु के गुरु हैं और ईश्वर के ईश्वर हैं। मेरा आटा आपको स्वीकार करना ही होगा। मेरा यह शरीर आपकी सेवा ही के लिए है। आप मेरा आटा लेकर मुझे सद्गति प्राप्त करने के योग्य बनाइये।"

यह सुनकर ब्राह्मण के हर्ष की सीमा रही। मुक्त-कंठ वह बहू को आशीर्वाद देते हुए बोले—"सुशीला बेटी ! पति की इच्छा पर चलने वाली सती ! तुम्हें सारे सौभाग्य प्राप्त हों !"

बहू के हिस्से का भी आटा अतिथि के आगे रख दिया गया। उसे खाकर अतिथि तृप्त हो गए और बहुत प्रसन्न हुए। वह बोले—

"आपने अपनी शक्ति के अनुकूल पवित्र हृदय से जो दान दिया उसे पाकर मैं बहुत संतुष्ट हुआ। आपका दिया दान अदभुत है—निराला है। वह देखिये, देवता भी फूल बरसा रहे हैं। देवर्षिगण, देवता, गंधर्व आदि आपके दर्शन करने के लिए अपने अनुचरों के साथ विमानों में बैठे आकाश में इकट्ठे हो रहे हैं। आप अपनी पत्नी, पुत्र और बहू समेत अभी स्वर्ग सिधारेंगे। आपने जो दान दिया उससे आपको ही नहीं बल्कि आपके पूर्वजों को भी स्वर्गवास का भाग्य प्राप्त होगा। प्रायः देखा जाता है कि भूख से विवेक का नाश हो जाता है और धार्मिकता का विचार जाता रहता है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी भूख के मारे अस्थिर हो उठते हैं, धीरज गँवा देते हैं। आपने जो भूखे रहते हुए भी पुत्र-प्रेम से धर्म को ही अधिक समझा, अतः सैकड़ों राजसूय-यज्ञ, अश्वमेध-यज्ञ भी आपके इस दान की बराबरी नहीं कर सकेंगे। आपका दान उनसे कहीं बढ़कर है। वह देखिये, आपके लिए दिव्य विमान तैयार खड़ा है। चलिये, स्वर्ग सिधारिये।" इतना कहकर विष्णुरूप अतिथिदेव अन्तर्धान हो गये।

अनाज चुनने की वृत्ति रखने वाले ब्राह्मण के स्वर्ग सिधारने का यह हाल सुनाकर नेवले ने कहा—"विप्रगण, उन ब्राह्मण के दान में दिये गए ज्वार के आटे की सुवास सूंघते-सूंघते मेरा सिर सुनहरा बन गया। इसके बाद जहां आटा परोसा गया था, उस स्थान में भी मैं खूब लोटा। आटे के जो कण उस स्थान में बिखरे हुए थे, उनके लग जाने के कारण मेरे शरीर का आधा हिस्सा सुनहरा बनकर जगमगा उठा। इसपर मुझे अभिलाषा हुई कि शरीर का बाकी हिस्सा भी स्वर्णिम बन जाय तो क्या ही अच्छा हो ! इसी अभिलाषा से मैं तपोवनों और यज्ञशालाओं आदि की धूल में लोटता रहा। इतने में सुना कि यशस्वी धर्मराज ने महायज्ञ किया है। सुनते ही खुशी-खुशी यहां दौड़ आया। मुझे आशा थी कि यहां बाकी शरीर भी सुनहरा बन जायगा। परन्तु मेरी आशा पूरी न हुई। इसीलिए कहता हूं कि आपका यह महान् यज्ञ उस ब्राह्मण के सेर भर आटे की बराबरी नहीं कर सकता।"

: १०२ :

पांडवों का धृतराष्ट्र के प्रति बर्ताव

किसी भी वस्तु का लोभ लोगों को तभी तक रहता है जबतक कि वह प्राप्त नहीं हो जाती। ज्यों ही इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाती है त्योंही उसका आकर्षण जाता रहता है। यही नहीं बल्कि नई व्यथाएं और विपदाएं भी आ घेरती हैं। यह बात ठीक है कि युद्ध करना और शत्रुओं को दण्ड देना क्षत्रियों का धर्म होता है; परन्तु फिर भी अपने ही भाइयों व रिश्तेदारों को मारने पर जो राज्य या पद प्राप्त हो, उससे कौन-से सुख की आशा की जा सकती है? अर्जुन ने युद्ध शुरू होने से पहले श्रीकृष्ण से यही कहकर अपनी व्यथा प्रकट की थी। यद्यपि श्रीकृष्ण ने इस शंका का समाधान करते हुए कर्मयोग एवं कर्त्तव्य-पालन का उपदेश दिया था, तो भी अर्जुन ने जो शंका उठाई थी, वह कुछ अंशों में ठीक ही थी—निरर्थक नहीं थी।

कौरवों पर विजय पा लेने के बाद सारे राज्य पर पांडवों का एकछत्र अधिकार हो गया और उन्होंने कर्त्तव्य समझकर राज-काज का भार भी संभाल लिया। परन्तु फिर भी जिस संतोष और सुख की उन्हें आशा थी वह प्राप्त नहीं हुआ।

राजा जनमेजय ने पूछा कि विजय पाकर और राज्य-सत्ता प्राप्त करने पर पांडवों ने महाराज धृतराष्ट्र के साथ कैसा व्यवहार किया? इस प्रश्न के उत्तर में वैशंपायन मुनि कथा जारी रखते हुए कहने लगे—

शोकातुर धृतराष्ट्र को पांडव उचित गौरव अवश्य दिया करते थे। वे राजकाज में भी उनकी सलाह लिया करते थे। उन्हीं की अनुमति से राजाधिराज युधिष्ठिर के नेतृत्व में पांडव राज करते थे। गांधारी, जो अपने सौ पुत्रों को एक साथ गँवा बैठी थी, ऐसा अनुभव करती थी, मानों स्वप्न में मिला धन नींद टूटते ही खो गया हो। देवी कुंती दुखियारी गांधारी की बड़ी श्रद्धा और स्नेह के साथ सेवा करती थी। द्रौपदी भी उन दोनों वृद्धाओं की समान रूप से सेवा-शुश्रूषा किया करती थी।

युधिष्ठिर ने वृद्ध धृतराष्ट्र के आराम का भी हर तरह से आयोजन किया था। धृतराष्ट्र के भवन में कोमल शैया, सुखद आसन आदि का प्रबन्ध था और कीमती गहने-कपड़े आदि भी पर्याप्त रूप में रहते थे। धृतराष्ट्र के भोजन के लिए विविध पकवान बनते थे। कृपाचार्य भी वृद्ध राजा के साथी बनकर उन्हींके भवन में रहा करते थे। भगवान् व्यास भी अक्सर आया-जाया करते थे और सुन्दर सूक्तियों-भरी आख्यायिकाएं सुनाया करते थे जो राजा के व्यथित हृदय पर शीतल लेप का-सा प्रभाव करती थीं। राजकाज के बारे में युधिष्ठिर धृतराष्ट्र से बराबर सलाह लिया करते थे और शासन-संबंधी सारा काम इस ढंग से करते थे जिससे प्रतीत होता था कि धृतराष्ट्र ही की आज्ञा से सब काम होता है। महाराज युधिष्ठिर ऐसी कोई बात नहीं छेड़ते थे जिससे वृद्ध धृतराष्ट्र के मन को चोट पहुंचने की आशंका हो। देश-विदेश से आनेवाले राजा लोग महाराजा धृतराष्ट्र का वही सम्मान करते थे जैसे पहले किया करते थे। रनिवास की स्त्रियां गांधारी की सेवा-शुश्रूषा में ज़रा भी त्रुटि नहीं होने देती थीं।

युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को आज्ञा दे रखी थी कि पुत्रों के विछोह से दुःखी राजा धृतराष्ट्र को किसी भी तरह की व्यथा न पहुंचने पाये सिवाय भीमसेन के और सब पांडव युधिष्ठिर के आदेशानुसार व्यवहार करते थे। पांडव वृद्ध धृतराष्ट्र का खूब आदर करते हुए उन्हें हर प्रकार का सुख एवं सुविधा पहुंचाने के प्रयत्न में लगे रहते, जिसमें धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों का अभाव महसूस न हो। धृतराष्ट्र भी पांडवों से स्नेहपूर्ण व्यवहार किया करते थे। न तो पांडव उन्हें अप्रिय समझते थे और न धृतराष्ट्र ही पांडवों को अप्रिय समझते थे।

परन्तु भीमसेन कभी-कभी ऐसी बातें या काम कर दिया करता था जिससे धृतराष्ट्र के दिल को चोट पहुंचती। युधिष्ठिर के राजाधिराज बनने के थोड़े ही दिन बाद भीमसेन धृतराष्ट्र की किसी आज्ञा को कार्यरूप में परिणत न होने देता था। कभी धृतराष्ट्र को सुनाते हुए कहा कह भी देता कि दुर्योधन और उसके साथी अपनी ही नासमझी के कारण मारे गये, आदि।

बात यह थी कि दुर्योधन-दुःशासन आदि के किये अत्याचारों और अपमानों का दुःखद स्मरण भीमसेन के मन में अमिट रूप से अंकित हो चुका था। इस कारण न तो वह अपना पुराना वैर भूल सकता था और न क्रोध को ही दबा सकता था। कभी-कभी वह गांधारी तक के आगे उल्टी-सीधी बातें कर दिया करता था।

भीमसेन की इन तीखी बातों से धृतराष्ट्र के हृदय को बड़ी भारी चोट पहुंचती थी। गांधारी को भी इस कारण बहुत दुःख होता था। परन्तु फिर भी वह विवेकशीला थीं और धर्म का मर्म जानती थीं; इसलिए भीमसेन की बातें चुपचाप सह लिया करतीं और धर्म की प्रतिमूर्ति कुन्ती से स्फूर्ति पाकर धीरज धर लिया करतीं।

: १०३ :

धृतराष्ट्र

यद्यपि महाराजा युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र को हर प्रकार से आराम पहुंचाने का उचित प्रबन्ध कर रक्खा था, तो भी धृतराष्ट्र का जी सुख-भोग में नहीं लगता था। एक तो वह बहुत वृद्ध हो गये थे, फिर भीमसेन की अप्रिय बातों से कभी-कभी उनका हृदय खिन्न हो जाता था। धीरे-धीरे उसके मन में इतना विराग आ गया कि आराम से रहना तो दूर रहा, छिपे तौर से आंशिक उपवास तक रखने लगे और उन्होंने पलंग पर सोना भी छोड़ दिया। दूसरे भी और कितने ही कठिन व्रतों के कारण उनका शरीर बहुत कृश हो गया था। इन बातों में गांधारी भी उनका अनुसरण किया करती थीं।

एक दिन धृतराष्ट्र धर्मराज के भवन में गये और उनसे बोले—

"बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। पन्द्रह वर्ष से तुम मुझे अपने यहां आराम से रखे हुए हो और ध्यान से मेरी देख-भाल करते हो। तुम्हारे आश्रय में रहते हुए मैंने दान-पुण्य भी बहुत किया। पुत्र-विहीना गांधारी भी किसी तरह धीरज धर लेती है और दिल लगाकर मेरी सेवा किया करती है। द्रौपदी का अपमान करने वाले और तुम्हारी पैतृक संपत्ति हर लेने वाले

मेरे अन्यायी पुत्रों का तो उनके अपने कर्मों के कारण नाश हुआ। पर युद्ध में मारे जाकर वे वीरोचित स्वर्ग को प्राप्त हुए, इस कारण मुझे उनकी कोई चिन्ता नहीं है। अब तो मेरी और गांधारी की यही प्रबल इच्छा है कि हम भी अपनी स्वर्ग-प्राप्ति की तैयारी करें और धार्मिक कर्तव्यों पर अधिक ध्यान दें। तुम तो शास्त्रों के ज्ञाता हो और यह भी जानते हो कि हमारे वंश की परम्परागत प्रथा के अनुसार हम वृद्धों को वल्कल धारण करके वन में जाना चाहिए। इसके अनुसार ही मैं अब तुम्हारी भलाई की कामना करता हुआ वन में जाकर रहना चाहता हूं। तुम्हें इस बात की अनुमति मुझे देनी ही होगी। तुम राजा हो, इसलिए मेरी तपस्या के फल का छठा हिस्सा भी तुम्हें प्राप्त होगा।"

धृतराष्ट्र की ये बातें सनकर युधिष्ठिर बहुत खिन्न हुए और भरे हुए हृदय से बोले—"महाराज, हम लोगों को तनिक भी पता न था कि आप इस भांति व्रत-उपवास रख रहे हैं, भूमि पर सोते हैं। मेरी लापरवाही के कारण आपको यह अपार दुःख सहना पड़ रहा है। सचमुच मैं बड़ा ही दुरात्मा हूं। मैं इस राज्य को लेकर क्या करूंगा? सुख-भोग से मेरा भी जी उचट गया है। महाराज, संपत्ति के लोभ में पड़कर मैंने भारी अपराध किया। आप उसे क्षमा करें! अब मैंने तय किया है कि आज से आपका ही पुत्र युयुत्सु राजगद्दी पर बैठे या जिसे आप चाहें राजा बना दें। अथवा शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथ में ले लें और प्रजा का पालन करें। मैं वन में चला जाऊंगा। राजा मैं नहीं, बल्कि आप ही हैं। ऐसी हालत में आपको अनुमति कैसे दे सकता हूं? मुझे काफी अपयश प्राप्त हो चुका है; अब और भी दोष का भागी न बनाइये। दुर्योधन से मेरा अब कोई वैर-विरोध नहीं रहा। जो दुर्घटना हुई वह विधि की लीला और सबकी नासमझी के कारण हुई मालूम होती है। किसी एक को उसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता, महाराज! जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र थे वैसे ही हम भी आप ही के पुत्र हैं। कुन्ती और गांधारी दोनों को ही मैं अपनी माता मानता आया हूं। यदि आप वन में जायंगे तो मैं भी आपके साथ ही चलूंगा। आपके वन में चले जाने पर, आपके बिना मैं इस राज्य को लेकर कौन-सा सुख भोग सकूंगा? मैं आपके हाथ जोड़ता

हूं और सिर नवाकर प्रार्थना करता हूं कि आप अपने मन का क्लेश दूर कीजिये। मैं खुशी-खुशी आदकी सेवा-टहल करता रहूंगा और उसीसे अपने व्यथित हृदय को भी शांत करूंगा।"

यह सुनकर धृतराष्ट्र बोले—"कुन्ती-पुत्र, मेरे मन में वन जाकर तपस्या करने की इच्छा बड़ी प्रबल हो रही है। तुम्हारे साथ मैं इतने बरसों सुखपूर्वक रहा और तुम और तुम्हारे सभी भाई ध्यानपूर्वक मेरी सेवा-शुश्रूषा करते रहे। वन में जाने का तो मेरा ही समय है, तुम्हारा नहीं। इस कारण वन में जाने की अनुमति तुम्हें देने का सवाल ही नहीं उठता। यह अनुमति तो तुमको मुझे देनी ही होगी।"

यह सुन युधिष्ठिर अंजलिबद्ध होकर कांपते हुए खड़े रहे। वह कुछ बोल न सके। उनसे ये बातें कहने के बाद धृतराष्ट्र आचार्य कृप एवं विदुर से बोले—"भैया विदुर और आचार्य! आप लोग महाराज युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर मुझे वन में जाने की अनुमति दिलाइये। मैं पूरी तरह उनको समझा नहीं पा रहा हूं। मेरा कंठ सूख रहा है। काफी देर तक बोलता रहा—शायद इसीसे····"—यह कहते-कहते वृद्ध राजा मूर्च्छित हो गए और गांधारी के ऊपर गिर पड़े। गांधारी ने उनको संभाल लिया।

धृतराष्ट्र की यह हालत देखकर युधिष्ठिर का गला भर आया और आंखों से आंसू बहने लगे। उनका यह दुःख उनके लिए असह्य हो उठा। वह व्यथित होकर बोले—"हाथी के समान जिनकी ताकत थी और जिन्होंने लोहे की मूर्ति को अपनी बांहों में कसकर चूर-चूर कर दिया था वही वीर धृतराष्ट्र इस तरह खिन्न-हृदय होकर हड्डी के पंजर के समान दुबले हो गये और मूर्च्छित होकर दीन-दुर्बल मनुष्य की भांति गांधारी के सहारे पड़े हैं। हाय रे विधाता! धिक्कार है मुझे, जिसके कारण इन पूज्य वीर की यह दशा हुई। धिक्कार है मुझे, मेरी विद्या को और मेरी बुद्धि को कि जिसे धर्म का ज्ञान अभी तक प्राप्त न हो सका।"

इस तरह विलाप करते हुए युधिष्ठिर ने ठंडा पानी लेकर धृतराष्ट्र के मुख पर छिड़का और उनके शरीर पर अपने कोमल हाथ धीरे-धीरे फेरने लगे। धृतराष्ट्र जब होश में आये तो युधिष्ठिर को प्यार से गले

लगा लिया और गद्गद स्वर में बोले—"बेटा! तुम्हारे स्पर्श से ही मुझे असीम आनन्द प्राप्त हो रहा है। मैं ऐसा सुख पा रहा हूं मानो मैंने अमृत पी लिया हो।"

यह सब चर्चा हो रही थी कि इतने में भगवान व्यास वहां पधारे। सारा हाल मालूम होने पर वह युधिष्ठिर से बोले—"बेटा, कुरुकुल-श्रेष्ठ धृतराष्ट्र की जैसी इच्छा हो, वैसा ही तुम करो। यह वृद्ध हो गया है, पुत्रों से बिछुड़ा हुआ है। इस परिस्थिति में और बहुत दिन यह कष्ट इससे सहा नहीं जायेगा। गांधारी बड़ी विवेकशीला है और अपना दुःख धीरज के साथ सह लिया करती है। तुम मेरी मानो और धृतराष्ट्र को वन जाने की अनुमति दे दो। वहां पर यह मधुभरे फूलों की सुवास का आनन्द लेता हुआ निश्चिन्त होकर दिन बितायेगा। प्राचीन काल के राजर्षियों के मार्ग का इसे भी अनुकरण करने दो। राजाओं का यही धर्म होता है कि या तो लड़ते-लड़ते वीर-गति पावें या वन में जाकर तपस्या करते रहकर स्वाभाविक मृत्यु की प्रतीक्षा करें। धृतराष्ट्र ने यज्ञ किये और सुख भी भोग लिया। जब तुम लोग वनवास और अज्ञातवास करते रहे तब इसने अपने पुत्र के विशाल राज्य का शासन-सुख तेरह वर्ष तक भोगा। अब इधर पन्द्रह वर्ष से तुम भी इसके साथ पुत्र का-सा बर्ताव करते हुए इसे आराम पहुंचाते रहे हो और किसी वस्तु की कमी महसूस न होने दी। अब इसकी आयु तपस्या करने की है, इसीलिए यह वन जाना चाहता है—क्रोध के कारण या तुम लोगों से असन्तुष्ट होकर नहीं। अतः इसको जाने की अनुमति अवश्य दो। इसीमें तुम्हारा और इसका कल्याण है।"

: १०४ :

तीनों वृद्धों का अवसान

युधिष्ठिर से वन में जाने की अनुमति पाकर धृतराष्ट्र गांधारी के साथ अपने भवन में लौट आये और अनशन-व्रत समाप्त किया। गांधारी और कुन्ती दोनों ने साथ-साथ बैठकर भोजन किया। धृतराष्ट्र ने युधि-

ष्ठिर को अपने पास बिठा लिया और प्रेम के साथ आशीर्वाद दिया। उस के बाद वृद्ध राजा धृतराष्ट्र उठे और गांधारी के कन्धे पर हाथ रखकर लाठी टेकते हुए वन के लिए रवाना हुए। माता कुन्ती भी उनके साथ रवाना हुईं।

अपने व्रत के कारण पतिव्रता गांधारी ने अपनी आंखों पर पट्टी बांधी हुई थी। इसलिए वह कुन्तीदेवी के कन्धे पर हाथ रक्खे रास्ता टटोलती हुई जाने लगीं और इस तरह तीनों वृद्ध राज-कुटुम्बी राजधानी की सीमा पारकर वन की ओर चले।

देवी कुन्ती ने गांधारी की सेवा-टहल करने के लिए उनके साथ वन जाने का निश्चय कर लिया था। जाते समय वह युधिष्ठिर से बोली, "बेटा, सहदेव से कभी नाराज न होना। वीरोचित रीति से लड़कर स्वर्ग सिधारे हुए भाई कर्ण का सदा स्नेह के साथ स्मरण करते रहना। यह मेरा ही अपराध था कि मैंने तुम लोगों से उसका वास्तविक परिचय छिपा रखा। द्रौपदी की प्रेम के साथ रक्षा करते रहना। इस बात का खयाल रखना कि भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को किसी तरह का दुःख न पहुंचने पावे। सारे कुटुम्ब की देखभाल करने का भार अब तुम्हारे ही कन्धों पर है।"

धर्मराज समझ रहे थे कि माता कुन्ती गांधारी को थोड़ी दूर तक विदा करने के लिए साथ जा रही हैं। इसलिए कुन्ती की ये बातें सुनकर वह तो सन्न रह गये। उनसे कुछ कहते न बना और बड़ी देर तक अवाक् से खड़े रहे। फिर सँभालकर बोले—"मां, तुम वन में क्यों जा रही हो? तुम्हारा जाना तो ठीक नहीं है। तुम्हींने आशीर्वाद देकर युद्ध के लिए भेजा था, अब तुम्हीं हमें छोड़ कर वन को जाने लगीं। यह ठीक नहीं।" इतना कहते-कहते युधिष्ठिर का गला भर आया। किन्तु उनके आग्रह करने पर भी कुन्ती अपने निश्चय पर अटल रहीं। वह बोलीं—

"बेटा, अधीर न होओ। मैं उस लोक में जाना चाहती हूं जहां मेरे पति निवास करते होंगे। मैं बहिन गांधारी की सेवा-टहल करती हुई तपस्या करूंगी और समय आने पर शरीर त्याग करके तुम्हारे पिता के पास पहुंच जाऊंगी। बेटा, अब तुम लोग नगर को वापस जाओ। न्यायपूर्वक

प्रजा का पालन करते रहो और तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म पर ही अटल रहे!"

पुत्रों को इस प्रकार आशीर्वाद देकर देवी कुन्ती धृतराष्ट्र और गांधारी के साथ वन को चलीं।

युधिष्ठिर अवाक्-से होकर खड़े देखते रहे।

●

धृतराष्ट्र, गांधारी और कुन्ती ने तीन वर्ष तक वन में तपस्वियों का-सा जीवन व्यतीत किया। एक दिन धृतराष्ट्र स्नान-पूजा करके आश्रम लौटे ही थे कि जंगल में एकाएक आग भड़क उठी, हवा तेज चल रही थी, इसलिए शीघ्र ही आग सारे जंगल में फैल गई। हिरन, जंगली सूअर आदि जानवरों के झुंड-के-झुंड भयभीत होकर जलालय की तरफ भागने लगे।

इस समय संजय भी उनके साथ था। धृतराष्ट्र ने उसको कहीं भी भागकर अपने प्राण बचाने का आग्रह किया और सती गांधारी और देवी कुन्ती के साथ वह पूरब की ओर मुख करके योग-समाधि में बैठ गये और उसी स्थिति में उन तीनों ने उस दावानल में अपने शरीर की आहुति दे दी।

धृतराष्ट्र का प्राणसखा संजय जो उनकी आंखों और प्राणों के समान उनका सहारा था, उनके देहावसान के बाद संन्यास ग्रहण करके हिमालय में तप करने चला गया।

: १०५ :

श्रीकृष्ण का लीला-संवरण

महाभारत को युद्ध-समाप्ति के बाद भगवान् श्रीकृष्ण छत्तीस बरस तक द्वारका में राज्य करते रहे। उनके सुशासन में श्रीकृष्ण के समानवंशी भोज, वृष्णि, अन्धक आदि यादव राजकुमार असीम सुख-भोग में जीवन व्यतीत करने लगे। भोग-विलास के कारण उनका संयम और शील जाता रहा।

इन्हीं दिनों एक बार कुछ तपस्वी लोग द्वारका पधारे। उच्छृंखल यादवगण उन महात्माओं की खिल्ली उड़ाने के लिए साम्ब नामक राजकुमार को स्त्री की पोशाक पहनाकर ऋषियों के सामने ले गये और उसे ऋषियों के सामने उपस्थित करके पूछा—"आप लोग शास्त्रों के ज्ञाता है, कृपया बतलाइए कि इस स्त्री के पुत्र होगा या पुत्री ?"

यादवों के इस झूठ व नटखटेपन पर ऋषियों को क्रोध हुआ। वे बोले—"इसके एक मूसल पैदा होगा और वही तुम्हारे कुल के नाश का कारण बनेगा।"

यों शाप देकर तपस्वीगण चले गये। तपस्वियों के इस तरह शाप देने पर यादव बहुत पछताये कि मज़ाक करके हम अपना सर्वनाश मोल ले बैठे। उनके मन में भय छा गया।

समय आने पर ऋषियों के कहे अनुसार स्त्री-वेषधारी साम्ब के एक मूसल पैदा हुआ। इसपर यादवों की घबराहट और बढ़ गई। वे बड़े व्यथित हो उठे और डरने लगे कि कहीं ऋषियों का शाप पूर्ण रूप से सच न साबित हो जाय। उनको तो मूसल में कालदेव ही नजर आया। आखिर सबने आपस में सलाह-मशवरा करके मूसल को जलाकर भस्म कर दिया और उस भस्म को समुद्र के किनारे बिखेर दिया। जब उस राख पर पानी बरसा तो वहां घास उग आई। यादवों ने सोचा कि अब हमारे भय का कारण दूर हो गया और इसी भ्रम में पड़कर उन्होंने ऋषियों के शाप को बिसार दिया।

इसके कई दिनों बाद, एक बार यादव लोग समुद्र-तट की सैर करते हुए मदिरा पीते, नाचते-गाते आनन्द मनाने लगे। समुद्र-तट पर उनकी भारी भीड़ जमा हो गई थी। धीरे-धीरे शराब का नशा उनपर असर करने लगा।

महाभारत-युद्ध में, यादव-कुल का वीर कृतवर्मा कौरवों के पक्ष में लड़ा था और सात्यकि पांडवों के पक्ष में। शराब का नशा चढ़ने पर उन में इसी विषय को लेकर बहस होने लगी।

सात्यकि कृतवर्मा की हँसी उड़ाता हुआ बोला—"क्षत्रिय होकर किसीने सोते हुओं को मारा है ? अरे कृतवर्मा ! तुमने तो ऐसा करके

सारे यादव कुल को अपमानित कर दिया। निर्लज्ज कहीं के ! धिक्कार है तुम्हें !"

सात्यकि की बात का नशे में चूर हो रहे कुछ और लोगों ने अनुमोदन किया। इस पर कृतवर्मा क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गया।

"सात्यकि ! तुम मुझे उपदेश देनेवाले होते कौन हो ? युद्धक्षेत्र में अपना हाथ कट जाने पर जब महात्मा भूरिश्रवा शर-शैया पर बैठे प्रायोपवेशन कर रहे थे तब तुमने उनकी हत्या की थी। ऐसे कसाई की यह धृष्टता कि मुझे उपदेश करे !" कृतवर्मा ने कड़ककर कहा। नशे में चूर दूसरे लोगों ने कृतवर्मा की बातों का समर्थन किया और सात्यकि की निन्दा करने लगे। बस, फिर क्या था ! उपस्थित यादवों के दो दल बन गये और दोनों में झगड़ा शुरू हो गया। बड़ी मार-काट मची।

"यह लो ! जिस पापी ने सोते हुओं की हत्या की थी, वह अभी अपने पाप का फल भुगतेगा।" कहते-कहते सात्यकि हाथ में तलवार लिये कृतवर्मा पर टूट पड़ा और एक ही वार में उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

यह देख कई यादवों ने सात्यकि को घेर लिया और शराब के प्यालों और मटकों को उसपर फेंक-फेंककर मारने लगे। श्रीकृष्ण के बेटे प्रद्युम्न ने सात्यकि की तरफ से उन लोगों का मुकाबला किया, तो उसको भी बहुत-से लोगों ने घेर लिया। थोड़ी ही देर में सात्यकि और प्रद्युम्न दोनों मारे गये।

यह देख श्रीकृष्ण भी क्रोध में आ गये और समुद्र-किनारे जो लम्बी घास उगी हुई थी, उसीका एक गुच्छा उखाड़कर विपक्षियों पर टूट पड़े। बस, सभी यादवों ने एक-एक घास का गुच्छा उखाड़ लिया और उसी से एक-दूसरे पर वार करने लगे।

ऋषियों के शाप के प्रभाव से मूसल की राख से उगे घास के पौधे यादवों के उखाड़ते ही मूसल बन गये और ये यादव उन्हीं मूसलों से एक-दूसरे पर आघात करते हुए वहीं कट-मरे।

शराब के नशे के कारण हुए इस फसाद में यादव-वंश के सभी लोग समूल नष्ट हो गए।

यह वंश-नाश देखकर बलराम को असीम शोक हुआ, और उन्होंने वहीं योग-समाधि में बैठकर शरीर त्याग दिया। उनके मुख से सफेद सर्प के रूप में एक अलौकिक ज्योति निकली और समुद्र में विलीन हो गई और बलराम का अवतार-कृत्य समाप्त हो गया।

सब बन्धु-बान्धवों का सर्वनाश हुआ देखकर श्रीकृष्ण भी ध्यान-मग्न हो गये और समुद्र के किनारेवाले वन में अकेले विचरण करते रहे। जो-कुछ हुआ, उसपर विचार करके उन्होंने जान लिया कि उनके भी संसार छोड़कर जाने का समय आ गया। यह सोचते-सोचते वह भी वहीं जमीन पर एक पेड़ के नीचे लेट गये।

इतने में कोई शिकारी शिकार की तलाश में घूमता-फिरता उधर से आ निकला। सोये हुए श्रीकृष्ण को शिकारी ने दूर से हिरन समझा और धनुष तानकर एक तीर मारा।

तीर श्रीकृष्ण के तलुए को छेदता हुआ शरीर में घुस गया और श्रीकृष्ण के लीला-संवरण करने का निमित्त बन गया। इस प्रकार अलौकिक कीर्त्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण का अवतार-कृत्य समाप्त हुआ।

: १०६ :

धर्मपुत्र युधिष्ठिर

यादवों के सर्वनाश और श्रीकृष्ण के निर्वाण के शोकजनक समाचार हस्तिनापुर में पहुंचने से पांडवों के मन में सांसारिक जीवन के प्रति विराग छा गया और जीवित रहने की चाह उनमें न रह गई। अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को राजगद्दी पर बिठाकर पांचों पांडवों ने द्रौपदी को साथ लेकर तीर्थ-यात्रा करने का निश्चय किया। वे हस्तिनापुर से रवाना होकर अनेक पवित्र स्थानों के दर्शन करते हुए अंत में हिमालय की तलहटी में जा पहुंचे। उनके साथ-साथ एक कुत्ता भी चल रहा था। उन्होंने पहाड़ पर चढ़ना शुरू किया और चढ़ते-चढ़ते रास्ते में द्रौपदी, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन पांचों ने एक-एक करके शरीर त्याग दिये। पर सत्य-ब्रह्म का ज्ञान रखनेवाले युधिष्ठिर तनिक भी विचलित न हुए।

वह ऊपर चढ़ते ही गये। और उनके पीछे-पीछे वह कुत्ता भी उनका साथी बनकर चल रहा था।

असल में युधिष्ठिर का धर्म ही कुत्ते के रूप में उनके पीछे-पीछे चल रहा था। बहुत दूर जाने पर देवराज इन्द्र दिव्य रथ लेकर युधिष्ठिर के सामने प्रकट हुए और बोले—

"युधिष्ठिर! द्रौपदी और तुम्हारे भाई स्वर्ग पहुंच चुके हैं। अकेले तुम्हीं रह गये; तुम अपने शरीर के साथ ही इस रथ पर सवार होकर स्वर्ग चलो, तुम्हें ले जाने के लिए ही मैं आया हूं।"

युधिष्ठिर रथ पर सवार होने लगे तो कुत्ता भी उनके साथ रथ पर चढ़ने लगा, पर इन्द्र ने उसे चढ़ने न दिया। बोले कि कुत्ते के लिए स्वर्ग में स्थान नहीं है। यह सुन युधिष्ठिर ने कहा कि यदि इस कुत्ते के लिए स्वर्ग में जगह नहीं तो फिर मुझे भी वहां जाने की इच्छा नहीं।

इन्द्र के बहुत समझाने पर भी युधिष्ठिर कुत्ते को छोड़कर अकेले स्वर्ग जाने को राजी नहीं हुए।

अपने पुत्र की परीक्षा लेने के उद्देश्य से ही धर्मदेव कुत्ते के रूप में आये हुए थे। पुत्र के मन की दृढ़ता देखकर धर्मदेव बड़े प्रसन्न हुए और उनको आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये।

युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुंचे तो पहले-पहल दुर्योधन से ही उनकी भेंट हुई। धर्मपुत्र ने देखा कि दुर्योधन सूर्य के तेज के समान जगमगाते हुए सुन्दर आसन पर विराजमान है और देवता लोग उसे घेरे खड़े हैं।

यह देखकर युधिष्ठिर को बड़ा क्रोध आया। उपस्थित देवताओं से बोले—"जहां लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधन बस रहा हो, वहां मैं रहना नहीं चाहता। इसने हमपर अनेक अत्याचार किये और दारुण दुःख पहुंचाया। इसीके कुकर्मों के फलस्वरूप हमें अपने बन्धु-बान्धवों और मित्रों को मारना पड़ा। इसीकी आज्ञा से हमारी सती-साध्वी पत्नी द्रौपदी भरी सभा में अपमानित हुई। मैं इसे देखना तक नहीं चाहता। मेरे और भाई कहां हैं? जहां वे होंगे, वहीं मैं भी जाना चाहता हूं।"

यह कहकर युधिष्ठिर वहां से लौट पड़े।

यह देख सर्वज्ञ देवर्षि नारद युधिष्ठिर से बोले—"राजश्रेष्ठ, तुम्हारा

कहना ठीक नहीं। स्वर्ग में वैर-विरोध होता ही नहीं। वीर दुर्योधन के बारे में ऐसी बातें न करो। दुर्योधन ने क्षत्रियोचित धर्म का पालन करके यह पद प्राप्त किया है। जो बातें हो चुकी हैं उनका सदा स्मरण करते रहना और उन्हें मन में जमने देना ठीक नहीं। आपसी वैर-विरोध के के लिए यहां कोई स्थान नहीं है। अब तो आपको दुर्योधन के साथ ही प्रेम-पूर्वक रहना होगा। यहां सदेह पहुंचने के कारण ही आपके मन में ऐसे संकुचित विचार उठ रहे हैं। अब इन कुविचारों को मन से निकाल दो।"

यह सुन युधिष्ठिर बोले—"द्विजवर, जिसे धर्म का ज्ञान ही नहीं है, जो पापी है, जिसने सत्पुरुषों को हानि पहुंचाई और जो असंख्य लोगों के नाश का कारण हुआ उसके लिए वीरों के योग्य स्वर्ग में स्थान मिला; परन्तु मेरे शीलवान्, शूर भाइयों एवं द्रौपदी को कौन-सी गति प्राप्त हुई है? वे तो यहां दिखाई ही नहीं देते। कर्ण भी दिखाई नहीं देते और न मेरे लिए प्राण त्यागनेवाले अन्य राजा लोग ही दीख पड़ते हैं। मैं उन्हें देखना चाहता हूं। विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, शिखंडी, द्रौपदी के पुत्र, अभिमन्यु आदि वीर, जिन्होंने मेरी खातिर युद्ध की बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति दी थी, यहां क्यों नहीं दिखाई देते? मैं भी वहीं रहना चाहता हूं, जहां वे लोग होंगे। माता कुन्ती ने कर्ण को भी जलांजलि देने का जो आदेश दिया था उसका स्मरण करते ही मुझे दुःसह दुःख हो जाता है। जिन वीर कर्ण का वास्तविक परिचय जाने बिना अनजान में मैंने वध करवा दिया, मैं उसके दर्शन करना चाहता हूं। प्राणों से प्यारे भाई भीम, देवराज के समान तेजवाले अर्जुन, प्रिय नकुल व सहदेव, धर्मपरायणा द्रौपदी आदि सबको मैं देखना चाहता हूं। जहां द्रौपदी और मेरे भाई न होंगे, वहां मैं नहीं रहना चाहता। जहां वे होंगे, वहीं मेरे लिए स्वर्ग है। इस स्थान को मैं स्वर्ग ही नहीं मानता।"

युधिष्ठिर की ऐसी बातें सुनकर उपस्थित देवताओं ने कहा—"महाराज! जहां आपकी पत्नी और भाई रहते हैं, आप यदि वहां जाना चाहते हैं तो आनन्दपूर्वक जा सकते हैं।"

देवताओं के आदेशानुसार एक देवदूत युधिष्ठिर को दूसरी तरफ ले जाने लगा। आगे-आगे देवदूत चला और उसके पीछे-पीछे युधिष्ठिर

चले। रास्ते में अँधेरा छाया हुआ था। जो थोड़ा-बहुत दिखाई देता था, वह भी भयानक प्रतीत होता था।

रास्ता मांस और रक्त के कीचड़ से भरा था। चारों तरफ हड्डियां, लाशें और बाल पड़े हुए थे। जिधर देखो उधर कीड़े बिलबिला रहे थे और बड़ी बदबू आ रही थी। जहां-तहां कुछ आदमी पड़े कराह रहे थे। किसीका हाथ कटा था, किसीका पैर। यह बीभत्स दृश्य देखकर युधिष्ठिर उद्भ्रांत हो उठे। उन्हें कुछ समझ में ही नहीं आया कि बात क्या है। तरह-तरह के विचार मन में उठने लगे।

उन्होंने देवदूत से पूछा—"इस तरह इस रास्ते और कितनी दूर चलना होगा? मेरे भाई कहां हैं?"

"आगे जाने की इच्छा न हो तो लौट चलिये।" देवदूत ने जवाब दिया।

वहां की दुर्गन्ध युधिष्ठिर के लिए असह्य हो रही थी। वह वापस लौटने की सोचने लगे और वह लौटने को ही थे कि चारों ओर से कइयों का करुण क्रन्दन एक साथ सुनाई देने लगा।

"हे धर्म-पुत्र! लौटिये नहीं। हम पर दया करके कम-से-कम एक मुहूर्त्त के लिए ठहरिये। आपके यहां आते ही सुवास-भरी पवित्र हवा बहने लगी है और हमें उससे बहुत सुख मिला है। हे कुंती-पुत्र! आपके दर्शन-मात्र से ही हमें सुख पहुंच रहा है। आपका यहां आना हुआ तभी हमारी दुःसह यातना एकदम कम हो गई है। आप कृपा करके एक मुहूर्त्त तक यहीं रहिये, जिससे हमारी यह पीड़ा कुछ कम हो सके।"

व्यथा से भरे इन दीन स्वरों को सुनकर युधिष्ठिर का गला भर आया। पर जब करुण स्वर में रोने की आवाज सुनाई दी तब तो युधिष्ठिर से न रहा गया। "अरे रे! इन बेचारों को बड़ी पीड़ा पहुँच रही है।" रुद्ध कंठ से केवल यही कहते वह वहीं खड़े रहे। उनको ऐसा मालूम होने लगा मानो जो आवाजें सुनाई दे रही हैं वे उनकी परिचित आवाजें हैं। उन्होंने शोकातुर स्वर में पूछा—"कौन हो तुम लोग? यहां कैसे आये?"

कोई स्वर बोल उठा—"मैं कर्ण" और किसी ने कहा—"मैं हूँ भीम-

सेन !" तीसरे ने कहा—"मैं अर्जुन हूँ !" ऐसे ही करुण स्वर में और एक पुकार सुनाई दी—"मैं द्रौपदी हूं !" इसपर चारों ओरसे कई स्वर पुकार उठे—"मैं नकुल हूं !" "मैं सहदेव हूँ !" "हम द्रौपदी के पुत्र हैं !"

शोक-विह्वल युधिष्ठिर के लिए यह वेदना असह्य हो उठी। वह क्षोभ और ग्लानि के मारे आपे से बाहर हो उठे—

'मेरे इन आत्मीय जनों ने कौन-सा पाप किया जो ये नरक में पड़े यह दारुण यातना सह रहे हैं और धृतराष्ट्र के पुत्रों ने ऐसा कौन-सा पुण्य कमाया जो देवेन्द्र की-सी शान के साथ स्वर्ग में सुख भोग रहे हैं ? कहीं मैं सो तो नहीं रहा हूं ? मूर्च्छित अवस्था में तो नहीं हूं ? या यह कोई स्वप्न है ?' —यह सोचते-सोचते युधिष्ठिर ईश्वरीय न्याय, धर्म एवं देवताओं की मन-ही मन निन्दा करने लगे।

अपने साथ आये देवदूत से वह बोले—"जिनके तुम दूत हो, उनके पास लौट जाओ और उनसे कहो कि मैं यहां से वापस नहीं जाऊँगा, यहीं रहूँगा। मेरे कारण ही तो मेरे प्रिय भाई और द्रौपदी यहां इस नरक में पड़े दारुण यातना सह रहे हैं। इसलिए मैं भी अपने आत्मीयों के साथ यहीं रहना चाहता हूं।"

एक मुहूर्त्त तक युधिष्ठिर उसी प्रकार वहां नरक में खड़े रहे। इसके बाद देवेन्द्र और धर्मदेवता उसी स्थान पर आये जहां युधिष्ठिर खड़े थे। उनके आगमन के साथ प्रकाश भी फैल गया। न वह अंधेरा रहा, न वे भयानक दृश्य ही रहे। पापियों की विषम वेदना का हृदयविदारक दृश्य भी गायब हो गया। पवित्र सुवास से भरी ठंडी बयार चलने लगी।

धर्मदेव ने अपने पुत्र से कहा—"बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! हमने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी। अपने भाइयों के हित नरक में पड़े रहने के लिए भी तुम तैयार थे। इससे हमें बहुत प्रसन्नता हुई। भूमिपाल राजाओं के लिए नरक की यातना अवश्य देखनी चाहिए। यही कारण था कि तुम्हें भी एक मुहूर्त्त के लिए यह दुःख भोगना पड़ा। यशस्वी वीर अर्जुन, प्रिय भाई भीम, सत्यव्रती कर्ण, आदि तुम्हारे सारे बंधु-जनों में से कोई भी नरक नहीं पहुंचा। यह तो तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए रची गई माया थी। वास्तव में यही देवलोक है। वह देखो ! तीनों

लोकों में विचरण करनेवाले देवर्षि नारद विराजमान हैं। तुम दुःखी न होओ !"

युधिष्ठिर को यह सब देखकर बड़ा सुख हुआ और उन्होंने मानव-शरीर त्याग दिव्य शरीर प्राप्त किया।

शरीर के साथ-साथ द्वेष, वैर-विरोध, मानवीय दुर्बलताओं से भी निवृत्त होकर धर्मराज युधिष्ठिर पूर्ण रूप से पवित्र बन गये।

बड़े भाई कर्ण एवं छोटे भाइयों को, धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ-साथ, क्रोधरहित दैवी स्थिति में देवताओं एवं ऋषि-मुनियों से पूजित होकर सुखपूर्वक रहते देखकर युधिष्ठिर को भी शांति प्राप्त हुई।

हरि ॐ तत् सत्

पेज - ४५०,
पेज - 223,
पेज - १५०,
॥ - १०
पेज - २१६ - आदर कील

राधारमण पाठक
२५|५|६८

महाभारत कथा

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन